पंचाशकस्य लघुरनुक्रमः

श्रीपंचाशकस्य बृहन् विषयानुक्रमः

प्रथमं पंचाशकम्



द्वितीयं पंचाशकं



तृतीयपंचाशकम्

चतुर्थं पञ्चाशकम्

पंचमं पंचाशकम्

सप्तमं पंचाशकम्

अष्टमं पञ्चाशकम्

नवमं पंचाशकम्

दशमं पंचाशकम्

एकादशं पञ्चाशकम्

द्वादशं पञ्चाशकम्

त्रयोदशं पञ्चाशकम्

षोडशं पञ्चाशकम्

सप्तदशं पञ्चाशकम्



॥ श्रीपंचाशकगता उपयुक्ततमा गाथाः ॥

परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो। अइतिव्वकम्मविगमा सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥२॥ तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तमसग्गहो ण एयम्मि। मिच्छत्तखओवसमा सुस्सूसाई उ होंति दढं ॥ ३ ॥ सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए। वेयावच्चे णियमो वयपडिवत्तीए (इ) भयणा उ ॥ ४ ॥ थूलगपाणवहस्सा विरई दुविहो य सो वहो होइ। संकप्पारंभेहिं वज्जइ संकप्पओ विहिणा ॥८॥ गुरुमूले सुयधम्मो संविग्गो इत्तरं व इयरं वा। वज्जित्तु तओ सम्मं वज्जेइ इमे य अइयारे ॥९॥ बंधवहछविछेयं (बंधवहच्छविछेयं) (वहबंधच्छविच्छेयं) अइभारं भत्तपाणवोच्छेयं। कोहाइदूसियमणो गोमणुयाईण णो कुणइ ॥१०॥ इच्छापरिमाणं खलु असयारंभविणिवित्तिसंजणगं। खेत्ताइवत्थुविसयं चित्तादविरोहओ चित्तं ॥१७॥ खेत्ताइहिरण्णाईधणाइदुपयाइकुप्पमाणकमे। जोयणपयाणबंधणकारणभावेहिं णो कुणइ ॥ १८ ॥ आहारदेहसक्कारबंभऽवावारपोसहो योऽन्नं। देसे सव्वे य इमं चरमे सामाइयं णियमा ॥ २९ ॥ सच्चित्तणिक्खिवणयं वज्जइ सच्चित्तपिहणयं चेव। कालाइक्कमपरववएसंमच्छरिययं चेव ॥ ३२ ॥ एत्थं पुण अइयारा णो परिसुद्धेसु होंति सव्वेसु। अक्खंडविरइभावा वज्जइ सव्वत्थ तो भणियं ॥ ३३ ॥ गहणादुवरिपयत्ता होइ उमन्तोऽविरइपरिणामो। अकुसलकम्मोदयओ पडइ अवण्णाइ लिंगमिह ॥ ३५ ॥ तम्हा णिच्चसतीए बहुमाणेणं च अहिगयगुणम्मि। पडिवक्खदुगुंछाए परिणइआलोयणेणं च ॥ ३६ ॥ तित्थंकरभत्तीए सुसाहुजणपज्जुवासणाए य। उत्तरगुणसद्धाए य एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥ ३७ ॥ संलेहणा य अंते ण णिओगा जेण पव्वयइ कोई। तम्हा णो इह भणिया विहिसेसमिमस्स वोच्छामि ॥ ४० ॥

निवसेज्ज तत्थ सड्ढो साहूणं जत्थ होइ संपाओ। चेइयहराइं जम्मि य तयण्णसाहम्मिया चेव ॥ ४१ ॥ णवकारेण विबोहो अणु-
मरणं सावओ वयाइं मे। जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥ ४२ ॥ तह चेईहरगमणं सक्कारो वंदणं गुरुसगासे। पच्चक्-
खाणं सवणं जइपुच्छा उचियकरणिज्जं ॥ ४३ ॥ अविरुद्धो ववहारो काले तह भोयणं च संवरणं। चेइहरागममवणं सक्कारो वंद-
णाई य ॥ ४४॥ जइविस्सामणमुचिओ जोगो नवकारचिंतणाईओ। गिहि गमणं विहिसुवणं सरणं गुरुदेवयाईणं ॥४५॥१॥ दिक्खाएँ
चेव रागो लोगविरुद्धाण चेव चाउत्ति। सुंदरगुरुओगोविय जस्स तओ एत्थ उचिओत्ति ॥४॥ सव्वस्स चेव णिंदा विसेसओ तहय
गुणसमिद्धाणं। उजुधम्मकरणहसणं रीढा जणपूयणिज्जाणं ॥ ८ ॥ बहुजणविरुद्धसंगो देसादाचारलंघणं चेव। उव्वणभोगो य तहा
दाणाइवि पगडमण्णे तु ॥९॥ साहुवसणम्मि तोसो सइ सामत्थम्मि अपडियारो य। एमाइयाणि एत्थं लोगविरुद्धाणि णेयाणि ॥१०॥
णाणाइजुओ उ गुरू सुविणे उदगादितारणं तत्तो। अचलाइरोहणं वा तहेव चालाइरक्खा य। ॥११॥ बाहिं तु पुप्फपाए वियडण-
वउमरणगमणमाईणि। काराविज्जइ एसो चारत्तिगमुवरि पडिसेहो ॥ २७ ॥ अह तिपयाहिणपुव्वं सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेण।
गुरुणो णिवेयणं सव्वहेव दढमप्पणो एत्थ ॥ २९ ॥ दाणमह जहासत्ती सद्धासंवेगकमजुयं णियमा। विहवाणुसारओ तह जणोव-
यारो य उचिओत्ति ॥३६॥ अहिगयगुणसाहम्मियपीईवोहगुरुभत्तिवुड्ढी य। लिंगं अव्वभिचारी पइदियहं सम्मदिक्खाए ॥३७॥
पम्मम्मि य बहुमाणा पहाणभावेण तदणुरागाओ। साहम्मियपीतीए उ इंदि वुड्ढो धुवा होइ ॥ ३९ ॥ विहियाणुट्ठाणाओ
पाएणं सव्वकम्मखउवसमा। णाणावरणावगमा णियमेणं बोहवुड्ढीवि ॥ ४० ॥ गरहियमिच्छायारो भावेणं जीवमुत्तिमणुहविउं।
णीसेसकम्ममुक्को उवेइ तह परममुत्तिंपि ॥४३॥ (२)॥ णवकारेण जहण्णा दंडगथुइजुयल मज्झिमा णेया। संपुण्णा उक्कोसा विहिणा

खलु वंदणा तिविहा ॥ २॥ पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण बहु मण्णई भवं घोरं । उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थवि अपुणबंधोत्ति ॥ ४॥ सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए। वेयावच्चे णियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥५॥ मग्गणुसारी सद्धो पण्णवणिज्जो कियापरो चेव। गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥ ६ ॥ लिंगा ण तिए भावो ण तयत्थालोयणं ण गुणरागो। णो विम्हओ ण भवभयमिय वच्चासो य दोण्हंपि ॥ ९ ॥ वेलाइ विहाणंमि य तग्गयचित्ताइणा य विण्णेओ। वच्चुद्धिभावऽभावेहिँ तह य दव्वेयरविसेसो ॥ १० ॥ मइ संजाओ भावो पायं भावंतरं जओ कुणइ। ता एयमेत्थ परमं लिंगं सइ भावबुद्धी तु ॥ ११ ॥ पायं इमीएँ नत्ते ण होइ इहलोगियावि हाणित्ति। णिहयक्कमभावाओ भावोऽवि हु तीइ छेयकरो॥ १६ ॥ पंचंगो पणिवाओ थयपाढो होइ जोगमुद्दाए। वंदण जिणमुद्दाए पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥ १७॥ ताओनमिगभावे दढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं। परिवडियंपि हु जायइ पुणोवि तब्भावबुद्धिकरं ॥ २४॥ भावेणं वण्णादिहिं चेव सुद्धोहिं वंदणा छेया। मोक्खफलच्चिय एसा जहोइयगुणा य णियमेणं ॥ ३८॥ भावेण वण्णादिहिं तहा उ जा होइ अपरिसुद्धत्ति। नीयगरूवसमा खलु एसावि सुहत्ति णिद्दिट्ठा ॥ ३९ ॥ भावविहूणा वण्णाइएहिं सुद्धावि कूडरूवसमा। उभयविहूणा णेया मुद्दरूवा अणिट्ठफला ॥ ४० ॥ होइ य पाएणेसा किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं। पाएण दुग्गइफला विसेसओ दुस्समाए उ ॥ ४१ ॥ ठाणो उ लोगिगच्चिय एसा णामेण वंदणा जइणी। जं तीइ फलं तं च्चिय इमीएँ ण उ अहिगयं किंचि ॥४२॥ विहिअपओसो जेसिं आसण्णा तेवि सुद्धिपत्तत्ति। खुद्दमिगाणं पुण सुद्धदेसणा सीहणायसमा ॥४८॥ (३)॥ काले सुइभूएणं विसिट्ठपुप्फाइएहिं विहिणा उ। सारथुइथोत्तगरुई जिणपूया होइ कायव्वा ॥ ३ ॥ सो पुण इह विण्णेओ संझाओ तिण्णि ताव ओहेण। वित्तिकिरियाऽविरुद्धो अहवा जो जस्स जावइओ॥८॥पुरिसेणं बुद्धिमया सुहबुद्धि

मावओ गणंतेणं । जत्तेणं होयव्वं सुहाणुबंधप्पहाणेणं ॥ ६ ॥ ण्हाणाइवि जयणाए आरंभवओ गुणाय णियमेण । सुहभावहेउओ
खलु विण्णेयं कूवणाएणं ॥ १० ॥ अन्नत्थारंभवओ धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो । लोए पवयणखिंसा अबोहिबीयंति दोसा य ॥१२॥
पवरेहिं साहणेहिं पायं भावोऽवि जायए पवरो । ण य अण्णो उवओगो एएसि सयाण लट्ठयरो ॥ १६ ॥ इहलोयपारलोइयक-
ज्जाणं पारलोइयं अहिगं । तंपिहु भावपहाणं सोऽविय इयकज्जगम्मोत्ति ॥ १७ ॥ जरसमणाई रयणा अण्णायगुणावि ते समिंति
जहा । कम्मजराई थुइमाइयावि तह भावरयणा उ ॥ २६ ॥ एत्तोच्चिय ण णियाणं पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं । सुहभावहेउभावा
णेयं इहराऽपवित्ती उ ॥ ३० ॥ उचिय च इमं णेयं तस्साभावम्मि तष्फलस्सऽण्णे । अपमत्तसंजयाणं आराऽणभिसंगओ ण परे
॥ ३९ ॥ जं पुण णिरभिस्संगं धम्मा एसो अणेगमत्तहिओ । णिरुवमसुहसंजणओ अपुव्वचिंतामणीकप्पो ॥३८॥ देहादिणिमित्तंपि
हु जे कायवहम्मि तह पयट्टंति । जिणपूयाकायवहंमि तेसिमपवत्तणं मोहो ॥ ४७ ॥ उत्तमगुणबहुमाणो पयमुत्तमसत्तमज्झयारम्मि ।
उत्तमधम्मपसिद्धी पूयाएँ जिणवरिंदाणं ॥ ४८ ॥(४)॥वयभंगो गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ । गुरुलाघवं च णेयं धम्म-
म्मि अओ उ आगारा ॥ १२ ॥ सामइएवि हु सावज्जचागरूवे उ गुणकरं एयं । अपमायवुड्ढिजणगत्तणेण आणाउ विण्णेयं ॥१३॥
आहारजाइओ एस एत्थ एक्कोऽवि होति चउभेओ । असणाईजाइभेया णाणाइपसिद्धिओ णेओ ॥ २५ ॥ णाणं सद्दहणं गहण
पालणा विरतिवुड्ढि चेव एवंति । होइ इहरा उ मोहा विवज्जओ भणियभावाणं ॥ २६ ॥ एवमिह सावगाणवि दाणुवएसाइ उचियमो
णेयं । सेसम्मिवि एस विही तुच्छस्स दिसादवेक्खाए ॥ ४२ ॥ संतेअरलद्धिजुएअराइभावेसु होइ तुल्लेसु । दाणं दिसाइभेए तीएऽ-
दितस्स आणादी ॥ ४३ ॥ छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं । अकरिंतो गुरुवयणं अणंतसंसारिओ होति ॥ ४६ ॥

पज्जाभावेऽवि इमं पच्चक्खंतस्स गुणकरं चेव। आसवनिरोहभावा आणाआराहणाओ य ॥ ४७॥ (५) विहियाणुट्ठाणमिणंति एव-
मेयं सया करेंताण। होइ चरणस्स हेऊ णो इहलोगादवेक्खाए॥४॥ ता भावत्थयहेऊ जो सो दव्वत्थओ इहं इट्ठो। जो उ ण पोवं-
भूओ स अप्पहाणो परं होति॥१२॥ जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसेइ णियमतो चेव। तद्दूसियस्स जोगो विसघारियजोगतुल्लोत्ति
॥१९॥ चरणपडिवत्तिरूवो थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ। संपुण्णाणाकरणं कयकिच्चे हंदि उचियं तु ॥२४॥ तंतम्मि वंदणाए
पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो। जतिणोऽवि हु णिद्दिट्ठो ते पुण दव्वत्थयसरूवे ॥२९॥ (६) अहिगारी उ गिहत्थो सुहसयणो वित्तसंजुओ
कुलजो। अक्खुद्दो धिइबलिओ मइमं तह धम्मरागी अ ॥४॥ गुरुपूयाकरणरई सुस्सूसाइगुणसंगओ चेव। णायाऽहिगयविहाणस्स
धणियं माणप्पहाणो य ॥५॥ तं तह पवत्तमाणं दट्ठुं केइ गुणरागिणो मग्गं। अण्णे उ तस्स बीयं सुहभावाओ पवज्जंति ॥७॥ जो
च्चिय सुहभावो खलु सव्वन्नुमयम्मि होइ परिसुद्धो। सोच्चिय जायइ बीयं बोहीए तेणणाएण ॥८॥ जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमी १
दलं च कट्ठाई २। भियगाणइसंधाणं ३ सासयवुड्ढी ४ य जयणा ५ य ॥९॥ धम्मत्थमुज्जएणं सव्वस्सापत्तियं ण कायव्वं। इय
संजमोऽवि सेओ एत्थ य भयवं उदाहरणं॥१४॥ इय सव्वेणवि सम्मं सक्कं अप्पत्तियं सइ जणस्स। णियमा परिहरियव्वं इयरंमि
सतत्तचिंता उ ॥ १६॥ ते तुच्छगा वराया अहिगेण दढं उविंति परितोसं। तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहिगं पकुव्वंति ॥ २२॥
पेच्छिस्सं इत्थमहं वंदणगणिमित्तमागए साहू। कयपुण्णे भगवंते गुणरयणणिही महासत्ते ॥२६॥ पडिबुज्झिस्संति इहं दट्ठूण जिणिं-
दबिंबमकलंकं। अण्णेऽवि भव्वसत्ता काहिंति ततो परं धम्मं ॥२७॥ ता एयं मे वित्तं जमेत्थमुवओगमेति अणवरयं। इय चिंताऽपरिव-
डिया सासयवुड्ढी उ मोक्खफला॥२८॥जयणाएँ वट्टमाणो जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं। सद्धाबोहासेवणभावेणाराहगो भणितो॥३१॥

वरबोहिलाभओ सो सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ सयतं । एगंतपरहियरतो विसुद्धजोगो महासत्तो ॥२६॥ एव निविविपहाणा विण्णेया भावओ अहिंसेयं । जयणावओ उ विहिगा पूजादिगयावि एमेव ॥ ८२ ॥ जिणबिंबपइट्ठावणभावज्जियकम्मपरिणतिवसेणं । सुगतीइ पइट्ठावणमणहं सदि अप्पणो चेव ॥ ८२॥ ७॥ गुणपगरिसो जिणा खलु तेसिं बिंबस्स दंसणंपि सुहं । कारावणेण तस्स उ अणुग्गहो असणो परमो॥४॥ इय सुद्धबुद्धिजोगा काले संपूइऊण कत्तारं । विभवोचियमप्पेज्जा मोल्लं अणहस्स सुहभावो॥७॥ देवस्सपरीभोगो अणेगजम्मेसु दारुणविवागो । तंमि स होइ णिउत्तो पावो जो कारओ इहरो ॥१॥ आणागारी आराहणेण तीए ण दोसवं होति । तित्थगरे बहुवत्थुविवज्जासम्मिवि छउमत्थो सुद्धपरिणामो ॥ ११ ॥ आणापवित्तिओ च्चिय सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा । तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुमाणा तदभावाओ य णायव्वो ॥१२॥ समितिपवित्ती सव्वा आणाबज्झत्ति भवफला चेव । तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुमाणा ॥ १३ ॥ मूढा अणादिमोहा तहा तहा एत्थ संपयट्टंता । तं चेव य मण्णंता अवमण्णंता ण याणंति ॥ १४ ॥ जं एयाइयरेणं सरीरमक्कारसंगयं चारु । कीरइ तयं असेसं पुण्णणिमित्तं मुणेयव्वं ॥ २३ ॥ तित्थगरे बहुमाणा आणाआराहणा कुसलजोगा । अणुबंधसुद्धिभावा रागादीणं अभावा य ॥ २७॥ चितिवंदण थुतिवुड्ढी उस्सग्गो साहु सासणसुराए । थयसरण पूयकाले ठवणा मंगलपुव्वा उ ॥ ३२ ॥ पूया वंदणमुस्सग्ग पारणा भावथेज्जकरणं च । सिद्धाचलदीवसमुद्दमंगलागं च पाढो उ ॥ ३३ ॥ सत्तीएँ संघपूजा विसेसपूजा उ बहुगुणा एसा । जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो संघो ॥ ३८ ॥ गुणसमुदाओ संघो पवयण तित्थंति होंति एगट्ठा । तित्थगरोऽविय एयं णमए गुरुभावतो चेव ॥३९॥ एयम्मि पूजियम्मी णत्थि तयं जं ण पूजियं होइ । भुअणेवि पूयणिज्जं ण गुणट्ठाणं ततो अण्णं ॥ ४१ ॥ आसन्नसिद्धियाणं लिंगमिणं जिणवरेहिं पण्णत्तं । संघंमि चेव पूया सामण्णेणं गुणणिहिम्मि ॥ ४३॥

एसा उ महादाणं एमचिय होति भावजण्णोत्ति । एमा गिहत्थसारो एसच्चिय संपयामूलं ॥ ४४ ॥ उचिओ जणोवयारो विसेसओ णवरि सयणवग्गम्मि । साहम्मियवग्गम्मि य एस खलु परमवच्छलं ॥४७॥(८) पवरा पभावणा इह असेसभावंमि तीएँ सब्भावा । जिणजत्ता य तयंगं जं पवरं तो पयासोऽयं ॥ ३ ॥ दाणं १ तवोवहाणं २ सरीरसक्कारमो ३ जहासत्ति । उचितं च गीतवाइय ४ थुतिथोत्ता ५ पेच्छणादी ६ या ॥५॥ सामण्णे मणुयत्ते धम्माउ णरीसराणं णेयं । इय मुणिऊणं सुंदर ! जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥१७॥ इड्ढीण मूलमेसो सव्वासिं जयमणोहराणंति । एसो य जाणवत्तं णेओ संसारजलहिम्मि ॥ १८॥ तेसिंपि घायगाणं दायव्वं सामपुव्वगं दाणं । तसियदिणाण उचियं कायव्वा देसणा य सुरा ॥ २२ ॥ पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाण होंति णियमेण । भुवणच्छेरयभूया कल्लाणफला य जीवाणं ॥ ३० ॥ तित्थगरे बहुमाणो अब्भासो तहय जीयकप्पस्स । देविंदादिमणुगिती गंभीरारूवणा लोए ॥३७॥ वण्णो य पवयणस्स इय जत्ताए जिणाण णियमेणं । मग्गाणुसारी भावो जायइ एत्तोच्चिय विसुद्धो ॥ ३८ ॥ ता रहणिक्खमणादिवि एते उ दिणे पडुच्च कायव्वं । जं एसोच्चिय विसओ पहाणमो तीएँ किरियाए ॥ ४२ ॥ लद्धूण दुल्लहं ता मणुयत्तं तह य पवयणं जइणं । उत्तमणिदंसणेसु बहुमाणो होइ कायव्वो ॥ ४४ ॥(९) योंती य एत्थ पडिमा विसिट्ठ-गुणजीवजोगओ भणिया । ताएरिसगुणजोगा सुहो उ सो खावणत्थत्ति ॥ ७ ॥ एवं जा छम्मासा एसोऽहिगारो इहरहा दिट्ठं । जावज्जीवंपि इमं वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥२२॥ एवं उक्कोसेणं एक्कारस मास जाव विहरेइ । एगाहादियरेणं एयं सव्वत्थ पाएणं ॥ ३८ ॥ भवणिव्वेयाउ जतो मोक्खे रागाउ णाणपुव्वाओ । सुद्धासयस्स एसा ओहेणवि वण्णिया समए ॥ ४३ ॥ जुत्तो पुण एस कमो ओहेणं संपयं विसेसेणं । जम्हा असुहो कालो दुरणुचरो संजमो एत्थ ॥ ४९ ॥ (१०) सति एयम्मि उ णियमा णाणं,

नह दंमणं च विण्णेयं। एएहिँ विणा एयं ण जातु केसिंचि सवुधेयं ॥ ६ ॥ गुरुपारतंत णाणं सद्दहणं एयसंगयं चेव। एत्तो उ
नह दंमणं च विण्णेयं। एएहिँ विणा एयं ण जातु केसिंचि सवुधेयं ॥ ६ ॥ गुरुपारतंत णाणं मद्दहणं एयसंगयं चेव। एत्तो उ
चरित्तीणं मासतुसादीण णिद्दिहं ॥७॥ चारित्तओ चिय दढं मग्गणुसारी इमो हवइ पायं। एसो हिते पवत्तति तहणाणातो सदं-
धोंदर ॥ १० ॥ खंताइभावउ चिय णियमेणं तस्स होति चाउत्ति। वंभं ण गुत्तिविगमा सेमाणिवि एव जोइज्जा ॥ २१ ॥ गुरु-
वेयावच्चेणं सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ। विउलं फलमिभस्स व विमोक्खेण।विवक्खारे ॥२२॥ गीयत्थ जायकप्पो अग्गीओ खलु
भवे मजाओ उ। पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ॥ २८॥ उउवद्धे वासासु उ सत्त समत्तो तदूणगो इयरो। असमत्ता-
नायाणं ओहेण ण किंचि आहव्वं ॥ २९ ॥ एगागियस्स दोसा इत्थीमाणे तहेव पडिणीए। भिक्खऽविसोहि महव्वय तम्हा
सवितिज्जए गमणं ॥३१॥ जं जह सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियालणा णत्थि। किं कालियाणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ? ॥३४॥
ते इह होंति सुपुरिसा कयण्णुया ण खलु तेऽन्नमन्नंति। कल्लाणभायणत्तेण गुरुजणं उभयलोगहियं ॥ ३६ ॥ जे इह तह विवरीया
गम्मं गुरुलाघवं अयाणंता। सग्गाहा किरियरया पवयणखिसावहा खुद्दा ॥ ३७॥ पायं अहिण्णगंठीतमा उ तह दुक्करंपि कुव्वंता।
वज्झा य ण ते साहू धंखाहरणेण विण्णेया ॥ ३८ ॥ तेसिं बहुमाणेणं उम्मग्गऽणुमोयणा अणिट्ठफला। तम्हा तित्थगराणाठिएसु
जुत्तोत्थ बहुमाणो ॥ ३९ ॥ ते पुण समिया गुत्ता पियदढधम्मा जिइंदियकसाया। गंभीरा धीमंता पण्णवणिज्जा महासत्ता ॥ ४० ॥
उस्सग्गववायाणं वियाणगा सेवगा जहासत्तिं। भावविसुद्धिसमेता आणारुतिणो य सम्मंति ॥ ४१ ॥ सव्वत्थ अपडिबद्धा
मेत्तादिगुणण्णिया य णियमेण। सत्ताइसु होंति दढं इय आययमग्गतल्लिच्छा ॥ ४२ ॥ (११) एवं आणाऽऽराहणजोगाओ आभिओ-
गियखओसि। उच्चागोयणिबंधो सासणवण्णो य लोगम्मि ॥७॥ कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स। संजमतवड्ढगस्स

उ अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १४ ॥ इयरम्मि विगप्पेणं जं जुत्तिखमं तहिं ण सेसंमि । संविग्गपक्खिए वा गीए सव्वत्थ इयरेण
॥ १३ ॥ संविग्गोऽणुवएसं ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं । जाणंतो तम्मि तहा अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१७॥ गुरुदेवोग्गहभूमीए
जत्तओ चेव होति परिभोगो । इट्ठफलसाहगो सइ अणिट्ठफलसाहगो इहरा ॥२३॥ एत्तो ओसरणादिसु दंसणमेत्ते गयादिओसरणं ।
सुव्वइ चेइयसिहराइएसु सुस्सावगाणंपि ॥२४॥ जो अत्तलद्धिओ खलु विसिट्ठखमगो व पारणाइत्तो । इहरा मंडलिभोगो जतीण
तह एगभत्तं च ॥ ३५ ॥ सज्झायादुव्वाओ गुरुकिच्चे सेसगे असंतम्मि । तं पुच्छिऊण कज्जे सेसाण णिमन्तणं कुज्जा ॥ ३८ ॥
दुलहं खलु मणुयत्तं जिणवयणं वीरियं च धम्मम्मि । एयं लद्धूण सया अपमाओ होइ कायव्वो ॥ ३९ ॥ दुग्गतरयणायररयण-
गहणतुल्लं जईण किच्चंति । आयतिफलमयुत्तसाहणं च णिउणं मुणेयव्वं ॥ ४० ॥ (१२) एयदोसविसुद्धो जतीण पिंडो जिणेहिऽ
णुण्णाओ । सेसकिरियाठियाणं एसो पुण तत्तओ णेओ ॥ २० ॥ एवंविहेसु पायं धम्मट्ठा णेव होइ आरंभो । गिहिसु परिणाममेत्तं
संतंपिय णेव दुट्ठंति ॥ ३९ ॥ तहकिरियाऽभावाओ सद्धामेत्ताउ कुसलजोगाओ । असुहकिरियाविरहियं तं हंदुचितं नदण्णं व
॥ ४० ॥ भोगंमि कम्मयावारदारवोऽवित्थ दोसपडिसेहो । णेओ आणाजोएण कम्मुणो निव्वयाए य ॥४४॥ (१३) एत्थ इमं
विण्णेयं अइदंपज्जं तु सुद्धिमंतेहिं । एक्कंपि सुपरिसुद्धं सीलंगं सेससब्भावे॥१०॥ एवं चिय मज्झत्थो आणाओ कत्थई पयट्टंतो ।
सेहगिलाणादट्ठा अपवत्तो चेव णायव्वो ॥१९॥ उस्सुत्ता पुण बाहति समतिवियप्पसुद्धावि णियमेणं । गीतणिसिद्धपवज्जणरूवा
णवरं णिरणुबंधा ॥ १८ ॥ परमगुरुणो य अणहे आणाए गुणे तहेव दोसे य । मोक्खट्ठी पडिवज्जिय भावेण इमं विसुद्धेणं ॥
२६ ॥ विहिताणुट्ठाणपरो सत्तऽणुरूवमियरंपि संधेंतो । अण्णत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्मदोसेवि ॥ २७ ॥ सव्वत्थ णिरभिसंगो

आणामेयंमि मन्नहा जुत्तो । एगग्गमणो धणियं तम्मि तहाऽमूढलक्खो य ॥२८॥ तह तइलपत्तिधारगणायगओ राहवेहगओ वा ।
एयं चएइ काउं ण उ अण्णो खुद्दसत्तोत्ति ॥ २९ ॥ उद्दित्थकड भुंजति छक्कायपमद्दणो घरं कुणति । पच्चक्खं च जलगते जो पियइ
कह णु सो साहू ? ॥ ४२ ॥ संपुण्णा विहिकिरिया भावेण विणा ण होति किरियत्ति । णियफलविगलत्तणओ गेवेज्जुववायणाएणं
॥४७॥ आणोहेणाणंता मुक्का गेवेज्जगेसु उ सरीरा । ण य तत्थासंपुण्णाएँ उववाओ होति किरियाए ॥४८॥ (१४) तित्थगराणं
आणा सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा । तस्सऽण्णहा उ करणे मोहादतिसंकिलेसोत्ति ॥ ३ ॥ संविग्गो उ अमाई मइमं कप्पट्ठिओ
अणासंसी । पण्णवणिज्जो सद्धो आणाइत्तो दुक्कडतावी ॥१२॥ आयारवमोहारव ववहारोवीलए पकुव्वी य । णिज्जव अवायदंसी
अपरिस्सावी य बोद्धव्वो ॥ १४ ॥ तह परहियम्मि जुत्तो विसेसओ सुहुमभावकुसलमती । भावाणुमाणवं तह जोग्गो आलो-
यणायरिओ ॥ १५ ॥ दव्वादीसु सुहेसुं देया आलोयणा जतो तेसुं । होति सुहभावबुड्ढी पाएण सुहा उ सुहहेऊ ॥ १९ ॥ भोगो
अणेसणीएऽसमियत्तं भावणाणऽभावणया । जहसत्ति चाकरणं पडिमाण अभिग्गहाणं च ॥ २३ ॥ णवि तं सत्थं व विसं दुप्पउत्तो
व कुणति वेतालो । जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमादिओ कुद्धो ॥ २७ ॥ जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि । दुल्लह-
बोधीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥ २८ ॥ आलोयणं अदाउं सति अण्णम्मिवि तहऽप्पणो दाउं । जेवि हु करेंति सोहिं तेऽवि सपल्ला
विणिद्दिट्ठा ॥ ३१ ॥ लद्धूण माणुसत्तं दुलहं चइऊण लोगसण्णाओ । लोगुत्तमसण्णाए अविरहियं होति जतितव्वं ॥५०॥ (१५)
अण्णेसिं पुण तब्भवतदण्णवेरूवाएँ जे अजोगत्ति । चरणस्स ते इणं खलु सलिंगचितिभेदगादीहिं ॥ २४ ॥ असुहज्झवसाणाओ
जो सुहभावो विसेसओ अहिगो । सो इह होति विसिट्ठो ण ओहतो समयणीतीए ॥ ३० ॥ सव्वावि य पव्वज्जा पायच्छित्तं भवं-

वरकडाणं । पावाणं कम्माणं ता एत्थं णत्थि दोसोत्ति ॥ ४८ ॥(१६) दुविहा एत्थ अचेला संतासंतेसु होइ विण्णेया । तित्थगरऽसंतचेला संताऽचेला भवे सेसा ॥ ११ ॥ एयस्स अकरणंमी आणो तह णीयकम्मबंधोत्ति । परमपविमाऽप्पाणम अयोहि भवबुद्धि अरिहंमि ॥ २५ ॥ पढिए य कहिए अहिगए परिहर उवठावणाए कप्पोत्ति । छक्कं तीहिं विसुद्धं सम्मं णवएण भेएण ॥ ३० ॥ गमणागमण विहारे सायं पाओ य पुरिमचरिमाणं । णियमेण पडिक्कमणं अइयारो होउ वा मा वा ॥ ३३ ॥ मज्झिमगाण उ दोसे कहंति जायम्मि तक्खणा चेव । दोसपडिघायणाय गुणावहं तह पडिक्कमणं ॥ ३४ ॥ कालादिदोसओ पुण ण दव्वओ एस कीरई णियमा । भावेण उ कायव्वो संथारगवयपाईहिं ॥ ३७ ॥ अथिरो उ होइ इयरो सहकारिसमेण ण उण तं हणइ । जयणा आयह उण्हं घडंण उ चयइ तंपि ॥ ४३ ॥ चरिमाणवि तह णेयं संजलणकसायसंगयं चेव । माइट्ठाणं पायं असइंपि हु कालदोसेणं ॥ ४८ ॥ एवं च संकिलिट्ठा माइट्ठाणंमि णिच्चतल्लिच्छा । आजीविवभयगत्था मूढा णो साहुणो णेया ॥ ५१ ॥ संविग्गा गुरुविणया णाणी दंतिंदिया जियकसाया ॥ भवविरहे उज्जुत्ता जहारिहं साहुणो होंति ॥ ५२ ॥(१७) तत्थ गुरुपारतंतं विणओ सज्झाय सारणा चेव । वेयावच्चं गुणवुड्ढि तहय णिप्फत्ति संताणो ॥ २ ॥ जे जंमि जंमि कालंमि बहुगया परयणुज्जइकरा य । उभओ जोगविसुद्धा आयारणठाणमाईया ॥ ४८ ॥ एएणं सह विरिए जमकरणं सयणसायओ सो उ । होसइयारो सो पुण आलोएयव्वओ गुरुणो ॥ ४९ ॥ (१८) तित्थयरणिग्गमाई चरणगुणपसाहणं तवो होइ । भव्वाण हिओ णियमा विसेसओ पढमठाणीयं ॥ ५ ॥ (१९)

एतासामुपयुक्ततमानां गाथानामवलोकनात् विपश्चितो निश्चेष्यन्ति प्रस्तुतप्रकरणस्य भावार्थसंगतत्वेन तत्रभवतां कृतेऽप्युक्ततमत्वं, किंच-समग्रस्य पंचाशकप्रकरणस्य कंठगतता कर्तुं युक्ता, परं संक्षेपरुचीनामेता गाथाः कंठस्थकरणे उपयुक्ततमा भविष्यन्ति ॥

श्रीपञ्चाशकशास्त्रे साक्षिश्लोकादिः

१०
१०
॥




भवविरहाङ्कपटुतमबोधलोचनभगवद्हरिभद्रसूरिपुरन्दरप्रपञ्चितं नवाङ्गीवृत्तिकृद्भगवदभयदेव-
सूरिविरचितटीकासमेतं

श्रीपञ्चाशकशास्त्रम् ।

नमिऊण वद्धमाणं सावगधम्मं समासओ वोच्छं । सम्मत्ताई भावत्थसंगयं सुत्तणीईए ॥१॥

ॐ नमो वीतरागाय । सद्दृष्टीनां समस्तार्था, गोभिर्यस्य प्रकाशिताः । तं नत्वा श्रीमहावीरतिग्मरश्मिं तमोऽपहम् ॥ १ ॥ वृद्धवाक्यानुसारेण, वृत्तिं वक्ष्ये समासतः । पंचाशकाह्वशास्त्रस्य, धर्मशास्त्रशिरोमणेः ॥२॥ इह हि विस्फुरन्निखिलातिशयतेजोधामनि दुष्षमाकालविपुलजलदपटलावलुप्यमानमहिमनि नितरामनुपलक्षीभूतपूर्वगतादिबहुतमग्रन्थसार्थतारकानिकरे पारङ्गतगदितागमाम्बरे पटुतमबोधलोचनतया सुगृहीतनामधेयो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिस्तथाविधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थिनामपटुदृष्टीनामुन्नमितजिज्ञासाबुद्धिकन्धराणामैदंयुगीनमानवानामात्मनोपलक्ष्यमाणान् विवक्षितार्थसार्थसाधनसमर्थान् कतिपयप्रवचनार्थतारतारकविशेषानुपदिदर्शयिषुः पञ्चाशद्गाथापरिमाणतया पञ्चाशकाभिधानानि प्रकरणानि चिकीर्षुरभ्यस्तश्रावकधर्मो यतिधर्मयोग्यो भवतीति-

१ आर्यायां पूर्वार्धपरार्धे विहायापरा न पादव्यवस्थेति नात्र थकारादर्वागपि यतौ क्षतिः,अत एव च पूर्वोत्तरार्धाद्यगणत्रयाद्विरतौ पथ्यायेति-सूरिवच्च इति ध्येयं धीमद्भिः ।

न्यायमाश्रित्य श्रावकधर्मप्रकरणं तावदादितो विभणिषुर्मङ्गलसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनाभिधायिकामिमां गाथामाह— पमीत्यादि,
तत्र विघ्नविनायकोपशान्तये शिष्यजनप्रवर्तनाय च शिष्टसमयपरिपालनार्थं चेष्टदेवतानमस्काररूपं भावमङ्गलमुपादेयं,
तथा श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थं शिष्टसमयपरिपालनार्थं च सम्बन्धादित्रयं वाच्यं, तथाहि—इह श्रेयोभूते वस्तुनि प्रवर्तमानानां प्रायो
विघ्नः संभवति, श्रेयोभूतत्वादेव, श्रेयोभूतं चेदं, स्वर्गापवर्गसंसर्गहेतुत्वात्, विघ्नोपहतशक्तेश्च शास्त्रकर्तुश्चिकीर्षितशास्त्रासंसिद्ध्या-
ऽभिप्रेतपुरुषार्थस्यानिष्पत्तिर्मा भूदिति विघ्नविनायकोपशमनाय मङ्गलमुपादेयम्, आह च—"बहुविग्घाइं सेयाइं तेण कयमंगलोव-
यारेहिं । सत्थे पयट्टियव्वं विज्जाएँ महानिहीए व्व ॥१॥" ननु मानसादिनमस्कारतपश्चरणादिना मङ्गलान्तरेणैव विघ्नोपघातस-
द्भावादिष्टसिद्धिर्भविष्यतीति किमनेन ग्रन्थगौरवकारिणा वाचनिकनमस्कारेणेति ?, सत्यं, किं तु श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिदं भविष्यति,
तथाहि—यद्यप्युक्तन्यायेन कर्तुरविघ्नेनेष्टसिद्धिः स्यात् तथापि प्रमादवतः शिष्यस्येष्टदेवतानमस्काररूपं मङ्गलं विना प्रक्रान्तग्रन्थाध्य-
यनश्रवणादिषु प्रवर्तमानस्य विघ्नसंभवादप्रवृत्तिः स्यात्, मङ्गलवाक्योपन्यासे तु मङ्गलवचनाभिधानपूर्वकं प्रवर्तमानस्य मङ्गल-
वचनापादितदेवताविषयशुभभावव्यपोहितविघ्नत्वेन शास्त्रे प्रवृत्तिरप्रतिहतप्रसरा स्यात्, तथा देवताविशेषनमस्कारोपादाने सति
देवताविशेषगदितागमानुसारीदं शास्त्रमत उपादेयमित्येवंविधबुद्धिनिबन्धनत्वेन शिष्यप्रवृत्त्यर्थमिदं भवतीति, आह च—"मंगल-
पुव्वपवत्तो पमत्तसीसोऽवि पारमिह जाइ । सत्थविसेसण्णाणा तु गोरवादिह पयट्टेज्जा ॥१॥" ननु मङ्गलविकलानामपि बहुतम-
शास्त्राणां दृश्यते संसिद्धिः श्रोतृजनप्रवृत्तिश्चेति, ततः किमनेनानैकान्तिकेन शास्त्रगौरवकारिणा च मङ्गलेनाभिहितेनेति ?, सत्यं,
किंतु शिष्टसमयपरिपालनार्थमिदं भविष्यति, तथाहि—शिष्टाः क्वचिदभीष्टे वस्तुनि प्रवर्तमाना इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रायः प्रव-

र्तन्ते, शिष्टश्चायमप्याचार्य इति शिष्टसमाचारः परिपालितो भवत्विति मङ्गलमभिधेयम्, आह च–"शिष्टाः शिष्टत्वमायान्ति, शिष्टमार्गानुपालनात्। तल्लङ्घनादशिष्टत्वं, तेषां समनुपद्यते ॥१॥" तथा सम्बन्धादीनि श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थमभिधेयानि, तथाहि–पदनभिहितसम्बन्धं तत्र न प्रवर्तन्ते प्रेक्षावन्तो दशदाडिमादिवाक्य इव, एवं निरभिधेयेऽपि काकदन्तपरीक्षायामिव, एवं निष्प्रयोजनेऽपि कण्टकशाखामर्दन इवेति, अतः सम्बन्धादिप्रतिपादनं श्रोतॄणां शास्त्रप्रवृत्त्यङ्गम्। अथासर्वज्ञावीतरागवचनानां व्यभिचारित्वसंभवेन सम्बन्धादिसद्भावनिश्चयाभावान्नैतः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरत्र भविष्यति, या पुनः संशयात्प्रवृत्तिस्तां सम्बन्धादिवचनं विनैव भवन्तीं को निवारयितुं पारयतीति न श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गं सम्बन्धादिवचनं, सत्यं, किंतु शिष्टसमयपरिपालनार्थं भविष्यति, शास्त्रकारा ह्येवं प्रवर्तमानाः प्रायः प्रेक्ष्यन्ते, येऽपि किल बौद्धाः सर्वथा वचनस्य प्रामाण्यं नाभ्युपगतास्तेऽपि सम्बन्धाद्यभिधानपूर्वकमेव प्रवृत्तास्ततः शिष्टसमयानुपालनार्थमिदमिति। इह संहितादिव्याख्यालक्षणमपञ्चोऽन्यतोऽवधारणीयः। तत्र 'नत्वा' प्रणम्य। कमित्याह–'वर्धमानं' स्वकुलसमृद्धिवृद्धिकारकत्वेन पितृभ्यां व्यवस्थापितैवंविधनामकं चरमतीर्थाधिपतिं, शेषजिनत्यागेन वर्धमानग्रहणं प्रवर्तमानतीर्थाधिपत्वेन परमोपकारित्वात्। ततः किमित्याह–श्रावकाणां वक्ष्यमाणशब्दार्थानां धर्मो–दुर्गतिगर्तनिपतज्जन्तुजातधरणप्रवणपरिणामस्तत्पूर्वकमनुष्ठानं च श्रावकधर्मः, धर्मो हि साधुश्रावकसम्बन्धाद्द्विविधो भवति, ततः साधुधर्मव्यवच्छेदार्थं श्रावकशब्देन धर्मो विशेषितः, साधुधर्मो हि प्रकारा(करणा)न्तरेण वक्ष्यते 'अतस्तं श्रावकधर्मं वक्ष्य' इति सम्बन्धः। अनेन चास्य प्रकरणस्याभिधेयमुक्तम्। ननु पूर्वाचार्यैरेव श्रावकधर्मस्याभिहितत्वात् किं तद्भणनेनेत्याशङ्क्याह–'समासतः' संक्षेपेण, पूर्वाचार्यैर्हि प्रपञ्चत उक्तः, अहं तु मन्दमतिसत्त्वानुग्रहार्थं संक्षेपेण तं वक्ष्ये, अनेन च प्रकरणकरणविषयायाः स्वप्रवृत्तेः प्रयोजनमुक्तम्,

यतः-"प्रयोजनमनुद्दिश्य, न मन्दोऽपि प्रवर्तते"। तथा संक्षिप्तकरणस्य सुखाध्येयत्वादिना विस्तरवद्ग्रन्थत्यागेन श्रोतारोऽत्र प्रवर्तिता
भवन्ति। किंभूतं श्रावकधर्ममित्याह-'सम्यक्त्वं' वक्ष्यमाणलक्षणम् 'आदिः' प्रथमं यस्याणुव्रतादेर्धर्मस्य स तथा तं सम्यक्त्वादिम्,
इह च प्राकृतशैल्यानुस्वारस्याश्रवणं, स्वरूपविशेषणं चेदं, नतु व्यवच्छेदार्थकं, सर्वस्यापि धर्मस्य सम्यक्त्वादित्वात्, न हि
मिथ्यादृशां धर्मो धर्मतां भजते, अथवा प्ररूपणापेक्षया अनु(णु)व्रतादिरपि तद्धर्मः स्यादित्यभिधीयते-सम्यक्त्वादिः। ननूमास्वाति-
वाचकेन समासेन सम्यक्त्वादिश्च श्रावकप्रज्ञप्त्यादावसावुक्तस्ततो नानेन प्रयोजनमित्याशङ्क्याह-'भावः' तत्त्वमैदंपर्यं तेन तद्रूपो
वा 'अर्थः' अभिधेयो भावार्थस्तेन संगतो-युक्तो यः स तथा तं भावार्थसंगतम्, अयमभिप्रायः-पूर्वाचार्यैर्गम्भीरोक्त्याऽभिहितानां व्रता-
तिचारादीनामर्थानां यन्मन्दबुद्धिशिष्यवर्गस्य दुरवसेयमैदंपर्यं तेन संगतं तं भणिष्यामि, एतच्चैदंपर्यमतिचारादिषु यथास्थानं दर्शयि-
ष्यामः, अनेनाप्यत्र ग्रन्थान्तरत्यागेन श्रोतॄणां प्रवृत्तिरापादिता, अथवा सम्यक्त्वादिश्चासौ भावार्थसंगतश्चेति कर्मधारयोऽतस्तम्,
अथवा सम्यक्त्वादीनां-सम्यक्त्वाणुव्रतगुणव्रतप्रभृतीनां यो भावार्थः-परमार्थः, अथवा सम्यक्त्वादयो ये भावाः-पदार्थाः शब्द-
रूपास्तेषां योऽर्थः-अभिधेयस्तेन यः संगतः स तथा तम्, इह च दीर्घत्वमिकारस्य प्राकृतशैल्यैव। अथवा भावार्थसंगतमित्येत-
त्पदं सम्यक्त्वादिभावार्थसङ्गतमित्येवद्वा 'वक्ष्य' इत्येतस्याः क्रियाया विशेषणत्वेन व्याख्येयम्। ननु श्रोतृजनप्रवर्तकविशेषणकद-
म्बकोपेतमपीदं प्रकरणमसर्वज्ञेनावीतरागेण च भवता प्रणीयमानमविसंवादार्थिनां न प्रवृत्तिविषयो भविष्यति, असर्वज्ञवचने वि-
संवादाशङ्काऽनिवृत्तेरित्याशङ्कमान आह-'सुत्तं' गणधरादिप्रणीतागमस्तस्य 'नीतिः' न्यायः सूत्रनीतिस्तया, यदि हि स्वातन्त्र्येण मया-
भिधीयेत तदा व्यभिचारशङ्कया नेदं प्रवृत्तिविषयः स्यात्, अयं चार्थः श्रोतृप्रवृत्त्यर्थं नमस्कारकरणेन सामान्यत उक्तोऽपि

परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो । अइतिव्वकम्मविगमा सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥२॥

पुनर्विशेषेणोक्त इति न पुनरुक्ततेति, तदेवमस्या गाथाया आदिपादेन मङ्गलमभिहितं, शेषपादैस्तु सविशेषणमभिधेयं मुख्यवृत्त्याऽभिहितम्, तदभिधाने च गौणवृत्त्या प्रयोजनं सम्बन्धश्चोक्तः, तथाहि-अस्य द्विविधं प्रयोजनम्-अनन्तरं परंपरं च, पुनरेकैकं कर्तृश्रोत्रपेक्षया द्विधा, तत्र कर्तुरनन्तरप्रयोजनं समासतो विनेयानां श्रावकधर्माधिगमकरणम्, परंपरं तु परोपकारद्वारेण कर्मक्षयाऽपवर्गणम्, श्रोतॄणां पुनरनन्तरं समासप्रकरणत्वादस्याक्लेशेन श्रावकधर्माधिगमः, परंपरं तु निर्वाणमेवेति, इदं च प्रयोजनमभिधेयाभिधानेन सामर्थ्यादभिहितम्, न हि पुरुषार्थानुपयोगिवस्तुनोऽभिधानाय सन्तः प्रवर्तन्ते, तन्महत्ताहानिप्रसङ्गात्, तथाऽस्य प्रकरणस्येदं प्रयोजनमिति दर्शयता दर्शित एवास्योपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धः, तथाहि-इदं प्रकरणमुपायो वर्तते, उपायान्तरेण निरशिताधिगमकरणादीनामसिद्धेः, अत एवेदमेवाधिगमादिकरणमस्योपेयमिति, आह च-"सम्बन्धः प्रोक्त एव स्यादेतस्यैतत्प्रयोजनम्। इत्युक्ते तेन नो वाच्यो, भेदेनासौ प्रयोजनात् ॥१॥" इति गाथासमासार्थः ॥१॥ 'श्रावकधर्मं वक्ष्ये' इति यदुक्तं, तत्र श्रावकशब्दार्थनिरूपणार्थमाह-परलोयेत्यादि, यो जिनवचनं शृणोति स श्रावक इत्येवमिह क्रियाभिसम्बन्धः, तत्र य इति सामान्यनिर्देशः, तेन यः कश्चित्प्राणी, न पुनर्नियतकुलोत्पन्न एव, यथा ब्राह्मणकुलोत्पन्न एव ब्राह्मणो भवतीति, क्रियाविशेषनिबन्धनत्वात् श्रावकत्वस्येति, ननु श्रवणमात्रनिबन्धनं श्रावकत्वमेवं स्यात्, तच्च सर्वस्य श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतः संभवति, विशिष्टं च तदिष्यत इत्याशङ्कायामाह-जिनवचनम्-आप्तागमं, न पुनर्यत्किञ्चन अनाप्तवचनं वा, तस्याप्रमाणतया विवक्षितार्थासाधकत्वेन श्रवणानुचितत्वात्, किंभूतं तदित्याह-परलोको-जन्मान्तरं प्रधानं जन्म वा तस्मै हितं-पथ्यं परलोकहितम्, जिनवचनाराधनाद्धि परलोकोऽनुकूल एव भवतीति, स्वरूप-

प्रतिपादनपरं चेदं विशेषणं, परलोकाहितस्य जिनवचनस्य सर्वथैवाभावेन व्यवच्छेद्याभावात्, अथवा यज्जिनवचनमिहलोकहितं
निमित्तशास्त्रं ज्योतिषप्राभृत (योनिप्राभृत) प्रभृतिकं तद्व्यवच्छेदार्थमेतद्भविष्यति, यद्यपि ज्योतिषप्राभृतादिकमभिप्रायविशेषतः
परलोकहितं तथापि तन्मुख्यवृत्त्येहलोकहितमेव,अथाभिप्रायविशेषतोऽपि यत् परलोकहितं तत् परलोकहितमेव, एवं तर्हि सर्वाण्यपि
कुशासनानि तथा भवन्तु, किमेकमेव जिनवचनं परलोकहितमित्युच्यते ?, सर्वेषामपि तेषां विवक्षया परलोकहितत्वेनेष्टत्वात्,यदा-
ह–"जे जत्तिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे। गणणाईया लोया दोण्हवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥१॥" अतोऽनेन विशेषणेन
यत्साक्षात्परलोकहितं साधुश्रावकानुष्ठानगर्भं जिनवचनं तच्छृण्वञ्छ्रावको भवतीत्यभिहितम्, अत एवान्यत्र पूज्यैरेवोक्तम्–"सं-
पत्तदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य। सामायारिं परमं जो खलु तं सावयं बिंति ॥१॥" कथं शृणोतीत्याह–सम्यग्–अशठतया,
प्रत्यनीकादिभावेन शृण्वन्नपि न श्रावको भवतीति भावः, अथवा ननु कपिलादिवचनमपि परलोकहितं भवति, कथमन्य-
थाऽभिधीयते–'जावंति बंभलोअं चरगपरिव्वायउववाउत्ति', अतस्तत्त्यागेन कथं जिनवचनमेव शृण्वन् श्रावको भवतीत्याश-
ङ्कायामाह–सम्यक्–समीचीनमत्यन्तं परलोकहितमितियावत्, यथा हि जिनवचनं साक्षात्पारंपर्येण वा मोक्षहेतुतया सम्यक्
परलोकहितं न तथा कपिलादिवचनमिति भावः, शृणोति–आकर्णयति,किंभूतः सन्नित्याह–उपयुक्तो–दत्तावधानः,अनुपयुक्तश्रवणं
हि नार्थवद्,अत एव तन्निषेधार्थमुक्तम्–'निद्दाविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं। भत्तिबहुमाणपुव्वं उवउत्तेहिं सुणेयव्वं॥१॥'
एवंविधे श्रवणे हेतुमाह, अथवा ननु व्यवहारेणोपयुक्तोऽशठश्च जिनवचनमभव्योऽपि कस्यांचिदवस्थायां शृणोति, तत्कथमसौ
श्रावकः स्यादित्याशङ्क्याह–अतितीव्रस्य–अत्युत्कटस्य कर्मणो–ज्ञानावरणीयमिथ्यात्वादेर्विगमो–विनाशोऽतितीव्रकर्मविगमस्तस्मात्,

तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तमसग्गहो ण एयम्मि । मिच्छत्तखओवसमा सुस्सूसाई उ होंति दढं ॥३॥

न हि तीव्रकर्मविगममन्तरेणोक्तविशेषणश्रवणसंभवः, पातनान्तरपक्षे तु उक्तविशेषणवतः शृण्वतोऽप्यतितीव्रकर्मविगम एव विवक्षितश्रावकत्वं भवति, यदाह-"सत्तण्हं पगडीणं अब्भंतरओ उ कोडिकोडीए । काऊण सागराणं जइ लहति चउण्हमण्णयरं ॥१॥" स इत्यनन्तरोद्दिष्टः, उक्कोसोत्ति-उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः-उत्कृष्टः प्रधानो, मुख्यश्रावकव्यपदेशभाजनत्वात्तस्य, यद्वा शुक्लः-शुक्लपाक्षिकः, अपार्धपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरीभूतसंसार इत्यर्थः, स उक्तस्वरूपः श्रावकः-शृणोतीति शब्दव्युत्पत्तिविषयीभूतनामा, अत्र-एतस्मिन् श्रावकधर्मविचारप्रक्रमे, अन्यत्र पुनर्निर्विशेषणेन श्रवणेन वा नामादिभेदभिन्नो वा श्रावको भवतीति गाथार्थः ॥२॥

'सम्यक्त्वादिश्रावकधर्मं वक्ष्य' इत्युक्तं, तत्र सम्यक्त्वं तावत् स्वरूपतः फलतश्च निरूपयन्नाह—'तत्ते'त्यादि, तत्त्वार्थानां-सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां श्रद्धानम्-एतदेवमेवेतिप्रत्ययः,तत्त्वेन वा-भावतोऽर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् । तत्किमित्याह-सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः, समञ्चतीति वा सम्यक्, तद्भावः सम्यक्त्वमित्यस्य स्वरूपमभिहितम्, अथास्यैव दोषविशेषनिवृत्तिरूपं फलमाह, अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं निह्नवानामप्यस्तीति तेषामपि सम्यक्त्वं स्यादित्याशंक्याह-असद्ग्रहः-अशोभनाभिनिवेश आप्तवचनबाधितार्थपक्षपात इत्यर्थः, न-नैव, यथोक्तश्रद्धानविरुद्धत्वात् असद्ग्रहस्य भवतीति गम्यते, एतस्मिन्-अनन्तराभिहितलक्षणे सम्यक्त्वे सति, ततो निह्नवानां कथं तदिति, अथ कस्मादयमिह सति न भवतीत्याह-मिथ्यात्वस्य-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मदलिकस्य क्षयेण-उदीर्णस्य विनाशेन सहोपशमो-विपाकोदयापेक्षया विष्कंभितोदयत्वं मिथ्यात्वक्षयोपशमस्तस्माद्धेतोः, उपलक्षणत्वादस्य क्षयादुपशमाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ,मिथ्यात्वोदयो ह्यसद्ग्रहहेतुः,मिथ्यात्वकर्मोदयश्च सम्यक्त्वे सति नास्ती-

त्यसद्ग्रहाभावोऽत्रेति भावः, के पुनरिह सति गुणा भवन्तीत्याह–शुश्रूषादयो धर्मशास्त्रश्रवणेच्छाप्रभृतयो वक्ष्यमाणाः,तुशब्दः पुनः-
सम्यक्त्वमित्युक्तम्, श्रद्धानं च तथेतिप्रत्ययः, स च मानसोऽभिलाषः, न चायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते, सम्यक्त्वं तु तस्याम-
शब्दार्थः, भवन्ति–जायन्ते मिथ्यात्वक्षयोपशमादेरेव,अनेनापि सम्यक्त्वस्य फलमभिहितम्,ननु मिथ्यात्वोदयेऽपि ते केचन संभ-
चन्तीत्याह–दृढम्–अतिशयेन,यादृशैस्तैः सम्यक्त्वमभिव्यज्यत इति भावः,अतिशायितां च तेषां दर्शयिष्यामः,ननु तत्त्वार्थश्रद्धानं
सम्यक्त्वमित्युक्तम्, श्रद्धानं च तथेतिप्रत्ययः, स च मानसोऽभिलाषः, न चायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते, सम्यक्त्वं तु तस्याम-
पीष्टं,षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः साद्यपर्यवसितकालरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थितेः प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः ? इति,अत्रोच्यते–
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यं, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यो रुचिरूप आत्मपरिणामविशेषः, आह च–"से य
सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते", अत एवामनस्कानां
सिद्धादीनां तदिष्यते, इह च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति, यथोक्तश्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवत्येवेति श्रद्धानवतां
सम्यक्त्वस्यावश्यंभावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति, ननु मिथ्यात्वोदयजन्यत्वेनासद्ग्रहस्य
सम्यक्त्वे सति तत्क्षयोपशमाद्युक्तोऽसद्ग्रहाभावः, शुश्रूषादिगुणानां तु ज्ञानचारित्रांशरूपत्वेन ज्ञानावरणीयचारित्रमोहनीयवीर्या-
न्तरायकर्मक्षयोपशमलभ्यत्वान्न युक्तः सम्यक्त्वसद्भावमात्रे तद्भाव इति,अत्रोच्यते–सम्यक्त्वहेतोर्मिथ्यात्वक्षयोपशमस्यावसरे ज्ञाना-
वरणानन्तानुबन्धिकषायलक्षणचारित्रमोहनीयादिकर्मणामपि क्षयोपशमोऽवश्यमेव भवतीतिकृत्वा सम्यक्त्वे सति ते भवन्तीत्य-
भिधीयते,यथा केवलज्ञानावरणक्षयलभ्यमपि केवलज्ञानं कषायक्षये लभ्यत इत्यभिधीयते, आह च–"केवलियनाणलंभो नण्णत्थ
खए कसायाणं", यथा वा मिथ्यात्वक्षयोपशमलभ्यमपि सम्य[illegible] इत्यभिधीयते.

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए । वेयावचे णियमो वयपडिवत्तीए (इ) भयणा उ ॥४॥

आह च-"पढमिल्लुयाण उदए नियमा संजोयणाकसायाणं । सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धियावि न लहंति ॥ १ ॥" ननु वैयावृत्त्य-
नियमस्य तपोभेदत्वेन चारित्रांशरूपत्वात् सम्यक्त्वसद्भावे चावश्यंभावित्वादविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकाभावः प्राप्नोतीति, नैवम्,
वैयावृत्त्यनियमरूपचारित्रस्याल्पतमत्वेनाचारित्रतया विवक्षितत्वात्, यथा संमूर्छनजानां संज्ञामात्रसद्भावेऽपि विशिष्टसंज्ञाया अभा-
वादसंज्ञित्वमिष्टम्, विरतत्वं हि महाव्रताणुव्रतादिरूपानल्पचारित्रसद्भाव एवेष्यते, यतो न कार्षापणमात्रधनेन धनवान्, एकग-
वेन वा गोमानिति, ननु सम्यक्त्वे सति शुश्रूषादयो भवन्तीति न युक्तं,व्यभिचारित्वात्,तथाहि-उपशान्तमोहादीनां सम्यक्त्व-
सद्भावेऽपि न शुश्रूषादयो भवन्ति, सकलविकल्पकल्लोलमालाविकलत्वेन निस्तरङ्गमहामकराकराकारत्वात्तदन्तःकरणस्येति, अत्रो-
च्यते, यद्यपि शुश्रूषादय उपशान्तमोहादीनां साक्षान्न भवन्ति,कृतकृत्यत्वादिति, तथापि फलतो भवन्ति,तद्भावस्य तत्फलत्वादिति
कुतो व्यभिचारः ?, श्रावकधर्माधिकाराद्वा यच्छ्रावकावस्थायां सम्यक्त्वं तदाश्रित्य शुश्रूषादयस्तु भवन्ति इदमित्यभिहितमतो न
दोष इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ 'शुश्रूषादयस्तु भवन्ती'त्युक्तं, अथ तानेवाह—'सुस्सूसे'त्यादि, श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, ह्रस्वत्वं तु
प्राकृतशैलीवशात्, सद्बोधावन्ध्यनिबन्धनधर्मशास्त्रश्रवणवाञ्छेत्यर्थः, सा च वैदग्ध्यादिगुणवत्तरुणनरकिन्नरगानश्रवणरागादप्य-
धिकतमा सम्यक्त्वे सति भवति, यदाह-"यूनो वैदग्ध्ययुतः कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढम्। किन्नरगेयश्रवणादधिको धर्मश्रुतौ
रागः ॥१॥" तथा धर्मो-श्रुतचारित्रलक्षणः, तत्र श्रुतधर्मरागस्य शुश्रूषापदेनैवोक्तत्वादिह धर्मरागश्चारित्रधर्मरागोऽभिप्रेतः, स च
कर्मदोषात्तदकरणेऽपि कान्तारातीतदुर्गतबुभुक्षाक्षामकुक्षिब्राह्मणघृतपूर्णभोजनाभिलाषादप्यतिरिक्तोऽत्र भवति, तथा गुरवो-धर्मो-

जं सा अहिगयराओ कम्मखओवसमओ ण य तओवि। होइ परिणामभेया लहुंति तम्हा इहं भयणा ॥५॥

पदेशका आचार्यादयः देवाथ–आराध्यतमा अर्हन्तो गुरुदेवास्तेपाम्, इह च गुरुपदस्य पूर्वनिपातो विवक्षया गुरूणां पूज्यतरत्व-
ख्यापनार्थः, न हि सद्गुरूपदेशं विना सर्वविद्देवाधिगम इति भावः, यथासमाधि–[यथा]समाधानानतिक्रमेण, इह चाव्ययीभाव-
समासादपि तृतीयाया अलोपः प्राकृतत्वात् असमासाद्वा, व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं तस्मिन्–तत्प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्य-
र्चनादौ, नियमः–अवश्यंकर्तव्यताङ्गीकारः, स च सम्यक्त्वे सति भवतीति प्रक्रमः, एतेषां च शुश्रूषादीनां यथोत्तरं हेतुफलभावो-
ऽवसेयः,अथ यथा शुश्रूषादयोऽत्र भवन्ति तथा किं व्रतान्यपि भवन्तीत्याशंक्याह–व्रतानाम्–अणुव्रतादीनां प्रतिपत्तिः–अङ्गीकरणं
व्रतप्रतिपत्तिः, तुशब्दस्य पुनरर्थस्येह सम्बन्धात्तस्यां व्रतप्रतिपत्तौ तु–पुनर्भजना–विकल्पना भवति, सम्यक्त्वे सति व्रतानि कदा-
चिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति भाव इति गाथार्थः ॥४॥ भजनाकारणमेवाह—'जं से'त्यादि, यद्–यस्मात्कारणात्, सा–व्रतप्रतिपत्तिः,
अधिकतरात्–सम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तभूतकर्मक्षयोपशमापेक्षया समर्गलतरात्, कर्मक्षयोपशमतः–चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाद्भ-
वति, ननु सम्यक्त्वलाभावसर एवासौ कुतो न भवतीत्याह–न च–नैव, '(ततोऽविचि)' तकोऽपि–सोऽपि, यदैव सम्यक्त्वप्रति-
पत्तिहेतुः कर्मक्षयोपशमो भवति न तदैव व्रतप्रतिपत्तिहेतुभूतस्तदधिकतरोऽपीत्यपिशब्दार्थः, अन्ये तु 'तओ उ' इति पठन्ति, तत्र
व्याख्या–न च–नैव तकः पुनर्भवति–जायते, कुतः पुनरेवमित्याह–परिणामभेदात्–तथाभव्यत्वहेतुकात्माध्यवसायविशेषाद्, वि-
शिष्टतरपरिणामनिबन्धनत्वात्तस्येति भावः, 'लहुंति'त्ति लघ्विति–शीघ्रमेव, सम्यक्त्वनिबन्धनक्षयोपशमानन्तरमेवेत्यर्थः, तस्मात्–
ततः कारणादिह व्रतप्रतिपत्तौ भजना–विकल्पना, शुश्रूषादिषु पुनर्नियमः, इयमत्र भावना–यद्यपि ग्रन्थिभेदादेव सम्यक्त्वमुदेति,

सम्मा पलियपुहुत्तेऽवगए कम्माण भावओ होंति । वयपभितीणि भवण्णवतरंडतुल्लाणि णियमेण ॥६॥

तत्र च व्रतप्रतिपत्तिरपि तत्त्वतो भवतीति गाथार्थः ॥५॥ इदमेवाह—'सम्मे'त्यादि, 'सम्मत्ति' सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् सम्यक्त्वात्प्राप्यादनन्तरं, पल्योपमानामागमप्रसिद्धानां कालपरिमाणविशेषलक्षणानां पृथक्त्वं—द्विप्रभृतिनवान्तसंख्यालक्षणं पल्योपमपृथक्त्वं तस्मिन्, अपगते—अपेते वेदित इत्यर्थः, केषां पल्योपमपृथक्त्वमित्याह—कर्मणां—ज्ञानावरणादीनाम्, इह च कर्मस्थितेरिति पाच्ये स्थितेः स्थितिमतां चाभेदविवक्षया कर्मणामित्युक्तम्, यतो मोहनीयादिकर्मणां सागरोपमकोटीकोटीसप्तत्यादिकायाः स्थितेर्मध्यात् कोटीकोट्यादिकां(त्यधिकां)स्थितिं यथाप्रवृत्तिकरणेन क्षपयति तावद्यावदेका पल्योपमासंख्येयभागोना सागरोपमकोटीकोटीशेषा, ततो ग्रन्थिभेदेन सम्यक्त्वं लभते, ततः शेषकर्मस्थितेः पल्योपमपृथक्त्वे क्षपिते सत्यणुव्रतानि लभत इत्यागममुद्रा, ततः किमित्याह—भावतः—परमार्थवृत्तिमाश्रित्य, द्रव्यतः पुनरतिदीर्घतरायामपि कर्मस्थितौ महाव्रतान्यपि भवन्ति, तदुक्तम्—"सव्वजियाणं जम्हा सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ। भणिओ जिणेहि सो नय लिंगं मोत्तुं जओ भणियं ॥१॥ जे दंसणवावण्णा लिंगग्गहणं करिंति सामण्णे। तेसिंपि य उववाओ उक्कोसो जाव गेविज्जा ॥२॥" 'होंतित्ति' भवन्ति—जायन्ते, कानीत्याह—व्रतप्रभृतीनि—अणुव्रतादीनि, स्वरूपतः किंविधानि तानीत्याह—भवार्णवतरण्डतुल्यानि—संसारसागरोत्तरणद्रोणादिकल्पानि, नियमेन—अवश्यंभावेन, तदुक्तम्—"सम्मत्तंमि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा। चरणोवसमखयाणं सागरसंखंतरा होंति ॥१॥" पल्योपमपृथक्त्वादिशेषस्य च कर्मणो ह्रासोऽनुक्रमेण स्याद् वीर्योल्लासात्करणान्तरप्रवृत्तेरतिशीघ्रकालेन वा, तदुक्तम्—"एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु। अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं च सव्वाइं ॥१॥" ननु यदा सम्यक्त्वयुक्त एव नवपल्योपमातिरिक्तस्थितिकदेवेषु-

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणवहविरमणाईणि । उत्तरगुणा तु अण्णे दिसिव्वयाई इमेसिं तु ॥७॥

तस्यामव-
त्पद्यते तदा देवभवे विरतेरभावात् कथं 'सम्मत्तंमि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होज्जा' इत्येतद् घटते ?, अत्रोच्यते, पल्योपमपृथ-
स्थायां यावतीं स्थितिं क्षपयति तावतीमन्यां बध्नाति, ततो देशोनसागरोपमकोटीकोटीरूपाया अधिकृतकर्मस्थितेः भजनेति
क्त्वस्य नापगमो भवतीति न देवभवादौ देशविरतिलाभः स्यादिति न विरोधः । तदेवं सम्यक्त्वलाभेऽपि व्रतप्रतिपत्तौ विभणि-
स्थितमिति गाथार्थः ॥६॥ 'सम्यक्त्वादिश्रावकधर्मं वक्ष्य' इति यदुक्तं, तत्र सम्यक्त्वमुक्तं, अथादिशब्दाक्षिप्तान्यणुव्रतादीनि महाव्रतानीव,
पुस्तत्प्रस्तावनार्थमाह—'पंचे'त्यादि, पञ्चेति सङ्ख्या, तुशब्दोऽवधारणे, ततः पञ्चैव, न चत्वारि, मध्यमतीर्थेषु अणूनि-
यतः शैलकज्ञाते शैलकराजो नेमिनाथशिष्यस्यान्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं श्रमणोपासकधर्मं प्रतिपन्न इत्यभिहितम्, अथ-
लघूनि व्रतानि–नियमा अणुव्रतानि, अणुत्वं चामीषां महाव्रतापेक्षं, अणोर्वा–यत्यपेक्षया लघोर्गुणस्थानिनो व्रतान्यणुव्रतानि, 'ज-
वाऽनु–पश्चान्महाव्रतप्ररूपणापेक्षया व्रतान्यनुव्रतानि, पूर्वं हि महाव्रतानि प्ररूप्यन्ते ततस्तत्प्रतिपत्त्यसमर्थस्यानुव्रतानि, यदाह–प्रतीय-
इधम्मस्सऽसमत्थे जुंजति तद्देसणंपि साहूणं' किंस्वरूपाणि तानीत्याह–स्थूला–असूक्ष्माः कुदृष्टिभिरपि प्राणित्वेन प्रायः सूक्ष्मत्वात्,
मानत्वाद्वीन्द्रियादयः, त एव स्थूलकाः, एतेनैकेन्द्रियाणां व्युदासः, सम्यग्दृष्टिभिरेव प्रायः प्रतीयमानत्वेन तेषां विरमणं–
प्राणा–उच्छ्वासादयस्तद्योगात्प्राणाः प्राणिनः, अनेनाचेतनानां व्युदासः,तद्वधस्येहाप्रत्याख्येयत्वात्,तेषां वधो–हिंसा तस्य गुण-
विरतिः स्थूलकप्राणवधविरमणं, तदादि–प्रथमं येषां तानि तथा, मूलगुणाश्चैतानि परिभाष्यन्ते, श्रावकधर्मतरोर्मूलकल्पत्वात्, न्युत्तर-
व्रतादीनि तु तदुपचयलक्षणगुणनिबन्धनत्वेनात्मसत्तां बिभ्रति, ततस्तानि श्रावकधर्ममहाद्रुमस्य शाखाप्रत्याख्याना(प्रख्या)

थूलगपाणवहस्सा विरई दुविहो य सो वहो होइ । संकप्पारंभेहिं वज्जइ संकप्पओ विहिणा ॥८॥
गुरुमूले सुयधम्मो संविग्गो इत्तरं व इयरं वा । वज्जित्तु तओ सम्मं वज्जेइ इमे य अइयारे ॥९॥

गुणपरिमाणभाञ्जि, तथा चाह–'उत्तरगुणा' इति उत्तररूपा गुणा उत्तरगुणाः,उपचयहेतव इत्यर्थः, तुशब्दः पुनरर्थः,तस्य चान्ये तु इत्येवं प्रयोगः, ततश्चान्ये तु–प्राणवधविरमणादिभ्योऽपरे पुनर्दिग्व्रतादयो गुणव्रतशिक्षाव्रतरूपाः, 'इमेसिं तु त्ति' तुशब्दस्यैवकारार्थत्वादमीषामेवाणुव्रतानां मूलगुणत्वेन रूढानामुत्तरगुणा इति योग इति गाथार्थः ॥७॥ 'स्थूलकप्राणवधविरमणादीनि पञ्चाणुव्रतानी'त्युक्तं, तत्र प्रथमाणुव्रतस्वरूपप्रतिपादनायाह–'थूले'त्यादि, स्थूलकप्राणवधस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्य, इह च विरतिशब्दयोगे पञ्चमीप्राप्तावपि षष्ठीनिर्देशः सम्बन्धविवक्षणात्, दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात्, विरतिर्विरमणं–निवृत्तिः, प्रथमाणुव्रतं भवतीति शेषः, किमविशेषेण विरतिरणुव्रतं ?, नैवमित्यत आह–द्विविधो–द्विप्रकारः, चशब्दः पुनःशब्दार्थः,'सोत्ति' यस्य स्थूलप्राणवधस्य विरतिः प्रथमाणुव्रतं भवत्यसौ वधो–हननं भवति–वर्तते, कथमित्याह–संकल्पारम्भाभ्यां, तत्र व्यापादनाभिसन्धिः सङ्कल्पः, कृष्यादिकः पुनरारम्भः, एवंविधद्वैविध्ये स्थिते स्थूलप्राणवधविरतिं प्रतिपद्यमानः श्रावको वर्जयति–प्रत्याख्यानतः परिहरति, स्थूलकप्राणवधमिति प्रक्रमः, प्रत्याख्यानं चावश्यकचूर्णावेवमुक्तम्–"थूलगं पाणातिवायं संकप्पओ पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामित्ति", कथं ?–सङ्कल्पतो–वधाभिसन्धिमाश्रित्य,नारम्भतोऽपि,गृहस्थस्यारम्भवर्जनासंभवात्,कथं संभवतीत्याह–विधिना–आगमोक्तप्रकारेणेति गाथार्थः ॥८॥ 'विधिने'त्युक्तमथ तमेव वधवर्जनविधिं तदुत्तरविधिं च दर्शयन्नाह—'गुरुमूले'त्यादि, गुरुः–सम्यग्ज्ञानक्रियायुक्तः सम्यग्धर्म-

शास्त्रार्थदेशकः,यदाह–"धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः। सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥१॥" अथवा–"जो जेण
सुद्धधम्मे निओइओ संजएण गिहिणा वा। सो चेव तस्स भण्णति धम्मगुरू धम्मदाणाओ ॥१॥" तस्य गुरोः–आचार्यादेर्मूलम्–अ-
न्तिकं गुरुमूलं तत्र गुरुमूले,अनेनान्यत्र धर्मश्रवणप्रतिषेधो दर्शितः,विपर्यस्तबोधसंभवात् ,श्रुतधर्मा–आकर्णिताणुव्रतादिप्रतिपादनपरा-
प्रवचनः,अनेन चाश्रुतागमस्य ज्ञानाभावेन व्रतप्रतिपत्तिर्न सम्यगिति तत्प्रतिषेधो दर्शितः,यदाह–"जस्स नो इमं उवगयं भवइ–इमे
जीवा इमे अजीवा इमे तसा इमे थावरा तस्स नो सुपच्चक्खायं भवति,से दुपच्चक्खाई मोसं भासं भासति,नो सच्चं भासं भासइत्ति।"
तथा स्वयमुत्प्रेक्षितशास्त्रस्यापि प्रतिषेध उक्तः, स्वयमुत्प्रेक्षणे हि सम्यक्शास्त्रार्थानवगमेन सम्यक्प्रवृत्त्यभावात्, यदाह–"न हि
भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्। प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥१॥" तथा श्रुतधर्मत्वादेव संविग्नो–
मोक्षसुखाभिलाषी सन् संसारभीतो वा,अन्यथाविधस्य हि व्रतपतिपत्तिर्न मोक्षाय स्यात् ,इत्वरम्–अल्पकालं यावच्चतुर्मासादिकाला-
वधित्वेनेत्यर्थः, वाशब्दो विकल्पे, इतरं वा–बहुकालं यावत् ,यावज्जीवमित्यर्थः, वाशब्दो विकल्पार्थ एव, स्थूलप्राणवधमिति प्र-
कृतम्, वर्जयित्वा–प्रत्याख्याय, अनेन पूर्वगाथासूचितो वधवर्जनविधिरुक्तः, 'तओ'त्ति ततः श्रुतधर्मादिविशेषणः प्राणी, यदि
पुनस्तत इति वधवर्जनानन्तरमिति व्याख्यायते तदा क्त्वाप्रत्ययेनैवानन्तर्यस्याभिधानात्तत इति पुनरुक्तमापद्यते, अथवा लोकभ-
णित्यपेक्षया निर्व्यवधानार्थताकल्पनेन तत इत्यपि न दुष्टम्, तथा हि वक्तारो भवन्ति–'भुक्त्वा पीत्वा ततस्ते गता' इति, कथमि-
त्याह–सम्यग्–भावशुद्ध्या वर्जयति–परिहरति नासेवते, वधप्रत्याख्यानेनैवातिचाराणां प्रत्याख्यातत्वात् ,इह वर्जनमनासेवनं व्या-
ख्यातम्,'इमेत्ति' इमान् वक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासन्नान्, अतीचारान्–अतिक्रमान् वधविरतिमालिन्यानीतियावत्, ननु सर्वविरता-

वेवातीचारा भवन्ति, संज्वलनोदय एव तेषामभिधानात्, यदाह–"सव्वेऽविय अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति। मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥१॥" संज्वलनोदयश्च सर्वविरतानामेव, देशविरतानां तु प्रत्याख्यानावरणोदय इति न देशविरतावतिचारसंभवः, युज्यते चैतद्, अल्पीयस्त्वात्तस्याः, कुन्थुशरीरे व्रणाद्यभाववत्, तथाहि–प्रथमाणुव्रते स्थूलसङ्कल्पनिरपराधद्विविधंत्रिविधेनेत्यादिभिर्विकल्पैर्विशेषितत्वेनातिसूक्ष्मतां गते देशाभावात् कथं देशविराधनारूपा अतिचारा भवन्तु ?, अतः सर्वनाश एव तस्योपपद्यते, कुन्थुशरीरस्येव, महाव्रतेषु तु ते संभवन्ति, महत्त्वादेव, हस्तिशरीरे व्रणपट्टबन्धादिवत् इति, अत्रोच्यते, देशविरतावतिचारा न भवन्तीत्यसंगतं, उपासकदशादिषु प्रतिव्रतमतिचारपञ्चकाभिधानात्, अथ भङ्गा एव ते, न त्वतिचाराः, नैवम्, भङ्गाद्भेदेनातिचारस्यागमे सम्मतत्वात्, यदाह–"जारिसओ जइभेओ जह जायइ जह य तत्थ दोसगुणा। जयणा जह अइयारा भङ्गो तह भावणा नेया ॥१॥" न चेयं गाथा न प्रमाणं, पूर्वान्तर्गततयाऽस्याः प्रतिपादनात्, यच्चोक्तम्–'सर्वेऽतिचाराः संज्वलनोदय एवेति' तत् सत्यम्, केवलं सर्वविरतिचारित्रमेवाश्रित्य तदुच्यते, न तु देशविरतिसम्यक्त्वे, यतः 'सव्वेऽविय अइयारे' इत्यादिगाथाया एवं व्याख्या–संज्वलनानामेवोदये सर्वविरतावतिचारा भवन्ति, शेषोदये तु मूलच्छेद्यमेव तस्यामिति, एवं च न देशविरतावतिचाराभावः, यद्वाप्यधिकृतगाथापश्चार्धस्य व्याख्या प्रकारान्तरेणोच्यते, यथा–मूलच्छेदः सर्वविरतेस्तृतीयानामुदये, देशविरतेर्द्वितीयानां, सम्यक्त्वस्य प्रथमानामिति, तेनापि देशविरत्यादौ नातिचाराभावः, तथाहि–यथा संज्वलनोदये सर्वविरतिरभावो, तदतिचाराश्च भवन्ति, एवं प्रत्याख्यानावरणोदये देशविरतिस्तदतिचाराश्च, अप्रत्याख्यानावरणोदये सम्यक्त्वं तदतिचाराश्च, न्यायस्य समानत्वात्, विचित्रो ह्युदयः कषायाणां, ततोऽसौ गुणलाभस्याविबन्धकस्तदतिचाराणां च निमित्तं

बंधवहं छविछेयं (बंधवहच्छविछेयं) (वहबंधं छविछेयं) अइभारं
भत्तपाणवोच्छेयं। कोहाइदूसियमणो गोमणुयाईण णो कुणइ ॥१०॥

भवति, संज्वलनोदयवदिति, अन्ये पुनराहुः-सम्यक्त्वदेशविरत्यतिचाराः क्रमेण प्रथमद्वितीयकषायोदयाद्भवन्ति, चिचित्रो हि तदुदयो देशतः सर्वतश्च विराधनाया हेतुर्भवतीति, यश्च कुन्थुदृष्टान्तोऽसावसङ्गत एव, दृष्टान्तान्तरबाधितत्वात्तस्य,तथाहि-हस्तिनोऽतिलघुर्मनुष्यस्तस्य च व्रणादिः संभवत्येवेति,यच्चोच्यते-अनन्तानुबन्ध्यादिकषायद्वादशकस्य सर्वघातित्वेनाभिधानात्तदुदये सम्यक्त्वादीनां भङ्ग एवेति, तदयुक्तम्, सर्वविरत्यपेक्षयैव सर्वघातित्वेन तस्य व्याख्यातत्वात्, तदेवं देशविरतावतिचारसम्भवोऽस्तीति गाथार्थः ॥२॥ 'वर्जयतीमानतिचारा'नित्युक्तं,अथ तानेव अकरणीयतया प्रतिषेधयन्नाह—'बंधवह'मित्यादि, बन्धश्च-रज्जुदामनकादिभिः संयमनं वधश्च-कशादिभिर्हननं, बन्धवधमिति समाहारद्वन्द्वः,तन्न करोतीति सम्बन्धः,छविः-त्वक् तद्योगाच्छरीरमपि छविस्तस्य च्छेदः-असिपुत्रिकादिभिः पाटनं छविच्छेदस्तम्, बंधवधछविच्छेदमिति पाठान्तरं व्यक्तं च,वहबंधमित्यन्ये, तथा भरणं भारः अतीव भारोऽतिभारः-प्रभूतस्य पूगफलादेर्गवादिपृष्ठादावारोहणमतस्तम्,तथा भक्तपानयोः-भोजनोदकयोर्व्यवच्छेदो-निरोधो भक्तपानव्यवच्छेदस्तम्, इह समुच्चयार्थश्चशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः, एवमविशेषेण बन्धादीनामकरणीयतयोपदेशे सति प्रियपुत्रादेर्विनयग्राहणरोगचिकित्साद्यर्थानामपि तेषां व्रतमालिन्यनिमित्तता प्रसज्यते, ततस्तत्परिहारार्थमाह-क्रोधादिदूषितमनाः-कोपलोभादिकषायकलङ्कितान्तःकरणः, प्राणिप्राणप्रहाणनिरपेक्ष इत्यर्थः, सापेक्षस्य तु बन्धादिकरणेऽपि सदयत्वान्नातिचार इत्युक्तं भवति, अनेन च यदुक्तं प्राग् 'भावार्थसङ्गतमिति' तदुपदर्शितम्, यत आगमे निर्विशेषणा एवामी दर्शिता इतीह गम्यम्, गोमनुष्या-

दीनां बलीवर्दनरप्रभृतीनां, आदिशब्दात्करिकरभरासभादिपरिग्रहः, नो–नैव करोति–विदधाति, एतत्करणे हि व्रतस्य मालिन्य-प्राप्तेरिति, यच्च वर्जयतीति क्रियायामनुवर्तमानायामपि न करोतीत्युक्तं तदेतेषामत्यर्थं परिहारार्थमिति, अत्र चायमावश्यकचूर्ण्या-द्युक्तो विधिः–बन्धो द्विपदानां चतुष्पदानां वा स्यात्, सोऽप्यर्थायानर्थाय वा, तत्रानर्थाय तावन्नासौ विधातुं युज्यते, अर्थाय पुन-रसौ द्विविधः स्यात्–सापेक्षो निरपेक्षश्च, तत्र निरपेक्षो नाम यन्निश्चलमत्यर्थं बध्यते, सापेक्षः पुनर्यद्दामग्रन्थिना, यश्च बद्धः सन् शक्यते प्रदीपनकादिषु विमोचयितुं वा छेत्तुं वा, एवं तावच्चतुष्पदानां बन्धः, तथा द्विपदानामपि दासो वा दासी वा चौरो वा पाठा-दिप्रमत्तः पुत्रो वा यदि बध्यते तदा स विक्रमेणैव बन्धनीयो रक्षणीयश्च तथा यथाऽग्निभयादिषु न विनश्यति, तथा ते किल द्विप-दचतुष्पदाः श्रावकेण संग्रहीतव्या येऽबद्धा एवासत इति, वधोऽपि तथैव, नवरं निरपेक्षवधो निर्दयताडना, सापेक्षवधः पुनरेवं–आदित एव भीतपर्षदा श्रावकेण भवितव्यं, यदि पुनर्न करोति कोऽपि विनयं तदा तं मर्माणि मुक्त्वा लत्तया दवरकेण वा सकृद्द्विर्वा ताडयेदिति, छविच्छेदोऽपि तथैव, नवरं निरपेक्षो हस्तपादकर्णनासिकादि यन्निर्दयं छिनत्ति, सापेक्षः पुनर्यद्गण्डं वाऽरुर्वा छिन्द्याद्वा दहेद्वेति, तथाऽतिभारो नारोपयितव्यः, पूर्वमेव हि या द्विपदादिवाहनेन जीविका सा श्राद्धेन मोक्तव्या, अथान्याऽसौ न भवेत्तदा द्विपदो यं भारं स्वयमुत्क्षिपत्यवतारयति च तं वाहयेत्, चतुष्पदस्य तु यथोचितभारादसौ किञ्चिदूनः क्रियते, हलशकटादिषु पुन-रुचितवेलायामसौ मुच्यत इति, तथा भक्तपानव्यवच्छेदो न कस्यापि कर्तव्यः, तीक्ष्णबुभुक्षो ह्यन्यथा म्रियते, सोऽप्यर्थानर्थादि-भेदो बन्धवद्द्रष्टव्यः, नवरं सापेक्षो रोगचिकित्सार्थं स्यात्, अपराधकारिणि च वाचैव वदेत्–'यदद्य ते न दास्यते भोजनादि', शा-न्तिनिमित्तं चोपवासं कारयेत्, किं बहुना?, यथा मूलगुणस्य प्राणातिपातविरमणस्यातिचारो न भवति तथा सर्वत्र यतनया यति-

थूलमुसावायस्स य विरई सो पंचहा समासेणं । कण्णागोभोमालिय णासहरणकूडसक्खिवज्जे ॥११॥

तव्यमिति, ननु प्राणातिपात एव व्रतिना प्रत्याख्यातस्ततो बन्धादिकरणेऽपि न दोषः, विरतेरखण्डितत्वात्, अथ बन्धादयोऽपि प्रत्याख्यातास्तदा तत्करणे व्रतभङ्ग एव, विरतिखण्डनात्, किंच-बन्धादीनां प्रत्याख्येयत्वेऽपि विवक्षितव्रतेयत्ता विशीर्येत, प्रतिव्रतं पञ्चानामतिचारव्रतानामाधिक्यात्, इत्येवं न बन्धादीनामतिचारतेति, अत्रोच्यते-सत्यं, प्राणातिपात एव प्रत्याख्यातो, न बन्धादयः, केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्थतस्तेऽपि प्रत्याख्याता इह द्रष्टव्याः, तदुपायत्वात्तेषाम्, न च बन्धादिकरणेऽपि व्रतभङ्गः, किं तु अतिचार एव, कथं?, इह द्विविधं व्रतम्-अन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च, तत्र मारयामीति विकल्पाभावेन यदा कोपाद्यावेशात्परप्राणप्रहाणमविगणयन् बन्धादौ प्रवर्तते, न च प्राणघातो भवति, तदा दयावर्जिततया विरत्यनपेक्षप्रवृत्तत्वेनान्तर्वृत्त्या व्रतस्य भङ्गः, प्राणिघाताभावाच्च बहिर्वृत्त्या पालनमिति देशस्य भञ्जनाद्देशस्यैव च पालनादतिचारव्यपदेशः प्रवर्तते, तदुक्तम्-"न मारयामीतिकृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः?। निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ॥१॥ मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य, कोपाद्याहीनतया तु भग्नः। देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति ॥२॥" यच्चोक्तं 'व्रतेयत्ता विशीर्येते'ति तदयुक्तम्, विशुद्धहिंसादिविरतिसद्भावे हि बन्धादीनामभाव एवेति, तदेवं बन्धादयोऽतिचारा एवेति, बन्धादिग्रहणस्य चोपलक्षणत्वान्मन्त्रतन्त्रप्रयोगादयोऽन्येऽप्येवमत्रातिचारतया द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥१०॥ उक्तं सातिचारं प्रथमाणुव्रतं, अथ द्वितीयमाह—'थूले'त्यादि, स्थूलः-परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स चासौ मृषावादश्च-अनृतवदनं स्थूलमृषावादस्तस्य, न तु सूक्ष्म-

[illegible] प्रथमाणुव्रतं, स्थूलमृषावादस्य पुन-

इह सहसऽभक्खाणं रहसा य सदारमंतभेयं च । मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जेइ ॥१२॥

विरतिः-निवृत्तिर्द्वितीयमणुव्रतम्, भवतीति गम्यते, स इति-स्थूलमृषावादः, पञ्चधा-पञ्चभिः प्रकारैः, कथं?-समासेन-संक्षेपेण, कन्यालीकादिभिरुपलक्षणवचनैः सकलमृषावादभेदानां संग्रहात्, पञ्चविधत्वमेवाह-कन्या च कुमारी, गौश्च बहुला, भूमिश्च भूरिति द्वन्द्वः तासु विषयेऽलीकं-अनृतं कन्यागोभूम्यलीकम्, इहानुस्वारस्याश्रवणमलीकशब्दे च ह्रस्वत्वश्रुतिः प्राकृतशैलीवशात्, तथा न्यस्यते-रक्षणायान्यस्मै समर्प्यत इति न्यासो-रूपकादिस्तस्य हरणं न्यासहरणं तथा कूटसाक्ष्यं च-व्यंसकसत्यत्वं न्यासहरणकूटसाक्ष्यं तत्र च विषये,स्थूलमृषावादो भवतीति पञ्चविधत्वम्, अथवा न्यासहरणे कूटसाक्ष्ये च यदलीकं तत्तदेवेति, (यद्वा) कन्यागोभूम्यलीकं च न्यासहरणं च कूटसाक्ष्यं चेति समाहारद्वन्द्वः, प्रथमैकवचनस्थाने चैकारश्रुतिः प्राकृतत्वात् 'कयरे तुम'मित्यादिवत् । तत्र कन्यालीकमभिन्नकन्यामितरां वक्ति, विपर्ययं वा, इदं च सर्वकुमारादिद्विपदविषयालीकोपलक्षणम्, गवालीकं पुनरल्पक्षीरां गां बहुक्षीरां विपर्ययं वा वक्ति, इदमपि सर्वचतुष्पदविषयालीकोपलक्षणम्, भूम्यलीकं तु परसत्कादिकामप्यात्मादिसत्कां भुवं वक्ति, इदं च शेषपृथिव्याद्यपदद्रव्यविषयालीकोपलक्षणम्, अथ द्विपदचतुष्पदापदग्रहणमेव कस्मान्न कृतम् ?, अत्रोच्यते, कन्याद्यलीकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन रूढत्वादिति, न्यासहरणं तु स्तेयस्वरूपं, तत्र चापलापवचनं मृषावादः, इदं चैतेनैव विशेषेण पूर्वालीकेभ्यो भेदेनोपात्तम्, कूटसाक्ष्यं तत् यत् क्रोधमत्सराद्यभिभूतः प्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति यथाऽस्याहमत्र साक्षी, अस्य च परकीयपापसमर्थकत्वलक्षणं विशेषमाश्रित्य पूर्वेभ्यो भेदेनोपन्यास इति गाथार्थः ॥११॥ एतस्यैवातिचारानाह-'इहे'त्यादि, इह स्थूलमृषावादविरतौ सहसा-अनालोच्याभ्याख्यानं-असद्दोषाध्यारोपणं, यथा चौरस्त्वं पारदारिको वेत्यादि, तद्वर्जयतीति

योगः१, तथा रहसा–एकान्तेन हेतुनाऽभ्याख्यानमिति वर्तते, एतदुक्तं भवति–रहसि मन्त्रयमाणानभिधत्ते–एते हीदं चेदं च राज-
विरुद्धादिकं मंत्रयते२ इति, चशब्दो रहसेत्यस्याभ्याख्यानशब्देन संबन्धनार्थः, तथा स्वदारमन्त्रभेदं–स्वकलत्रविश्रम्भभाषितान्य-
कथनम्३, दारग्रहणं चेह मित्राद्युपलक्षणार्थम्, चशब्दः समुच्चये, तथा मृषा–अलीकवदनविषय उपदेशो यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता
तां मृषोपदेशतां, अथवा मृषोपदेश एव मृषोपदेशकः, इदमेवं चैवं च ब्रूहीत्यादिकमसत्याभिधानशिक्षणमतस्तम् (४), तथा कूटलेखस्य-
असद्भूतार्थसूचकाक्षरलेखनस्य करणं–विधानं कूटलेखकरणं तच्च(५), चशब्दः समुच्चये, वर्जयति–परिहरति मृषावादव्रती, यत एतानि
समाचरन्नतिचरति द्वितीयाणुव्रतमिति । नन्वाद्ययोरतिचारयोर्न परस्परं विशेषोऽसद्दोषारोपणस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, सत्यं, केवलं
रहोऽभ्याख्यानं रहोनिमित्तवितर्कमात्रपूर्वकं संभविनोऽभ्याख्येयार्थस्याभिधानं इतरत्त्ववितर्कपूर्वकमेवेति विशेषः, नन्वभ्याख्यान-
मसद्दोषाभिधानरूपत्वेन प्रत्याख्यातत्वाद्भङ्ग एव, न त्वतिचार इति, सत्यं, किंतु यदा परोपघातकमनाभोगादिनाऽभिधत्ते तदा
संक्लेशाभावेन व्रतानपेक्षत्वाभावान्न व्रतस्य भङ्गः परोपघातहेतुत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः, यदा पुनस्तीव्रसंक्लेशाद-
भ्याख्याति तदा भङ्ग एव, व्रतनिरपेक्षत्वात्, आह च–"सहसब्भक्खाणाई जाणंतो जइ करेज्ज तो भंगो। जइ पुणऽनाभोगाईहिंतो
तो होइ अइयारो ॥१॥" स्वदारमंत्रभेदं पुनरनुवादरूपत्वेन सत्यत्वात् यद्यपि नातिचारो घटते तथापि मन्त्रितार्थप्रकाशनजनित-
लज्जादितः स्वदारादेर्मरणादिसंभवेन परमार्थतः तस्यासत्यत्वात् कथंचिद्भङ्गाभङ्गरूपत्वादतिचार एव, तथा मृषोपदेशो यद्यपि मृषा
न वादयामीत्यत्र न वदामि न वादयामीत्यत्र वा व्रते भङ्ग एव, न वदामीति व्रतान्तरे तु न किंचन, तथापि सहसाकारोना-
भोगाभ्यामतिक्रमव्यतिक्रमातिचारैर्वा मृषावादे परप्रवर्तने व्रतस्यातिचारोऽयं, अथवा व्रतसंरक्षणबुद्ध्या परवृत्तान्तकथनद्वारेण मृषो-

थूलादत्तादाणे विरई तं दुविहमो उ णिद्दिट्ठं। सचित्ताचित्तेसुं लवणहिरण्णाइवत्थुगयं ॥ १३ ॥
वज्जइ इह तेणाहडतक्करजोगं विरुद्धरज्जं च। कूडतुलकूडमाणं तप्पडिरूवं च ववहारं ॥ १४ ॥

पदेशं यच्छतोऽतिचारोऽयं, व्रतसव्यपेक्षत्वात् मृषावादे परमवर्तनाच्च, भग्नाभग्नरूपत्वाद्व्रतस्येति, कूटलेखकरणं तु यद्यपि कायेन मृषा-
वादं न करोमीत्यस्य न करोमि न कारयामीत्यस्य वा व्रतस्य भङ्ग एव व्रतान्तरे तु न किञ्चन तथापि सहसाकारादिनाऽतिक्रमा-
दिना वाऽतिचारः, अथवा मृषावाद इति मृषाभणनं मया प्रत्याख्यातमिदं पुनर्लेखनमितिभावनया मुग्धबुद्धेर्व्रतसव्यपेक्षस्यातिचार
इति गाथार्थः ॥१२॥ उक्तं सातिचारं द्वितीयमणुव्रतं, अधुना तृतीयमाह—'थूले'त्यादि, स्थूलं च तददत्तस्य-अवितीर्णस्य द्रव्य-
स्यादानं च-ग्रहणं स्थूलादत्तानम्, इहादत्तं द्विविधं-स्थूलं सूक्ष्मं च, तत्र परिस्थूलवस्तुविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धं स्थूलं,
तद्विपरीतं तु सूक्ष्मम्, तत्र स्थूलादत्तादाने-तद्विषया विरतिः-निवृत्तिस्तृतीयमणुव्रतमिति प्रक्रमः, तत्तु-तत्पुनरदत्तादानं, द्विवि-
धं-द्विप्रकारम्, 'ओ' इति 'मो' इति वा निपातः पादपूरणार्थः, तुशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च, तत्तु इत्येवं योजित एव, निर्दिष्टं-क-
थितमागम इति गम्यते, 'दुविहिमो विणिद्दिट्ठं' इति पाठान्तरम्, द्वैविध्यमेवाह-सचित्ताचित्तेषु-विद्यमानचैतन्याचैतन्येषु वस्तुषु,
एतद्विषयमित्यर्थः, एतदेवोदाहरन्नाह-लवणं च-क्षारविशेषो हिरण्यं च-सुवर्णमादिर्येषां तानि वस्तूनि च२ तेषु गतं-अवस्थितं ल-
वणहिरण्यादिवस्तुगतम्, तत्र लवणशब्देन सचित्तादत्तादानमुदाहृतं, हिरण्यशब्देनाचित्तादत्तादानं, आदिशब्दाच्चाश्ववस्त्रादिपरिग्रहः,
मिश्रादत्तादानं त्वनयोरेवान्तर्भूतत्वान्न पृथग्विवक्षितं, संक्षेपस्यैव प्रस्तुतत्वादिति गाथार्थः ॥१३॥ इहातिचारानाह—'वज्जेई'-
त्यादि, व्याख्या-वर्जयति-परिहरति, इह-अदत्तादानविरतौ, स्तेनः-चौरास्तैराहृतं-आनीतं किञ्चित् कुङ्कुमादि स्तेनाहृतम्, तस्क-

स्तेनाहृतं च तस्करयोगश्चेति समाहारद्वन्द्वस्तत्,
राः-चौरास्तेषां योगो-हरणक्रियायां प्रेरणं 'हरत यूयं' इत्यभ्यनुज्ञा तस्करयोगः, तद्वर्जयति, गमनत इति शेषः, चशब्दः समु-
तथा विरुद्धः-स्वकीयस्य राज्ञः प्रतिपन्थी तस्य राज्यं-कटकं देशो वा विरुद्धराज्यं, मानं च-न्यूनमधिकं वा कुडवादि कूटतु-
च्चये, तथा कूटा-प्रसिद्धस्वभावापेक्षया न्यूनाऽधिका वा तुला प्रतीता कूटतुला, सा च वसादि वा द्रव्य यत्र
लाकूटमानं तद् वर्जयतीति योगः, तथा तेनाधिकृतेन व्रीह्यादिना घृतादिना वा प्रतिरूपं-सदृशं पलंज्यादि
व्यवहारे स तत्प्रतिरूपः, तत्प्रतिरूपेण वा-सुवर्णादिसदृशेन युक्तिसुवर्णादिना द्रव्येण यो व्यवहारः स तदभेदोपचरात्तत्प्रतिरूप
एवोच्यते, अतस्तं तत्प्रतिरूपं, चशब्दः समुच्चये, व्यवहारं-विक्रयं वर्जयति, यत एतानि समाचरन्नतिचरति तृतीयाणुव्रतम्, अति-
चारभावना चैवम्-स्तेनाहृतं काणक्रयेण लोभदोषात् प्रच्छन्नं गृह्णंश्चौरो भवति, यदाह-"चौरश्चौरापको मंत्री, भेदज्ञः काणकक्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥१॥" ततश्चौर्यकरणाद्व्रतभङ्गो वाणिज्यमेव मया विधीयते न चोरिकेत्यध्यवसायेन
व्रतानपेक्षत्वाभावादभङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः, तस्करप्रयोगस्तु यद्यपि चौर्यं न करोमि न कारयामीत्येवंप्रतिपन्नव्रतस्य भङ्ग
एव, तथापि "किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ ? यदि वो भक्तकादि नास्ति तदाहं तद्ददामि,भवदानीतमोषस्य वा यदि विक्रायको
न विद्यते तदाऽहं विक्रेष्ये" इत्येवंविधवचनैश्चौरान् व्यापारयतः स्वकल्पनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्षस्यासावतीचार इति,
विरुद्धराज्यातिक्रमस्तु यद्यपि स्वस्वामिनाऽननुज्ञातस्य परकटकादिप्रवेशस्य 'सामीजीवादत्तं तित्थयरेणं तहेव य गुरूहिं' इत्यदत्ता-
दानलक्षणयोगेन विरुद्धराज्यातिक्रमकारिणां च चौर्यदण्डयोगेनादत्तादानरूपत्वाद्भङ्ग एव तथापि विरुद्धराज्यातिक्रमं कुर्वता मया
वाणिज्यमेव कृतं, न चौर्यमिति भावनया व्रतसापेक्षत्वात् लोके च चौरोऽयमिति व्यपदेशाभावादतिचारोऽयमिति, तथा कूटतु-

परदारस्स य विरई ओरालवेउव्वभेयओ दुविहं । एयमिह मुणेयव्वं सदारसंतोसमो एत्थ ॥१५॥

लादिव्यवहारस्तत्प्रतिरूपकव्यवहारश्च परव्यंसनेन परधनग्रहणरूपत्वाद्भङ्ग एव, केवलं क्षात्रखननादिकमेव चौर्यं कूटतुलादिव्यवहार-तत्प्रतिरूपव्यवहारौ तु वणिक्कलैवेति स्वकीयकल्पनया व्रतसंरक्षणोद्यततयाऽतिचार इति, अथवा स्तेनाहृतग्रहणादयः पञ्चाप्यमी व्यक्तचौर्यरूपा एव, केवलं सहसाकारादिनाऽतिक्रमादिना वा प्रकारेण विधीयमाना अतीचारतया व्यपदिश्यन्त इति, न चैते राज-राजसेवकादीनां न संभवन्ति, तथाहि-आद्ययोः स्पष्ट एव तेषां संभवः, विरुद्धराज्यातिक्रमस्तु यदा सामन्तादि स्वस्वामिनो वृत्ति-मुपजीवति तद्विरुद्धस्य च सहायीभवति तदा तस्यातिचारो भवति, कूटतुलादयस्तु यदा भाण्डागारद्रव्याणां विनिमयं कारयति तदा राज्ञोऽप्यतिचाराः स्युरिति गाथार्थः ॥१४॥ उक्तं सातिचारं तृतीयाणुव्रतं, साम्प्रतं चतुर्थमाह—'परे'त्यादि,परे-आत्मव्य-तिरिक्ताः पुरुषास्तथा मनुष्यजात्यपेक्षया देवास्तिर्यञ्चश्च तेषां दाराः-परिणीतसंगृहीतभेदानि कलत्राणि देव्यस्तिरश्च्यश्चेति परदाराः, यद्यप्यपरिगृहीतदेव्यस्तिरश्च्यश्च काश्चित्संगृहीतुः परिणेतुश्चाभावाद्वेश्याकल्पा भवन्ति तथापि प्रायः परजातीयभोग्यत्वात्परदारा एव ताः, अतस्तेषां परदाराणाम्, इह विरतिशब्दयोगे पञ्चमीप्राप्तावपि षष्ठीनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तत एव च दारशब्दस्यैकवच-नान्तता, ततश्च परकलत्रस्यैव विरतिः-निवृत्तिः, न तु वेश्याया अपीत्यर्थः, चतुर्थाणुव्रतं भवतीति प्रक्रमः, चशब्दः समुच्चये, स स्वदारसन्तोषश्चेत्येवं द्रष्टव्यः, अथवाऽनुक्तसमुच्चये चशब्दः, तेन सर्वस्त्रीणां च परपुरुषस्य च पुरुषसामान्यस्य च विरतिश्चतुर्थाणु-व्रतमिति स्यात्, 'ओरालविउव्वभेयओ'त्ति ओरालं-स्नायुमांसास्थिबद्धं शरीरं समयपरिभाषयोच्यते,यदाह-"मंसट्ठिण्हारुबद्धं ओरालं समयपरिभासा", तत्पुनरौदारिकमेव, तथा विकुर्विधातुर्विक्रियार्थः सामयिकोऽस्तीति गम्यते, विकुर्वणा वैकुर्विकमित्यादिप्रयोग-

वज्जइ इत्तरिअपरिग्गहियागमणं अणंगकीडं च। परवीवाहक्करणं कामे तिव्वाभिलासं च ॥१६॥

दर्शनात्, ततश्च विकुर्व्यत इति विकुर्व्यं—वैक्रियशरीरम्, तत ओरालविकुर्व्ययोस्ताभ्यां वा भेदो—विशेष ओरालविकुर्व्यभेदस्तस्मादौदारिकवैक्रियशरीरभेदादित्यर्थः, 'दुविहं एयं'ति द्विविधा—द्विप्रकाराः, एतदिति एते परदाराः, प्राकृतत्वेन चात्र नपुंसकलिङ्गैकवचनाभ्यां निर्देशः, तत्रौदारिका नार्यस्तिरश्च्यश्च, वैक्रिया विद्याधर्यो देव्यश्च, इह परदारविरतिप्रक्रमे, 'मुणेयव्व'त्ति ज्ञातव्याः, तथा स्वस्य—आत्मनः स्वे वा—आत्मीया दाराः स्वदाराः—स्वकलत्रं तैः संतोषः—संतुष्टिः, मैथुनासेवनं प्रति वेश्यादेरपि वर्जनमिति स्वदारसंतोषः, स च चतुर्थाणुव्रतमिति योजितमेव, इह च प्रथमैकवचनलोपः प्राकृतत्वात्, 'मो' इति निपातः पादपूरणार्थः, अथेति चतुर्थाणुव्रते, वर्जयतीत्युत्तरेण योगः, इति गाथार्थः ॥१५॥ अस्यैवातिचारानाह—'वज्जेई'त्यादि, वर्जयति—परिहरति, किम्?—इत्वरी—अयनशीला, भाटीप्रदानेन स्तोककालं परिगृहीता वेश्या, तथाऽपरिगृहीता—वेश्यैवागृहीतान्यसत्कभाटिः कुलाङ्गना वा अनाथेति तयोर्गमनं—आसेवनमित्वर्यपरिगृहीतागमनम्, तथाऽङ्गं—देहावयवो मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं च, तद्व्यतिरिक्तान्यनङ्गानि—कुचकक्षोरुवदनादीनि तेषु क्रीडा—रमणमनङ्गक्रीडा, अथवाऽनङ्गः—कामस्तस्य तेन वा क्रीडाऽनङ्गक्रीडा, स्वलिङ्गेन निष्पन्नप्रयोजनस्याहार्यैश्चर्मादिघटितप्रजननैर्योषिदवाच्यदेशासेवनमित्यर्थः, अतस्ताम्, चशब्दः समुच्चये, तथा परेषां—स्वास्वापत्यव्यतिरिक्तानां जनानां विवाहकरणं—कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धादिना वा परिणयनविधानं परविवाहकरणम्, इह च स्वापत्येष्वपि सङ्ख्याभिग्रहो न्याय्यः, तथा कामे—कामोदयजन्ये मैथुने, अथवा 'सुत्रनास्वत्र'मिति न्यायात् कामे—कामभोगेषु, तत्र कामौ—शब्दरूपे भोगाः—गन्धरसस्पर्शास्तेषु तीव्राभिलाषः—अत्यन्ततदध्यवसायित्वम्, यतो वाजीकरणादिनाऽनवरतसुरतसुखार्थं मदनमुद्दीपयती-

त्यतस्तम्, चशब्दः समुच्चये, एतानि समाचरन्नतिचरति चतुर्थाणुव्रतमत एतान् वर्जयतीति, इह चाद्यावतिचारौ स्वदारसंतोषिण एव,
नेतरस्य, शेषास्तु द्वयोरपीति हरिभद्रसूरिमतम्, एतदेव च सूत्रानुपाति, यदाह–"सदारसंतोसस्स इमे पंच अइयारा" इत्यादि,
भावना चैवम्–अत्र भाटीप्रदानेनेत्वरकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां भुञ्जानस्य स्वकीयकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्त-
त्वान्न भङ्गः अल्पकालपरिग्रहाच्च वस्तुतोऽस्वकलत्रत्वाद्भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः, अपरिगृहीतागमनं त्वनाभोगादिनाऽतिक्र-
मादिना चाऽतिचारः, परदारवर्जिनो नैतावतिचारौ, इत्वरकालपरिगृहीतापरिगृहीतयोर्वेश्यात्वेनानाथकुलाङ्गनायास्त्वनाथतयैवाप-
रदारत्वादिति, अपरे त्वाहुः–इत्वरपरिगृहीतागमनं स्वदारसंतोषवतोऽतिचारः, अपरिगृहीतागमनं तु परदारवर्जिनः, तत्र प्रथमभावना
पूर्ववत्, द्वितीयभावना त्वेवम्–अपरिगृहीता नाम वेश्या, तां यदा गृहीतान्यसत्कभाटिकामभिगच्छति तदा परदारगमनजन्यदोष-
संभवात्कथंचित्परदारत्वाच्च भङ्गः वेश्यात्वाच्चाभङ्ग इत्यतिचार इति, अन्ये पुनरन्यथा प्राहुः–"परदारवज्जिणो पंच होंति तिन्नि उ
सदारसंतुट्ठे। इत्थीए तिन्नि पंच व भंगविगप्पेहिं नायव्वं ॥१॥" इह भावना–परेणेत्वरकालं या परिगृहीता वेश्या तद्गमनमतिचारः
परदारवर्जिनः, कथंचित्तस्याः परदारत्वात्, तथाऽपरिगृहीताया अनाथकुलाङ्गनाया यद्गमनं तदपि तस्यैवातिचारः, लोके परदार-
त्वेन तस्या रूढत्वात्, तत्कामुककल्पनया च परस्य भर्त्रादेरभावेनापरदारत्वात्, शेषास्तूभयोरपि स्युः, तथाहि–स्वदारसंतोषिणः
स्वकलत्रेऽपि तदितरस्य तु वेश्यास्वकलत्रयोरपि यदनङ्गरतं तत्साक्षादप्रत्याख्यातमपि न विधेयं, यतोऽसावत्यन्तमीरुतया ब्रह्मचर्यं
चिकीर्षुरपि यदा वेदोदयासहिष्णुत्वात्तद्विधातुं न शक्नोति तदा यापनामात्रार्थं स्वदारसंतोषादि प्रतिपद्यते, मैथुनमात्रेणैव च याप-
नायाः संभवादनङ्गरतमर्थतः प्रत्याख्यातमेव, एवं परविवाहतीव्रकामाभिलाषावपीत्यतः कथञ्चित्प्रत्याख्यातप्रवृत्तेरतीचारता तेषाम्,

अन्ये त्वनङ्गक्रीडामेवं भावयन्ति–स हि निधुवनमेव व्रतविषय इति स्वकीयकल्पनया तत् परिहरन् स्वदारसंतोषी वेश्यादौ परदारवर्जकस्तु परदारेष्वालिङ्गनादिरूपामनङ्गक्रीडां कुर्वन् कथञ्चिदेवातिचरति व्रतं व्रतसापेक्षत्वादिति, तथा स्वदारसंतोषवता स्वकलत्रादितरेण च स्वकलत्रवेश्याभ्यामन्यत्र मनोवाक्कायैर्मैथुनं न कार्यं न च कारणीयमित्येवं यदा प्रतिपन्नं व्रतं भवति तदा परविवाहकरणतस्तत्कारणमर्थतोऽनुष्ठितं भवति, तद्व्रती च मन्यते 'विवाह एवायं मया विधीयते, न मैथुन'मिति, ततो व्रतसापेक्षत्वादतिचार इति, ननु परविवाहकरणे कन्याफललिप्सा कारणमुक्तं तत्र किं सम्यग्दृष्टिरसौ व्रती मिथ्यादृष्टिर्वा ?, यदि सम्यग्दृष्टिस्तदा तस्य न सा संभवति, सम्यग्दृष्टित्वादेव, अथ मिथ्यादृष्टिस्तदा मिथ्यादृष्टेरणुव्रतानि न भवन्त्येवेति कथं सा परविवाहकरणलक्षणातिचारकारणमिति ?, सत्यं, केवलमव्युत्पन्नावस्थायां साऽपि संभवति, किंच–यथाभद्रकस्य मिथ्यादृशोऽपि सन्मार्गप्रवेशनायाभिग्रहमात्रं ददत्यपि गीतार्थाः, यथाऽऽर्यसुहस्ती रङ्कस्य सर्वविरतिं दत्तवान्, इदं च परविवाहकरणवर्जनं स्वापत्यव्यतिरिक्तेष्वेव न्याय्यं, अन्यथाऽपरिणीता कन्या स्वच्छन्दचारिणी स्यात्, ततश्च शासनोपघातः स्यात्, विहितविवाहा तु कृतव्रतबन्धत्वेन न तथा स्यादिति, यथोक्तं 'स्वापत्येष्वपि सङ्ख्याभिग्रहो न्याय्यः' तच्चिन्तकान्तरसद्भावे न्याय्यं, सुतसङ्ख्यापूर्तौ चापत्यान्तरोत्पत्तिपरिहारोपायत इति, अपरे पुनराहुः–परः–अन्यो यो विवाहः–आत्मन एव विशिष्टसंतोषाभावाद्योषिदन्तराणि प्रति विवाहान्तरकरणं तत् परविवाहकरणं, अयं च स्वदारसंतोषिण इति, स्त्रियास्तु स्वपुरुषसंतोषपरपुरुषवर्जनयोर्न भेदः, स्वपुरुषव्यतिरेकेणान्येषां सर्वेषां परपुरुषत्वात्, ततोऽनङ्गक्रीडादयस्त्रयः स्वदारसंतोषिण इव स्वपुरुषविषये स्युः, आद्यस्तु यदा स्वकीयपतिः सपत्न्या वारकदिने परिगृहीतो भवति तदा सपत्नीवारकमतिक्रम्य तं परिभुञ्जानाया अतिचारः, द्वितीयस्त्वतिक्रमादिना परपुरुषमभिसरन्त्याः समवसेयः, ब्रह्मचारिण-

इच्छापरिमाणं खलु असयारंभविणिवित्तिसंजणगं । खेत्ताइवत्थुविसयं चित्तादविरोहओ चित्तं ॥१७॥
खेत्ताइहिरण्णाईधणाइदुपयाइकुप्पमाणकमे । जोयणपयाणबंधणकारणभावेहिं णो कुणइ ॥१८॥

स्त्वतिक्रमादिनाऽतिचार इति गाथार्थः ॥१६॥ उक्तं सातिचारं चतुर्थमणुव्रतमधुना पञ्चममाह–'इच्छे'त्यादि, इच्छा–परिग्राह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तया वा परिग्राह्यवस्तूनां परिमाणं–इयत्ता इच्छापरिमाणम् । खलुर्वाक्यालङ्कारे, पञ्चमाणुव्रतं भवतीति प्रक्रमः, तच्चेच्छापरिमाणं किंफलमित्याह—असदारम्भविनिवृत्तिसंजनकम्–असुन्दरारम्भाप्रवृत्तिनिबन्धनं, भवति हीच्छापरिमाणे कृते इच्छाविषयीकृतकतिपयपदार्थानां किञ्चिच्छुभव्यापारैरपि प्राप्तेरसुन्दरेतरव्यापारेभ्यो विनिवृत्तिः, यतः प्रभूतार्थप्राप्त्यर्थमेव भूतघाताद्यसुन्दरव्यापारेषु प्रायः प्राणिनः प्रवर्तन्त इति, तच्च क्षेत्रादिवस्तुविषयं–क्षेत्रादीनि–भूविशेषप्रभृतीनि वस्तूनि–अर्थो विषयो–गोचरोऽस्येति विग्रहः, तदुक्तम्–"धणं धन्नं खेत्तं वत्थुं रूप्पं सुवण्णं कुवियं दुप्पयं चउप्पयं चे"त्यादि, अत्र चादिशब्दः प्रकारवचनः, क्षेत्रादयः–क्षेत्रप्रकारा (हिरण्य) धनादय इत्यर्थः, चित्तं–मन आदिर्येषां वित्तदेशवंशादीनां ते तथा तेषामविरोधः–आनुकूल्यमानुरूप्यं चित्ताद्यविरोधस्तस्माच्चित्ताद्यविरोधतः, 'वित्तादविरोहओत्ति' पाठान्तरम्, तत्र च वित्ताद्यविरोधतो वृत्त्याद्यविरोधतो वेति व्याख्येयम्, किमित्याह–चित्रं–बहुप्रकारमेतत्, तथाहि–कश्चिन्निःस्वोऽपि विपुलचित्तो भवति, अन्यस्त्वन्यथा, तथा कस्यचिद्भूरि वित्तमन्यस्य स्तोकं, तथा क्वचिद्देशेऽत्यन्तं धान्यचतुष्पदादिसङ्ग्रहो विधीयते अन्यत्र तु न तथा, तथा कोऽपि राजवंश्योऽन्यो ब्राह्मणवणिग्वंश्यादिः, तस्य च प्रायो राज्यादिसंभवासंभवौ स्तः, इत्येवं स्वचित्तवित्तादीनामविरोधेनानेकविधपुंभिस्तद्विधीयमानमनेकधा भवतीति गाथार्थः ॥१७॥ अत्रातिचारानाह—'खेत्ताई'त्यादि, क्षेत्रादिहिरण्यादिधनादि-

द्विपदादिकुप्यमानक्रमात्,क्षेत्रादिषु विषयेषु यद्गृहीतं परिमाणं तदतिक्रमानित्यर्थः, योजनप्रदानबन्धनकारणभावैः, एभिर्योजनादिभिर्यथासङ्कल्पं न करोति-न विधत्ते इति समुदायार्थः,तत्र क्षेत्रं-सस्योत्पत्तिभूमिः,तच्च सेतुकेतूभयभेदात्त्रिविधं,तत्र सेतुक्षेत्रमरघट्टादिसेक्यं, केतुक्षेत्रं पुनराकाशोदकनिष्पाद्यं,उभयक्षेत्रं तु तदुभयनिष्पाद्यम्,आदिशब्दाद्वास्तुग्रहो,वास्तु च-अगारं ग्रामनगरादि च, तत्रागारं त्रिविधम्-खातमुच्छ्रितं खातोच्छ्रितं च,तत्र खातं भूमिगृहादि, उच्छ्रितं समुच्छ्रयेण कृतं,उभयं भूमिगृहस्योपरि प्रासादः, एतयोश्च क्षेत्रवास्तुनोः प्रमाणस्य योजनेन-क्षेत्रान्तरादिमीलनेनातिक्रमः अतिचारो भवति, तथाहि-किलैकमेव मे क्षेत्रं वास्तु वेत्यभिग्रहवतोऽधिकृतराभिलाषे सति (क्षेत्रान्तरादिमीलनेन) व्रतसापेक्षत्वात् कथञ्चिद्विरतिबाधनाच्चातिचार इति, तथा हिरण्यं-रजतं आदिशब्दात्सुवर्णं, तत्परिमाणस्य प्रदानेन-वितरणेनातिक्रमः अतिचारो भवति, यथा केनापि चतुर्मासाद्यवधिना हिरण्यादिपरिमाणं विहितं, तत्र च तेन तुष्टराजादेः सकाशात्तदधिकं तल्लब्धं, तच्चान्यस्मै व्रतभङ्गभयात्प्रददाति पूर्णेऽवधौ ग्रहीष्यामीति भावनयेति व्रतसापेक्षत्वादतिचारः, तथा धनं-गणिमधरिममेयपरिच्छेद्यभेदाच्चतुर्विधं, तत्र गणिमं-पूगफलादि धरिमं-गुडादि मेयं-घृतादि परिच्छेद्यं-माणिक्यादि, आदिशब्दाद्धान्यं व्रीह्यादि, एतत्प्रमाणस्य बन्धनतोऽतिक्रमः अतिचारो भवति, यथा हि किल कृतधनादिपरिमाणस्य कोऽपि लभ्यमन्यद्वा धनादि ददाति,तच्च व्रतभङ्गभयाच्चतुर्मास्यादिपरतो गृहगतधनादिविक्रये वा कृते ग्रहीष्यामीति भावनया बन्धनेन-नियन्त्रणेन रज्ज्वादिसंयमनेन सत्यङ्कारदानादिरूपेण वा स्वीकृत्य तद्गेह एव तत् स्थापयतोऽतिचारः, तथा द्विपदं-पुत्रकलत्रदासीदासकर्मकरशुकसारिकादिरूपं,आदिशब्दाद्गवादिचतुष्पदपरिग्रहः,तेषां यत् परिमाणं तस्य कारणेन-गर्भाधानविधापनेनातिक्रमः अतिचारो भवति, यथा किल केनापि संवत्सराद्यवधिना द्विपदचतुष्पदानां परिमाणं कृतं, तेषां च संवत्स-

उड्ढाहोतिरियदिसं चाउम्मासाइकालमाणेण । गमणपरिमाणकरणं गुणव्वयं होइ विन्नेयं ॥१९॥

रमध्य एव प्रसवेऽधिकद्विपदादिभावाद्व्रतभङ्गः स्यादिति तद्भयात् कियत्यपि काले गते गर्भग्रहणं कारयतो गर्भस्थद्विपदादिभावेन बहिर्गततदभावेन कथञ्चिद्व्रतभङ्गादतिचारः, तथा कुप्यं-आसनशयनादिगृहोपस्करस्तस्य यन्मानं तस्य भावेन-तत्पर्यायान्तररूपेणातिक्रमोऽतिचारो भवति, यथा किल केनापि दशकरोटकादीनीति कुप्यस्य परिमाणं कृतं, ततस्तेषां कथञ्चिद्द्विगुणत्वे सति व्रतभङ्गभयात्तेषां द्वयेन द्वयेनैकैकं महत्तरं कारयतः पर्यायान्तरकरणेन सङ्ख्यापूरणात् स्वाभाविकसङ्ख्याबाधनाच्चातिचारः, अन्ये त्वाहुः-भावेन-तदर्थित्वलक्षणेन विवक्षितकालावधेः परतोऽहमेतद्ग्रहीष्याम्यतो नान्यस्मै देयमिति परादेयतया व्यवस्थापयत इति, एते चातिचारा मूलसूत्र एवमधीयन्ते-"खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे" इत्यादि, यथाश्रुतत्वेन चैषामभ्युपगमे भङ्गातिचारयोर्न विशेषः स्यादिति तद्विशेषोपदर्शनार्थमाचार्येण योजनप्रदानेत्यादि भावना दर्शिता, अयमेव चासौ भावार्थो यत्संगतं श्रावकधर्मं वक्ष्य इत्याद्यगाथायां वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातः, एतद्भावनोपदर्शनादेवान्येषां सहसाभ्याख्यानादीनामतिचाराणामनुपदर्शितभावनानामपि भावनोत्प्रेक्षणीया, सा च यथाबोधं केषाञ्चिद्दर्शितैवास्माभिर्दर्शयिष्यते चेति, यच्च क्षेत्रादिपरिग्रहस्य नवविधत्वेन ततसङ्ख्यातिचारप्राप्तौ पञ्चसङ्ख्यात्वमुक्तं तत्सजातीयत्वेन शेषभेदानामत्रैवान्तर्भावात्, शिष्यहितत्वेन च प्रायः सर्वत्र मध्यमगतेर्विवक्षितत्वात् पञ्चकसङ्ख्यैवातिचारपरिगणनं, अतश्चतुःषडादिसङ्ख्ययाऽतिचाराणामगणनमुपपन्नमिति गाथार्थः ॥१८॥ उक्तान्यणुव्रतानि, अथैतेषामेवोत्तरगुणानामवसरः, ते च गुणव्रतशिक्षाव्रतरूपाः, तत्र प्रथमगुणव्रताभिधित्सया तावदाह-'उड्ढाहो' इत्यादि, ऊर्ध्वं च-उपरि पर्वतादिविषयेऽधश्च-ऊर्ध्वविपरीतात् कूपादौ तिर्यक् च-पूर्वादिः ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् तच्च तद्दिक् च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक्

वज्जइ उड्ढाइक्कममाणयणप्पेसणोभयविसुद्धं । तह चेव खेत्तवुड्ढिं कहिंचि सइअंतरद्धं च ॥२०॥

तवस्तमाश्रित्य गमनपरिमाणकरणमिति सम्बन्धः, अथवा गमनपरिमाणकरणस्यैव विशेषणमेतत्, ऊर्ध्वाधस्तिरश्चो दिशो विषयभूता यत्रेति समासात्, ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्दिशीति वा, सर्वदिक्ष्वित्यर्थः,अनुस्वारश्चालाक्षणिक इति, चतुर्णां मासानां समाहारश्चतुर्मासं तदेव चातुर्मास्यं तदादि यत्कालमानं-कालपरिमाणं तत्तथा तेन चातुर्मास्यादिकालमानेन, गमनस्य-गतेः परिमाणकरणं-इयतः क्षेत्रात्परतो न गन्तव्यमित्येवं मानविधानं गमनपरिमाणकरणम्, गुणाय-अणुव्रतानामुपकाराय व्रतं गुणव्रतं, भवति ह्यणुव्रतानां गुणव्रतेभ्य उपकारः, विवक्षितक्षेत्रादिभ्योऽन्यत्र हिंसादिनिषेधादिति, भवति-वर्तते, विज्ञेयं-ज्ञातव्यम्, प्रथममिति गम्यत इति गाथार्थः ॥१९॥ 'वज्जई'त्यादि, वर्जयति-परिहरति, ऊर्ध्वादिक्रममिति-ऊर्ध्वादिषु-ऊर्ध्वाधस्तिरश्चीषु दिक्षु क्रमः-क्रमणं, विवक्षितक्षेत्रात्परत इति गम्यते, अत ऊर्ध्वादिक्रमस्तम्, अनेन त्रयोऽतिचाराः प्रतिपादिताः, तद्यथा-"उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे तिरियदिसिपमाणाइक्कमे", एते चानाभोगातिक्रमादिभिरेवातिचारा भवन्ति, अन्यथा प्रवृत्तौ तु भङ्गा एव, एवं चोर्ध्वादिदिगतिक्रमं कथं वर्जयतीत्याह-आनयनं च-विवक्षितक्षेत्रात्परतः स्थितस्य वस्तुनः परेण स्वक्षेत्रे प्रापणं प्रेषणं च-ततः परेण नयनं उभयं च-उक्तद्वयमप्येकदैवेति द्वन्द्वः तैर्विशुद्धं-निर्दोषमानयनप्रेषणोभयविशुद्धं तद्यथा भवतीति क्रियाविशेषणं, विवक्षितक्षेत्रात्परतः स्वयं गमनतः आनयनादिभिश्च प्रकारैर्दिक्परिमाणातिक्रमं वर्जयतीति भावना, अयं चानयनादावतिक्रमो न कारयामीत्येवंविहितदिग्व्रतस्यैव संभवति, तदन्यस्य त्वानयनादावनतिक्रम एव, तथाविधप्रत्याख्यानाभावादिति, 'तह चेव'त्ति तथैव-तेनैव प्रकारेण गमनानयनादिविशुद्धतालक्षणेन क्षेत्रस्य-पूर्वादिदेशस्य दिग्व्रतविषयस्य ह्रस्वस्य सतो वृद्धिः-वर्धनं पश्चिमा-

वज्जणमणंतगुंबरिअच्चंगाणं च भोगओ माणं। कम्मयओ खरकम्माइयाण अवरं इमं भणियं ॥२१॥

दिक्क्षेत्रान्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घीकरणं क्षेत्रवृद्धिस्तां, किल केनापि पूर्वापरदिशोः प्रत्येकं योजनशतं गमनपरिमाणं कृतं, स चोत्पन्नप्रयोजन एकस्यां दिशि नवतिं व्यवस्थाप्यान्यस्यां तु दशोत्तरं योजनशतं करोति, उभाभ्यामपि प्रकाराभ्यां योजनशतद्वयरूपस्य परिमाणस्याव्याहतत्वात्, इत्येवमेकत्र क्षेत्रं वर्धयतो व्रतसापेक्षत्वादतिचार इति, तथा कथञ्चित्—केनापि प्रकारेणातिव्याकुलत्वप्रमादित्वमत्यपाटवादिना स्मृतेः—स्मरणस्य योजनशतादिरूपदिक्परिमाणविषयस्यान्तर्धा—भ्रंशः स्मृत्यन्तर्धा ताम्, चशब्दः समुच्चये, केनचित् किल पूर्वस्यां दिशि योजनशतरूपं परिमाणं कृतमासीत्, गमनकाले च स्पष्टतया न स्मरति—किं शतं परिमाणं कृतमुत पञ्चाशत्?, तस्य चैवं पञ्चाशतमतिक्रामतोऽतिचारः, शतमतिक्रामतो भङ्गः,सापेक्षत्वान्निरपेक्षत्वाच्चेति गाथार्थः, इह वृद्धसम्प्रदायः—ऊर्ध्वं यत्प्रमाणं गृहीतं तस्योपरि पर्वतशिखरे वृक्षे वा वस्त्रमाभरणं वा गृहीत्वा(कश्चिन्मर्कटकादिः)व्रजेत्,तत्र तस्य न कल्पते गन्तुं,यदा तु तत्पतितमन्येन वाऽऽनीतं तदा कल्पते ग्रहीतुं,एतत्पुनरष्टापदोज्जयन्तादिषु भवेत्,एवमधः कूपादिषु विभाषा,तथा तिर्यक् यत्प्रमाणं गृहीतं तन्त्रिविधेन करणेन नातिक्रमितव्यं, क्षेत्रवृद्धिश्च न कर्तव्या, कथं?, असौ पूर्वेण भाण्डं गृहीत्वा गतो यावत्तत्परिमाणं, ततः परतो भाण्डमर्घं लभत इतिकृत्वा अपरेण यानि योजनानि तानि पूर्वदिक्परिमाणे क्षिपति, यद्यनाभोगात्परिमाणमतिक्रान्तो भवेत्तदा निवर्तितव्यं, ज्ञाते वा न गन्तव्यं, अन्योऽपि न विसर्जनीयः, अनाज्ञया कोऽपि गतो भवेत्तदा यत्तेन लब्धं स्वयं विस्मृत्य गतेन वा तन्न गृह्यत इति ॥२०॥ उक्तं सातिचारं प्रथमं गुणव्रतं, अधुना द्वितीयमाह—'वज्जे'त्यादि, इदं किल द्वितीयगुणव्रतमुपभोगपरिभोगव्रताभिधानं द्विधा भवति—भोजनतः कर्मतश्च, तत्र उपेति—सकृदन्तर्वा भोजनमुपभोगः—अशनादीनां

भोगः, उपभुज्यत इति वोपभोगः–अशनादिरेव, परि–आवृत्त्या बहिर्वा भोजनं परिभोगो–वस्त्रादिभोगः, परिभुज्यत इति वा परिभोगो–वस्त्रादिरेव, तत्रोपभोगपरिभोगयोरासेवाविषययोर्वस्तुविशेषयोः तदुपादानभूतकर्मणां वोपचारादुपभोगादिशब्दवाच्यानां व्रतमुपभोगपरिभोगव्रतं, तत्र पूर्वार्धेन भोजनतस्तावदिदमाह–वर्जनं–परिहरणं अनन्तकमिति–अनन्तकायः प्रवचनप्रसिद्धः, यथा–"सव्वा य कंदजाई सूरणकंदो य वज्जकंदो य। अल्लहलिद्दा य तहा अल्लं तह अल्लकच्चूरो ॥१॥" इत्यादि, 'उदुंबरीति' वटपिप्पलोदुम्बरप्लक्षकदुम्बरफलानि समयभाषयोच्यन्ते, तथाऽत्यङ्गानीति–अतिशायीनि भोगस्य कारणान्यवयवा वा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिभोजनस्रक्चन्दनाङ्गनादीनि वा एतेषां द्वन्द्वः अतस्तेषामनन्तकोदुम्बर्यत्यङ्गानां,उपलक्षणत्वाच्चैषां समस्ताशनादिद्रव्याणां चेति दृश्यम्, चशब्दस्य चोत्तरत्र सम्बन्धः, भोगतो–भोजनत उपभोगपरिभोगावाश्रित्यापरं व्रतमिति योगः, तथा मानं च, न केवलमनन्तकायादीनां वर्जनं भोजनतो व्रतं, मानं च–परिमाणं च तेषां व्रतमिति, अथ कर्मतस्तदेवाह–'कम्मयउ' त्ति कर्म–जीविकार्थं आरम्भः कर्मैव कर्मकं तस्मात्कर्मकतः–तदाश्रित्य खरकर्मादीनां–निस्त्रिंशजनोचितकठोरारम्भाणां कोट्टपालगुप्तिपालकर्मादीनां, आदिशब्दादङ्गारकर्मादीनां, वर्जनं चेति प्रक्रमः, अपरं–अन्यद्द्वितीयमिदं गुणव्रतं भणितं–प्रतिपादितं,पूर्वाचार्यैरिति गम्यते, तथा च वृद्धसम्प्रदायः–भोजनतः श्रावक उत्सर्गेण प्रासुकमेषणीयमाहारमाहारयेत्, तस्यासद्भावेऽनेषणीयमपि सचित्तवर्जं, तदसत्त्वेऽनन्तकायबहुबीजकानि परिहरेत्, तत्राशने आर्द्रकमूलकमांसादि, पाने मांसरसमद्यादि, खादिमे पुनरुदुम्बरपञ्चकादि, स्वादिमे तु मध्वादि, एवं परिभोगेऽपि वस्त्रादौ, तत्र स्थूलधवलाल्पमूल्यानि परिमितानि वस्त्राणि परिभुञ्जीत, शासनप्रभावनार्थं चाम्बराणि वरतराणि यावद्देवदूष्याण्यपि, नवरं भोगे परिमाणं कुर्यादिति, कर्मतोऽपि यद्यकर्मा न शक्नोति जीवितुं तदाऽत्यन्त-

सचित्तं पडिबद्धं अपउलदुपओलतुच्छभक्खणयं । वज्जइ कम्मयओऽविय इत्थं अंगालकम्माइं ॥२२॥

सावद्यानि परिहरेत्, अत्रापि सकृदेव यत्क्रियते कर्म प्रहारण्यवहरणादि विवक्षया तदुपभोगोऽभिधीयते, पौनःपुन्येन यत्पुनस्तत्परिभोग इति, अन्ये पुनः कर्मपक्षे उपभोगपरिभोगयोजनं न कुर्वन्ति, उपभोगपरिभोगव्रते कर्मणः पुनरुपन्यास उपभोगादिकारणभावेनेति गाथार्थः ॥२१॥ उभयरूपेऽप्यत्रातिचारानाह—'सचित्ते'त्यादि, श्रावकेण हि भोजनतः किलोत्सर्गतो निरवद्याहारेण भाव्यं, कर्मतश्च प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानेन, अतस्तदपेक्षया यथासंभवममी अतिचारा दृश्याः, तत्र भोजनतस्तावदाह—सचित्तं—सचेतनं कन्दादि, इह च सर्वत्र निवृत्तिविषयीकृतप्रवृत्तावप्यतिचाराभिधानं व्रतसापेक्षस्यानाभोगातिक्रमादिनिबन्धनप्रवृत्त्या द्रष्टव्यं, अन्यथा भङ्ग एव स्यात्, अतस्तन्निवृत्तिविषयीकृतं भक्ष्यतया वर्जयतीति योगः, तथा प्रतिबद्धं—संबद्धं सचित्तवृक्षेषु गुंदादि पक्वफलादि वा, तद्भक्षणं हि सावद्याहारवर्जकस्य सावद्याहारप्रवृत्तिरूपत्वादनाभोगादिनाऽतिचारः, अथवाऽस्थिकं त्यक्ष्यामि, तस्यैव सचेतनत्वात्, कटाहं तु भक्षयिष्यामि, तस्याचेतनत्वात्, इति बुद्ध्या पक्वं खर्जूरादिफलं मुखे प्रक्षिपतः सचित्तवर्जकस्य सचित्तप्रतिबद्धाहारोऽतिचारः, तथा 'अपउल'त्ति अपक्वं च—अग्निनाऽसंस्कृतं 'दुपओल'त्ति दुष्पक्वं च—अर्धस्विन्नं, 'तुच्छ'त्ति तुच्छं च—निःसारमिति द्वन्द्वः तेषां, धान्यानामिति गम्यं, भक्षणं—अदनं तदेव स्वार्थिके कप्रत्यये सत्यपक्वदुष्पक्वतुच्छभक्षणकं, नन्वपक्वौषधयो यदि सचेतनास्तदा सचित्तमित्याद्यपदेनैवोक्तार्थत्वात्पुनर्वचनमसंगतं, अथाचेतनास्तदा कोऽतिचारः ?, निरवद्यत्वात्तद्भक्षणस्येति, सत्यं, किंत्वाद्यावतिचारौ सचेतनकन्दफलादिविषयौ इतरे तु शाल्योषधिविषयाः इति विषयकृतो भेदः, अत एव मूलसूत्रे—"अपउलिओसहिभक्खणया" इत्याद्युक्तं, ततोऽनाभोगातिक्रमादिनाऽपक्वौषधिभक्षणमतिचारः, अथवा कणिकादेरपक्वतया संभवात्सचित्तावयवस्य

पिष्टत्वादिनाऽचेतनमिदमिति बुद्ध्या भक्षणं व्रतसापेक्षत्वादतिचारः, दुष्पक्वौषधिभक्षणं तु पृथुकादेर्दुष्पक्वतया संभवात्सचेतनावयवस्य पक्वत्वादचेतनमिति बुद्ध्या भुञ्जानस्यातिचारः, ननु तुच्छौषधयोऽपक्वा दुष्पक्वाः सम्यक् पक्वा वा स्युः ?, यद्याद्यौ तदा तृतीयचतुर्थातिचाराभ्यामेवास्योक्तत्वात्पुनरुक्तत्वदोषः, अथ सम्यक् पक्वास्तदा निरवद्यत्वादेव काऽतिचारता तद्भक्षणस्येति ?, सत्यं, किंतु यथाऽऽद्यद्वयस्योत्तरद्वयस्य च सचित्तत्वे समानेऽप्यनोषध्योषधिकृतो विशेषः,एवमत्र सचेतनत्वौषधित्वाभ्यां समानत्वेऽप्यतुच्छत्वतुच्छत्वकृतो विशेषो दृश्यः, तत्र च कोमलमुद्गादिफलीर्विशिष्टतृप्त्यकारकत्वेन तुच्छाः सचेतना एवानाभोगातिक्रमादिना भुञ्जानस्य तुच्छौषधिभक्षणमतिचारः, अथवाऽत्यन्तावद्यभीरुतयाऽचित्ताहारताऽभ्युपगता, तत्र च यत्तृप्तिकारकं तदचेतनीकृत्यापि भक्षयतु, सचेतनस्यैव वर्जनीयत्वाभ्युपगमात्, यत्पुनस्तृप्तिसंपादनासमर्था अप्योषधीर्लौल्येनाचेतनीकृत्य भुङ्क्ते तत्तुच्छौषधिभक्षणमतिचारः, तत्र भावतो विरतेर्विराधितत्वाद्द्रव्यतस्तु पालितत्वादिति, एवं रात्रिभोजनमांसादिव्रतेष्वप्यनाभोगातिक्रमादिभिरतिचारा भावनीयाः, अथ कर्मव्रतातिचारानाह—वर्जयति—परिहरति, 'कम्मयओऽविय'त्ति कर्मकतः, इह कप्रत्ययः स्वार्थिको गाथापूरणार्थः, तेन कर्मतः—कर्माश्रित्य, अपिचेति पुनःशब्दार्थः, क्वचित् 'कम्मयओऽवि हु'त्ति पाठः, तत्रापिशब्दः पुनरर्थ एव, हुशब्दः पूरणे, ततश्च भोजनतोऽत्र व्रते सचित्तभक्षणादि वर्जयति, कर्मतः पुनरत्र द्वितीये गुणव्रतेऽङ्गारकर्मादि वर्जयतीति योगः, कर्मतो हि द्वितीयगुणव्रते पञ्चदशातिचारा भवन्ति,तदुक्तम्—"इंगाली१ वण२साडी३भाडी४ फोडीसु५ वज्जए कम्मं। वाणिज्जं चेव य दंत१-लक्ख२ रस३ केस४ विस५ विसयं॥१॥ एवं खु जंतपीलणकम्मं१नीलंछणं च२दवदाणं३। सरदहतलायसोसं४ असईपोसं च५ वज्जेज्जा ॥२॥"भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः,स चायम्—अङ्गारकर्मेति अङ्गारान् कृत्वा विक्रीणीते,तत्र षण्णां जीवनिकायानां वधः स्यात्-

तत्तत्र कल्पते, १ वनकर्म यद्वनं क्रीणाति, ततस्तच्छित्त्वा विक्रीय मूल्येन जीवति, एवं पत्रादीन्यपि प्रतिषिद्धानि भवन्ति २ शकटीकर्म-यच्छाकटिकत्वेन जीवति, तत्र गवादीनां बन्धवधादयो दोषाः स्युः ३ भाटीकर्म-यत् स्वकीयेन तन्त्रेण भाटकेन परकीयं भाण्डं वहत्यन्येषां वा शकटबलीवर्दादीनर्पयतीति ४ स्फोटीकर्म-उड्डत्वं यद्वा हलेन भूमेः स्फोटनं ५ दन्तवाणिज्यं-यत्पूर्वमेव पुलिन्द्राणां मूल्यं ददाति दन्तान्मे यूयं दद्तेति,ततस्ते हस्तिनो घ्नन्ति,अचिरादसौ वाणिजक एष्यतीतिकृत्वा, एवं कर्मकराणां शंखमूल्यं ददाति, पूर्वानीतांस्तु क्रीणाति ६ लाक्षावाणिज्यमप्येवमेव, दोषस्तु तत्र कृमयो भवन्ति ७ रसवाणिज्यं-कल्पपालत्वं, तत्र च सुरादावनेके दोषा मारणाक्रोशवधादयः ८ केशवाणिज्यं-यद्दास्यादीन् गृहीत्वाऽन्यत्र विक्रीणीते, अत्राप्यनेके दोषाः परवशत्वादयः, ९ विषवाणिज्यं-विषविक्रयः, तच्च न कल्पते, यतस्तेन बहूनां जीवानां विराधना स्यात् १० यन्त्रपीडनकर्मेति-तिलेक्षुयन्त्रादिना तिलादिपीडनं ११ निर्लाञ्छनकर्म-गवादीनां वर्द्धितककरणं १२ दवाग्निकर्म-यद्वने दवं ददाति क्षेत्ररक्षणनिमित्तं यथोत्तरापथे, दग्धे हि तत्र तरुणं तृणमुत्तिष्ठति, तत्र च सत्त्वशतसहस्राणां वधः स्यात् १३ सरोह्रदतडागपरिशोषणं-यत्सरःप्रभृतीनि शोषयति, तत्र च धान्यमुप्यते १४ असतीपोषणं-यद्योनिपोषका दासीः पोषयन्ति, तत्सम्बन्धिनीं च भाटीं गृह्णन्ति, यथा गोल्लविषय इति १५, दिङ्मात्रप्रदर्शनं चैतद् बहुसावद्यानां कर्मणामेवंजातीयानां, न पुनः परिगणनमिति, इह चैवं विंशतिसङ्ख्यातिचाराभिधानमन्यत्रापि पञ्चातिचारसंख्यया तज्जातीयानां व्रतपरिणामकालुष्यनिबन्धनविधीनामपरेषां संग्रहो द्रष्टव्य इति ज्ञापनार्थं, तेन स्मृत्यन्तर्धानादयो यथासंभवं सर्वव्रतेष्वतिचारा दृश्या इति, नन्वङ्गारकर्मादयः कस्मिन् व्रतेऽतिचाराः?, खरकर्मादिव्रत इति चेत्तर्हि व्रतविषयस्यातिचाराणां च कः परस्परं विशेषः?, खरकर्मादिव्रतिना एते परिहार्याः, यदा पुनरेतेष्वनाभोगादिना

तहऽणत्थदंडविरई अण्णं स चउव्विहो अवज्झाणे । पमयायरिए हिंसप्पयाणपावोवएसे य ॥२३॥

प्रवर्तन्ते तदा खरकर्मव्रतातिचारा भवन्ति, यदा त्वाकुट्टया तदा भङ्गा एवेति गाथार्थः ॥२२॥ उक्तं सातिचारं द्वितीयं गुणव्रतमिदानीं तृतीयमाह–'तहे'त्यादि, तथा–तेनैव प्रकारेण भोगव्रतमिवाणुव्रतोपकारित्वलक्षणेन अर्थः–प्रयोजनं तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दण्ड्यत आत्माऽनेनेति दण्डो–निग्रहः, अनर्थेन दण्डोऽनर्थदण्डः, इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभूतोपमर्दनात्मनो निग्रह इत्यर्थः, तस्मात्तस्य वा विरतिः–उपरमोऽनर्थदण्डविरतिः, किमित्याह–अन्यत्–द्वितीयगुणव्रतापेक्षयाऽपरं, तृतीयं गुणव्रतं भवतीति हृदयं, 'स' इति स चानर्थदण्डश्चतुर्विधः–चतुष्प्रकारो भवति, चातुर्विध्यमेवाह–अपध्याने–निष्प्रयोजनदुष्टध्यानविषय इत्यर्थः १, अथवकारान्तशब्दस्य प्रथमैकवचनान्तत्वेन दर्शनादपध्यानं, तच्चैवम्–"कइया वच्चति सत्थो ? किं भंडं ? कत्थ ? केत्तिया भूमी ? । को कयविक्कयकालो ? निव्विसये किं ? कहिं ? केण ? ॥१॥" इत्यादि १,तथा 'पमयायरिय'त्ति इह छन्दोभङ्गभयात् 'पमाया' इति वाच्ये 'पमया' इत्युक्तं,तत्र प्रमादो–मद्यविषयकषायनिद्राविकथालक्षणः तेन तस्य वा आचरितं–अनुष्ठानं प्रमादाचरितं तस्मिन् विषये, प्रमादाचरितमेव वा, अनर्थदण्डता चास्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्ध्या दृश्या, अथवा प्रमादाचरितं–आलस्योपहतकृत्यं, तच्चास्थगिततैलघृतभाजनधारणादि सत्त्वोपघातहेतुभूतमिति२, तथा हिंसनधर्मकं हिंस्रं हिंसाहेतुत्वाद्वा हिंसा–आयुधानलहलविषादि, तस्य प्रदानं–अन्यस्मै समर्पणं हिंस्रप्रदानं हिंसाप्रदानं वा३,तथा पापं–पापहेतुभूतं कृष्यादिकर्म तस्योपदेशः–प्रवर्तनं पापोपदेशः, अनयोश्च समाहारद्वन्द्वे हिंस्रप्रदानपापोपदेशं तत्र विषये, हिंस्रप्रदानपापोपदेशमेव वा, अनर्थदण्ड इति हृदयम्, चशब्दः समुच्चयार्थः । एवं चतुर्विधोऽनर्थदण्ड इति गाथार्थः ॥२३॥ अत्रातिचारानाह–'कंदप्पे'त्यादि, कंदर्पः–कामस्तद्धेतुविशिष्टो वाक्प्रयो-

कंदप्पं कुक्कुइयं मोहरियं संजुयाहिगरण च । उवभोगपरीभोगाइरेगयं चेत्थ वज्जेइ ॥२४॥

गोऽपि कंदर्प एव, मोहोद्दीपकं वा कर्मेति भावः, तं वर्जयतीति योगः, इह च सामाचारी–श्रावकस्याट्टाट्टहासो न कल्पते कर्तुं, यदि नाम हसितव्यं तदेषदेवेति१, तथा कुकुचः–कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तस्तद्भावः कौकुच्यं–अनेकप्रकारा मुखनयनादिविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भाण्डानामिव विडम्बनक्रियेत्यर्थः, अत्र सामाचारी–श्रावकस्य तादृशानि भणितुं न कल्पन्ते यादृशैर्लोकस्य हास उत्पद्यते, एवं गत्या गन्तुं, स्थानेन वा स्थातुमिति, एतौ च कंदर्पकौकुच्याख्यावतिचारौ प्रमादाचरितव्रतस्यावसेयौ, प्रमादरूपत्वात्तयोः, तथा मुखमस्यातीति मुखरस्तद्भावः कर्म वेति मौखर्यं–धार्ष्ट्यप्रायमसम्बद्धप्रलापित्वं, अयं च पापोपदेशव्रतस्यातिचारः, मौखर्ये सति पापोपदेशसंभवात्२, तथाऽधिक्रियते नरकादिष्वनेनात्मेत्यधिकरणं–वास्युदूखलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रकादि, संयुतं–संयुक्तमर्थक्रियाकरणयोग्यं तच्च तदधिकरणं चेति संयुताधिकरणं, तत्र सामाचारी–श्रावकेण न संयुक्तानि शकटादीनि धारयितव्यानि, अयं च हिंस्रप्रदानव्रतस्य, तथोपभोगपरिभोगयोः–उक्तनिर्वचनयोः अतिरेकता–आधिक्यमुपभोगपरिभोगातिरेकता तां च, चशब्दः समुच्चये, अत्र–अनर्थदण्डविरतौ वर्जयति–परिहरते, इहापि सामाचारी–उपभोगातिरिक्तानि यदि बहूनि तैलामलकानि गृह्णाति तदा तल्लौल्येन बहवः स्नातुं तडागादौ व्रजन्ति, ततश्च पूतरकाप्कायादिवधोऽधिकः स्यात्, एवं ताम्बूलादिष्वपि विभाषा, न चैवं कल्पते, ततः को विधिरुपभोगे?, तत्र स्नाने तावद्गृह एव स्नातव्यं, नास्ति चेत्तत्सामग्री तदा तैलामलकैः शिरो घर्षयित्वा तानि च सर्वाणि शाटयित्वा तडागादीनां तटे निविष्टोऽञ्जलिभिः स्नाति, तथा येषु पुष्पादिषु कुन्थ्वादयः सन्ति तानि परिहरतीति, अयं च प्रमादाचरितव्रत एव, विषयात्मकत्वादस्य, अपध्यानाचरितव्रते त्वनाभोगादिनाऽपध्याने प्रवृत्तिरति-

सिक्खावयं तु एत्थं सामाइयमो तयं तु विण्णेयं । सावज्जेयरजोगाण वज्जणासेवणारूवं ॥२५॥

चारः, कंदर्पादय आकुट्या क्रियमाणा भङ्गा एवावसेया इति गाथार्थः ॥२४॥ उक्तं सातिचारं तृतीयं गुणव्रतं, तदुक्तायुक्तानि गुणव्रतानि, अधुना शिक्षाव्रतान्युच्यन्ते, तत्र शिक्षा–अभ्यासस्तत्प्रधानानि व्रतानि२ पुनः पुनरासेवार्हाणीत्यर्थः, तानि च सामायिकादीनि चत्वारि, तत्र तावत्सामायिकमाह–'सिक्खे'त्यादि, शिक्षाव्रतमुक्तशब्दार्थं, अथवा शिक्षा–ग्रहणासेवारूपा परमपदसाधिका विशिष्टचेष्टा तत्प्रधानं व्रतं तस्या वा पदं शिक्षापदं शिक्षाव्रतं वा, तुशब्दः पुनरर्थः, तस्य चैवं प्रयोगः–गुणव्रतं तावद्दिग्व्रतादि, शिक्षाव्रतं पुनरत्र श्रावकधर्मे सामायिकमिति, समस्य–रागद्वेषवियुक्तस्य जीवस्यायो–लाभः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, समायः प्रयोजनमस्य क्रियानुष्ठानस्येति सामायिकम्, 'ओ' इति निपातः पादपूरणे, अन्ये त्वविभक्तिकनिर्देशं कृत्वा 'मो' निपात इति व्याख्यान्ति, तकं तु–तत्पुनः सामायिकं विज्ञेयं–ज्ञातव्यं, सावद्येतरयोगानां–सपापनिष्पापव्यापाराणां यथासङ्ख्यं वर्जनासेवनरूपं–परिहारानुष्ठानस्वभावं, विवक्षितकालावधिनेति गम्यते, तस्मिन् गृहीते द्विविधंत्रिविधेनेति विकल्पेनारम्भादिपरिहारः स्वाध्यायादिविधिश्च विधेय इति भावना । इह च केचिन्मन्यन्ते–प्रतिपन्नसामायिकस्य जिनस्नपनपूजादि कुर्वतो न दोषो, निरवद्ययोगत्वात्तस्य, यतः सावद्ययोगलक्षणमिदम्–"कम्ममवज्जं जं गरहियंति कोहाइणो य चत्तारि । सह तेहिं जो उ जोगो पच्चक्खाणं भवे तस्स ॥१॥" इति, न च जिनस्नपनादि गर्हितकर्मेति, अत्रोच्यते, एवं तर्हि साधोरपि तत्करणप्रसङ्गः, यतो न सावद्यलक्षणस्य साधुश्रावकावाश्रित्य भेदोऽभिहितः, तथा–"सामाइयंमि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा । एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥१॥" इत्येतद्गाथोक्तसामायिकवतः साधु-

ना सह सादृश्यं स्नपनादिविधौ नोपपद्यते, साधूनां तत्रानधिकारात्, तथा स्नपनादि कृतदेहविभूषेण कर्त्तव्यं, सामायिकं तु विभूषाविमुक्तेन, तथा भावस्तवारूढस्य द्रव्यस्तवेन न किञ्चन, तदर्थमेव तस्येष्टत्वात्, किंच-यथा तस्य स्नपनादि विधेयं तथा चैत्यसत्कारामकर्षणसेचनगाननृत्याद्यप्यविगानेन विधेयं प्राप्नोति, भवन्नीत्या निरवद्यत्वाविशेषात्, न च सामायिकसामाचार्या-मेतदेव तत्सूचकं वा वचनमुपलभ्यते, साधुसमानता तूपलभ्यत इति, अत्र पुनः सामाचारी-इह श्रावको द्विविधः-ऋद्धि-प्राप्तोऽनृद्धिकश्च, योऽसावनृद्धिकः स चैत्यगृहे साधुसमीपे वा गृहे वा पौषधशालायां वा यत्र विश्राम्यति निर्व्यापारो वाऽऽस्ते तत्र सर्वत्र तत्करोति, चतुर्षु स्थानेषु पुनर्नियमात्करोति, तद्यथा-चैत्यगृहे साधुसमीपे पौषधशालायां स्वगृहे वाऽऽवश्यकं कुर्वाणः, तत्र यदि साधुसमीपे करोति तदाऽयं विधिः-यदि परंपरभयं नास्ति, यदि केनापि समं विवादो नास्ति, यदि कस्यापि द्रव्यं न धारयति मा भूत्तत्कृताकर्षापकर्षिका, यदि च धारणकं दृष्ट्वा न गृह्णाति मा भूद्भङ्गो, यदि च व्यापारं न करोति, तदा स्वगृह एव सामायिकं कृत्वा व्रजति पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः, ईर्यायामुपयुक्तः यथा साधुः, भाषायां सावद्यं परिहरन्, एषणायां काष्ठं वा लेष्टुं वाऽनुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृह्णन्, एवमादाने निक्षेपे च, तथा खेलसिंघाणादीन्न विवेचयति, विवेचयंश्च स्थण्डिलं प्रत्यु-पेक्षते प्रमार्ष्टि च, यत्र तिष्ठति तत्रापि गुप्तिनिरोधं करोति, अनेन विधिना गत्वा त्रिविधेन साधून्नत्वा सामायिकं करोति-"करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव साहू पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं" इत्याद्युच्चारणतः, तत ईर्यापथिकायाः प्रति-क्रामति, पश्चादालोच्य वन्दते आचार्यादीन् यथारात्निकतया, पुनरपि गुरुं वन्दित्वा प्रत्युपेक्ष्य निविष्टः पृच्छति वा पठति वा, एवं चैत्येष्वपि, यदा तु स्वगृहे पौषधशालायां वा तदा गमनं नास्ति, यः पुनः ऋद्धिप्राप्तः स सर्वर्द्ध्या याति, तेन जनस्यास्था भवति,

मणवयणकायदुप्पणिहाणं इह जत्तओ विवज्जेइ । सइअकरणयं अणवट्ठियस्स तह करणयं चेव ॥२६॥

आरत्ताश्च साधवः सुपुरुषपरिग्रहेण भवन्ति, यदि त्वसौ कृतसामायिक एति तदाऽश्वहस्त्यादिभिरधिकरणं स्यात्, तच्च न वर्तते कर्तु-
मित्यसौ तन्न करोति, तथा कृतसामायिकेन पादाभ्यामेवागन्तव्यमिति च तन्न करोति, तथा यद्यसौ श्रावकस्तदा तं न कोऽप्य-
भ्युत्तिष्ठति, अथ यदा भद्रकस्तदा पूजा कृता भवत्विति पूर्वरचितमासनं क्रियते, आचार्याश्चोत्थिता एवासते, मोत्थानानुत्थानकृता
दोषा भूवन्, पश्चादसावृद्धिप्राप्तश्रावकः सामायिकं करोति, कथं?, "करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविहं तिवि-
हेणं जाव नियमं पज्जुवासामि" इत्यादि, एवं सामायिकं कृत्वेर्यां प्रतिक्रान्तो वन्दित्वा पृच्छति वा पठति वा, स च किल सामा-
यिकं कुर्वन् मुकुटं कुण्डले नाममुद्रां चापनयति, पुष्पताम्बूलप्रावारादिकं च व्युत्सृजतीत्येष विधिः सामायिकस्येति गाथार्थः ॥२५॥
अस्यैवातिचारानाह–'मणे'त्यादि, मनोवचनकायानां–मानसवाक्शरीराणां दुष्प्रणिधानं–सावद्ये प्रवर्तनं मनोवचनकायदुष्प्रणिधानं,
इह सामायिके यत्नतः–आदरेण विवर्जयति–परिहरतीति त्रयोऽमी अतिचाराः, तथा स्मृतेः–स्मरणस्य सामायिकविषयाया अकर-
णमेवाकरणकं–अनासेवनं स्मृत्यकरणकं, एतदुक्तं भवति–प्रबलप्रमादान्नैवं स्मरति यदुतास्यां वेलायां मया सामायिकं कर्तव्यं, कृतं
न कृतं वेति, स्मृतिमूलं च मोक्षानुष्ठानमिति, तथाऽनवस्थितस्य–अस्थिरस्वरूपस्य सामायिकस्य तथा–तेनैव प्रकारेण प्रबलप्रमादा-
दिलक्षणेन करणमेव करणकं–आसेवनं, यः सामायिकं करणानन्तरमेव त्यजति यथाकथञ्चिद्वा करोति तस्यानवस्थितकरणमित्य-
भिधीयते, चैवशब्दः समुच्चये, अपिचेत्यादिशब्दवत्, अयमेषां भावार्थः–"सामाइयं तु काउं घरचिंतं जो य चिंतए सड्ढो । अट्ट-
वसट्टोवगओ निरत्थयं तस्स सामइयं ॥१॥ कडसामइओ पुव्विं बुद्धीए पेहिऊण भासेज्जा । सइ निरवज्जं वयणं अन्नह सामाइयं

न भवे ॥२॥ अनिरिक्खियापमज्जिय थंडिल्ले ठाणमाइ सेवंतो । हिंसाभावेऽवि न सो कडसामइओ पमायाओ ॥३॥ न सरइ पमायजुत्तो जो सामइयं कया उ कायव्वं ? । कयमकयं वा ? तस्स हु कयंपि विहलं तयं नेयं ॥४॥ काऊण तक्खणं चिय पारेइ करेइ वा जहिच्छाए । अणवट्ठियसामइयं अणायराओ न तं सुद्धं ॥५॥" ननु मनोदुष्प्रणिधानादिषु सामायिकस्य निरर्थकत्वादिप्रतिपादनेन वस्तुतोऽभाव एव प्रतिपादितः,अतिचारश्च मालिन्यरूप एव भवतीति कथं सामायिकभावे ?, अतो भङ्गा एवैते, नातिचाराः, सत्यं, किन्त्वनाभोगतोऽतिचारा इति भावना, ननु द्विविधंत्रिविधेन सावद्यप्रत्याख्यानं सामायिकं, तत्र च मनोदुष्प्रणिधानादौ प्रत्याख्यानभङ्गात् सामायिकाभाव एव तद्भङ्गजनितं प्रायश्चित्तं च स्यात्, मनोदुष्प्रणिधानं च दुष्परिहार्यं, मनसोऽनवस्थितत्वात्, अतः सामायिकप्रतिपत्तेः सकाशात्तदप्रतिपत्तिरेव श्रेयसीति, नैवं, यतः सामायिकं द्विविधत्रिविधेन प्रतिपन्नं, तत्र च मनसा सावद्यं न करोमीत्यादीनि षट् प्रत्याख्यानानीत्येकतरप्रत्याख्यानभङ्गेऽपि शेषसद्भावान्न सामायिकस्यात्यन्ताभावो, मिथ्यादुष्कृतेन मनोदुष्प्रणिधानमात्रशुद्धेश्च, सर्वविरतिसामायिकेऽपि तथाऽभ्युपगतत्वात्, यतो गुप्तिभङ्गे मिथ्यादुष्कृतं प्रायश्चित्तमुक्तं, यदाह–"बीओ असमिओमित्ति कीस ? सहसा अगुत्तो वा ?" द्वितीयोऽतिचारः समित्यादिभङ्गरूपः,अनुतापेन शुध्यतीत्यर्थः, इति न प्रतिपत्तेरप्रतिपत्तिर्गरीयसीति, किंच–सातिचारानुष्ठानादप्यभ्यासतः कालेन निरतिचारमनुष्ठानं भवतीति सूरयो, यदाहुः–"अभ्यासोऽपि प्रायः प्रभूतजन्मानुगो भवति शुद्धः" इति, तथा यदिहोक्तं पौषधशालायां सामायिकं करोति, तत्रैकाकिन एव पौषधशालायां प्रवेश इति केचन मन्यन्ते 'एगे अबीए' इत्याद्यागमवचनश्रवणात्, तत्रोच्यते, नायमेकान्तो,वचनान्तरस्यापि श्रवणात्, तथा हि व्यवहारभाष्येऽभिहितम्–"रायसुयाई पंचवि पोसहसालाए संमिलिया" इत्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥ उक्तं

दिसिवयगहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जं तु। परिमाणकरणमेयं अवरं खलु होइ विण्णेयं ॥२७॥
वज्जइ इह आणयणप्पओग पेसप्पओगयं चेव। सद्दाणुरूववायं तह बहिया पोग्गलक्खेवं ॥२८॥

मातिचारं प्रथमं शिक्षाव्रतं,अधुना द्वितीयमाह–'दिसी'त्यादि,दिग्व्रतमुक्तस्वरूपं तत्र गृहीतं–अभ्युपेतं दिग्व्रतगृहीतं तस्य२, दिक्परिमाणस्य–ऊर्ध्वादिदिग्गमनप्रमाणस्य, दीर्घकालिकस्येति गम्यं,इह शिक्षाव्रतेषु, प्रतिदिनं–अनुदिवसम्, एतच्चोपलक्षणं प्रहरादेः, यत्तु–यत्पुनः परिमाणकरणं–संक्षिप्ततरदिक्प्रमाणग्रहणमित्यर्थः, एतद् एवंविधं परिमाणकरणं, अपरं–प्रथमादन्यत् द्वितीयं शिक्षाव्रतं देशावकाशिकं–देशे–दिग्व्रतगृहीतपरिमाणस्य विभागेऽवकाशः–अवस्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकं, स च यत्रास्ति तद्देशावकाशिकमिति, खलुर्वाक्यालङ्कारे, भवति–वर्तते, विज्ञेयं–ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥२७॥ अथातिचारानाह–'वज्जे'त्यादि, वर्जयति–परिहरते, इह द्वितीयशिक्षाव्रते, आनयने–विवक्षितक्षेत्राद् बहिर्वर्तमानस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रप्रापणे प्रयोगः–स्वयंगमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य संदेशकादिना व्यापारणमानयनप्रयोगोऽतस्तं, इह च प्राकृतत्वादनुस्वारस्याश्रवणम्, तथा प्रेष्यस्य–आदेश्यस्य प्रयोगो–विवक्षितक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय स्वयंगमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य व्यापारणं प्रेष्यप्रयोगकोऽतस्तम् ,चैवशब्दः समुच्चये, 'सद्दाणुरूववायं'ति शब्दानूनां रूपस्य च पातः–आह्वानीयस्य श्रोत्रे दृशौ च पातनं शब्दानुरूपपातस्तं, अथवा प्राकृतत्वाच्छन्दोभङ्गभयादेवं निर्देशः,अन्यथा 'सद्दरूवाणुवायं' इति वाच्यं स्यात्, तत्र शब्दस्य काशितादे रूपस्य च स्वशरीरसम्बन्धिनोऽनुपातो–विवक्षितक्षेत्राद् बहिःस्थितस्याह्वानीयस्य श्रोत्रे दृशौ च पातनं शब्दरूपानुपातोऽतस्तं, विवक्षितक्षेत्राद् बहिःस्थितं कञ्चन नरं व्रतभङ्गभयादाह्वातुमशक्नुवन् यदा काशितादिशब्दश्रावणस्वकीयरूपसंदर्शनव्याजेन समाकारयति तदा व्रतसापेक्ष----

आहारदेहसक्कारबंभचावारपोसहो यऽन्नं । देसे सव्वे य इमं चरमे सामाइयं णियमा ॥२९॥

च्छन्दानुपातो रूपानुपातश्चातिचार इति, तथा-तेनैव प्रकारेण विवक्षितजनस्यागमनार्थतालक्षणेन 'बहिय'त्ति बहिस्ताद्विवक्षितक्षेत्रात् पुद्गलक्षेपं-कर्करादिप्रक्षेपं२, देशावकाशिकव्रतं हि गृह्यते मा भूद्गमनागमनादिव्यापारजनितः प्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण, स च स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित् फले विशेषः, प्रत्युत गुणः स्वयंगमने, ईर्यापथविशुद्धेः, परस्य पुनरनिपुणत्वात्तदशुद्धिरिति, इह चाद्यद्वयमव्युत्पन्नबुद्धित्वेन सहसाकारादिना वा, अन्त्यत्रयं तु व्याजपरस्यातिचारतां यातीति, इहाहुर्वृद्धाः-दिग्व्रतसंक्षेपकरणं अणुव्रतादिसंक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेषामपि संक्षेपस्यावश्यं कर्तव्यत्वात्, प्रतिव्रतं च संक्षेपकरणस्य भिन्नव्रतत्वे न द्वादश व्रतानीति संख्याविरोधः स्यादिति, अत्र केचिदाहुः-दिग्व्रतसंक्षेप एव देशावकाशिकं, तदतिचाराणां दिग्व्रतानुसारितयैवोपलम्भात्, अत्रोच्यते, यथोपलक्षणतया शेषव्रतसंक्षेपकरणमपि देशावकाशिकमुच्यते तथोपलक्षणतयैव तदतिचारा अपि तदनुसारिणो द्रष्टव्याः, अथवा प्राणातिपातादिसंक्षेपकरणेषु बन्धादय एवातिचारा घटन्ते, दिग्व्रतसंक्षेपे तु संक्षिप्तत्वात् क्षेत्रस्य शब्दानुपातादयोऽपि स्युरिति भेदेन दर्शिताः, न च सर्वेषु व्रतभेदेषु विशेषतोऽतिचारा दर्शनीयाः, रात्रिभोजनादिव्रतभेदेषु तेषामदर्शितत्वादिति गाथार्थः ॥२८॥

उक्तं सातिचारं द्वितीयं शिक्षाव्रतं, साम्प्रतं तृतीयमुच्यते-'आहे'त्यादि, पोषं-पुष्टिं प्रक्रमाद्धर्मस्य धत्ते-करोतीति पोषधः-पर्वदिनानुष्ठानं, आहारश्च-अशनादिर्देहसत्कारश्च-शरीरभूषा ब्रह्म च-ब्रह्मचर्यमव्यापारश्च-आरम्भवर्जनमिति द्वन्द्वस्तेषु विषये तैर्वा निमित्तभूतैः पोषध आहारदेहसत्कारब्रह्माव्यापारपोषधः, आद्ययोर्वर्जनमन्त्ययोरासेवनमित्यर्थः चशब्दः पुनरर्थः, अन्यद्-देशावकाशिकादपरं तृतीयं शिक्षाव्रतं, इदं चतुर्विधमपि द्विधेत्याह-देशे-आहारादीनां देशविषये 'सव्वे'त्ति सर्वस्मिन्-निरवशेषे आहारादौ,

चशब्दः समुच्चयार्थः,'इमं'ति इदं पोषधव्रतं भवतीति गम्यं, तत्र च चरमे-अंतिमे भेदे सर्वतोऽव्यापारपोषधाख्ये कृते सति सामायिकं-प्रथमं शिक्षाव्रतं नियमाद्-अवश्यंभावेन, कर्तव्यं भवति इति गम्यं,अन्यथा सामायिकफललाभाभावः स्यात् ,इह च भावार्थो वृद्धोक्तोऽयम्-आहारपोषधो द्विविधो-देशसर्वभेदात् , तत्र देशे विवक्षितविकृतेरविकृतेरायामाम्लस्य वा सकृदेव द्विरेव वा भोजनमिति,सर्वतस्तु चतुर्विधस्याप्याहारस्याहोरात्रं यावत्प्रत्याख्यानं, शरीरसत्कारपोषधस्तु स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपनपुष्पगन्धविशिष्टवस्त्राभरणपरित्यागः, सोऽपि देशसर्वभेदाद्विधा, तत्र देशे कस्यापि शरीरसत्कारविशेषस्याकरणं, सर्वतस्तु सर्वस्यापि तस्याकरण,ब्रह्मचर्यपोषधोऽपि देशतः सर्वतश्च, तत्र देशे दिवैव रात्रावेव वा सकृदेव द्विरेव वाऽब्रह्मासेवनं, सर्वतस्त्वहोरात्रं यावद्ब्रह्मचर्यपालनं, अव्यापारपोषधोऽपि देशतः सर्वतश्च, तत्र देशत एकतरस्य कस्यापि व्यापारस्याकरणं, सर्वतस्तु सर्वेषामपि व्यापाराणां हलशकटगृहकर्मादीनामकरणं, तत्र चाव्यापारविषयो यो देशतः पोषधं करोति स सामायिकं करोति वा न वा, यस्तु सर्वतः पोषधं करोति स नियमात् सामायिकं करोति, यदि न करोति तदा तत्फलेन वञ्च्यते, तच्च क कथं वा करोतीति ?, उच्यते, चैत्यगृहे वा साधुमूले वा गृहे वा पोषधशालायां वा,उन्मुक्तमणिसुवर्णो व्यपगतमालावर्णकविलेपनप्रहरणः, तत्र च कृते पठति पुस्तकं वा वाचयति, धर्मध्यानं वा ध्यायति, यथैतान् साधुगुणानहं न समर्थो मन्दभाग्यो धारयितुमित्यादिविभाषेति, इह च यद्याहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्यपोषधवदव्यापारपोषधमप्यन्यत्रानाभोगेनेत्याद्याकारोच्चारणपूर्वकं प्रतिपद्यते तदा सामायिकमपि सार्थकं भवति, स्थूलत्वात्पोषधप्रत्याख्यानस्य सूक्ष्मत्वाच्च सामायिकस्येति,तथा पोषधवताऽपि सावद्यव्यापारा न कार्या एव,ततः सामायिकमकुर्वंस्तल्लाभात् भ्रश्यतीति,यदि पुनः सामाचारीविशेषात् सामायिकमिव द्विविधंत्रिविधेनेत्येवं पोषधं प्रतिपद्यते तदा सामायिकार्थस्य पोषधेनैव गतत्वान्न

अप्पडिदुप्पडिलेहियऽपमज्जसेज्जाइ वज्जई एत्थ । संमं च अणणुपालणमाहाराईसु सव्वेसु ॥३०॥

सामायिकमत्यन्तं फलवत्, यदि परं पौषधसामायिकलक्षणं व्रतद्वयं प्रतिपन्नं मयेति भावारफलत्वदिति गाथार्थः ॥२९॥ अत्रातिचारानाह–'अप्पडी'त्यादि, इह 'सूचनात्सूत्र'मिति न्यायात् 'पदावयवेषु पदसमुदायोपचारा'द्वा 'अप्पडि'त्ति अप्रत्युपेक्षितं, 'दुप्पडिलेहियं'ति दुष्प्रत्युपेक्षितं च 'अपमज्ज'त्ति अप्रमार्जितं दुष्प्रमार्जितं च पच्छय्यादि तदप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षिताप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यादि, आदिशब्दात्संस्तारकोच्चारप्रश्रवणभूमिपरिग्रहः,तद्वर्जयति–परिहरति,अत्र तृतीयशिक्षाव्रते, अनेन गाथार्धेन चत्वारोऽतिचारा दर्शिताः, तद्यथा–अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसेज्जासंथारए१ अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसेज्जासंथारए२ अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमी३ अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमि४त्ति व्यक्ताश्च, नवरमप्रत्युपेक्षितः–चक्षुषा न निरीक्षितः, दुष्प्रत्युपेक्षितो–विभ्रान्तचेतसा निरीक्षितः, शय्यासंस्तारकः–शयनार्थिकः संस्तारकः पौषधिकोपयोगी दर्भकुशकम्बलीवस्त्रादिः, अथवा शय्या–शयनं सर्वाङ्गीणं वसतिर्वा संस्तारकः–अर्धतृतीयहस्तपरिमाणः, अस्मिंश्च पक्षे समाहारद्वन्द्वो व्याख्येयः, उपलक्षणं चैतत्पीठकादेः, तथाऽप्रमार्जितो रजोहरणादिना दुष्प्रमार्जितोऽनुपयुक्ततयेति, ननु किं पौषधिकस्य रजोहरणमस्ति?, अस्तीति ब्रूमः, यतः सामायिकसामाचारीं भणताऽऽवश्यकचूर्णीकृतोक्तं–"रओहरणेणं पमज्जइ, जओ साहूणं उवग्गहियं रओहरणमत्थि तं मग्गति, असति पोत्तस्स अंतेणे"ति, उच्चारप्रश्रवणभूमिः–पुरीषमूत्रोत्सर्गस्थण्डिलमिति, इह पुनर्वृद्धोक्ता सामाचारी–कृतपौषधो नाप्रत्युपेक्षितां शय्यामारोहति संस्तारकं वा पोषधशालां वा सेवते, दर्भवस्त्रं वा शुद्धवस्त्रं वा भूम्यां संस्तृणाति, कायिकाभूमेश्चागतः पुनरपि संस्तारकं प्रत्युपेक्षते, अन्यथाऽतिचारः स्यात्, एवं पीठादिष्वपि विभाषेति, एते चत्वारोऽप्यतिचाराः सर्वतोऽच्या-

अण्णाईणं सुद्धाण कप्पणिज्जाण देसकालजुतं । दाणं जईणमुचियं गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥३१॥

पारपोषत्र एव भवन्ति, अतिचारता चैषां स्पष्टैवेति,तथा सम्यक्–यथाऽऽगमम्,चशब्दः समुच्चये, अननुपालनं–अनासेवनं,आहारादिष्विति–विषयविषयिणोः षष्ठीसप्तम्योश्चाभेदादाहारपोषधप्रभृतीनां सर्वेषां–समस्तानामव्यापारपोषधपर्यवसानानामिति, भावना चास्यैवम्–कृतपोषधोऽस्थिरचित्तः सन्नाहारे तावत्सर्वमाहारं तद्देशं वा प्रार्थयते, द्वितीयदिवसे चात्मार्थमादरं कारयति, शरीरसत्कारे शरीरमुद्वर्तयति, दंष्ट्रिके केशान् रोमाणि वा शृङ्गाराभिप्रायेण संस्थापयति, दाहे वा सति शरीरं सिञ्चति, ब्रह्मचर्ये त्वैहलौकिकान् पारलौकिकान् वा भोगान् प्रार्थयते, शब्दरूपरसगन्धस्पर्शान् वाऽभिलषति, ब्रह्मचर्यपोषधः कदा पूर्णो भविष्यति ?, त्याजिता ब्रह्मचर्येणेति वा चिन्तयति, अव्यापारे सावद्यानि व्यापारयति, कृतमकृतं वा चिन्तयतीत्येवं पञ्चातिचारविशुद्धोऽयमनुपालनीय इति गाथार्थः ॥ ३० ॥ उक्तं सातिचारं तृतीयं शिक्षाव्रतं, अधुना चतुर्थमुच्यते–'अन्ने'त्यादि, अन्नादीनां–भोजनप्रभृतीनां, आदिशब्दात् पानवस्त्रौषधादिपरिग्रहः, अनेन च हिरण्यादिव्यवच्छेदमाह, शुद्धानां–न्यायागतानां, न्यायश्च द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां शुद्धस्ववृत्त्यनुष्ठानं, अनेन चान्यायागतानां निषेधमाह, कल्पनीयानां–उद्गमादिदोषवर्जितानां, अनेन त्वकल्पनीयानां प्रतिषेधमाह, देशकालयुतं–प्रस्तावोचितं, यतः काले दत्तं महोपकारकारि दानं स्यात्, अभिधीयते च–"काले दिण्णस्स पहेणयस्स अग्घो न तीरए काउं । तस्सेव अथक्कपणामिअस्स गिण्हंतया नत्थि ॥ १ ॥" अथवा देशकालयुतं–क्षेत्रकालोचितं, यद्यत्र देशे काले वोचितमित्यर्थः, दानं–वितरणं, यतिभ्यो–मुनिभ्यः, उचितं–संगतम्, गृहिणां–श्रमणोपासकानाम्, शिक्षाव्रतमुक्तशब्दार्थं, भणितं–उक्तमतिथिसंविभागव्रतमित्यर्थः, इह भोजनार्थं भोजनकालोपस्थाय्यतिथिरुच्यते, तत्रात्मार्थं निष्पादिताहारस्य श्रमणोपासकगृहिणः

साधुरेवातिथिः, तिथिपर्वादिसकललौकिकव्यवहारत्यागात्, तदुक्तम्–"तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना। अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥१॥" तस्यातिथेः संगतो–निर्दोषो विभागः–पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारायांशदानरूपोऽतिथिसंविभागः स एव व्रतमतिथिसंविभागव्रतमिति, अत्र वृद्धोक्ता सामाचारी–श्रावकेण पोषधं पारयता नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यं, अन्यदा पुनरनियमो–दत्त्वा वा पारयति पारयित्वा वा ददाति, तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा पश्चात्पारयितव्यं, कथं?, यदा देशकालो भवति तदाऽऽत्मनो विभूषां कृत्वा साधूंस्तत्प्रतिश्रयं गत्वा निमन्त्रयते–'भिक्षां गृह्णीते'ति, साधूनां का प्रतिपत्तिः?, उच्यते, तदैकः पटलकमन्यो मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते, मा अन्तरायदोषाः स्थापनादोषा वा भवन्तु, स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानी ततस्तद्गृह्यते, अथ नास्त्यसौ तदा न गृह्यते, यतस्तद् वोढव्यं भवति, यदि पुनर्घनं लगेत्तदा गृह्यते संस्थाप्यते च यो वोद्घाटपौरुष्यां पारयति पारणकवानन्यो वा तस्मै तद्दीयते, पश्चात्तेन श्रावकेण समं संघाटको व्रजति, एको न वर्तते प्रेषयितुं, साधू पुरतः श्रावकस्तु मार्गतो गच्छति, ततोऽसौ गृहं नीत्वा ताभ्यामासनेनोपनिमन्त्रयते, यदि निविशेते तदा लष्टं, अथ न निविशेते तथापि विनयः प्रयुक्तो भवतीति, ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति, अथवा भाजनं धारयति, अथवा स्थित एवास्ते यावद् दत्तं, साधू अपि सावशेषं गृह्णीतः पश्चात्कर्मपरिहरणार्थं, ततो दत्त्वा वन्दित्वा च विसर्जयति, अनुगच्छति च कतिचित्पदानि, ततः स्वयं भुङ्क्ते, यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तच्छ्रावकेण न भोक्तव्यं, यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न सन्ति तदा भोजनवेलायां दिगवलोकनं करोति, विशुद्धभावेन च चिन्तयति–यदि साधवोऽभविष्यंस्तदा निस्तारितोऽहमभविष्यमिति विभाषेति गाथार्थः ॥३१॥ अत्रातिचारानाह–'सचित्ते'त्यादि, सचित्ते–सचेतने पृथिव्यादौ निक्षेपणमेव निक्षे-

सचित्तणिक्खिवणयं वज्जइ सचित्तपिहणयं चेव । कालाइक्कमपरववएसं मच्छरिययं चेव ॥ ३२ ॥
एत्थं पुण अइयारा णो परिसुद्धेसु होंति सव्वेसु । अक्खंडविरइभावा वज्जइ सव्वत्थ तो भणियं ॥३३॥

पणकं-साधुदेयभक्तादेः स्थापनं सचित्तनिक्षेपणकं तद्वर्जयति-परिहरते, तथा सचित्तेन-फलादिना पिधानमेव पिधानकं-साधुदेयभक्तादेः स्थगनं सचित्तपिधानकं, चशब्दः समुच्चये, एवकारोऽवधारणे, एवं चानयोः प्रयोगः-सचित्तपिधानकमेव च, तथा कालस्य-साधूचितभिक्षासमयस्यातिक्रमः-अदित्सयाऽनागतभोजनपश्चाद्भोजनद्वारेणोल्लङ्घनं कालातिक्रमः, तथा परस्य-आत्मव्यतिरिक्तस्य व्यपदेशः-परकीयमिदमन्नादिकमित्येवमदित्सावतः साधुसमक्षं भणनं परव्यपदेशः, ततोऽनयोः समाहारद्वन्द्वे कालातिक्रमपरव्यपदेशं तत्, तथा मत्सरं-असहनं साधुभिर्याचितस्य कोपनं, तेन रङ्केण याचितेन दत्तं,अहं तु किं ततोऽपि हीन इत्यादिविकल्पो वा, सोऽस्यास्तीति मत्सरिकस्तद्भावो मत्सरिकता तां च, चैवशब्दः समुच्चये,अतिचारभावना पुनरियम्-यदाऽनाभोगादिनाऽतिक्रमादिना वा एतानाचरति तदाऽतिचारः, अन्यदा तु भङ्ग इति गाथार्थः ॥३२॥ उक्तं सातिचारं चतुर्थं शिक्षाव्रतं, तदुक्तौ चोक्तानि सातिचाराणि द्वादशापि श्रावकव्रतानि, साम्प्रतं तेष्वतिचारोक्तिमेव शोधयति, ननु यद्यतिचारा अपि परिहार्यत्वेनेहाभिधीयन्ते तदा किमिति तेषामपि व्रतानामिव प्रत्याख्यानं नोपदर्शितं ?, तद्वर्जनमात्रमेव चोपदिष्टं ? इति मनसाधायाह-'एत्थ'-मित्यादि, अत्रैतेषु प्राणातिपातादिव्रतेषु, पुनःशब्दो विशेषणे, तद्भावना चैवम्-एवं तावद्व्रतान्युक्तानि, एतेषु पुनर्व्रतेष्वतिचारा-देशभङ्गरूपाः, नो-नैव, परिशुद्धेषु-विपन्धककर्मानुदयागतताात्त्विकविरतिपरिणामप्रतिपन्नतया निर्मलेषु, भवन्ति-जायन्ते, सर्वेषु-द्वादशस्वपि, अत्र हेतुमाह-अखण्डविरतिभावात्-परिपूर्णदेशविरतिपरिणामतः, ततो न हि परिपूर्णदेशपरिणामसद्भावे बन्धवधा-

सुत्तादुपायरक्खणगहणपयत्तविसया मुणेयव्वा। कुंभारचक्कभामगदंडाहरणेण धीरेहिं ॥२४॥

दिमद्विर्भवतीति भावः, वर्जयतीत्यग्रेतिशब्दस्याध्याहारो दृश्यः, ततश्च वर्जयतीत्येवं, सर्वत्र–सर्वेषु, अत इति यतोऽणण्डनिरतिचाराद्यन्यादिमद्विर्न प्रवर्तोऽतः–अस्माद्धेतोः, भणितं–उक्तं प्राग्, विरतिविशुद्धिमान् स्वरसत एव तेषु न प्रवर्तते इत्येतज्ज्ञापनार्थं, अतोऽसंभवादेव प्राणिवधादिरग्रेते प्रत्याख्येया भवन्ति, अन्यथा पुनर्व्रतेयत्ता न भवेदिति भाव इति गाथार्थः ॥२३॥ एवं तावदिह सम्यक्त्वं व्रतस्वरूपं व्रतातिचाराश्चोक्ताः, यत्पुनः सम्यक्त्वव्रतगोचरं वाच्यं वस्तु संक्षेपप्रक्रमाच्चोक्तं, तदागमादवसेयमित्यनुदिशन्नाह–'सुत्ते'त्यादि, सूत्राद्–आगमात्, उपायादयो 'मुणेयव्वा' इत्यनेन सम्बन्धः, तत्रोपायः–सम्यक्त्वाणुव्रतादिप्रतिपत्तावभ्युत्थानादिलक्षणो हेतुः,आह च–"अब्भुट्ठाणे विणए परक्कमे साहुसेवणाए य। सम्मद्दंसणलंभो विरयाविरईएँ विरईए ॥१॥" अथवा जातिस्मरणादितीर्थकरवचनतदन्यवचनलक्षणः, यदाह–"सहसंमुइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा" अथवा प्रथमद्वितीयकषायक्षयोपशम इति, तथा रक्षणं–गतिपन्नसम्यक्त्वव्रतानामनुपालनोपायरूपमायतनसेवनादि, आह च–"आययणसेवणा निमित्तपरघरपवेसपरिहारो। किड्डापरिहरणं तह विगियवयणस्स परिहारो ॥१॥" इत्यादि, उपायेन रक्षणमुपायरक्षणमित्यन्ये, ग्रहणं–त्रिविधंत्रिविधेनेत्यादिविकल्पैः सम्यक्त्वव्रतानामुपादानं,आह च–"मिच्छत्तपडिक्कमणं तिविहं तिविहेण होइ नायव्वं," तथा–"दुविहंतिविहेण पढमो दुविहंदुविहेण बीयओ होति। दुविहंएगविहेणं एगविहं चेव तिविहेणं ॥१॥" इत्यादि, तथा प्रयत्नः–[illegible]तदनुस्मरणादिर्वक्ष्यमाणरूपः, अप्रत्याख्यातविषयेऽपि वा यथाशक्ति परिहारोद्यमरूपः [illegible] 'नो मे [illegible]' इत्यादिना 'परिसुद्धजलग्गहणं दारुयधण्णाइयाण तह चेव। गहियाणवि परिभोगो विहीइ तसरक्खणट्ठाए

गहणादुवरिं पयत्ता होइ असन्तोऽवि विरइपरिणामो, अकुसलकम्मोदयओ पडइ अवण्णाइ लिंगमिह ॥३५॥

॥१॥' इत्यादिका च, तथा विषयः-सम्यक्त्वव्रतगोचरो जीवाजीवादितत्त्वरूपः स्थूलसंकल्पितप्राण्यादिरूपश्च, तत उपायादीनां द्वन्द्वः, अतस्ते उपायरक्षणग्रहणप्रयत्नविषयाः, 'मुणेयव्व'त्ति ज्ञातव्याः, इह विशेषतोऽनुक्ता अपि, कथमित्याह-कुम्भकारचक्रस्य-कुलालचक्रस्य यो भ्रामको-भ्रमणहेतुर्दण्डो-यष्टिस्तल्लक्षणं यदुदाहरणं-ज्ञातं तत्कुम्भकारचक्रभ्रामकदण्डोदाहरणं तेन, धीरैः-बुद्धिराजितैः,इदमुक्तं भवति-यथा कुम्भकारचक्रस्यैकस्मिन्नपि देशे दण्डेन प्रेरिते सर्व तद्देशा भ्रमिता भवन्ति एवमिह सम्यक्त्वव्रतव्रतातीचाराश्रितविविधवक्तव्यताचक्रस्य सम्यक्त्वव्रतव्रतातिचाररूप एकदेशे प्ररूपिते उपायादयस्तद्देशा आक्षिप्ता एव भवन्ति, ते च सूत्रादवसेयाः, संक्षेपप्रकरणत्वेनेह तेषामनुक्तत्वात्, अथवा यथा चक्रस्य दण्डाद्भ्रमणं भवति एवमुपायादीनां सूत्रात् परिज्ञानं भवतीति सूत्राद्येऽवगन्तव्या इति गाथार्थः ॥३४॥ (दण्डेन चक्रे वेगे उत्पादिते पश्चात् तत् स्वयं यथा भ्राम्यति तथाऽनेन व्रतातिचारज्ञाने जाते सूत्रात् सभावार्था उपायादयो ज्ञायन्ते इत्यतिदेशो दृष्टान्तश्च) अथ गृहीतसम्यक्त्वव्रतेन सम्यक्त्वव्रतपरिणामस्थैर्यार्थं यद्विधेयं तद्व्रतोपदेशप्रस्तावनार्थमिदमाह-'गहणे'त्यादि, ग्रहणाद्-'गुरुमूले श्रुतधर्मे'त्यादिविधिना सम्यक्त्वव्रतोपादानादुपरि-उत्तरकाले, प्रयत्नाद्-उद्यमविशेषाद्धेतोः, भवति-जायते, असन्नपि-कर्मदोषादविद्यमानोऽपि, संस्तु भूत एवेत्यपिशब्दार्थः, कोऽसावित्याह-विरतिपरिणामः-प्राणातिपातादिनिवर्तने पारमार्थिकाध्यवसायः, उपलक्षणत्वात्सम्यक्त्वपरिणामस्यापि ग्रहणं, सोपक्रमत्वाद्विरत्याद्यावारककर्मणां, तथाविधप्रयत्नस्य च तदुपक्रमणस्वभावत्वादिति, अथोक्तविपर्ययमाह-अकुशलकर्मोदयतः-अशुभकषायादिकर्मानुभावात्, पतति-सन्नपि व्रतग्रहणस्योपरि प्रयत्नं विनाऽपयाति,विरतिपरिणाम इति प्रकृतं, तत्प्रतिपातश्च लिङ्गेनावसीयते इति तदेवाह-

तम्हा णिचसतीए बहुमाणेणं च अहिगयगुणम्मि । पडिवक्खदुगुंछाए परिणइआलोयणेणं च ॥३६॥
तित्थंकरभत्तीए सुसाहुजणपज्जुवासणाए य । उत्तरगुणसद्धाए य एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥ ३७॥

अवर्णो-व्रतानां व्रतदेशकानां व्रतवतां वा अश्लाघा वा अवज्ञा वा अनादरः स आदिर्यस्य तदवर्णादि अवज्ञादि वा, आदिशब्दात्तद्रक्षणोपायाप्रवृत्त्यादि च, लिङ्गं-लक्षणं, इह व्रतपरिणामपाते इति, न च वाच्यं 'विरतिपरिणामाभावे कथं व्रतग्रहण'मिति, उपरोधादिना तस्य संभवात्, श्रूयन्ते ह्यनन्तानि द्रव्यतः श्रमणत्वश्रावकत्वोपादानानीति गाथार्थः ॥३५॥ प्रस्तावितोपदेशमेवाह-'तम्हे'त्यादि, यस्मादसन्नपि विरतिपरिणामः ग्रहणादुपरिप्रयत्नाज्जायते प्रयत्नं विना चाकुशलकर्मोदयात् सन्नपि प्रतिपतति तस्मात्कारणान्नित्यस्मृत्या-सार्वदिकस्मरणेन, भवति यतितव्यमिति सम्बन्धः, तथा बहुमानेन-भावप्रतिबन्धेन, चशब्दः समुच्चये, अधिकृतगुणे-अङ्गीकृतगुणे सम्यक्त्वाणुव्रतादौ, इदं च पदं पूर्वपदाभ्यामुत्तरपदेन च सह प्रत्येकं योज्यते, तथा प्रतिपक्षजुगुप्सया-मिथ्यात्वप्राणिवधाद्युद्वेगेन, तथा परिणत्यालोचनेन-अधिकृतगुणविपक्षभूता मिथ्यात्वप्राणातिपातादयो दारुणफला अधिकृतगुणा वा सम्यक्त्वाणुव्रतादयः परमार्थहेतव इत्येवं विपाकपर्यालोचनेन । चशब्दः समुच्चय एवेति गाथार्थः ॥३६॥ 'तित्थ'मित्यादि, तथा तीर्थंकरभक्त्या-परमगुरुविनयेन, तथा सुसाधुजनपर्युपासनया-भावयतिलोकसेवया, चशब्दः समुच्चय एव, तथोत्तरगुणश्रद्धया-प्रधानतरगुणाभिलाषेण, सम्यक्त्वे सति अणुव्रताभिलाषेण अणुव्रतेषु सत्सु महाव्रताभिलाषेणेति भावः, चशब्दः समुच्चय एव, अत्र-सम्यक्त्वाणुव्रतादिव्यतिकरे तत्प्रतिपत्त्युत्तरकालं सदा-सर्वकालं भवति-युज्यते यतितव्यं-उद्यमः कर्तव्य इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७॥ अनन्तरोक्तोपदेशमेव फलदर्शनेन निगमयन्नाह-'एवे'त्यादि, एवं-उक्तन्यायेन नित्यस्मृत्यादिना यत्नेनासन्नपि-अविद्यमानोऽपि,

एवमसंतोऽवि इमो जायइ जाओऽवि ण पडइ कयाई । ता एत्थं बुद्धिमया अपमाओ होइ कायव्वो ॥ ३८ ॥

एत्थ उ सावयधम्मे पायमणुव्वयगुणव्वयाइं च । आवकहियाइं सिक्खावयाइं पुण इत्तराइंति ॥३९॥

संलेहणा य अंते ण णिओगा जेण पव्वयइ कोई । तम्हा णो इह भणिया विहिसेसमिमस्स वोच्छामि ॥४०॥

संस्तु जात एवेत्यपिशब्दार्थः, 'इमो'त्ति अयं सम्यक्त्वपरिणामो विरतिपरिणामश्च, जायते-भवति, जातश्च-संपन्नः पुनः न पतति-नापैति कदाचित्-क्वचिदपि काले, 'ता' इति यस्मादेवं तस्मादत्र-नित्यस्मृत्यादिके प्रयत्ने, बुद्धिमता-धीमता, अप्रमादः-उद्यमः भवति-वर्तते कर्तव्य इति गाथार्थः ॥ ३८॥ उक्तव्रतानामेव वक्तव्यशेषमुपदर्शयन्नाह-'एत्थ उ'इत्यादि, अत्र-अनन्तरोक्ते, तुशब्दो विशेषद्योतकः, तथाहि-यतिधर्मे महाव्रतानि यावत्कथिकान्येव भवन्ति, अत्र पुनः श्रावकधर्मे-श्रमणोपासकचारित्रे, प्रायो-बाहुल्येन, प्रायोग्रहणाच्चतुर्मासाद्यवधिकान्यपि तानि भवन्ति, अणुव्रतगुणव्रतानि च, इहान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य चशब्दः समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः, ततश्चाणुव्रतानि उक्तस्वरूपाणि गुणव्रतानि च उक्तस्वरूपाण्येव, किमित्याह-यावत्कथिकानि-यावतीति यत्परिमाणा कथा-मनुष्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपा यावत्कथा तस्यां भवानि यावत्कथिकानि, यावज्जीवानीत्यर्थः, शिक्षाव्रतानि-पूर्वोक्तस्वरूपाणि, पुनःशब्दः पूर्ववाक्योक्तार्थापेक्षयोत्तरवाक्योक्तार्थस्य विशेषप्रतिपादनार्थः, इत्वराणि-इत्वरकालानि, शिक्षाव्रतत्वादेव, शिक्षा ह्यभ्यासः पुनः पुनः प्रतिपत्तिरिति प्रागुक्तं, तत्र प्रतिदिवसानुष्ठेये सामायिकदेशावकाशिके, पुनः पुनरुच्चार्येते इति भावना, पोषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ, न प्रतिदिनानुष्ठेयौ, इतिशब्दः प्रस्तुतार्थपरिसमाप्त्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ३९॥ एवं द्वादशविधेऽपि श्रावकधर्मेऽभिहिते संलेखनाभिधानावसरः, तमाह-'संले'इत्यादि. संलेखना-चरमानशन-

निवसेज्ज तत्थ सड्ढो साहूणं जत्थ होइ संपाओ । चेइयहराइं जम्मि य तयण्णसाहम्मिया चेव ॥४१॥

णवकारेण विबोहो अणुसरणं सावओ वयाइं मे । जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥४२॥

पूर्वा क्रिया आगमप्रसिद्धा, चशब्दः पुनरर्थः, स चैवं योज्यः–श्रावकधर्मेऽधिकृते सम्यक्त्वं व्रतानि च भणितानि, संलेखना पुनर्न भणितेति योगः, अथ कस्मादसौ न भणितेत्याह–अन्ते–जीवितव्यावसाने न नियोगाद्–नावश्यंभावेन, श्रावकस्य भवतीति शेषः, एतदेव कथमित्याह–येन–यस्मात्कारणात्, प्रव्रजति–प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते, कोऽपि–कश्चिदपि, तथाविधपरिणामयुक्तः श्रावकः, तस्मात्–तेन कारणेन तस्यानवश्यंभावलक्षणेन नो–नैव इह–अत्र समासश्रावकधर्मप्रकरणे भणिता–प्रतिपादिता, किंच ?–विधेः–विवक्षितश्रावकानुष्ठानस्य शेषः–उक्तापेक्षयाऽनुक्तो विधिविशेषस्तं अस्य श्रावकस्य वक्ष्ये–अभिधास्य इति गाथार्थः ॥४०॥ तमेवाह—'निवे'त्यादि, निवसेद्–आवसेत् तत्र नगरादौ श्राद्धः–श्रावकः साधूनां–यतीनां यत्र नगरादौ भवति–जायते संपातः–आगमनम्, तथा चैत्यगृहाणि प्रतीतानि यस्मिन्नगरादौ, भवन्तीति गम्यते, तथा तस्माद्–अधिकृतश्रावकादन्ये–अपरे ये साधर्मिकाः–समानधार्मिकास्त तदन्यसाधर्मिकाः–श्रावकाः, चशब्दः समुच्चये, एवकारोऽवधारणे, तस्य च तत्रैवेत्येवं सम्बन्धो द्रष्टव्यः, अथैवंविधे स्थाने निवसतः किं फलमिति चेदुच्यते–गुणानां वृद्धिः, तथा चोक्तं साधुसंपातादिपुरस्कारात्–"साहूण वंदणेणं नासति पावं असंकिया भावा । फासुयदाणे निज्जर उवग्गहो नाणमाईणं ॥ १ ॥ मिच्छदंसणमहणं सम्मदंसणविसुद्धिहेउं च । चिइवंदणाइ विहिणा पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥२॥ साहम्मियथिरकरणे वच्छल्लं सासणस्स सारोत्ति । मग्गसहायत्तणओ तहा अणासो य धम्माओ ॥३॥" इति गाथार्थः ॥४१॥ तत्रापि निवसतः प्रतिदिनकर्तव्यमाह–'णवे'त्यादि, नमस्कारेण–परमेष्ठिपञ्चनमस्क्रियया

तह चेईहरगमणं सक्कारो वंदणं गुरुसगासे । पच्चक्खाणं सवणं जइपुच्छा उचियकरणिज्जं ॥४३॥

आत्यन्तिकतद्बहुमानकार्यभूतया परममङ्गलार्थया वा विबोधो–जागरणं, कार्य इति शेषः, एवमुत्तरत्रापि, इह चाविशेषेणैके नमस्कारपाठं प्ररूपयन्ति, अन्ये त्वाहुः–"नवकारचिंतणं माणसम्मि सेज्जागएण कायव्वं । सुत्ताविणयपवित्ती निवारिया होइ एवं तु ॥१॥" तथाऽनुसरणं–अनुचिन्तनं सदसत्कर्तव्यप्रवृत्तिहेतुभूतम् ,किंस्वरूपं तदित्याह–श्रावकः–श्राद्धोऽहं,तथा व्रतानि–अणुव्रतादिनियमा मे–मम, सन्तीति शेषः, उपलक्षणं चैतत् , तेन अदःकुलोऽहं अदःशिष्यश्चेत्यादि द्रव्यतः, अमुत्र ग्रामगृहादाविति क्षेत्रतः, प्रभातमिदमित्यादि कालतः, मूत्रादिबाधानां का बाधेत्यादि भावतः, ततो योगः–कायिकोत्सर्गशौचादिरूपो व्यापारः, एवं हि देहबाधापरिहारतः समाधेश्चैत्यवन्दनादीनां भावानुष्ठानता, ततश्चैत्यवन्दनं–पूजापुरस्सरमर्हद्बिम्बवन्दनं, 'उ' इति निपातो गाथापूरणार्थः, ततः प्रत्याख्यानं आगमप्रसिद्धं, चशब्दः समुच्चये, विधिपूर्व–आगमिकविधानपुरस्सरं, न तु यथाकथञ्चित् , एतच्च विशेषणं चैत्यवन्दने प्रत्याख्याने च सम्बन्धनीयं, विधिश्च तयोस्तत्प्रकरणयोर्वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ॥४२॥ ततः—'तहे'त्यादि, तथा–तेन प्रकारेण विधिपूर्वकतालक्षणेन, चैत्यगृहगमनं–जिनबिम्बभवने यानं प्रवेशश्च, तत्र यानविधिः–"सव्वाए इड्ढीए सव्वाए दित्तीए सव्वाए जुत्तीए सव्वसमुदएणं" इत्यादिः, एवं हि प्रवचनप्रभावना कृता भवति, प्रवेशविधिस्तु–'सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणाए,एगसाडिएणं उत्तरासंगेणं चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, मणसो एगत्तीभावकरणेणंति', तत्र च सत्कारो–माल्यादिभिरभ्यर्चनं,अर्हत्प्रतिमाया इति गम्यते, वंदनं–प्रसिद्धविधिना चैत्यवन्दनं, ततो गुरुसकाशे–गुरुसमीपे प्रत्याख्यानं–स्वयंगृहादिगृहीतप्रत्याख्यानस्य गुरुसाक्षिकत्वविधानमित्यर्थः, ततः श्रवणं–आकर्णनं, गुरुसकाश एवागमस्येति

अविरुद्धो ववहारो काले तह भोयणं च संवरणं । चेइहरागमसवणं सक्कारो वंदणाइ य ॥४४॥

गम्यते, एवं हि सत्क्रियानिबन्धनं सद्बोधो भवति, ततो यतिपृच्छा-साधुशरीरसंयमवार्तापृच्छनं, विनयः प्रयुक्तो भवति, तत्र
चोचितकरणीयं-विहितकर्तव्यं यतेर्ग्लानत्वादावौषधमदानोपदेशादि विधेयं, अन्यथा पृच्छाया नातिसार्थकता स्यादिति गाथार्थः
॥४३॥ ततः-'अवी' त्यादि, अविरुद्धः-प्रागुपदर्शितपञ्चदशकर्मादानपरिहारतोऽनवद्यप्रायो व्यवहारो-वृत्तिनिमित्तप्रवृत्तिः, कार्य
इति शेषः, अन्यथा धर्मबाधा प्रवचनहीला च स्यादिति, काले-शरीरारोग्यानुगुणे प्रत्याख्यानतीरितत्वसमयस्वरूपे वा, अकाल-
भोजने हि धर्मकाययोर्बाधा स्यादिति, तथा-तेन भणितप्रकारेण, तद्यथा-"जिणपूयोचियदाणं परियरसंभालणा उचियकिचं ।
ठाणुवेसो य तहा पच्चक्खाणस्स संभरणं ॥ १ ॥" इत्यादि, भोजनं-आहाराभ्यवहारः, प्रकारान्तरभोजने ह्यधर्म एव, चशब्दः
समुच्चये, संवरणं-तदनन्तरं संभवतो ग्रन्थिसहितादेः प्रत्याख्यानस्य ग्रहणं, प्रमादपरिजिहीर्षोर्हि प्रत्याख्यानं विना न युक्तं क्षण-
मप्यासितुं, ततोऽवसरे चैत्यगृहागमश्च प्रतीतः श्रवणं च-साधुसमीपे जिनागमाकर्णनं चैत्यगृहागमश्रवणं, अथवा चैत्यगृहे आग-
मस्य श्रवणमिति विग्रहः, चैत्यगृहे हि प्राय आगमव्याख्यानं भवतीति, आगमव्याख्यानस्थानान्तरोपलक्षणार्थं चैत्यगृहग्रहणं,
यदाह-"जत्थ पुण अनिस्सकडं पूरिंति तहिं समोसणं ॥ पूरिंति समोसरणं अन्नासइ णिस्सचेइएसुंपि । इहरा लोगविरुद्धं सद्धाभंगो
य सड्ढाणं ॥१॥" न च 'चैत्यगृहागमपूर्वकमागमश्रवणं विधेय'मितो ज्ञापकाच्चैत्यगृह एव साधवोऽवतिष्ठन्त इति निश्चेतव्यं, यतो
व्यवहारभाष्यवचनमेवं स्थितं-"जइवि न आहाकम्मं भत्तिकयं तहवि वज्जयंतेहिं । भत्ती खलु होइ कया इहरा आसायणा
परमा ॥१॥ दुब्भिगंधिमलस्सावि, तणुरप्पेसऽण्हाणिया । उभओ वाउवहो चेव, तेण ठंति न चेइए ॥२॥ तिण्णि वा कड्ढई जाव,

थुइओ तिसिलोइया। ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेणवि॥३॥" इत्यलं प्रसंगेन, ततो विकाले सत्कारः–अर्हच्चैत्यानां पूजा वन्दनादि च–वन्दना प्रसिद्धार्हच्चैत्यानामेव, आदिशब्दाच्चैत्यसम्बन्धि तत्कालोचितं कृत्यान्तरं ग्राह्यं, साध्वालयगमनं तद्वन्दनादि वा, भूमिकौचित्येन षड्विधावश्यकं, अवश्यं विधेयमिति सर्वत्र गम्यं, चशब्दः समुच्चये, नन्वावश्यककरणमित्यसङ्गतं,श्रावकं प्रति व्रतादिवत्तस्यागमे विधेयतयाऽनुपदिष्टत्वात्, तथाहि–अस्योपासकदशादौ मूलागमे नोपदेशो ज्ञापकं वोपलभ्यते, तदुद्धाररूपे श्रावकप्रज्ञप्त्यादौ च, तथैव च श्रावकप्रतिदिनक्रियां प्रतिपादयताऽऽचार्येण 'चिइवंदणमो' इत्येतावदेवोक्तं, अथ ब्रूषे–"समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहोनिसिस्स य तम्हा आवस्सयं नाम॥१॥" इत्यस्यामनुयोगद्वारगाथायां श्रावकस्य तदुपदिष्टमित्यसिद्धो हेतुः, नैवं,तत्र चैत्यवन्दनादिनैवावश्यकस्य गतार्थत्वात्,यतो यदेवावश्यं कर्तव्यं तदेवावश्यकं, अवश्यकर्तव्यं च चैत्यपूजावन्दनादि श्रावकस्य, यदि पुनरिदं षड्विधावश्यकमवश्यकर्तव्यतया श्रावकस्योपदिष्टमभविष्यत्तदा य एव षड्विधावश्यककारी स एव श्रावकोऽभविष्यत्, न चैवं, अविरतानामपि (सम्यक्त्वादि)सामायिककारिणां श्रावकत्वाभ्युपगमात्, अत्रोच्यते, यदुक्तं 'उपासकदशादावनुक्तत्वाच्छ्रावकाणामावश्यकमयुक्त'मिति तदयुक्तं, अनुपदिष्टत्वस्यासिद्धत्वात्, तथाहि–यद्यप्युपासकदशादौ(साक्षात्)नोपदिष्टं तत्तेषां तथाप्यनुयोगद्वारेषु तदुपदिष्टं,तथाहि–'जं इमं समणे वा समणी वा सावए वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे जाव उभओकालं छव्विहं आवस्सयं करेंति से तं लोउत्तरियं भावावस्सयं'ति, यच्चोक्तं 'चैत्यवन्दनादि श्रावकस्यावश्यक'मिति, तदप्यसङ्गतं, 'अज्झयणछक्कवग्गो' इत्यादितदेकार्थिकपदोपन्यासेन तस्य षड्विधत्वेन निश्चितत्वात्, उमास्वातिवाचकेनाप्यस्य समर्थितत्वात्, तथा हि तेनोक्तं "सम्यग्दर्शनसम्पन्नः षड्विधावश्यकनिरतश्च" श्रावको भवतीति गम्यते, तथाऽशठसमाचरितत्वा-

दिजीतलक्षणानामिहोपपद्यमानत्वेन जीताभिधानपञ्चमव्यवहारसमर्थितत्वात्, तथा यदुक्तं 'समणेण सावएण य' इत्यत्र गाथायां यदि षड्विधावश्यकं विवक्षितमभविष्यत्तदा तत्कारिण एव श्रावका अभविष्यन्, नान्ये इति, तदप्यसङ्गतं, श्रमणपक्षेऽप्यस्य दूषणस्य समानत्वात्, तथाहि–य एव षड्विधमावश्यकं कुर्वन्ति त एव श्रमणाः स्युः, ततश्च कारणजाते प्रतिक्रमणकारिणां मध्य-मतीर्थसाधूनामश्रमणता स्यात्, न चैवं, अथ चरमतीर्थसाधूनाश्रित्येयं गाथोक्ता, सत्यं, केवलं यदि श्रावकाणां षड्विधावश्यकप्रज्ञा-पनार्थाऽपि स्यात्तदा किं दूषणमिति ?, अथ ब्रूषे–षड्विधावश्यकमतिचारशुद्धिरूपं वर्तते, न च श्रावकाणामालोचनादिदशप्रकार-शुद्धेर्मध्यादेकाऽपि प्रकल्पादिग्रन्थेषूपलभ्यते, न च तेषामतिचारा घटन्ते, संज्वलनोदय एव तेषामुक्तत्वादिति, अत्रोच्यते, श्रावकाणां प्रकल्पादिग्रन्थेषु शुद्धिर्न दृश्यते, तथाप्यसौ श्रावकजीतकल्पादेः सकाशादवश्यमभ्युपगन्तव्या, अन्यथोपास-कदशासु यदुक्तं 'किल भगवान् गौतममुनिरानन्दश्रावकं प्रत्यवादीत्–'तुमण्णं आणंदा ! एयस्स अट्ठस्स आलोयाहि पडिकमाहि निंदाहि गरिहाहि अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जाहि' इति तत्कथं घटेत ?, अत एव ज्ञापकादतिचारा अपि तेषां भवन्तीति सिद्धं, यथा चातिचारा असंज्वलनोदयेऽपि भवन्ति तथा प्रागुक्तं, किंच–यदीदं चैत्यवन्दनादिकमावश्यकं स्यात्तदा 'अन्नो अहो-निसिस्स य' इत्यमुना वचनेन संध्याद्वय एव श्रावकस्य तद्विधेयं स्यात्, श्रूयते पुनरेवं–'दंसणसुद्धिनिमित्तं तिकालं देववंदणाईयं'-ति, अतः संध्याद्वयकरणनियमः षड्विधावश्यकस्यैवोपपद्यते साधूनामिवेति, किंच–"सव्वंति भाणिऊणं विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि। सो सव्वविरइवाई चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥१॥" इत्यनया गाथया सामायिकसूत्रे सर्वशब्दवर्जं श्रावकस्योक्तं, चतुर्विंशतिस्त-वस्तु सम्यग्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वात् सम्यग्दर्शनस्य च श्रावकस्यापि शोधनीयत्वात् कर्तृविशेषस्य चानभिहितत्वात् आचरितत्वाच्चोप-

पन्न एवास्येति, किंच–ईर्यापथिकाप्रतिक्रमणस्य गमनागमनशब्देन भगवत्यां शंखोपाख्यानके पुष्कलिश्रावककृतत्वेन दर्शितत्वात्, गमनागमनशब्दस्य चेर्यापथिकापर्यायतया भगवत्यामेव तेषु तेष्वाख्यानकेष्वोघनिर्युक्तिचूर्ण्यां च प्रसिद्धत्वात्, ईर्यापथिका-कायोत्सर्गे च चतुर्विंशतिस्तवस्य प्रायश्चिन्तनीयत्वाच्चासौ सिद्ध इति, वन्दनकमपि गुणवत्प्रतिपत्तिरूपत्वाद्गुणवत्प्रतिपत्तेश्च श्रावक-स्याप्यविरुद्धत्वात् कृष्णादिभिश्च तस्य प्रवर्तितत्वात् संगतमेवास्य, ननु 'पंचमहव्वयजुत्तो अनलस माणपरिवज्जियमती य। संवि-ग्गनिज्जरट्ठी किइकम्मकरो हवति साहू ॥ १ ॥' इत्यनया निर्युक्तिगाथया साधुग्रहणेन श्रावकस्य व्यवच्छेदान्न सङ्गतं तस्य वन्दनकं, नैवं, यतः साधुग्रहणं तत्र तदन्यवन्दनकोपलक्षणार्थं, न तु श्रावकव्यवच्छेदार्थं, यदि तु श्रावकव्यवच्छेदार्थमभविष्यत्तदा साध्व्या अपि व्यवच्छेदोऽभविष्यत्, न चासौ सङ्गतो, मातुर्विशेषेण वन्दनकनिषेधात्, यदाह–"मायरं पियरं वावि, जेट्ठगं वावि भायरं। किइकम्मं न कारेज्जा, सव्वे राइणिए तहा ॥ १ ॥" तथा–"पंचमहव्वयजुत्तो" अनेन यथा महाव्रतग्रहणादणुव्रतयुक्तस्य व्यव-च्छेदस्तथा पञ्चग्रहणाच्चतुर्महाव्रतयुक्तस्य मध्यतीर्थसाधोरपि व्यवच्छेदः स्यात्, न चैतदिष्टमित्यतो निर्विशेषं वन्दनकमपीति, प्रति-क्रमणं तु सामान्यत ईर्यापथप्रतिक्रमणभणनेनैव सिद्धं, अथ विचित्राभिग्रहवतां श्रावकाणां कथमेकेन प्रतिक्रमणसूत्रेण तदुपप-द्यते?, यतोऽप्रतिपन्नान्यतरव्रतस्य तदतिचारासंभवः, तदसम्भवे च तदुच्चारणमसङ्गतमेव, अन्यथा महाव्रतातिचाराणामप्युच्चारणप्रसङ्ग इति, नैवं, अप्रतिपन्नान्यतरव्रतस्यापि तदतिचारोच्चारणतोऽश्रद्धानादिविषयस्य प्रतिक्रमणस्यानुमतत्वात्, यत उक्तम्–"पडिसिद्धाणं करणे किच्चाण अकरणे य पडिक्कमणं। असद्दहणे य तहा विवरीयपरूवणाए य ॥१॥" अत एव साधुरप्रतिपन्नास्वप्युपासकभिक्षु-प्रतिमासु "एगारसहिं उवासगपडिमाहिं, बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं" इत्येवं प्रतिक्रामति, ननु यद्येवं तदा साधुप्रतिक्रमणसूत्रेणैव

जइविस्सामणमुचिओ जोगो नवकारचिंतणाईओ। गिहिगमणं विहिसुवणं सरणं गुरुदेवयाईणं ॥४५॥

ते प्रतिक्रामन्तु, को वा किमाह ?, केवलं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमणुव्रतादिविषयस्य प्रतिषिद्धाचरणस्य प्रपञ्चाभिधायकत्वात् सोपयोग-
तरमिति तेन ते प्रतिक्रामन्ति, ननु साधुप्रतिक्रमणाद्भिन्नं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमयुक्तं, निर्युक्तिभाष्यचूर्ण्यादिभिरतन्त्रितत्वेनानार्षत्वात्,
न, एवं ह्यावश्यकादिदशशास्त्रीव्यतिरेकेण निर्युक्तीनामभावेनौपपातिकाद्युपाङ्गानां च चूर्ण्यभावेनानार्षत्वप्रसङ्गात्, ततः प्रतिक्रमण-
मप्यस्ति तेषां, कायोत्सर्गस्तु ईर्यापथप्रतिक्रमणात् पञ्चमप्रतिमाकरणात् सुभद्राश्राविकादिनिदर्शनतश्च श्रावकस्य विधेयतया प्रति-
पत्तव्यः, यदि हि साधवोऽपि भङ्गभयात्साकारं कायोत्सर्गं प्रतिपद्यन्ते तदा गृहिभिः सुतरामसौ तथा प्रतिपत्तव्यः, साध्वपेक्षया
तेषामनैष्ठिकत्वादिति, एवं प्रत्याख्यानमपि, ननु पारिष्ठापनिकादय आकाराः साधूनामेव घटन्ते, ततो गृहिणामयुक्तमेतत्, नैवं,
यतो यथा गुर्वादयः पारिष्ठापनिकस्यानधिकारिणोऽपि यथा वा भगवतीयोगवाहिनो गृहस्थसंसृष्टाद्यनधिकारिणोऽपि पारिष्ठापनि-
काद्याकारोच्चारणेन प्रत्याख्यान्ति 'अखण्डं सूत्रमुच्चारणीय'मिति न्यायात्, एवं गृहस्था अपीति न दोषः, तस्मात् षड्विधमप्या-
वश्यकं श्रावकस्यास्तीति प्रतिपत्तव्यमित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ तथा—'जई'त्यादि, यतीनां—साधूनां वैयावृत्त्यादिभिः
श्रान्तानां पुष्टालम्बनेन तथाविधश्रावकादेरपि देहखेदापनोदमिच्छतां विश्रामणं—खेदविनोदनं यतिविश्रामणं, करणीयमिति गम्यते,
एवं सर्वत्रोचितक्रियाध्याहारः कार्यः, प्राकृतत्वाच्च विश्रम्यतेरुपान्त्यदीर्घत्वं, यद्वा विश्रामयतः करणमिति संवृडन्तस्य कारिते
घुटि च विश्रामणमिति भवति (विश्रमेर्वेति विश्रामे तस्य कारणे णिचि अनटि च विश्रामणमिति तेन 'अतोऽकम्ये'त्यादिना
न वाधः) तथोचितः—स्वभूमिकायोग्यो योगो—व्यापारः, तमेवाह—नमस्कारचिन्तनादिकः—परमेष्ठिपञ्चकनमस्कृतिध्यानप्रभृतिकः,

अब्बंभे पुण विरई मोहदुगुंछा सतत्तचिन्ता य। इत्थीकलेवराणं तव्विरएसुं च बहुमाणो ॥४६॥
सुत्तविउद्धस्स पुणो सुहुमपयत्थेसु चित्तविण्णासो। भवठिइणिरूवणे वा अहिगरणोवसमचित्ते वा ॥४७॥

आदिशब्दात् परिपठितप्रकरणगुणनादिपरिग्रहः, ततो गृहगमनं-निजवेश्मगमः, तत्र च विधिना शयनक्रिया, विधिश्च जिनार्चनवंदनविशेषप्रत्याख्यानकरणादिः, तमेव विशेषेणाह-सरण-मनसि धारणं, उपलक्षणत्वादस्य गुणवर्णनामिति गाथार्थः ॥४५॥ तत्र च—'अब्बंभे' इत्यादि, अब्रह्मणि-स्त्रीपरिभोगलक्षणे, पुनःशब्दो विशेषणे, तद्भावना चैवम्-गुर्वादिषु स्मरणं कर्तव्यं, अब्रह्मणि पुनर्विरतिः-निवृत्तिः कार्या, तथा मोहजुगुप्सा-स्त्रीपरिभोगहेतुवेदादिमोहनीयनिन्दा, यथा-"यल्लज्जनीयमतिगोप्यमदर्शनीयं, बीभत्समुल्बणमलाविलपूतिगन्धि। तद्याचतेऽङ्गमिह कामिकृमिस्तदेव, किं वा दुनोति न मनो? भवत्रामता मा ॥१॥" इत्यादि, तथा स्वतत्त्वचिंता-स्वरूपचिन्तनं, केषां?-स्त्रीकलेवराणां-योषिद्देहानां, यथा-"शुक्रशोणितसम्भूतं, नवच्छिद्रमलोल्बणम्। अस्थिशृङ्खलिकामात्रं, हन्त योषिच्छरीरकम् ॥१॥" तद्विरतेषु-अब्रह्मनिवृत्तेषु मुनिषु, चशब्दः समुच्चये, बहुमानः-अन्तरङ्गप्रीतिरूपो विधेयः, यथा-"धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितम्। यैरेष भुवनक्लेशी, काममल्लो निपातितः ॥१॥" इत्यादीति गाथार्थः ॥४६॥ तथा—'सुत्ते'त्यादि, सुप्तविबुद्धस्य-निद्रापगमेन जाग्रतः श्रावकस्य, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणताद्योतकः, सूक्ष्मपदार्थेषु-अस्थूलवस्तुषु कर्मात्मपरिणामादिषु चित्तविन्यासो-मानसावेशनं, करणीयमिति गम्यते, भवस्थितिनिरूपणे-संसारस्वरूपपर्यालोचने, चित्तविन्यास इति प्रकृतं, यथोक्तम्-"रङ्को राजा नृपो रङ्कः, स्वसा जाया जनी स्वसा। दुःखी सुखी सुखी दुःखी, यत्रासौ निर्गुणो भवः ॥१॥" वाशब्दो विकल्पार्थः, अधिकरणानि-कलहाः कृष्या-

आउयपरिहाणीए असमंजसचेट्ठियाण व विवागे । खणलाभदीवणाए धम्मगुणेसुं च विविहेसु ॥४८॥

दीनि वा तेषामुपशमाय-निवर्तनाय यच्चित्तं-मानसं तत्तथा तत्राधिकरणोपशमचित्ते, कथं कदा वा मेऽधिकरणोपशमचित्तं भविष्यतीत्येवं चित्तविन्यासः कार्य इति भावः, वाशब्दो विकल्पार्थः, इति गाथार्थः ॥४७॥ तथा-'आउ' इत्यादि, आयुःपरिहाणौ-प्रतिक्षणायुष्कक्षयलक्षणायां, चित्तविन्यास इति प्रतिपदं योज्यं, अत्र चोक्तम्-"समस्तसत्त्वसङ्घानां, क्षपत्यायुरनुक्षणम् । आममल्लकवारीव, किं तथापि प्रमाद्यसि ? ॥१॥" इत्यादि, असमञ्जसचेष्टितानां-असदाचरितानां प्राणिवधादीनां, वाशब्दो विकल्पार्थः, विपाके-नरकाद्यशुभफलदायकत्वे, यथा-"वहमारणअब्भक्खाणदाणपरधणविलोवणादीणं सव्वजहण्णो उदओ दसगुणिओ एक्कसि कयाणं ॥१॥" इत्यादि, क्षणे-कालविशेषे, स्तोककालेऽपीत्यर्थः, लाभः-अशुभाध्यवसायेन महतोऽशुभकर्मणः शुभाध्यवसायेन च महत इतरस्यार्जनं तस्य दीपना-प्रकाशना क्षणलाभदीपना तस्यां, यथा-"नरएसु सुरवरेसु य जो बंधइ सागरोवमं एक्कं । पलिओवमाण बंधइ कोडिसहस्साण दिवसेणं ॥१॥" अथवा क्षणः-अवसरो मोक्षसाधनस्य, स च द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधः, तत्र द्रव्यतो मानुषत्वं, क्षेत्रत आर्यक्षेत्रं, कालतो दुष्षमसुषमादिः कालविशेषः, भावतो बोधिरिति, तस्य क्षणस्य यो लाभो-युगशमिलान्यायेन कष्टात् प्राप्तिस्तस्य या दीपना सा तथा तस्यां, यथोक्तम्-"माणुस्सखेत्तजाईकुलरूवारोग्गआउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगम्मि दुलहाइं ॥१॥" अथवा क्षणलाभस्य दीपज्ञातं द्वीपज्ञातं वा क्षणलाभदीपज्ञातं क्षणलाभद्वीपज्ञातं वा, तत्र क्षणलाभज्ञातं प्राग्वत्, दीपज्ञातं पुनर्यथा-"अंधयारे महाघोरे, दीवो ताणं सरीरिणं । एवमन्नाणतामिस्से, भीसणम्मि जिणागमो ॥१॥" द्वीपज्ञातं तु-"दीवो ताणं सरीरीणं समुद्दे दुत्तरे जहा । धम्मो जिणिंदपन्नत्तो, तहा संसारसागरे ॥१॥" तथा धर्मस्य-श्रुतचारित्रादिरूपस्य गुणा-उप-

वाहगदोसविवक्खे धम्मायरिए य उज्जयविहारे । एमाइचित्तणासो संवेगरसायणं देइ ॥४९॥ जुम्मं ।

कारः फलानीतियावत् धर्मगुणास्ते, चशब्दः समुच्चये,विविधेषु च-बहुविधेष्विहलोकाश्रितेषु, यथोक्तम्-"श्रुतिगम्यं फलं तावत्,
सुधर्मस्य शिवादिकम्। शमजन्यसौख्यरूपं तु, साक्षादेवानुभूयते ॥१॥" तथा-"निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥१॥" अथवा धर्मरूपा गुणा धर्मगुणाः-क्षमादयस्तेषु, विविधधर्मगुणानां कारणे
स्वरूपे फले च चित्तन्यासः कार्य इति हृदयमिति गाथार्थः ॥४८॥ 'बाहे'त्यादि, यैर्यैर्दोषैरर्थकामरागादिभिः स धर्माधिकारी
पुरुषो बाध्यते-कुशलानुष्ठानतश्च्याव्यते ते बाधकदोषास्तेषां विपक्षः-तत्प्रतिपक्षभावनारूपो बाधकदोषविपक्षस्तत्र, यदुक्तम्-"जो
जेणं बाहिज्जति दोसेणं वेयणाइविसएणं। सो खलु तस्स विवक्खं तव्विसयं चेव झाइज्जा ॥१॥" वेतनं-द्रव्यं,"अत्थम्मि रागभावे
तस्सेव उवज्जणाइसंकेसं। भावेज्ज धम्महेउं अभावमो तह य तस्सेव ॥१॥" इत्यादि, तथा धर्माचार्ये-बोधिलाभहेतुभूते गुरौ दुष्क-
रप्रत्युपकारोऽसावित्यादिरूपश्चित्तन्यासो विधेयः, यथोक्तम्-"सम्मत्तदायगाणं दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु। सव्वगुणमेलियाहिवि
उवयारसहस्सकोडीहिं ॥१॥" चशब्दः समुच्चये, तथोद्यतानां-प्रयत्नवत्साधूनां उद्यतो वा-प्रयत्नवान् विहारो-मासकल्पादिचर्या
उद्यतविहारस्तत्र; यथोक्तम्-"अनिएयवासो समुदाणचारिया, अन्नायउंछं पइरिक्कया य। अप्पोवही कलहविवज्जणा य, विहारचरिया
इसिणं पसत्था ॥१॥" आत्मगते वोद्यते विहारे, यथा-"कइया होही सो वासरो उ गीयत्थगुरुसमीवम्मि। सव्वविरइं पवज्जिय
विहरिस्सामि अहं जंमि ? ॥१॥" धर्माचार्यविशेषणं वोद्यतविहार इति, एवं चित्तविन्यासं फलनिर्देशद्वारेण निगमयन्नाह-एवं-
अनन्तरोक्तप्रकारं सूक्ष्मपदार्थादिकं वस्त्वादिर्येषामात्मप्रमादनिन्दादीनां ते एवमादयस्तेषु चित्तन्यासो-मनोनिक्षेप एवमादिचित्त-

गोसे भणिओ य विही इय अणवरयं तु चिट्ठमाणस्स । भवविरहबीयभूओ जायइ चारित्तपरिणामो ॥५०॥

॥ सावगधम्मविहिपगरणं सम्मत्तं ॥१॥

न्यासः, अथवैवमादिः—अनन्तरोक्तसूक्ष्मपदार्थचित्तविन्यासप्रभृतिकः स चासौ चित्तन्यासश्चेत्येवमादिचित्तन्यासः, किमित्याह—संवेगः—संसारनिर्वेदो मोक्षानुरागो वा स एव रसायनं—अमृतमजरामरत्वहेतुत्वात्संवेगरसायनं तद्ददाति—प्रयच्छति, एवं हि चित्तविन्यासे संवेग उत्पद्यत इति गाथार्थः ॥४९॥ ततः—'गोसे'इत्यादि, गोसे—प्रत्युषसि भणितः, चशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्भणित एव—प्राक् प्रतिपादित एव विधिः—श्रावकानुष्ठानं 'नवकारेण विबोहो' इत्यादिरूपः, अतः पुनरपि नोच्यत इति हृदयं, एवं च प्रतिपादितानुष्ठानं फलप्रदर्शनद्वारेण निगमयन्नाह—इति—प्राक्तनप्रकारेण नमस्कारविबोधादिना अनवरतं—सततं, तुशब्दः पुनःशब्दार्थ एवकारार्थो वा, चेष्टमानस्य—प्रदर्शितानुष्ठानं विदधतः, श्रावकस्येति गम्यं, किं?—भवविरहः—संसारवियोगस्तस्य बीजभूतो—बीजकल्पो हेतुरित्यर्थः संसारविरहबीजभूतो, जायते—संपद्यते, चारित्रपरिणामः—सर्वविरतिपरिणतिः, एवं हि देशविरतिमभ्यस्यत उपायप्रवृत्तेरवश्यं भवविरहबीजभूतश्चारित्रपरिणामः तत्रान्यत्र वा भवे भवेदिति हृदयं। इह च विरह इति सिताम्बरश्रीहरिभद्राचार्यस्य कृतेरङ्क इति गाथार्थः ॥५०॥ इति श्रावकधर्मविधिप्रकरणवृत्तिः ॥१॥

॥ इति श्रीमदभयदेवसूरिविरचितपञ्चाशकवृत्तौ प्रथमपञ्चाशकवृत्तिः ॥

अथ द्वितीयपञ्चाशकवृत्तिः ॥ २ ॥

णमिऊण महावीरं जिणदिक्खाए विहिं पवक्खामि । वयणाउ णिउणणयजुयं भव्वहियट्ठाय लेसेण ॥१॥

उक्तः श्रावकधर्मविधिः, श्रावकधर्मप्रतिपन्नो जिनदीक्षां प्रतिपद्यते इति जिनदीक्षाविधिमभिधातुकामो मङ्गलाद्यभिधानायाह–'णमी'त्यादि, नमस्कृत्य महावीर्यविराजनान्महावीरस्तं, जिनः–अर्हन् देवतात्वेन प्रतिपत्तव्यो यस्यां दीक्षायां धर्माधिकारित्वेन सा जिनदीक्षा जिनप्रधाना वा दीक्षा जिनदीक्षेत्युच्यतेऽतस्तस्या जिनदीक्षायाः, अनेन शिवदीक्षाकामदीक्षादिव्युदासः, विधिं–विधानं प्रतिपत्तिक्रमं प्रवक्ष्यामि–अभिधास्ये, किं स्वकीयोत्प्रेक्षातो ?, नेत्याह–वचनाद्–आगमात्, तथा निपुणनययुतं–सूक्ष्मनीतिसङ्गतं, इद च विधेर्विशेषणं प्रवक्ष्यामीत्येतस्या वा क्रियायाः, निपुणनीतियुक्तता चाप्तवचननिश्रयैव भवतीत्यतो वचनादित्यत्र सामान्योक्तावपि सामर्थ्याज्जिनवचनादित्यवसीयते, न पुनः कुतीर्थिकवचनादिति, अथ किमर्थं वक्ष्य इत्याह–भव्यानां–मुक्तिगमनयोग्यानां हितं–श्रेयः स एवार्थः–प्रयोजनं भव्यहितार्थस्तस्मै भव्यहितार्थाय, जिनदीक्षाविधिभणने हित विज्ञाय दीक्षयितारो दीक्षणीयाश्च भव्यास्तथैव प्रवर्तन्ते हितं चामादयन्तीत्यतस्तदर्थायेत्युच्यते, अथ पूर्वाचार्यैरपि तस्योक्तत्वात्किं भवतः प्रयासेनेत्याह–लेशेन–संक्षेपेण, मन्दमेधसां हि विस्तरोक्तविधिर्नात्यन्तोपकारायेति हृदयमिति गाथार्थः ॥ १ ॥ 'जिनदीक्षाया विधिं प्रवक्ष्यामी'त्युक्तं, तत्र दीक्षामेव तावत् स्वरूपतो निरूपयन्नाह–'दिक्खे'त्यादि, दीक्षणं दीक्षा, सा च मुण्डनं, द्रव्यतः केशापनयनं

दिक्खा मुंडणमेत्थं तं पुण चित्तस्स होइ विण्णेयं । ण हि अप्पसन्तचित्तो धम्महिगारी जओ होइ ॥२॥
चरमम्मि चेव भणिया एसा खलु पोग्गलाण परियट्टे । सुद्धसहावस्स तहा विसुज्झमाणस्स जीवस्स ॥३॥

नयनं भावतस्तु क्रोधाद्यपनयनं, यदाह—"पंच मुंडा पन्नत्ता, कोहमुंडे० सिरमुंडे," पठ्यते च धातुपाठे 'दीक्षा मौंड्य' इति, तदिह किं द्रव्यमुण्डनमपि दीक्षा ?, नेत्याह—'एत्थं'ति अत्र—जिनदीक्षाधिकारे, तदिति मुण्डनं, पुनःशब्दः पूर्वोक्तार्थस्य विशेषणार्थः, चित्तस्य—भावस्य मिथ्यात्वक्रोधकण्डूत्यादिरूपस्य भवति—वर्तते विज्ञेयं—ज्ञातव्यं, सर्वविरतिदीक्षा तु शिरोमुण्डनमपीति भावः, कुत एतदेवमित्याह—न हि—नैव, हिशब्द एवकारार्थो दीक्षाया मुण्डनविशेषस्वरूपताभावनार्थो वा, अप्रशान्तचित्तः—उत्कटक्रोधादिदूषितभावः, धर्मे—सम्यग्दर्शनादिरूपे कुशलकर्मण्यधिकारी—नियोगवान् धर्माधिकारी, यतो—यस्मात्कारणात्, भवति—जायते, यदाह—"वन्नास विषयतृष्णा प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः । अरुचिर्न धर्मपथ्ये न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥१॥" 'अप्पसत्तचित्तो'त्ति वा पाठः, तत्रापत्सवैक्लव्यकरमध्यवसानकरं च सत्त्वमुक्तं, ततश्चाल्पं—तुच्छं सत्त्वं यत्र तदल्पसत्त्वं तच्चित्तं यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्त इति, शेषं तथैवेति गाथार्थः ॥२॥ इयं च भावमुण्डनरूपा दीक्षा यदा यस्य च भवतीत्येतदभिधित्सुराह—'चरमे'त्यादि, चरम एव—अनादित्वाद्भवजीवयोरनन्तानां पुद्गलपरावर्तानां सर्वान्तिम एव, नान्यत्रापि, भणिता—अभिहिता जिनैः एषा भावमुण्डनरूपा दीक्षा, खलुर्वाक्यालङ्कारे, पुद्गलानां—परमाण्वादीनां, परिवर्ते—एकजीवापेक्षयाऽखिलपुद्गलग्रहणप्रमितकालरूपे, स च समयप्रसिद्धोऽनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः, यदाह—"ओरालविउव्वियतेयकम्मभासाणुपाणुमणएहिं । जीवस्स सयलपोग्गलग्गहणद्धा थूलपरियट्टो ॥१॥ ओरालियाइएक्केकमेयओ सव्वपोग्गलग्गहणं । कालेण जेण सो पुण भण्णति इह सुहुमपरियट्टे ॥२॥" इत्यादि, शुद्धस-

दिक्खाएँ चेव रागो लोगविरुद्धाण चेव चाउत्ति। सुंदरगुरुजोगोवि य जस्स तओ एत्थ उचिओत्ति ॥४॥

भावस्य-यथाप्रवृत्तिकरणेनापचितदीर्घकर्मस्थितिकत्वेन निर्मलरूपस्य, तथेति विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः, अथवा तथा-तेन प्रकारेण,
तत्कालोचितशुद्ध्येति भावः, विशुध्यमानस्य-उत्तरोत्तरां विशुद्धिमनुभवतः, न पुनः संक्लिश्यमानस्य, जीवस्य-प्राणिनः, यदाह-
वड्ढंते परिणामे पडिवज्जइ सो चउण्हमण्णयरं। एमेव वड्ढियम्मिवि हायंति न किंचि पडिवज्जे ॥१॥" इति गाथार्थः ॥३॥ 'चरम-
पुद्गलपरावर्ते विशुध्यमानस्य च दीक्षा भवती'त्येवमस्याः सामान्यतोऽधिकारी निरूपितः, अथ तमेव विशेषतो निरूपयन्नाह—
'दिक्खा'इत्यादि, दीक्षायामेव-प्रागुक्तस्वरूपदीक्षणक एव, चैवशब्दोऽवधारणार्थः, तेन न पुनर्दीक्षाप्रतिपक्षेऽपि, रागः-अनुरागो
वक्ष्यमाणलक्षणः, तथा लोकविरुद्धानां-बहुजनविरोधहेतुभूतानुष्ठानविशेषाणां वक्ष्यमाणरूपाणां, चशब्दः समुच्चयार्थः एवशब्द-
स्त्ववधारणार्थः, तस्य चैवं प्रयोगः-त्याग एव-परिहार एव, अथवा चैवेत्यवधारणे, तेन लोकविरुद्धानामेव, न तु तदविरोधवतां
त्यागः, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः, ततश्च इति-एवंरूपो वक्ष्यमाणविषयभेद इत्यर्थः, अथवेतिशब्दः परिसमाप्तौ,ततश्च इति-एता-
वदेव दीक्षणीयजीवस्य स्वगतं दीक्षारागलोकविरुद्धत्यागरूपं दीक्षाधिकारित्वस्य लक्षणं, अतोऽन्यत्सांयोगिकमिति दर्शितं भवति,
तथा सुन्दरगुरुयोगः-सम्यग्ज्ञानसदनुष्ठानसंपन्नदीक्षादायकाचार्यसम्बन्धः, अपिशब्दोऽवधारणे चशब्दः समुच्चये, तेन सुन्दरगुरु-
योग एव च, न पुनरसुन्दरगुरुयोगोऽपि, अथवाऽपिचेत्येतत्समुच्चय एव, यस्य-अनिर्दिष्टविशेषस्य दीक्षणीयजीवस्य, अस्तीति गम्यं,
तकः-असावत्र जिनदीक्षायामुचितो-योग्यः, इतिशब्दो दीक्षाधिकारिजीवलक्षणसमाप्तिद्योतकः, एतावदेवैतस्य लक्षणमिति हृदय-
मिति द्वारगाथार्थः ॥४॥ दीक्षारागं लक्षयितुं गाथात्रयमाह-'पयती'त्यादि, प्रकृत्या-निसर्गेण, स्वतः संभूततथाविधकर्मक्षयोपश-

पयतीए सोऊण य दट्ठूण व केइ दिक्खिए जीवे । मग्गं समायरन्ते धम्मियजणबहुमए निच्चं ॥५॥
एईइ चेव सद्धा जायइ पावेज्ज कहमहं एयं ?। भवजलहिमहाणावं णिरवेक्खा साणुबंधा य ॥६॥
विग्घाणं चाभावो भावेवि य चित्तथेज्जमच्चत्थं । एयं दिक्खारागो णिद्दिट्ठं समयकेऊहिं ॥७॥

मेलेत्यर्थः, एतस्यां श्रद्धा जायत इति सम्बन्धः, तथा श्रुत्वा-आकर्ण्य, दीक्षागुणादिप्रतिपादनपरं श्रुतधर्ममिति गम्यते, अथवा दीक्षिताञ्जीवानिति सम्बध्यते, वाशब्दो विकल्पार्थः, दृष्ट्वा वा-चक्षुषोपलभ्य, कानित्याह-'केइ'त्ति कांश्चित्, न सर्वान्, सर्वेषां दीक्षितत्वसम्भवाभावात्, अथवा कांश्चित्-सामान्यान् स्वजातिभिः सदेशादिभिरविशेषितान्, अनेन विशेषेण गुणिषु प्रमोदमावेदयति, दीक्षितान्-प्रतिपन्नजिनदीक्षान्, ततः किंभूतांस्तान् ?-मार्गं-सम्यग्दर्शनादिरूपं निर्वाणनगरगमनपथं समाचरतो-विदधतः, तथा धार्मिकजनबहुमतान्-धर्मचारिलोकसंमतान्, नित्यं-सर्वदेति, इह च प्रकृत्येत्यनेन निसर्गतः सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिरुक्ता, श्रुत्वा वा दृष्ट्वा वेत्यनेन चाधिगमत इति, प्रकारद्वयमेव चास्य प्रतिपत्तौ स्यात्, यदाह-तन्निसर्गादधिगमाद्वेति (तत्त्वार्थ०) ॥५॥ 'एई'त्यादि, एतस्यामेव-प्रस्तुतदीक्षायां, न दीक्षान्तरे, श्रद्धा-रुचिः जायते-प्रादुर्भवति, श्रद्धामेवोल्लिखतो दर्शयति-प्राप्नुयां-लभेयं कथं ?-केन प्रकारेण अहमेतां-दीक्षां, किंभूतां ?-भवजलधिमहानावं-संसारसमुद्रतरणमहाद्रोणीं, किंभूता श्रद्धेत्याह-निरपेक्षा-निःस्पृहा सांसारिकफलानि प्रति, लौकिकधर्मदेवगुरून् वा प्रतीत्याविद्यमानापेक्षेत्यर्थः, यत एतत्त्याग एव दीक्षा, यदाह-"समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमति संमत्तं उवसंपज्जति, नो से कप्पति अज्जप्पभिई अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा" इत्यादि, सानुबन्धा-अव्यवच्छिन्नशुभसन्ताना, चशब्दः समुच्चय इति ॥ ६ ॥ 'विग्घे'त्यादि, तथा विघ्नानां-दीक्षाप्रतिपत्तिप्रत्यूहानां,

सव्वस्स चेव णिंदा विसेसओ तह य गुणसमिद्धाणं । उजुधम्मकरणहसणं रीढा जणपूयणिज्जाणं ॥८॥

बहुजणविरुद्धसंगो देसादाचारलंघणं चेव। उव्वणभोगो य तहा दाणाइवि पगडमण्णे तु ॥९॥

चशब्दः समुच्चये अभावः-अविद्यमानता, श्रद्धालक्षणशुभभावव्यपोहित्वासेषां,भावेऽपि च-निरुपक्रमक्लिष्टकर्मदोषाद्विभाना सद्भावेऽपि च, अपिचेति समुच्चयार्थः, चित्तस्थैर्यं-दीक्षां प्रति मनोदार्ढ्यं अत्यन्तं, यदिति शेषः,एतद्-अनन्तरोक्तं श्रद्धाविघ्नाभावचित्तदार्ढ्यरूपं त्रयं, किमित्याह-दीक्षारागो-दीक्षानुरागः निर्दिष्टं-कथितं, कैरित्याह-समयकेतुभिः-प्रकाशकत्वेन सिद्धान्तचिह्नभूतैः समयज्ञैरितियावत् । इति गाथार्थः ॥७॥ उक्तो दीक्षारागः, अथ लोकविरुद्धत्यागाभिधित्सया लोकविरुद्धानुष्ठानोपदर्शनायाह—'सव्वस्से'त्यादि, 'बहु'इत्यादि, सर्वस्य-समस्तस्य लोकस्य, चैवशब्दोऽवधारणे, तेन न पुनः कस्यचिदेव, निन्दा-जुगुप्सा, लोकविरुद्धमिति सर्वत्र योज्यं, निन्द्यमानो हि लोको निन्दकं प्रति विरुद्धो भवत्यतो लोकविरुद्धं, एव सर्वत्र भावना कार्या, तथा विशेषतो-विशेषेण नितरामित्यर्थः, तथाचेति पुनरर्थः, गुणसमृद्धानां-ज्ञानादिगुणर्द्धिमतामाचार्यादीनां निन्देति प्रकृतमेव, गुणवतां हि बहुलोकः पक्षपाती भवत्यतस्तन्निन्दा विशेषतो लोकविरुद्धमिति भावः,ऋजूनां-अव्युत्पन्नबुद्धीनां धर्मकरणे-स्वबुद्ध्यनुसारेण कुशलानुष्ठानासेवने हसनं-उपहासो 'धूर्तैर्विडम्बिताः खल्वेत' इत्यादिरूप ऋजुधर्मकरणहसनं, बहवो ह्यव्युत्पन्ना एव लोकाः, ते च तद्धर्माचारहसने सति विरुद्धा एव भवन्ति, तथा रीढा-हीला जनपूजनीयानां-राजामात्यश्रेष्ठितद्गुरुप्रभृतीनां, भावनाभिप्रायः प्रतीत एव ॥ ८॥ तथा बहुजनैः-प्रभूतलोकैः सह ये विरुद्धाः-तदपकारकत्वेन विरोधवन्तस्तैः सार्धं यः सङ्गः-सम्पर्कः स तथा, देशाद्याचारलङ्घनमेव च-जनपदग्रामकुलप्रभृतिसमाचारातिक्रम एव च,न पुनस्तदनुल्लङ्घनमपि. चशब्दः समुच्चये एवकारश्चावधा-

साहुवसणम्मि तोसो सइ सामत्थम्मि अपडियारो य। एमाइयाणि एत्थं लोगविरुद्धाणि णेयाणि ॥१०॥
णाणाइजुओ उ गुरू सुविणे उदगादित्तारणं तत्तो। अचलाइरोहणं वा तहेव वालाइरक्खा वा ॥११॥

रणे, अनयोश्च प्रयोगो दर्शित एव, तथोल्वणः-सिङ्गजनाचरितो भोगो-वस्त्रपुष्पादिभिर्देहसत्कार उल्वणभोगः तथा-तेन प्रकारेण देशकालविभववयोऽवस्थाद्यनौचित्यलक्षणेन, तथा दानाद्यपि-वित्तवितरणतपःप्रभृतिकमपि, न केवलमुल्वणभोग एवेत्यपिशब्दार्थः, किंभूतं दानादीत्याह-प्रकटं-अगंभीरतया लोकप्रकाशं, अन्ये तु-अपरे पुनराचार्याः, लोकविरुद्धमाहुरितिगम्यं, तथाविधदानादिविधायकस्य हि लोक उपहासकारी स्यादिति लोकविरुद्धतेति ॥९॥ तथा साधुव्यसने-दुष्टराजादिजनितायां शिष्टजनानामापदि तोषः-प्रमोदः, अत्र हि साधवस्तत्पाक्षिकाश्च विरुद्धा भवन्ति, तथा सति-विद्यमाने सामर्थ्ये-साधुव्यसनपरित्राणबले अप्रतिकारो-व्यसनापरित्राणं, चशब्दः समुच्चये, लोकविरुद्धमिति योगः, शेषलोकविरुद्धोपलक्षणार्थमाह-एवम्-एतानि-सर्वजननिन्दादीनि आदिः-प्रकारो येषां तान्येवमादिकानि, आदिशब्दात्पैशून्यादिग्रहः, 'एत्थं'ति अत्र-जिनदीक्षाधिकारे लोके वा लोकविरुद्धानि-लोकविरोधवन्त्यनुष्ठानानि ज्ञेयानि-ज्ञातव्यानि ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहर्तव्यानीति गाथात्रयार्थः ॥१०॥ अथ सुन्दरगुरुयोगं दर्शयन्नाह-'णाणे'त्यादि, ज्ञानादियुतश्च गुरुः, इह चशब्दस्तुशब्दो वा पुनरर्थः, तस्य चैवं प्रयोगः-लोकविरुद्धानि तावत् सर्वजननिन्दादीनि गुरुश्च-दीक्षाचार्यः पुनर्ज्ञानादियुतः-सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रयुक्तः, सुन्दरो भवतीति हृद्यं, अथवा ज्ञानादियुत एव गुरुर्भवतीत्येवमवधारणं व्याख्येयं, अथ उद्योगः क इत्याह-स्वप्ने-निद्रासंगलितमनोविज्ञानविशेषरूपे उदकादिभ्यो-जलानलगर्तादिभ्यस्तारणं ततो-गुरोः सकाशात् दीक्षाकामस्य, एतच्च सुन्दरगुरुयोगपरिज्ञानहेतुत्वात्सुन्दरयोगोऽभिधीयते,

वाउकुमाराईणं आहवणं णियणियेहिं मन्तेहिं। मुत्तासुत्तीए किल पच्छा तक्कम्मकरणं तु ॥१२॥
वाउकुमाराहवणे पमज्जणं तत्थ सुपरिसुद्धं तु। गंधोदगदाणं पुण मेहकुमाराहवणपुव्वं ॥१३॥

एवमचलादिषु-पर्वतप्रासादवृक्षशिखरप्रभृतिषु रोहणं-आरोपणमचलादिरोहणं, वाशब्दः पूर्वोक्तरक्षापेक्षया विकल्पार्थः, तथैव-तेनैव प्रकारेण खमे ततः सकाशादित्येवंलक्षणेन, व्यालाः-श्वापदा भुजगा वा तदादिभ्यः, आदिशब्दाद्गजादिभिश्च, रक्षा-व्यापाद्यमानस्य त्राणं व्यालादिरक्षा, वाशब्दो विकल्पार्थ एवेति गाथार्थः ॥ ११ ॥ उक्ता दीक्षा, तद्योगयश्चाधुना दीक्षाविधिर्वाच्यः, स च समवसरणरचनादिरूपः, अतः समवसरणरचनां तावद्दर्शयन्नाह-'वाउ'इत्यादि, वायुकुमारादीनामागमप्रसिद्धदेवविशेषाणाम्, आदिशब्दान्मेघकुमारादिपरिग्रहः, आह्वानं-संशब्दनम्, कार्यमिति शेषः, कैरित्याह-निजनिजैः-स्वकीयस्वकीयैः मन्त्रैः-प्रणवनमःपूर्वकस्वाहान्ततन्नामरूपैर्यथासम्प्रदायमागतैः, मुक्ताशुक्त्या-मुक्ताफलयोन्याकारया हस्तविन्यासमुद्रया, किलेत्याप्तसम्प्रदायसूचकमाह्वानस्य वाऽतात्त्विकत्वसूचकं,तदतात्त्विकत्वं चाह्वानेऽपि तेषां प्राय आगमनासम्भवात्,तत्संसारणस्यैवेह विधेयत्वादिति,पश्चाद्-आह्वानानन्तरम्, तत्कर्मकरणं तु-तेषां वायुकुमारमेघकुमारादिदेवानां यत्कर्म-भूप्रमार्जनोदकसेचनादिरूपो व्यापारस्तस्य विधानमेव, तुशब्द एवकारार्थः पुनःशब्दार्थो वा, स चैवं दृश्यः-पश्चात्पुनः, इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह-'वाउ'इत्यादि, वायुकुमाराह्वाने-मरुत्कुमारदेवसंशब्दने, कृते सतीति गम्यम्,प्रमार्जनं-भूमिशुद्धिरूपं,कर्तव्यं भवतीति गम्यम्,तत्रेति समवसरणभूमौ,सुपरिशुद्धं तु-सर्वकचवरायहरणेनातिशुद्धमेव, एते किल मयाऽऽहूता वायुकुमारदेवा भगवत्समवसरणभुवं शोधयन्तीतिकल्पनयेति हृदयम्, गन्धोदकदानं-सुरभिजलवर्षणम्, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणताप्रतिपादनार्थः, मेघकुमाराह्वानपूर्वं-मेघका-

उउदेवीणाह्वणे गंधड्ढा होइ कुसुमवुट्ठित्ति । अग्गिकुमाराह्वणे धूवं एगे इहं वेन्ति ॥१४॥
वेमाणियजोइसभवणवासियाह्वणपुव्वगं तत्तो। पागारतिगण्णासो मणिकंचणरूप्पवण्णाणं ॥१५॥

रिदेवसंशब्दनपुरःसरं स्वयमेव कार्यम्, भगवत्समवसरणे हि वायुकुमारैर्भूमिशुद्धौ कृतायां रजःप्रशमनार्थं मेघकुमारा गन्धोदकवर्ष
कुर्वन्तीति स्थितिः, कल्पना तु पूर्ववदेव इति गाथार्थः ॥१३॥ तथा—'उउदेवी'त्यादि, ऋतुदेवीनां-वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्त-
शिशिराभिधानदेवतानामाह्वाने-संकीर्तने कृते सति, गन्धाढ्या-सद्गन्धगुणसमृद्धा, भवति-वर्तते, विधेयेति गम्यम्, कुसुमवृष्टिः-द-
शार्धवर्णपुष्पवर्षः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थः, ततश्च कुसुमवर्षकरणेनैव ऋतुदेवीकर्म परिसमाप्तं भवतीति भणितं भवति, अग्निकुमारा-
ह्वाने-तैजसदेवसंकीर्तने कृते सति, धूपं-कालागुरुप्रभृतिकम्, एके-केचनाचार्याः इह समवसरणव्यतिकरे ब्रुवते-अग्निभाजने प्रक्षेप्य-
तया प्रतिपादयन्ति, अन्ये तु सामान्यतो देवाह्वाने, यत आवश्यकटीकाकृतोक्तं-'धूपघटिका विकुर्वन्ति त्रिदशा एवेति' गाथार्थः
॥१४॥ तथा—'वेमाणिये'त्यादि, वैमानिकाश्च-सौधर्मकादयः, ज्योतींषि च-चन्द्रादयः, भवनवासिनश्च-असुरादयः तेषामाह्वानं-
संशब्दनं पूर्व-प्रथमं यत्र प्राकारत्रयन्यासकरणे तत्तथा, क्रियाविशेषणमिदम्, ततो धूपदानानन्तरम्, प्राकाराणां-शालानां त्रिकस्य-
त्रयस्य न्यासो-न्यसनं प्राकारत्रिकन्यासः, कर्तव्यो भवतीति शेषः, किंभूतानां प्राकाराणामित्याह-मणिकाञ्चनरूप्याणामेव-रत्नस्व-
र्णकलधौतानामेव वर्णः-छाया येषां ते तथा तेषाम्, भगवतो हि समवसरणे वैमानिकादयो देवा अन्तर्मध्ये बहिश्च क्रमेण मणिम-
यादीन् त्रीन् प्राकारान् कुर्वन्तीति, इह च प्राकार इत्यस्य पदस्य समासान्तर्भूतस्याप्यन्तर्वर्तिविभक्त्यन्ततामाश्रित्य मणिकाञ्चनरूप्यव-
र्णानामित्येतत्पदं विशेषणतया सम्बध्यते, अथवा मणिकाञ्चनरूप्यवर्णानां द्रव्याणां सत्कः प्राकारत्रयन्यासः, इति गाथार्थः ॥१५॥

वंतरगाहवणाओ तोरणमाईण होइ विण्णासो। चितितरुसीहासणछत्तचक्कधयमाईयाणं च ॥१६॥
भुवणगुरुणो य ठवणा सयलजगपियामहस्स तो सम्मं। उक्किट्ठवण्णगोवरि समवसरणबिंबरूवस्स ॥१७॥

तथा—'वंतरगाहे'त्यादि, व्यन्तरा एव व्यन्तरकास्तदाह्वानात्—संशब्दनात्, 'तोरणमाईण'त्ति इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवः तेन तोरणादीनां—द्वारावयवविशेषप्रभृतीनाम्, आदिशब्दात् पीठदेवच्छन्दकपुष्करिण्यादिपरिग्रहः, भवति—जायते, विन्यासो—रचना, तथा चैत्यतरुसिंहासनच्छत्रचक्रध्वजादीनां च, तत्र चैत्यतरुः—अशोकवृक्षः, अथवा चैत्यानि—जिनप्रतिबिम्बानि तरुः—अशोकवृक्षः, सिंहासनं—सिंहाकृतियुक्तं विष्टरं, छत्राणि—आतपत्रत्रयं, चक्रं—धर्मचक्रं, ध्वजाः—सिंहध्वजचक्रध्वजमहेन्द्रध्वजगोपुरादिध्वजाश्च, आदिशब्दात्पद्म-चामरपरिग्रहः, एतानि हि व्यन्तराः समवसरणे विदधति, यदाह—"चेइदुमपीढछंदगआमणछत्तं च चामराओ य। जं चऽन्नं करणिज्जं करंति तं वाणमंतरिय ॥१॥" त्ति, इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ तथा—'भुवणे'त्यादि, भुवनगुरोश्च—त्रिभुवननायकस्य पुनः स्थापना-र्हतः स्थापना—न्यासः, कर्तव्य इति शेषः, किंभूतस्य?—लोके पिता—पूज्यः पितामहस्तु—पूज्यतरः पितुरपि पूज्यत्वात् ततः सकलज-गतः—समस्तभुवनजनस्य पितामह इव पितामहः सकलजगत्पितामहः, अथवा सकलजगतो धर्मः पिता, पालनाभियुक्तत्वात्, त-स्यापि भगवान् पिता, भगवत्प्रभवत्वाद्धर्मस्येति, पितुः पिता पितामहः, सकलजगतः पितामहः२ इति विग्रहः, अतस्तस्य, 'तो'त्ति ततः—चैत्यतरुसिंहासनादिन्यासानन्तरम्, सम्यग्—अवैपरीत्येन, क्व स्थापना कार्येत्याह—उत्कृष्टवर्णकस्य—प्रधानचन्दनस्योपरि—उप-रिष्टादुत्कृष्टवर्णकोपरि, किंभूतस्य भुवनगुरोः?—समवसरणे—जिनधर्मदेशनाभूमौ यानि देवतानिर्मितानि तस्यैव बिम्बानि—प्रतिकृतय-स्तेषामिव रूपं—स्वभावो यस्य स समवसरणबिम्बरूपोऽतस्तस्य, चतुर्मुखस्य त्रिलिङ्गरूपस्यैवेति गाथार्थः ॥१७॥ तथा—'एयस्से'त्यादि,

एयस्स पुव्वदक्खिणभागेणं मग्गओ गणधरस्स। मुणिवसभाणं वेमाणिणीण तह साहुणीणं च ॥१८॥
इय अवरदक्खिणेणं देवीणं ठावणा मुणेयव्वा। भुवणवइवाणमंतरजोइससंबंधिणीणत्ति ॥१९॥
भवणवइवाणमंतरजोइसियाणं च एत्थ देवाणं। अवरुत्तरेण णवरं निद्दिट्ठा समयकेऊहिं ॥२०॥

एतस्य भुवनगुरोः पूर्वदक्षिणाया–आग्नेयदिशो भागः–एकदेशः पूर्वदक्षिणदिग्भागस्तेन करणभूतेन हेतुभूतेन वा, मार्गतः–पृष्ठतो गणधरस्य–गणनायकस्य, मुनिवृषभाणां–सातिशयादियतिपुङ्गवानाम्, तथा वैमानिक(नो)देवास्तेषामेता वैमानिन्योऽतस्तासां वैमानिनीनां देवीनाम्, तथेति समुच्चयार्थः, तेन स्थापना कार्येति सम्बध्यते, साध्वीनां–तपस्विनीनाम्। चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथार्थः॥१८॥ तथा–'इये'त्यादि, इति–एवमेव यथा मुनिवृषभादित्रयस्यासंकीर्णतया स्थापना कृता एवं भवनपत्यादिदेवीत्रयस्यापि सा कार्येत्यर्थः, अपरदक्षिणेन–अपरदक्षिणस्यां दिशि, सप्तम्यर्थो ह्ययमेनप्रत्ययः, देवीनां–सुरवधूनाम्, स्थापना–न्यासः, 'मुणेयव्वत्ति' ज्ञातव्या, कर्तव्यतयेति शेषः, भवनपतयो–देवालयविशेषनाथा असुरादयः, 'वाणमंतरत्ति' वनानाम्–उद्यानानामन्तराणि–कुहराणि विशेषा वा वनान्तराणि तेषु भवा मकारवर्णागमात् वानमन्तरा–व्यन्तराः, ज्योतिषि–ज्योतिश्चक्रे भवा ज्योतिषा ज्योतींषि वा–ज्योतिष्कदेवाः, एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तेषां सम्बन्धिन्यः–सत्का यास्तास्तथा तासाम्, इतिशब्दो द्वितीयपर्षदः समाप्तिप्रदर्शनार्थः, इति गाथार्थः ॥१९॥ तथा–'भवणे'त्यादि, भवनपतिवानमन्तरा उक्तनिर्वचनाः, 'जोइसियत्ति' ज्योतिषि–ज्योतिश्चक्रे जाता ज्योतिषिजाः, ज्योतिषि वा भवा ज्योतिषास्त एव ज्योतिषिकाः, एषां द्वन्द्वोऽतस्तेषां भवनपतिवानमन्तरज्योतिषिकाणाम्, चाशब्दः समुच्चये, तद्भावना चैवं–भवनपत्यादिदेवीनां स्थापना मन्तव्या, भवनपतिवानमन्तरज्योतिषिजानां च, अत्र समवसरणे, देवानां–सुराणाम्, किंविशिष्टेषुभयेषा-

वेमाणियदेवाणं णराण णारिगणाण य पसत्था। पुव्वुत्तरेण ठवणा सव्वेसिं णियगवण्णेहिं ॥२१॥
अहिणउलमयमयाहिवपमुहाणं तह य तिरियसत्ताणं। बितियंतरम्मि एसा तइए पुण देवजाणाणं ॥२२॥
रइयम्मि समोसरणे एवं भत्तिविहवाणुसारेण। सुइभूओ उ पदोसे अहिगयजीवो इहं एइ ॥२३॥

मपीत्यत आह–अपरोत्तरेण–अपरोत्तरस्यां दिशि, नवरं–केवलम्, निर्दिष्टा–अभिहिता, समयकेतुभिः–प्रवचनचिह्नभूतैः, इति गाथार्थः ॥२०॥ 'वेमाणिये'त्यादि, विमानेषु भवा वैमानिकास्ते च ते देवाश्च–सुरा इति समासोऽतस्तेषाम्, तथा नराणां–नृणाम्, नारीगणानां–मनुष्यस्त्रीसमूहानाम्, इह च गणशब्दोपादानं पुरुषापेक्षया स्त्रीजनस्य बहुत्वख्यापनार्थम्, चशब्दः समुच्चये, प्रशस्ता–मङ्गल्या, पूर्वोत्तरेण–पूर्वोत्तरस्यां दिशि, स्थापना–न्यासः, कार्येति शेषः, स्थापनाया एव विशेषार्थमाह–सर्वेषां–समस्तानां, मनुष्येषु वर्णविशेषाभावाद्भवनपत्यादिदेवानां निजवर्णैः–स्वकीयस्वकीयशरीरच्छायाभिः, तत्र भवनपतिव्यन्तराः पञ्चवर्णाः, ज्योतिष्का रक्तवर्णाः, वैमानिकाः पुना रक्तपीतसितवर्णाः, विशेषः पुनः काला असुरकुमारा इत्यादेरागमादवसेय, इति गाथार्थः ॥२१॥ तथा–'अहिणे'त्यादि, अहिनकुलमृगमृगाधिपप्रमुखाणां–भुजगबभ्रुहरिणसिंहप्रभृतिकानाम्, प्रमुखग्रहणादश्वमहिषादिपरिग्रहः, 'तह य'त्ति समुच्चये, अथवा तथैव–तेनैव प्रकारेण देवानामिव निजवर्णविशिष्टतालक्षणेन, परस्परविरोधलक्षणेन वा, तिर्यक्रमत्वानं तिर्यग्योनिजन्तूनाम्, द्वितीयान्तरे–द्वितीयप्राकारमध्ये, एषा स्थापना कार्येति शेषः, तृतीये–तृतीयप्राकारान्तरे, पुनःशब्दो विलक्षणताख्यापनार्थः देवयानानां–देववाहनानां करिमकरकेसरिकलापिकलहंसाद्याकारधारिणाम्, इति गाथार्थः ॥२२॥ अथ समवसरणविधिं निगमयन् शेषदीक्षाविधिं दर्शयन्नाह–'रइये'त्यादि, रचिते–स्थापिते, समवसरणे समयप्रसिद्धे, एवम्–उक्तनीत्या, भक्तिविभवा-

भुवणगुरुगुणक्खाणा तम्मी संजायतिव्वसद्धस्स। विहिसासणमोहेणं तओ पवेसो तहिं एवं ॥२४॥
वरगंधपुप्फदाणं सियवत्थेणं तहच्छिठवणं च। आगइगइविण्णाणं इमस्स तह पुप्फपाएण ॥२५॥

नुसारेण-बहुमानश्रद्धा'नुरूप्येण,शुचिभूतस्तु-शौचप्राप्त एव द्रव्यतो भावतश्च,तत्र द्रव्यतः स्नातः श्रीचन्दनानुलिप्तगात्रः सितवसन-निवसनः शुचिविधाकृप्तगात्रश्च,भावतस्तु विशुध्यमानमानसः,प्रदोषे-दिवसावसाने,उपलक्षणत्वादस्य प्रशस्ततिथिकरणवारनक्षत्रयोग-चन्द्रबललग्नादौ, अधिकृतजीवः प्रस्तुतसत्त्वो दीक्षणीय इत्यर्थः, इहाधिकृतसमवसरणदेशे,एति--आगच्छतीति गाथार्थः ॥२३॥ ततश्च-'भुवने'त्यादि, भुवनगुरोः-त्रिभुवनबान्धवस्य जिनस्य ये गुणा-रागादिवैरिवारविदारकत्वसमस्तवस्तुस्तोमविषयविज्ञायकत्वनिखिलनाकिनिकायकायामिनम्यत्वसद्भूतपदार्थप्रकाशकारित्वाग्व्यादित्वशिवसुखनायकत्वतद्दानसामर्थ्यादयस्तेषां यदाख्यानम्-अभिधानं तत्तथा तस्माद्भुवनगुरुगुणाख्यानाद्धेतोः, तस्मिन्-भुवनगुरौ, संजाततीव्रश्रद्धस्य-समुत्पन्नोत्कटगुरुरुचेर्देवतात्वेन प्रतिपत्तिं मतीति ग-म्यते, अधिकृतजीवस्येति प्रकृतम्, विधिसाधनम्-अनुष्ठानप्रकाशनम्, यदुत जिनदीक्षायां प्रतिपन्नायां न तव कल्पते अन्यतीर्थिकदेवानामन्यतीर्थिकानां च वन्दनादि, कल्पते च जिनानां जैनमुनीनां जैनागमस्य च वन्दनादि कर्तुमित्यादि, अथवा तवाञ्जलौ पुष्पाणि दास्यन्ते, अक्षिस्थगनं च वस्त्रेण करिष्यते, तानि च पुष्पाणि त्वयाऽक्षुमितेन समवसरणमध्यस्थापितजिनाभिमुखानि क्षेप्तव्यानि, आत्मा च समुतधनादिर्गुरवे निवेदनीय इति विधिः, ओघेन-सामान्येन,विशेषतस्तु दीक्षादानावसरात्पूर्वमेव तद्विषयविधेराख्यातत्वात्, तओ-विधिसाधनानन्तरं प्रवेशः-प्रवेशनं तस्मिन् समवसरणे,एवं वक्ष्यमाणन्यायेनेति गाथार्थः ॥२४॥ ततश्च-'वरगंधे'-त्यादि, वरगन्धपुष्पदानं-सुगन्धिकुसुमानामथवा प्रधानानां वासानां पुष्पाणां च दानं-वितरणम्,वरगन्धपुष्पदानमञ्जलौ कर्तव्य-

अभिवाहरणा अण्णे णियजोगपवित्तिओ य केइत्ति। दीवाइजलणभेया तहुत्तरसुजोगओ चेव ॥२६॥

मस्तेति योगः, तथा सितवस्त्रेण शुक्लवाससा, तथा-तेन प्रकारेणापीडोत्पादनलक्षणेन विद्वत्प्रसिद्धेन वाक्योपक्षेपमात्रो वा तथाशब्दः, गुरुणा अशिष्यगनं-लोचनावरणं कार्यम्, चशब्दः समुच्चये, ततश्चासौ कुसुमान्यविवृताक्ष एव जिननाथाभिमुखं प्रक्षेपयितव्यः, तथा दीक्षाराधनविराधनाभ्यां शुभेतरा वा चाधिकृतपुष्पपातलक्षणनिमित्तानुसारेण यथासम्प्रदायं शुभादितरस्माद्वा भवादागतोऽयं, तथा दीक्षाराधनविराधनाभ्यां शुभेतरा वा गतिरस्य भविष्यतीति दीक्षादानार्थं तत्परिहारार्थं च परिज्ञानं विधेयम्, एतदेवाह—आगतिगतिविज्ञानं-शुभाशुभपूर्वजन्मानागतजन्मनां निर्णयनं कार्यम्, अथवा गत्या-गमनेनास्खलितेतरादियुक्तेन गतिविज्ञानम् आगामिभवज्ञानमागतिविज्ञानम्, इह व्याख्याने समासितमपि गतिविज्ञानमित्येतत्पदं प्राकृतत्वेनोत्तरत्र सम्बन्धनीयमिति, 'इमस्स'त्ति अस्य दीक्षाधिकृतजीवस्य, तथेति समुच्चये, असमासितमपि गतिविज्ञानमित्येतत्पदं प्राकृतत्वेनोत्तरत्र सम्बन्धनीयमिति, 'इमस्स'त्ति अस्य दीक्षाधिकृतजीवस्य, तथेति समुच्चये, अथवा तथा तत्प्रकारेण साम्प्रदायिकेन पुष्पपातेन-कुसुमपतनेन दीक्षणीयनरविहितेन, एतदर्थमेव पूर्वं पुष्पदानं तदञ्जलौ कृतमासीदिति, इह च समवसरणमध्ये पुष्पपाताद्दीक्षाराधनाजनिता सुगतिः तद्बहिःपाताच्च तद्विराधनाजनिता कुगतिरस्येत्येतावन्मात्रमतो ग्रन्थ दर्शीयते। शेषं तु ग्रन्थान्तराद्विशिष्टसम्प्रदायाद्वाऽवसेयमिति गाथार्थः ॥२५॥ अथ शुभाशुभगतिविज्ञानविषये मतान्तरदर्शनायाह—'अभिवाहे'त्यादि, अभिव्याहरणात्-संशब्दनात् दीक्षणीयेनान्येन वा दीक्षावसरे विहितात् शुभाशुभार्थसंसूचकात् सिद्धिवृद्धीत्यादिरूपात्, अथवा "इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं दंसणपडिम संमत्तसामाइयं वा आरोवेह" इत्यादिदीक्षणीयाभिव्याहारात् 'आरोवेमि खमासमणाणं हत्थेणं. आरोवियं' इत्यादेर्वाऽऽचार्याभिव्याहारादस्खलितादिगुणदोषानुगतात्, अन्ये—अपरे सूरयो दीक्षाऽऽराधनविराधनाजन्यशुभाशुभगतिपरिज्ञानमस्याधिकृतस्य कर्तव्यमित्याहुरिति गम्यम्, तथा निजयोगानाम्—आचार्यसत्कमनःप्रभृती-

वाहिं तु पुप्फपाए वियडणचउसरणगमणमाईणि । काराविज्जइ एसो वारतिगमुवरि पडिसेहो ॥२७॥

प्रवृत्तिः प्रवर्तनं निजयोगप्रवृत्तिस्तगो निजयोगप्रवृत्तितः, चशब्दः समुच्चये, इतिशब्दस्योत्तरस्येह दर्शनात् इत्येतत्, केचिद्–अपरे,
प्राहुरिति गम्यम्, इदमुक्तं भवति–तदा यद्याचार्यस्य क्रोधलोभमोहभयादिभिरव्याकुलं मनो यद्यदा वाच्यं तद्विषया व्यक्तत्वादि-
गुणा च वाक् साध्वसाद्यनुपहतश्च कायः प्रवर्तते तदा शुभा गतिरिति, अन्यथा चाशुभा गतिरस्य ज्ञायत इति, तथा दीपादीनां
दीपचन्द्रतारकादीनां यज्ज्वलनं दीपनं तस्य यो भेदो–विशेषः स तथा तस्मात्, इदमुक्तं भवति–यदि तदा दीपादयः प्रवृद्धतेजसो
भवन्ति तदाऽस्य शुभम्, अन्यथा त्वशुभमिति,तथेति समुच्चये,उत्तरे दीक्षोत्तरकालभाविनो ये सुयोगाः–शुभव्यापारा दीक्षितगतास्ते
उत्तरसुयोगास्तेभ्य एव, चैवशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, केचिदिति प्रकृतमिति गाथार्थः ॥२६॥ समवसरणान्तः पुष्पपाते योग्यता-
निर्णयाद्दीक्ष्यतेऽसौ, बहिस्तत्पाते तु को विधिरित्याह–'बाहिं'मित्यादि, बहिः–बहिस्तात्समवसरणात्,तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, स च
पूर्वोक्तार्थापेक्षयोत्तरार्थस्य विलक्षणतासूचनार्थः, पुष्पपाते–कुसुमपतने सति, विकटनं च–शंकाद्यतिचारालोचना स्वाभिप्रायनिवेदन-
मात्रं वा, चतुःशरणगमनं–'चत्तारि सरणं पवज्जामि' इत्यादिरूपमादिर्येषां तानि विकटनचतुःशरणगमनादीनि, मकारश्चेहागमिकः,
आदिशब्दात् पञ्चनमस्कारादिपरिग्रहः, 'काराविज्जति'त्ति कार्यते–विधाप्यते गुरुणा एष–दीक्षाविकृतजीवः, कियतीर्वारा इ-
त्याह–'वारतिगं' त्रीन् वारान् यावत्, उपरि–तस्योर्ध्वं प्रतिषेधो–निषेधो दीक्षायाः, इदमुक्तं भवति–बहिः पुष्पपाते सत्यालोचनादि
कारयित्वा तथैव पुष्पपातः कार्यते, पुनर्बहिः पाते पुनरपि स एव विधिरावर्त्यते, ततो वारत्रयेऽपि यदि बहिरेव पुष्पपातो भवति
तदा त्रिर्निश्चितत्वात्तद्दीक्षानर्हत्वस्य प्रतिषिध्यत एवासौ दीक्षाग्रहणं प्रति–भद्र ! प्रस्तावान्तरे तव दीक्षा दास्यते, नाधुनेत्यादिभिः

परिसुद्धस्स उ तह पुप्फपायजोगेण दंसणं पच्छा । ठितिसाहणमुववूहण हरिसाइपलोयणं चेव ॥२८॥

कोमलवचनैरिति गाथार्थः ॥२७॥ उक्तविपर्ययमाह–'परिसुद्धे'त्यादि, परिशुद्धस्स–दीक्षोचितविशुद्धिमाप्ततया निश्चितस्य सतो दीक्ष·
णीयस्य, तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, कथमित्याह–तथेति–तथाविधः पूर्वोक्तन्यायतः समवसरणमध्यभावी यः पुष्पपातयोगः–कुसुमपत-
नव्यापारः स तथा तेन पुष्पपातयोगेन, किमित्याह–दर्शनं–नयनावरणवसनापनयनेन जिनप्रतिमां प्रति तस्य दर्शनक्रियायां प्रयोजनं
गुरुणा कार्यम्, पश्चादिति–पुष्पपातेन तद्विशुद्धिनिश्चयानन्तरम्, अथवा दर्शनमिति सम्यग्दर्शनं तस्यारोपणीयं, एतदारोपणमेव च
दीक्षोच्यते, तत्र चावश्यकचूर्ण्यनुसारी संप्रदायोऽयम्–चैत्यवन्दनादिना तदुचितेन सर्वविरतिसामायिकारोपणक्रमेण गुरुणेदमु-
च्चारयितव्यं, दीक्षणीयेन चैतदेव प्रत्युच्चारयताऽभ्युपगन्तव्यं, तद्यथा–"अहं भंते ! तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताउ पडिक्कमामि, संमत्तं उव-
संपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पभिई अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाइं अरहंतचेइयाणि वा वंदित्तए
वा नमंसित्तए वा, पुव्विं अनालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणु-
प्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तीकंतारेणं, दव्वओ खेत्तओ
कालओ भावओ, दव्वओ णं दंसणदव्वाइं अंगीकाऊणं, खेत्तओ णं सव्वलोए, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं
न गहिज्जामि जाव छलेणं न छलिज्जामि जाव संनिवाएण न भुंजामि (नाभिभविज्जामि) जाव केणवि परिणामवसेण एस परिणामो
मे न परिवडति ताव मे एसा दंसणपडिमत्ति", ततश्च वासप्रक्षेपपूर्वकं सर्वविरतिसामायिकारोपणे इव "नित्थारगपारगो होहि,
गुरुगुणेहिं वड्ढाहि"त्ति आशिषं प्रयुञ्जते, अयमेवार्थोऽन्यत्राचार्येणैवमुक्तः–"इय मिच्छाओ विरमिय सम्मं उवगम्म भणति गुरु-

अह तिपयाहिणपुव्वं सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेण । गुरुणोऽणुवेयणं सव्वहेव दढमप्पणो एत्थ ॥२९॥

पुरओ । अरहंतो निस्संगो मह देवो दक्खिणा साहू ॥१॥" त्ति, ततश्च 'ठितिसाहण'न्ति दीक्षितमर्यादाकथनं कार्यम्, यथा-"अज्ज-
प्पमिई तुब्भं अरहं देवो, साहवो गुरू, जीवाइपयत्थसद्दहाणं सम्मत्तं, नो ते कप्पति लोइयतित्थे ण्हाणहुणणपिंडपयाणाई, कप्पइ पुण
तिकालं देववंदणाइयं अणुट्ठाणं", अथवा स्थितिसाधनं-दीक्षासमाचारप्रकाशनं कार्यम्, यथा-"भो भद्र ! दीक्षाप्रतिपत्तिक्रमोऽयम-
शिरस्यगनपुष्पप्रक्षेपादिरिति न त्वयाऽन्यथा संभावनीयः', तथा 'उवबूहण'त्ति इह प्राकृतत्वेन निरनुस्वारः पाठः, ततश्चोपबृंहणं-
तस्यानुमोदनं कार्यम्, यथा-"धन्यस्त्वं धर्माधिकारी क्षीणप्रायक्लेशः, यतो भगवतो भुवनबान्धवस्यासन्नकुसुमनिपातेन निश्चितोऽसि
समासन्नकल्याण इति", अथवा-"धन्यस्त्वं येन सकलकल्याणवल्लरीकन्दकल्पा भागवती दीक्षाऽवाप्ता, तदवाप्तौ चावाप्तानि
सकलकल्याणानि" अपिच-"धण्णाण निवेसिज्जति धण्णा गच्छंति पारमेयस्स । गंतुं इमस्स पारं पारं दुक्खाण वच्चंति ॥२॥" इति,
तथा हर्षादीनां-तद्गतप्रमोदप्रभृतीनाम्, आदिशब्दाद्दैन्योदासीनतादिग्रहः, प्रलोकनं-अवलोकनं हर्षादिप्रलोकनं तदाऽऽचार्येण सुख-
प्रसन्नतादिभिर्लक्षणैस्तस्य कार्यम्, किमयमेतत्समाचारदर्शने हृष्टोऽन्यथा वेत्यवगन्तव्यमित्यर्थः, चैवेति समुच्चय इति गाथार्थः ॥२८॥
उक्तो गुरुव्यापारः, अथ शिष्यव्यापारं दर्शयन्नाह-'अहे'त्यादि, अथ-उक्तविधानादनन्तरं तिसृणां प्रदक्षिणानां समाहारस्त्रिप्रद-
क्षिणं तत् पूर्वं-प्रथमं यत्र तत्तथा, क्रियाविशेषणमिदं, गुरुं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्येत्यर्थः, सम्यक् शुद्धेन-तत्त्वतो निर्मलेन, न कल्पन-
येत्यर्थः, चित्तं-मनस्तदेव रत्नं-माणिक्यं प्रकाशस्वभावसाधर्म्याच्चित्तरत्नं तेन, गुरोः-धर्माचार्यस्य निवेदनीयं "भवदीयोऽहं किङ्करो,
यूयं मे भवोदधिनिमग्नस्य नाथाः" इत्येवं समर्पणम्, सर्वथैव-समस्तैरपि प्रकारैर्द्विपदचतुष्पदधनाद्यर्पणलक्षणैर्मनःप्रभृतिभिर्वा, न तु

एसा खलु गुरुभत्ती उक्कोसो एस दाणधम्मो उ । भावविसुद्धीए दढं इहरावि य वीयमेयस्स ॥३०॥

कथञ्चिदनिवेदनम् ,दृढम्–अत्यर्थमव्यभिचारितया,कस्य निवेदनमित्याह–आत्मनः–स्वस्य,अत्र दीक्षायां दत्तायां सत्यामिति गाथार्थः
॥२९॥ अथ तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते न वा ?, यदि न प्रतिपद्यते तदा न युक्तं, निष्फलत्वात्तस्येत्याशङ्कां परिहरन्नाह—
'एसे'त्यादि, यदेतद् गुरूणां सर्वथाऽऽत्मनिवेदनमनन्तरोक्तमेषा–इयं, खलुर्वाक्यालङ्कारेऽथवाऽवधारणे, तेनैषैव,न त्वन्याऽपि,यदाह–
"का भक्तिस्तस्य येनात्मा,सर्वथा न नियुज्यते ?। अभक्तेः कार्यमेवाहुरंशेनाप्यनियोजनम् ॥१॥" गुरुभक्तिः–धर्माचार्यबहुमानः,गुरु-
भक्तिश्च सदा विधेया दुष्प्रतिकारत्वाद् गुरोः,तस्याश्च महार्थसाधकत्वात् ,उक्तं चानन्तरोक्तार्थद्वयसंवादि–"तिण्हं दुप्पडियारं सम·
णाउसो !, तंजहा–अम्मापियरस्स गुरुस्स भट्टिस्स" तथा–"गुरुभक्तेः श्रुतज्ञानं, भवेत् कल्पतरूपमम् । लोकद्वितयभाविन्यस्ततः स्युः
सर्वसम्पदः ॥१॥" तथा उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः–उत्कृष्टः,'एस'त्ति इहोत्तरस्यैवकारार्थस्य तुशब्दस्य सम्बन्धादेष एव–अयमेव गुरोरा-
त्मनिवेदनरूपो,नान्यः,वस्त्वन्तरदाने हि तदेवैकं दत्तं स्यात् ,आत्मदाने तु सर्वमपीत्यात्मदानधर्मस्यैवोत्कृष्टता, दानधर्मो–वितरणरूपं
कुशलानुष्ठानं,विधेयश्चासौ महार्थसाधकत्वात् ,यदाह–"दानात्कीर्तिः सुधाशुभ्रा,दानाद्धरतरं यशः। दानात्कामार्थमोक्षाः स्युर्दानधर्मो
वरस्ततः ॥१॥" किं यथाकथञ्चिदपि आत्मनिवेदनमुत्कृष्टदानधर्मो भवति ?, नेत्याह–भावविशुद्ध्या–परिणामनिष्कलङ्कतया, दृढं-
अत्यन्तम् , परिणामकलङ्कं च कीर्त्याद्यपेक्षेति,तर्हि भावशुद्ध्यभावे किं स्यादित्याह–'इहराविय'त्ति इतरथा–अन्यथा भावविशुद्धि-
व्यतिरेकेणेत्यर्थः, अपिचेति पुनःशब्दार्थः, बीजमिव बीजं–हेतुर्भवतीति, द्रव्यतोऽपि सदनुष्ठानस्य प्रायो भावानुष्ठानकारणत्वात् ;
एतस्योत्कृष्टदानधर्मस्य,आत्मनिवेदनमिति प्रकृतम् ,इति गाथार्थः॥३०॥ कथमिदं भावविशुद्ध्यभावपूर्वकमात्मनिवेदनमुत्कृष्टदानधर्म-

जं उत्तमचरियमिणं सोउंपि अणुत्तमा ण पारेन्ति । ता एयसगासाओ उक्कोसो होइ एयस्स ॥३१॥
गुरुणोऽवि णाहिगरणं ममत्तरहियस्स एत्थ वत्थुंमि । तब्भावसुद्धिहेऊ आणाइ पयट्टमाणस्स ॥३२॥

वीजं भवतीत्याह-'जं उत्तमे'त्यादि,यद्-यस्मात्कारणात्,उत्तमचरितं-सत्पुरुपचेष्टितम्,इदम्-अनन्तरदर्शितमात्मनिवेदनम्,श्रोतुमपि-आकर्णयितुमपि, आस्तामनुष्ठातुम्,अनुत्तमा-असत्पुरुषाः,न पारयन्ति-न शक्नुवन्ति,तथाविधवीर्यरहितत्वात्तेषाम्,तत्-तस्मात्कारणादेतत्सकाशाद्-एतस्माद्भावविशुद्धिरहितोत्तमपुरुपचरितरूपात्मनिवेदनादवधेः,तुशब्द एवकारार्थः,तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः,प्रकर्प-उत्कर्पो भवत्येव-जायत एव,एतस्य-अनन्तरगाथोक्तदानधर्मस्य,इदमुक्तं भवति-यद्यप्यात्मनिवेदनरूपो दानधर्मो विशुद्धभावाभावे विधीयमानोऽनुत्कृष्टो भवति तथाप्युत्तमचरितरूपत्वात्तस्योत्कृष्टतानिमित्तभूताया भावविशुद्धेर्जनकत्वादुत्कृष्टदानधर्मवीजीभवतीति, अतः साधूक्तं 'इहराविय वीयमेयस्सत्ति' अतो गुरुणाऽप्रतिपन्नत्वेऽपि न निष्फलताऽऽत्मनिवेदनस्येति गाथार्थः ॥३१॥
अथ यदि तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणदोपो गुरोः स्यादित्याशङ्कां परिहरन्नाह-'गुरुणो'इत्यादि,गुरोरपि न केवलं दीक्षितस्यात्मनिवेदननिष्फलत्वलक्षणो दोपोऽभिहितयुक्तेर्न भवति, धर्माचार्यस्यापि, न-नैव, अधिक्रियते दुर्गतावनेनात्मेत्यधिकरणम्, दीक्षितेनात्मनि निवेदिते परिग्रहारंभानुमतिरूपो दोपो भवतीति गम्यते,किंभूतस्येत्याह-ममत्वरहितस्य-निःसङ्गस्य, केत्याह-अत्र-एतस्मिन्ननन्तरोक्ते,वस्तुनि-पदार्थे दीक्षितस्वतदीयारत्यवित्तादिरूपे,पुनः किंभूतस्येत्याह-प्रवर्तमानस्य-व्याप्रियमाणस्य,कया ? -आज्ञया-आप्तोपदेशेन, किमर्थं ?-तद्भावशुद्धिहेतुं-दीक्षितसत्त्वपरिणामविशोधनहेतोः,एवं हि प्रवृत्तो तस्य भावशुद्धिरुपजायत इति, एवं चेहानुमानप्रयोगो यदुत-दीक्षितात्मनिवेदन गुरोरधिकरणं न भवति, ममत्वरहितत्वात्, शरीरादिवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः, न

णाऊण य तब्भावं जह होइ इमस्स भाववुड्ढित्ति । दाणादुवदेसाओ अणेण तह एत्थ जइयव्वं ॥३३॥
णाणाइगुणजुओ खलु णिरभिस्संगो पदत्थरसिगो य । इय जयइ न उण अण्णो गुरूवि एयारिसो चेव ॥३४॥

च ममत्वरहितत्वमसिद्धं, तदुपकारायाज्ञया प्रवृत्तत्वाचारित्रोपकाराय भोजनादाविवेति गाथार्थः ॥३२॥ एवं दीक्षाविधिं परिसमाप्य दीक्षितोपदेशं प्रत्याचार्यस्योपदेशमाह—'णाऊणे'त्यादि, ज्ञात्वा च—विज्ञाय पुनः, तद्भावं—दीक्षितपरिणाममाकारादिभिः, यदाह—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥१॥" यथा—येन प्रकारेण भवति—जायते, 'इमस्स-त्ति' अस्य दीक्षितस्य, धर्मवृद्धिः—दीक्षार्थसमृद्धिः, इतिशब्दः समाप्तौ, तस्य च 'जइयव्वं' इत्यत्र गाथान्ते प्रयोगः, दानादीनां—वितरणप्रभृतीनाम्, आदिशब्दाद्गुरुसेवातपःप्रभृतीनां चोपदेशः—प्रवर्तनमादिर्यस्य कुसंसर्गनिषेधादेः स तथा तत्र दानाद्युपदेशादौ, अनेन दीक्षाचार्येण, तथा—तेन प्रकारेण, अत्र—दीक्षायां दत्तायां सत्याम्, यतितव्यं—यत्नो विधेयः, तत्र दानोपदेशो गुरुसेवोपदेशश्च यथा "न्यायात्तं स्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानम् । दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत्तु॥१॥ एवं गुरुसेवादि च काले सद्योगविघ्नवर्जनया । इत्यादिकृत्यकरणं लोकोत्तरतत्त्वसंप्राप्त्यै॥२॥" इति गाथार्थः ॥३३॥ इदं च मिथ्यात्वप्रतिक्रमणाद्यात्मनिवेदनादि वा दीक्षाविधानं यादृशौ शिष्याचार्यौ कुरुतस्तादृशावथ दर्शयितुमाह—'णाणा'इत्यादि, ज्ञानादिगुणयुतः खलु—सम्यग्ज्ञानश्रद्धानगुरुभक्तिसत्त्वप्रभृतिगुणसंपन्न एवेति, यतत इति सम्बन्धः, खलुरवधारणे, निरभिष्वङ्गो—मिथ्यादृष्टिव्यवहारेषु बाह्यद्रव्ये च निःस्पृहः, पदार्थरसिकः—आगमोक्तदेवतत्त्वगुरुतत्त्वागमतत्त्वजीवादिभावप्रीतियुक्तः, चशब्दः समुच्चये, यो दीक्षितजीवः स इति गम्यते, इति—अनेन प्रकारेणानन्तरोक्तमिथ्यात्वप्रतिक्रमणसम्यक्त्वप्रतिपत्त्यात्मनिवेदनादिलक्षणेन, यतते—यत्नं करोति, न पुनरन्यो—ज्ञानादिगुणयुता-

धण्णाणमेयजोगो धण्णा चेट्ठंति एयणीईए । धण्णा बहु मण्णन्ते धण्णा जे ण प्पदूसन्ति ॥३५॥
दाणमह जहासत्ती सद्धासंवेगकमजुयं णियमा । विहवाणुसारओ तह जणोचयारो य उचिओत्ति ॥३६॥

दपरः, एवंविधयतस्य ज्ञानादिगुणयोगसाध्यत्वात्, तथा गुरुरपि, न केवलं शिष्य एवंविध एव एवं यतते, धर्माचार्योऽप्येतादृश
एव ज्ञानश्रद्धानचारित्रशिक्षानुग्रहबुद्धिसत्त्वाप्रमादादिगुणयुतो निःसङ्गः पदार्थरसिकश्चेत्यर्थः, न पुनरन्यो, ज्ञानादिशून्यस्य प्रागुक्त-
विधावशक्तत्वात्, ससङ्गस्य दीक्षितेनात्मनिवेदने कृतेऽभिष्वङ्गसंभवेन तद्भावशुद्ध्यर्थमाज्ञया प्रवर्तनासंभवात्, पदार्थरसिकताशू-
न्यस्य च देवतत्त्वादिप्रतिपादकत्वाभावादिति, चैवशब्दोऽवधारणार्थः, दर्शितं चावधारणम्, इति गाथार्थः ॥३४॥ यथाविधौ दीक्ष-
कदीक्षितौ यथावद्दीक्षासाधकौ स्यातां तथाविधावुक्तौ, अथ यथावद्दीक्षितानां प्रशंसामाह–'धण्णाणे'त्यादि, धन्यानां–भावधन-
लब्धॄणां तत्साधूनां वा, सत्त्वानामिति गम्यते, एतद्योगो–जिनदीक्षया सह सम्बन्धः,तथा तद्योगेऽपि धन्याः–पुण्यवन्तः, चेष्टन्ते–
प्रवर्तन्ते, एतन्नीत्या–दीक्षावसराभ्युपगतन्यायेन त्रिकालं जिनवन्दनपूजनादिना, तथा धन्याः–पुण्या बहु मन्यन्ते–बहुमानविषयी-
कुर्वन्ति दीक्षितान्,दीक्षां वा स्वयं तां कर्मदोषादप्रतिपन्ना अपीति,तथा धन्याः–पुण्या ये जीवाः न प्रदुष्यन्ति–न प्रद्विष्टा भवन्ति,
दीक्षायामिति गम्यते, क्षुद्रसत्त्वा हि न केवलं तां न प्रतिपद्यन्ते, मोहान्धतया तस्यामेव द्वेषिणो भवन्तीति, वक्ष्यति च–"विहि-
अपओसो जेसिं आसन्ना तेऽवि सुद्धिपत्तत्ति । खुद्दमिगाणं पुण सुद्धदेसणा सिंहनायसमा ॥१॥" इति गाथार्थः॥३५॥ अथ दीक्षि-
तानन्तरं दीक्षितेन यद्विधेयं तदुपदिशन्नाह–'दाणमहे'त्यादि, दानं–प्रासुकैषणीयवस्त्रपात्रान्नपानादीनां सङ्घादिभ्यो वितरणं
यतः सर्वविरतिदीक्षामधिकृत्योक्तम्–"णंतयघयगुलगोरसफासुगपडिलाहणं समणसंघे । असइ गणिवायगाणं तदसइ सव्वस्स ग-

खओवसमजोगओ होइ । अहिगयगुणवुड्ढी खलु कारणओ कज्जभावेण ॥३८॥

ाणभावेण तदणुरागाओ। साहम्मियपीतीए उ हंदि वुड्ढी धुवा होइ ॥३९॥

ुच्चयार्थस्तथाशब्दः,कर्मणः–अधिकृतगुणावरणस्य क्षयोपशमो–दीक्षामतिपत्तिरूपपरिशुद्धभावजन्यो वि
सम्बन्धः स तथा ततः कर्मक्षयोपशमयोगतः, किमित्याह–भवति–जायते,काऽसौ?–अधिकृतगुणवृद्धिः–
खलुर्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, अवधारणार्थत्वे चास्य भवत्येवेत्यवं प्रयोगो द्रष्टव्यः, केन कारणेनैतदेवमि
शात् कार्यभावेन–फलसद्भावात्, तत्र दीक्षारूपविशुद्धभावः कारणकारणं, कर्मक्षयोपशमस्तु कारणं,त
क्षे तु परिशुद्धभावः कर्मक्षयोपशमश्चेति कारणद्वयं, अधिकृतगुणवृद्धिश्च कार्यम्, अतः परिशुद्धभावरूप
वृद्धिः कार्यत्वाल्लिङ्गं भवति, इति गाथार्थः ॥३८॥ अथ साधर्मिकप्रीतिवृद्धिर्यथा सम्यग्दीक्षाया लिङ्ग
म्मे'त्यादि, धर्मे–दीक्षारूपे दीक्षितजनानुष्ठेयश्रुतचारित्ररूपे च, चशब्दः समुच्चयार्थो भिन्नक्रमश्च,बहु
भावेन–प्राधान्याच्च, धर्मप्रधानत्वात् साधर्मिकाणामिति हृदयम्, तदनुरागात्–साधर्मिकस्नेहात्,इह यद्यपि
त्तश्च वर्तते तथापि तच्छब्देन स एव संस्पर्शनीयः, वक्त्रा तथैव विवक्षितत्वात्, वक्त्रधीनत्वाच्छब्दप्र
गस्तत्र तत्रेति,किं स्यादित्याह–साधर्मिकप्रीतेः–समानधर्मजनविषयप्रेमजन्यवात्सल्यस्य,कार्ये कारणोपचा
ावना चैवम्–परिशुद्धभावतोऽधिकृतगुणानां वृद्धिर्भवति, साधर्मिकप्रीतिः पुनर्धर्मबहुमानतः साधर्मिकानु
ानात्–प्रीतिमात्रात् प्रधानभावेन धर्मस्योत्तमत्वबुद्ध्या तदनुरागाच्च–धर्मभक्तेश्चेत्यर्थः,धर्मविषययोः प्रीति

अहिगयगुणसाहम्मियपीईबोहगुरुभत्तिवुड्ढी य। लिंगं अव्वभिचारी पइदियहं सम्मदिक्खाए ॥३७॥

च्छस्व ॥१॥" (अनन्तकं-वस्त्रं) अथेति-दीक्षाग्रहणानन्तरम्, यथाशक्ति-शक्तेरनतिक्रमेण चित्तवित्तानुरूपमित्यर्थः, दातव्यमिति
शेषः, किंभूतं तदित्याह-श्रद्धा-स्वकीयोऽभिलाषः परानुवृत्तिरित्यर्थः संवेगो-मोक्षाभिलाषः क्रमो-देयद्रव्यपरिपाटिर्लोकरूढा
यथाज्येष्ठता वा एभिर्युतं-संयुक्तं यत्तथा,नियमाद्-अवश्यंभावेन,तथा विभवानुसारतो-विभवापेक्षया,तथाशब्दो विध्यन्तरमतिपा-
दनपरवाक्योपक्षेपार्थ उत्तरार्धस्यादौ द्रष्टव्यः, अथवा तथेति-तेन प्रकारेण लोकरूढेन, जनोपचारः-स्वजनादिलोकपूजा, चशब्दः
समुच्चये, उचितः-स्वपरयोग्यतानुरूपो, विधेय इति गम्यम्, इतिशब्दः समाप्तौ, तेनैतावदेव दीक्षानन्तरकृत्यमित्यर्थः स्यादिति
गाथार्थः॥३६॥एतावत्प्रयत्नकृताऽपि दीक्षा सम्यगन्यथा च स्यात्,तत्रेयं सम्यग्दीक्षेति कथमवसेयं?,उच्यते,लिङ्गतः,अतस्तान्येवाह—
'अहिगये'त्यादि,अधिकृता-दीक्षाप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृताः प्रस्तुता वा अधिगता वा-प्राप्तास्ते च ते गुणाश्च सम्यक्त्वतत्सहभवप्रशमसंवे-
गनिर्वेदास्तिक्यानुकम्पाशुश्रूषाधर्मरागदेवादिवैयावृत्त्यकरणादयोऽधिकृतगुणाः ते च साधर्मिकप्रीतिश्च-समानधार्मिकानुरागः बोधश्च-
तत्त्वावगमो गुरुभक्तिश्च-धर्माचार्यानुराग इति द्वन्द्वः, अतस्तासां वृद्धिः-दीक्षावसरादारभ्य वर्धनमिति समासः,चशब्दः पुनरर्थः,
तद्भावना चैवम्-सम्यग्दीक्षायां दानादिकं तावदनन्तरकृत्यमधिकृतगुणसाधर्मिकप्रीतिबोधगुरुभक्तिवृद्धिः पुनर्लिङ्गं-गमकं चिह्नम-
व्यभिचार्येकान्तिकम्, प्रतिदिवसम्-अहर्निशम्,एतच्चाधिकृतगुणादिवृद्धेर्विशेषणम्,कस्या लिङ्गमियमित्याह-सम्यग्दीक्षाया-अभि-
ध्यादीक्षणस्य, एतद्विपर्ययस्तु सामर्थ्यादसम्यग्दीक्षायाः, इति द्वारगाथार्थः ॥३७॥ अथ सम्यग्दीक्षाया यथाऽधिकृतगुणवृद्धिर्लिङ्गं
भवति तथा दर्शयन्नाह-'परिसुद्धे'त्यादि, परिशुद्धभावतः-अतिशुद्धाध्यवसायात्, तथेति-तथाप्रकाराद्दीक्षाप्रतिपत्तिरूपादित्यर्थः,

परिसुद्धभावओ तह कम्मखओवसमजोगओ होइ । अहिगयगुणवुड्ढी खलु कारणओ कज्जभावेण ॥३८॥
धम्मम्मि य बहुमाणा पहाणभावेण तदणुरागाओ । साहम्मियपीतीए उ हंदि वुड्ढी धुवा होइ ॥३९॥

वक्ष्यमाणकारणापेक्षया वा समुच्चयार्थस्तथाशब्दः,कर्मणः-अधिकृतगुणावरणस्य क्षयोपशमो-दीक्षामतिपत्तिरूपपरिशुद्धभावजन्यो विगमविशेषस्तेन यो योगः-सम्बन्धः स तथा ततः कर्मक्षयोपशमयोगतः, किमित्याह-भवति-जायते,काऽसौ ?-अधिकृतगुणवृद्धिः-सम्यक्त्वादिगुणवर्धनम्, खलुर्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, अवधारणार्थत्वे चास्य भवत्येवेत्यवं प्रयोगो दृश्यः, केन कारणेनैतदेवमित्याह-कारणतो-हेतोः सकाशात् कार्यभावेन-फलसद्भावात्, तत्र दीक्षारूपविशुद्धभावः कारणकारणं, कर्मक्षयोपशमस्तु कारणं,तथाशब्दद्वितीयव्याख्यानपक्षे तु परिशुद्धभावः कर्मक्षयोपशमश्चेति कारणद्वयं, अधिकृतगुणवृद्धिश्च कार्यम्, अतः परिशुद्धभावरूपसम्यग्दीक्षायामधिकृतगुणवृद्धिः कार्यत्वाल्लिङ्गं भवति, इति गाथार्थः ॥३८॥ अथ साधर्मिकप्रीतिवृद्धिर्यथा सम्यग्दीक्षाया लिङ्गं भवति तथा दर्शयन्नाह-'धम्मे'त्यादि, धर्मे-दीक्षारूपे दीक्षितजनानुष्ठेयश्रुतचारित्ररूपे च, चशब्दः समुच्चयार्थो भिन्नक्रमश्च,बहुमानात्-पक्षपातात्,प्रधानभावेन-प्राधान्याच्च, धर्मप्रधानत्वात् साधर्मिकाणामिति हृदयम्, तदनुरागात्-साधर्मिकस्नेहात्,इह यद्यपि साधर्मिकशब्दः परपदे समस्तश्च वर्तते तथापि तच्छब्देन स एव संस्पर्शनीयः, वक्त्रा तथैव विवक्षितत्वात्, वक्त्रधीनत्वाच्छब्दप्रवृत्तेः,दृश्यते चैवंविधः प्रयोगस्तत्र तत्रेति,किं स्यादित्याह-साधर्मिकप्रीतेः-समानधर्मजनविषयप्रेमजन्यवात्सल्यस्य,कार्ये कारणोपचारात्, तुशब्दः पुनरर्थः, तद्भावना चैवम्-परिशुद्धभावतोऽधिकृतगुणानां वृद्धिर्भवति, साधर्मिकप्रीतिः पुनर्धर्मबहुमानतः साधर्मिकानुरागादिति,अथवा धर्मे बहुमानात्-प्रीतिमात्रात् प्रधानभावेन धर्मस्योत्तमत्वबुद्ध्या तदनुरागाच्च-धर्मभक्तेश्चेत्यर्थः,धर्मविषययोः प्रीति-

विहियाणुट्ठाणाओ पाएणं सव्वकम्मखओवसमा। णाणावरणावगमा णियमेणं बोहवुड्ढित्ति ॥४०॥

कल्लाणसंपयाए इमीइ हेऊ जओ गुरू परमो । इय बोहभावओ चिय जायइ गुरुभत्तिवुड्ढीवि ॥४१॥

कल्लाणसंपयाए इमीइ हेऊ जओ गुरू परमो । इय बोहभावओ चिय जायइ गुरुभत्तिवुड्ढीवि ॥४१॥ गौरव-
भक्त्योश्चायं विशेपो यथा-"यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः। शेपत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥१॥ गौरव-
विशेपयोगाद्बु(च्छु)द्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम्। क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम्॥२॥अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जन-
नीति। तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥३॥"इति,माधर्मिकानुरागस्य, हंदोत्युपदर्शने, वृद्धिः-वर्धनम्, ध्रुवा-निश्चिता,
भवति-जायते,इति गाथार्थः॥३९॥ अथ बोधवृद्धेर्लिङ्गतादर्शनायाह-'विहिये'त्यादि, विहितानुष्ठानाद्-दीक्षादीक्षितसमाचाररूपसद्नु-
त्तात्, प्रायेण-बाहुल्येन,कस्यापि जीवस्य भावविशेपादेव क्षयोपशमो भवतीति प्रायेणेत्युक्तम्,सर्वकर्मक्षयोपशमो-निखिलज्ञानावरणा-
दिघातिकर्मणां विगमविशेपो भवतीति गम्यम्,घातिकर्मणामिति व्याख्यानं-"मोहस्सेवोवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं।उदयक्ख-
यपरिणामा अट्ठण्हवि होंति कम्माणं॥१॥" इतिवचनात्,ततश्च ज्ञानावरणापगमात्-घातिकर्मान्तर्गतस्य ज्ञानावरणीयकर्मणः क्षयोपश-
मादेः सकाशान्नियमेन-नियोगेन,बोधवृद्धिः-ज्ञानवर्धनं भवति,इतिशब्दो बोधवृद्धिवक्तव्यतासमाप्तिसंसूचनार्थः,इति गाथार्थः॥४०॥
अथ गुरुभक्तिवृद्धेर्लिङ्गतादर्शनायाह-'कल्लाणे'त्यादि,कल्याणानाम्-ऐहिकामुष्मिकश्रेयसां संपत्-संपत्तिः कल्याणसंपत्,तदवन्ध्य
हेतुत्वाद्दीक्षा दीक्षितसमाचारश्च कल्याणसंपदुच्यतेऽतस्तस्याः, 'इमीए'त्ति अस्या अनन्तरोक्तायाः, हेतुः-कारणम्, यतो-यस्मात्,
परमः-प्रधानो वर्तते, ततः कारणान्महाभक्तिविपयोऽयमिति शेपः, इति-अनेन प्रकारेण कल्याणहेतुत्वेन भक्तिविपया गुरुरित्येवं-
लक्षणेन यो बोधो-ज्ञानं तस्य यो भावः-सत्ता स तथा तस्मादिति, बोधभावादेव,नान्यथा,चियशब्दोऽवधारणार्थः,जायते-भवति

इय कल्लाणी एसो कमेण दिक्खागुणे महासत्तो। सम्मं समायरन्तो पावइ तह परमदिक्खंपि ॥४२॥
गरहियमिच्छायारो भावेणं जीवमुत्तिमणुहविउं। णीसेसकम्ममुक्को उवेइ तह परममुत्तिंपि ॥४३॥

गुरुभक्तिवृद्धिरपि-धर्माचार्यबहुमानवर्धनमपि,न केवलं स्वहेतोर्बोधवृद्धिरिति गाथार्थः ॥४१॥ अथानन्तरोक्तदीक्षागुणानामनन्तर-
फलं दर्शयन्नाह-'इये'त्यादि,इति उक्तन्यायेन सम्यग्दीक्षाधिकृतगुणवृद्ध्यादितल्लिङ्गप्राप्तिलक्षणेन,कल्याणी-कल्याणवान्,लोकद्वय-
भाविकल्याणहेतुभूतदीक्षावाप्तेः, भवतीति गम्यते, एषोऽनन्तरोक्तरूपो दीक्षितजीवः, तथा क्रमेण-परिपाट्या शुद्धशुद्धतरशुद्धतम-
येत्यर्थः, दीक्षागुणान्-जिनदीक्षाधर्मान् जिनसाध्वागमभक्तिप्रभावादीन्, समाचरन्निति योगः, महासत्त्वो-महानुभावः, सम्यग्-
भावसारं,समाचरन्-आसेवमानः,प्राप्नोति-लभते,तथेति फलान्तरसमुच्चयार्थः,परमदीक्षामपि-सर्वविरतिदीक्षामपि,न केवलं कल्या-
ण्येव भवति इत्यपिशब्दार्थः, अथवा कल्याणी सन्नेव प्राप्नोति तथा परमदीक्षामपि यथेतरदीक्षां प्राप्त इति हृदयम्, शेषं तथैव,
इति गाथार्थः॥४२॥ अथ जिनदीक्षाया एव परम्पराफलोपदर्शनायाह-'गरहिये'त्यादि, गर्हिता-निन्दिता मिथ्याचारा-मोक्षमार्ग-
विपरीतसमाचारा मिथ्यात्वाविरतिकषायदुष्टयोगलक्षणा अतीतकालासेविता येन स तथा परमदीक्षावाप्त्या, उपलक्षणत्वाच्चास्य
वर्तमानानां मिथ्याचाराणां संवरणं अनागतानां च प्रत्याख्यानमिह द्रष्टव्यम्, अन्ये तु मिथ्याचारलक्षणं वदन्ति-"कर्मेन्द्रि-
याणि संयम्य,य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा,मिथ्याचारः स उच्यते ॥१॥" इति, कथं गर्हितमिथ्याचारइत्याह-
भावेन-परमार्थतो,न द्रव्यत एव,उपैति परममुक्तिमपीति योगः,अथवा भावत इत्येतत् पदमनुभूयेत्यनेन सम्बन्धनीयम्,जीवतः-
प्राणान् धारयतो मुक्तिः-मोक्षो निःसङ्गताप्रकर्षेण जीवन्मुक्तिस्ताम्, अनुभूय-संवेद्य, अनुभवन्ति च जीवन्त एव परमदीक्षावन्तो

दिक्खाविहाणमेयं भाविज्जंतं तु तन्तणीतीए । सइअपुणबंधगाणं कुग्गहविरहं लहुं कुणइ ॥४४॥

॥ दिक्खाविहाणं सम्मत्तं ॥

मुक्तिम्, यदाह–"निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥१॥" निःशेष-
कर्ममुक्तः–क्षीणसकलकर्मा,उपैति–उपगच्छति,तथा–तेन प्रकारेण जिनदीक्षाजनितगुणप्रकर्षपर्यन्तवृत्तिलक्षणेन,परममुक्तिमपि-सकल
कर्मांशप्रहाणमपि, न केवलं परमदीक्षामपि प्राप्नोतीत्यपिशब्दार्थः, इति गाथार्थः ॥४३॥ अथ प्रकरणोपसंहारायाह—'दिक्खा-
विहे'त्यादि,दीक्षाविधानं–जिनदीक्षाविधिः,एतदनन्तरोक्तम्'भाविज्जंतं तुत्ति' भाव्यमानमपि–पर्यालोच्यमानमपि,आस्तामासेव्यमा-
नम्,सकृदपुनर्बन्धकाभ्यामिति गम्यम्,अथवा भाव्यमानमेव,नाभाव्यमानमपि,तुशब्दोऽपिशब्दार्थः एवकारार्थो वा,तन्त्रनीत्या–आग-
मन्यायेन,कयोरित्याह–सकृद्–एकदा न पुनरपि बन्धो–मोहनीयकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धनं ययोस्तौ सकृदपुनर्बन्धकौ तयोः सकृद्बन्ध
कस्यापुनर्बन्धकस्य चेत्यर्थः,तत्र यो यथाप्रवृत्तकरणेन ग्रन्थिप्रदेशमागतोऽभिन्नग्रन्थिः सकृदेवोत्कृष्टां सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिलक्ष-
णां स्थितिं भन्त्स्यत्यसौ सकृद्बन्धक उच्यते,यस्तु तां तथैव क्षपयन् ग्रन्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भन्त्स्यति भेत्स्यति च ग्रन्थिं सोऽपु-
नर्बन्धक उच्यते,एतयोश्चाभिन्नग्रन्थित्वेन कुग्रहः संभवति,न पुनरविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां,मार्गाभिमुखमार्गपतितयोस्तु कुग्रहसंभवेऽपि
तत्त्याग एव तद्भावनामात्रसाध्य इत्यत उक्तं सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकयोरिति, एतयोश्च भावसम्यक्त्वाभावाद्दीक्षायां द्रव्यसम्यक्त्व-
मेवारोप्यत इति,कुग्रहविरहम्–असदभिनिवेशविशेषवियोगं लघु–शीघ्रं करोति–विधत्ते । इह विरहशब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरण-
स्यास्यावेदितं, विरहाङ्कत्वात्तस्येत्येवं सर्वत्र । इति गाथार्थः ॥४४॥ ॥ दीक्षाप्रकरणं द्वितीयं वृत्तितः समाप्तमिति ॥२॥

अथ तृतीयपञ्चाशकवृत्तिः ॥ ३ ॥

प्राक्तनप्रकरणे जिनदीक्षाविधिरुक्तः, प्रतिपन्नदीक्षेण च जिनचैत्यवन्दनमनुष्ठेयम्, अतस्तद्विधिं निरूपयन् मङ्गलादिप्रतिपादनायाह–

नमिऊण वद्धमाणं सम्मं वोच्छामि वंदणविहाणं । उक्कोसाइतिभेयं मुद्दाविण्णासपरिसुद्धं ॥१॥

णवकारेण जहण्णा दंडगथुइजुयल मज्झिमा णेया । संपुण्णा उक्कोसा विहिणा खलु वंदणा तिविहा ॥२॥

'नमिऊणे'त्यादि, नत्वा वर्धमानं सम्यग्–भावतः, अथवा सम्यगिति वक्ष्यामीत्यस्याः क्रियाया विशेषणम्, वक्ष्यामि–भणिष्यामि, वन्दने–जिनचैत्यवन्दने विधानं–विधिं वन्दनविधानम्, किंभूतं तदित्याह–उत्कर्षः–उत्कृष्टता आदिर्येषां ते तथा, आदिशब्दान्मध्यमजघन्यतापरिग्रहः, ते उत्कर्षादयस्त्रयो भेदा–विशेषा यस्य तदुत्कर्षादित्रिभेदम्, इह च वक्ष्यमाणन्यायेन वन्दनस्य त्रिविधत्वेऽपि यदुक्तं वन्दनविधानमुत्कर्षादित्रिभेदं तद्वन्दनस्य तद्विधेश्चाभेदविवक्षयेति, तथा मुद्राणाम्–अङ्गविन्यासविशेषलक्षणानां विन्यासो–विधानं तेन यत् परिशुद्धं–निर्दूषणं तत्तथेति गाथार्थः ॥१॥ उत्कर्षादित्रिभेदमित्युक्तं, अथ तानेव भेदान् दर्शयन्नाह–'णवकारे'त्यादि, नमस्कारेण–"सिद्धमरूवमणिंदियमकियमणगजमच्चुयं वीरं । पणमामि सयलतिहुयणमत्थयचूडामणिं सिरसा॥१॥" इत्यादिपाठपूर्वकनमस्क्रियालक्षणेन कारणभूतेन क्रियमाणा जघन्या–स्वल्पा पाठक्रिययोरल्पत्वाद्वन्दना भवतीति गम्यम्, उत्कर्षादित्रिभेदमित्युक्त्वाऽपि जघन्यायाः प्रथममभिधानं तदादिशब्दस्य प्रकारार्थत्वान्न दुष्टम्, तथा दण्डकश्च 'अरहंतचेइयाणं' इत्यादि स्तुतिश्च प्रतीता

अहवावि भावभेया ओघेण अपुणबंधगाईणं । सव्वावि तिहा णेया सेसाणमिमी ण जं समए ॥३॥
पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण बहु मण्णई भवं घोरं । उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थवि अपुणबंधोत्ति ॥४॥

'अहे'त्यादि,अथवाऽपीति निपातः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतनार्थः,भावभेदात्–परिणामविशेषाद्गुणस्थानकविशेषसंभवा-त्प्रमोदमात्ररूपाद्वा वन्दनाधिकारिजीवगतात्रिधा विज्ञेयेति सम्बन्धः,ओघेन–सामान्येन विवक्षितपाठक्रियाल्पत्वादितयेत्यर्थः,केषामि-त्याह–अपुनर्बन्धकादीनाम्–अपुनर्बन्धकप्रभृतिकानां वन्दनाधिकारिणां,तत्रापुनर्बन्धको व्याख्यातपूर्वः,आदिशब्दादविरतसम्यग्दृ-ष्टिदेशसर्वविरतग्रहः,सर्वाऽपि–नमस्कारादिभेदेन जघन्यादिप्रकारा अपि,आस्तामेका काचिदिति,तत्रापुनर्बन्धकस्य जघन्या,तत्परिणा-मस्य विशुद्ध्यपेक्षया जघन्यत्वात्, अविरतसम्यग्दृष्टेर्मध्यमा, तत्परिणामस्य विशुद्धिमङ्गीकृत्य मध्यमत्वात्, सामान्यविरतस्य तूत्कृ-ष्टा, तत्परिणामस्य तथाविधत्वादेवेति, अथवाऽपुनर्बन्धकस्यापि त्रिधा प्रमोदरूपभावत्रैविध्यादेवमितरयोरपीति, अथापुनर्बन्धका-दीनामिति कस्मादुक्तं? मार्गाभिमुखादेरपि भावभेदसद्भावादित्यत्राह–शेषाणाम्–अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तानां सकृद्बन्धकमार्गाभि-मुखमार्गपतिततदितरमिथ्यादृशाम्,'इमीति' इयमधिकृता भावभेदेन भेदवती वन्दना,पाठादिभेदवती तु स्यादपि,न–नैव,यद्–यस्मा-त्,समये–सिद्धान्ते, भणितेति शेषः,तेषां तद्योग्यताविकलत्वादिति गाथार्थः ॥३॥'अपुनर्बन्धकादीनामियं भवती'त्युक्तमतस्तांल्लक्षण-तो निरूपयन्नपुनर्बन्धकं तावदाह–'पावं'त्यादि,पापम्–अशुद्धं कर्म,तत्कारणत्वाद्धिंसाद्यपि पापं तत्,न–नैव, तीव्रभावाद्–गाढसंक्लि-ष्टपरिणामात्,करोति–विधत्ते,अत्यन्तोत्कटमिथ्यात्वादिक्षयोपशमेन लब्धात्मनैर्मल्यविशेषत्वात्,तीव्रेतिविशेषणादापन्नमतीव्रभावा-त्करोत्यपि तथाविधकर्मदोषात्, तथा न बहु मन्यते–न बहुमानविषयीकरोति,भवं–संसारम्,घोरं–रौद्रं, तस्य घोरत्वावगमात्,तथा

प्रथमैकवचनस्य तृतीयैकवचनस्य वा लोपो द्रष्टव्यः,
तयोर्युगलं-युग्ममेते एव वा युगलं दण्डकस्तुतियुगलम्, इह च प्राकृतत्वेन प्रथमैकवचनस्य तृतीयैकवचनस्य वा लोपो द्रष्टव्यः,
मध्यमा-प्रजघन्योत्कृष्टा पाठक्रिययोस्तथाविधत्वात्, एतच्च व्याख्यानमिमां कल्पगाथामुपजीव्य कुर्वन्ति, तद्यथा-निस्समनि-
स्सकडे नावि चेइए सव्वहिं थुई तिण्णि। वेलं व चेइयाणि व नाउं एक्किक्किया वावि ॥१॥" यतो दण्डकावसाने एका स्तुतिर्दीयत
इति दण्डकस्तुतिरूपं युगलं भवति, अन्ये त्वाहुः-दण्डकैः-शक्रस्तवादिभिः पञ्चभिः स्तुतियुगलेन च-समयभाषया स्तुतिचतुष्टयेन
च रूढेन मध्यमा ज्ञेया-बोद्धव्या, तथा संपूर्णा-परिपूर्णा, सा च प्रसिद्धदण्डकैः पञ्चभिः स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति,
चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीनेति, किमित्याह-उत्कृष्यत इत्युत्कर्षा-उत्कृष्टा, इदं च व्याख्यानमेके-"तिण्णि वा कड्ढई जाव, थुईओ
तिसिलोगिया। ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेणवि ॥१॥" इत्येतां कल्पभाष्यगाथाम् 'पणिहाणं मुत्तसुत्तीए' इति च वचनमा-
श्रित्य कुर्वन्ति, अपरे त्वाहुः-पञ्चशक्रस्तवपाठोपेता संपूर्णेति, विधिना-पञ्चविधाभिगमप्रदक्षिणात्रयपूजादिलक्षणेन विधानेन, खलु-
र्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः, वन्दना-चैत्यवन्दना, त्रिविधा-त्रिभिः प्रकारैरेव भवतीति, इह केचिदाहुः-
प्रदक्षिणात्रयं भावार्हत एव वाचनाग्रन्थेषु दृश्यते, न चैत्यानाम्, अतस्तेषां न विधेयमिति, अत्रोच्यते, यद्यपि तत्तेषां न दृश्यते तथापि
चीनाभिगमवृत्तौ विजयदेववक्तव्यतायां हरिभद्राचार्येण दर्शितं अतस्तत्प्रणीतेऽत्र प्रकरणे तत्प्रकाशितमस्माभिः, किंच-शक्रस्तव
पाठः पञ्चविधाभिगमश्च भावार्हत्प्रतिपत्तिः, सा च यथा चैत्येषु भावार्हत्त्वमारोप्य विधीयते तथा प्रदक्षिणात्रयमपि विधेयम्, अन्यथा
चैत्याश्रयेण पञ्चविधाभिगमस्याप्यनभिहितत्वेन न विधेयता स्यात्, विधीयते चासाविति। तदा (था) दीक्षादानावसरे चतुर्मासका-
दिपर्वदिनेषु च चैत्यानां तद्विदधानाः कथमन्यत्र तन्निषेद्धुमर्हन्तीति गाथार्थः ॥२॥ अथ प्रकारान्तरेण वन्दनायास्त्रैविध्यमाह-

अहयावि भावभेया ओघेण अपुणबंधगाईणं । सव्वावि तिहा णेया सेसाणमिमी ण जं समए ॥३॥
पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण बहु मण्णई भवं घोरं । उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थवि अपुणबंधोत्ति ॥४॥

'अहे'त्यादि, अथवाऽपीति निपातः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतनार्थः, भावभेदात्—परिणामविशेषाद्गुणस्थानकविशेषसंभवात्प्रमोदमानरूपाद्वा वन्दनाधिकारिजीवगता त्रिधा विधेयेति सम्बन्धः, ओघेन—सामान्येन विवक्षितपाठक्रियाल्पत्वादितयेत्यर्थः, केषामित्याह—अपुनर्बन्धकादीनाम्—अपुनर्बन्धकप्रभृतिकानां वन्दनाधिकारिणां, तत्रापुनर्बन्धको व्याख्यातपूर्वः, आदिशब्दादविरतसम्यग्दृष्टिदेशसर्वविरतग्रहः, सर्वाऽपि—नमस्कारादिभेदेन जघन्यादिप्रकारा अपि, आस्तामेका काचिदिति, तत्रापुनर्बन्धकस्य जघन्या, तत्परिणामस्य विशुद्ध्यपेक्षया जघन्यत्वात्, अविरतसम्यग्दृष्टेर्मध्यमा, तत्परिणामस्य विशुद्धिमङ्गीकृत्य मध्यमत्वात्, सामान्यविरतस्य तू-त्कृष्टा, तत्परिणामस्य तथाविधत्वादेवेति, अथवाऽपुनर्बन्धकस्यापि त्रिधा प्रमोदरूपभावत्रैविध्यादेवमितरयोरपीति, अथापुनर्बन्धकादीनामिति कस्मादुक्तं ? मार्गाभिमुखादेरपि भावभेदसद्भावादित्याह—शेषाणाम्—अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तानां सकृद्बन्धकमार्गाभिमुखमार्गपतिततदितरमिथ्यादृशाम्, 'इमीति' इयमधिकृता भावभेदेन भेदवती वन्दना, पाठादिभेदवती तु स्यादपि, न—नैव, यद्—यस्मात्, समये—सिद्धान्ते, भणितेति शेषः, तेषां तद्योग्यताविकलत्वादिति गाथार्थः ॥३॥ 'अपुनर्बन्धकादीनामियं भवती'त्युक्तमतस्तांल्लक्षणतो निरूपयन्नपुनर्बन्धकं तावदाह—'पावे'त्यादि, पापम्—अशुद्धं कर्म, तत्कारणत्वाद्धिंसाद्यपि पापं तत्, न—नैव, तीव्रभावाद्—गाढसंक्लिष्टपरिणामात्, करोति—विधत्ते, अत्यन्तोत्कटमिथ्यात्वादिक्षयोपशमेन लब्धात्मनैर्मल्यविशेषत्वात्, तीव्रेतिविशेषणादापन्नमतीव्रभावात्करोत्यपि तथाविधकर्मदोषात्, तथा न बहु मन्यते—न बहुमानविषयीकरोति, भवं—संसारम्, घोरं—रौद्रं, तस्य घोरत्वावगमात्, तथा

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए। वेयावच्चे णियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥५॥
मग्गणुमारी सड्ढो पण्णवणिज्जो कियापरो चेव। गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥६॥

उचितस्थितिम्–अनुरूपप्रतिपत्तिम्, चशब्दः समुच्चये, सेवते–भजते कर्मलाघवान्, सर्वत्रापि, आस्तामेकत्र देशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृतिषु मार्गानुसारिताभिमुखत्वेन, मयूरशिशुदृष्टान्तात्, अपुनर्बन्धकः–उक्तनिर्वचनो जीवः, इत्येवंविधक्रियालिङ्गो भवति, इति गाथार्थः॥४॥ सम्यग्दृष्टिलिङ्गान्याह–'सुस्सूसे'त्यादि, श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा धर्मशास्त्रविषया गेयरागिनरकिन्नरगेयशुश्रूषाधिका जिज्ञासोत्तरकालभाविनी, इह च ह्रस्वता प्राकृतत्वात्, तथा धर्मरागः–कुशलानुष्ठानानुरागः, सामग्रीवैकल्यात्तदकरणेऽपि चेतसोऽनुबन्धः कान्तारातीतदरिद्रब्राह्मणहविःपूर्णभोजनाभिलाषातिरिक्तः, तथा गुरुदेवानां–धर्माचार्यपरमाराध्यानाम्, यथासमाधि–स्वसमाधानानतिक्रमेण, न पुनरसद्ग्रहणेन, वैयावृत्त्ये–व्यापृ(पृ)तभावे तत्कर्मणि वा, नियमो–नियोगोऽवश्यं मयैतद्गुरुकार्यं देवकार्यं(वा) कर्तव्यमित्यभिनिवेशलक्षणो, गुणज्ञश्रद्धालुमनुष्यचिन्तामणिवैयावृत्त्यनियमाधिकः, इह चशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः, किमित्याह–सम्यग्दृष्टेः–अविरतसम्यग्दर्शनिनो जीवस्य लिङ्गानि–लक्षणानि भवन्ति, ग्रन्थिभेदेन तत्त्वे तीव्रभावात्, इति गाथार्थः॥५॥ चारित्रिणः स्वरूपत आह–'मग्गणुसारी'त्यादि, मार्गं–तत्त्वपथमनुसरति–अनुयातीत्येवंशीलो मार्गानुसारी–निसर्गतस्तत्त्वानुकूलप्रवृत्तिश्चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमात्, एतच्च तत्त्वावाप्तिं प्रत्यवन्ध्यकारणं, कान्तारगतविवक्षितपुरप्राप्तिसद्योग्यतायुक्ताच(क्षपांथ)स्येव, तथा श्राद्धः–तत्त्वं प्रति श्रद्धावान् तत्प्रत्यनीकक्लेशह्रासातिशयादवाप्तव्यमहानिधानतद्ग्रहणविधानोपदेशश्रद्धालुनरवत्, विहितानुष्ठानरुचिर्वा तथा अत एव कारणद्वयात् प्रज्ञापनीयः–कथञ्चिदनाभोगादन्यथाप्रवृत्तौ तथाविधगीतार्थेन सम्बोधयितुं शक्यस्तथाविधकर्मक्षयोपश-

एते अहिगारिणो इह ण उ सेसा दव्वओवि जं एसा । इयरीए जोग्गयाए सेसाण उ अप्पहाणत्ति ॥७॥

मादविद्यमानासदभिनिवेशः श्रामण्यमहानिधितद्ग्रहणान्यथाप्रवृत्तसुकरसम्योग्यनरवत्, तथा अत एव कारणात्क्रियापरः—चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमान्मुक्तिसाधनानुष्ठानकरणपरायणः तथाविधनिधानग्राहकवत्, चशब्दः समुच्चये, एवशब्दोऽवधारणे, एवं चानयोः प्रयोगः—क्रियापर एव, नाक्रियापरोऽपि, सत्क्रियारूपत्वाच्चारित्रस्य, तथा गुणरागी—विशुद्धाध्यवसायतया स्वगतेषु परगतेषु वा गुणेषु—ज्ञानादिषु रागः—प्रमोदो यस्यास्त्यसौ गुणरागी, निर्मत्सर इत्यर्थः, तथा शक्यारम्भसंगतः—कर्तुं शकनीयानुष्ठानयुक्तो, न शक्ये प्रमाद्यति न चाशक्यमारभत इति भावः, तथाचेति समुच्चयार्थः, ततश्च मार्गानुसारितादिगुणयुक्तः शक्यारम्भसंगतश्चेति स्यात्, चारित्री—सर्वतो देशतो वा चारित्रयुक्तो, भवतीति गम्यम्, इति गाथार्थः॥६॥ अपुनर्बन्धकादीनां स्वरूपमभिहितम्, अथ तेषामेव भाववन्दनायामधिकारितां शेषाणां चानधिकारितां दर्शयन्निदमाह—'एते'इत्यादि, एतेऽनन्तरोक्तस्वरूपा अपुनर्बन्धकादयः, अधिकारिणः—तद्योग्यत्वेनाधिकारवन्तः, इह भाववन्दनायाम्, न तु शेषा—न पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽपरे मार्गाभिमुखमार्गपतितसकृद्बन्धकतदन्यमिथ्यादृशोऽधिकारिण इति प्रकृतम्, कुत एतदेवमित्याह—द्रव्यतोऽपि—भावव्यतिरेकेणापि, आस्तां भावतः, यद्—यस्मात्कारणात्, एषा वन्दना, द्रव्यवन्दनाऽपीत्यर्थः, इतरस्या—भावतो वन्दनायाः, योग्यतायाम्—अर्हतायां सत्यां भवति, नान्यथा, अतः कथं भाववन्दनाधिकारिणो भवन्तीति, ननु भाववन्दनाया अयोग्यानामपि केषांचिद्द्रव्यवन्दनेष्यतेऽतः कथमुक्तं भाववन्दनानर्हाणां द्रव्यवन्दनाऽपि न भवतीत्यत्राह—शेषाणां तु—शेषाणां पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽन्येषां सकृद्बन्धकादीनाम्, अप्रधाना—अनुत्तमा द्रव्यवन्दना भवति, न तु प्रधाना, भाववन्दनाया अकारणत्वात्तस्याः, इदमुक्तं भवति—द्रव्यशब्दो योग्यतायामप्राधान्ये च वर्तते, तत्र

ण य अपुणबंधगाओ परेण इह जोग्गयावि जुत्तत्ति । ण य ण परेणवि एसा जमभव्वाणंपि णिद्दिट्ठा ॥८॥
लिंगा ण तिए भावो ण तयत्थालोयणं ण गुणरागो । णो विम्हओ ण भवभयमिय वच्चासो य दोण्हंपि ॥९॥

शेषाणां भाववन्दनाऽयोग्यत्वेन या प्रधाना द्रव्यवन्दना सा न भवति, तद्योग्यतया त्वप्रधानद्रव्यवन्दना स्यादपि, इतिशब्दो
वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ अथ यदुक्तं 'शेषाणामप्रधाने'ति तत्समर्थनार्थमाह—'ण य'त्यादि, न च—नैव अपुन·
र्बन्धकादुक्तस्वरूपात्, परेण—परतः सकृद्बन्धकादीनामित्यर्थः, इह—भाववन्दनायाम्, योग्यताऽपि—अर्हताऽपि, आस्तां भाववन्दना,
युक्ता, संसारभूयस्त्वात्तेषाम्, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, तथा न च—नैव, न परेणापि—न परतोऽपि सकृद्बन्धकादेरपि, शेषा—द्र·
व्यवन्दना भवति, भवत्येवेत्यर्थः, कुत एतदेवमित्याह—यद्—यस्मात्कारणादभव्यानामपि—सिद्धिगमनायोग्यानामपि, आस्तां सकृद्बन्ध·
कादीनाम्, निर्दिष्टा—निदर्शिता आगमे, आर्हतदीक्षासाध्यस्य ग्रैवेयकोपपातस्यानन्तशोऽभव्यानामुक्तत्वात्, अतः शेषाणां भाववन्दना-
नर्हत्वेन द्रव्यवन्दनाया अभावात् तस्याश्च तेषामुक्तत्वादप्रधाना सेति स्थितम् । इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ अथ द्रव्यवन्दनाभाववन्द-
नयोर्लिङ्गानि दर्शयन्नाह—'लिंगा णे'त्यादि, 'लिंग'त्ति प्राकृते 'लिङ्गमतन्त्र'मिति वचनात् लिङ्गानि—चिह्नानि, द्वयोरपीमानि भवन्ती-
त्येवं सम्बन्धः कार्यः, तत्र द्रव्यवन्दनायास्तावत्तान्याह—न—नैव, तस्यां—चैत्यवन्दनायाम्, भाव—उपयोगः, तथा न—नैव, तदर्थालो-
चनं—चैत्यवन्दनासूत्राभिधेयपर्यालोचनम्, तथा न—नैव, गुणरागो—वन्दनीयार्हदादिगतार्हत्त्वभगवत्त्वादिगुणबहुमानः, तथा नो—नैव,
विस्मयो—मयाऽप्राप्तपूर्वेयं जिनपतिपादपद्मवन्दनाऽनादौ संसारे प्राप्तेत्येवंरूपः प्रमोदः, तथा न—नैव, भवभयं—संसारभीतिः सामान्येन,
वन्दनाविधिविराधनायां वा, एतावन्ति द्रव्यवन्दनाया लिङ्गानि, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, अनुपयोगरूपाश्चैते भावाभावा-

वेलाइ विहाणंमि य तग्गयचित्ताइणा य विण्णेओ। तव्वुड्ढिभावऽभावेहिँ तह य दव्वेयरविसेसो ॥१०॥

दयः, एतेषु च भावः सामान्यं शेषास्तद्विशेषा इति,अथ भाववन्दनाया लिङ्गमाह–इत्येतेषां भावाभावादीनां व्यत्यासो–विपर्ययः, तथाहि–वन्दनाया भावस्तदर्थालोचनं गुणरागो विसयो भवभयं चेति, चः समुच्चये,'दोण्हंपित्ति' द्वयोरपि इति–द्रव्यवन्दनाभाववन्दनयोः,न केवलमेकतरस्यामेवेत्यपिशब्दार्थः,अथवा लिङ्गानां भावः–सत्ता तस्या वन्दनायाः सत्कयोर्द्वयोरपि–द्रव्यभावयोरिति व्याख्येयम्। इति गाथार्थः ॥९॥ लिङ्गान्तरैर्द्रव्यभाववन्दनयोरेव भेदज्ञापनायाह–'वेलाई'त्यादि,वेलया–नियतकालरूपया सन्ध्यादिकया,अनाराध्यमानया आराध्यमानया च क्रमेण द्रव्येतरविशेषो ज्ञेय इति सम्बन्धः,एवं सर्वपदेषु, तथा विधाने–चैत्यवन्दनाविधौ नैषेधिकीत्रितयादिरूपेऽसति सति च, तच्चेदम्–"तिण्णि निसीहिय तिण्णि पयाहिणा तिण्णि चेव य पणामा। तिविहा पूया य तहा अवत्थतियभावणा चेव ॥१॥ तिदिसिनिरिक्खणविरती पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो। वण्णाइतियं मुद्दातियं च तिविहं च पणिहाणं ॥२॥" पुष्पामिषस्तोत्रभेदात् पूजात्रैविध्यं, छद्मस्थकेवलिसिद्धभेदेनावस्थात्रैविध्यं, वर्णादित्रयं–वर्णार्थालम्बनरूपं,मनोवाक्कायभेदेन प्रणिधानत्रैविध्यमिति, तथा तद्गतचित्तादिना–चैत्यवन्दनाविषयमनःप्रभृतिना असता सता चेति गम्यम्,आदिशब्दाद्वन्दनागतवाक्कायपरिग्रहः,चशब्दः समुच्चयार्थः,विज्ञेयो–ज्ञातव्यः,तथा तद्वृद्धेः–चैत्यवन्दनवृद्धेः स्तवादिपाठापाठाभ्यां यौ भावाभावौ–सत्त्वासत्त्वे तौ तथा ताभ्यां यथायोग्यं द्रव्येतरविशेषो ज्ञेयः, अथवा तद्वृद्धिश्च भावाभावश्च–रोमाञ्चादिलिङ्गभक्तिसद्भावः (वाभावः,) अथवा तद्वृद्धिभावश्चाभावश्चेति तद्वृद्धिभावाभावौ ताभ्यामसद्भ्यां सद्भ्यां चेति गम्यम्, 'तह य'त्ति यथा वेलादिना तथैव च तद्वृद्धिभावाभावाभ्यां च, द्रव्यं–द्रव्यवन्दनमितरच्च–भाववन्दनं द्रव्येतरे तयोर्विशेषो–भेदो द्रव्येतरविशेषः,इति गाथार्थः ॥१०॥

सइ संजाओ भावो पायं भावंतरं जओ कुणइ । ता एयमेत्थ पवरं लिंगं सइ भावबुद्धी उ ॥११॥

अमए देहगए जह अपरिणयम्मिवि सुभा उ भावत्ति । तह मोक्खहेउअमए अण्णेहिवि हंदि णिद्दिट्ठा ॥१२॥

भाववन्दनायाः प्रागुक्तलिङ्गेषु मध्ये भावमात्रस्य प्राधान्यं दर्शयितुमाह–'सई'त्यादि, सकृद्–एकवारं संजातः–समुत्पन्न एव, नैकदाऽप्यसंजातः, अवधारणं चेह काकुपाठात्प्रतीयते, भावः–अपुनर्बन्धकादिगतशुभाध्यवसायरूपः, प्रायो–बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च प्रागसंजाततथाविधभावानां मरुदेव्यादीनां भावप्रकर्षप्राप्त्या यो व्यभिचारस्तत्परिहारार्थम्, भावान्तर–प्रशस्तपरिणामविशेषम्, यतो–यस्माद्धेतोः, करोति–समुत्पादयति, तत्–तस्मात्, एतदिदम्, अत्र भाववन्दनायां लक्षितव्यायाम्, एतेषु चाऽनन्तरोक्तलिङ्गेषु मध्ये, प्रवरं–प्रधानं प्रागुक्तलिङ्गपूगापेक्षया लिङ्गं–लक्षणम्, सकृत्–सर्वदा, भावशुद्धिस्तु–प्रशस्तपरिणामवर्धनमेव पुलकोद्भेदादिचिह्नवद्भक्तिभररूपभावविशेष एवेत्यर्थः, इदमुक्तं भवति–यतः शुभभावप्रकर्षः शुभभावसद्भाव एव भवत्यतो भावबृद्धेर्भावः–सत्ताऽनुमीयते इति भाववन्दनायां भावशुद्धिर्लिङ्गं भवतीति, 'भावबुद्धीए' इत्यन्ये पठन्ति, तत्र सकृत्संजातो भावो भावान्तरं यतः कुरुते तत एतद्भावजननमत्र व्यतिकरे लिङ्गं भावबृद्धेः कालान्तरभाविन्या इति गाथार्थः॥११॥ प्रथमव्याख्यानं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह–'अमए'इत्यादि, अमृते–सुधायां, देहगते–अभ्यवहारतः शरीरप्राप्ते, यथा–येन प्रकारेण, किंभूते?–अपरिणतेऽपि–रसरुधिरादिधातुत्वेन परिणाममगतेऽपि, आस्तां परिणते, शुभास्तु–प्रशस्ता एव, भावाः–पर्याया देहसौष्ठवारोग्यादयो भवन्ति, इतिशब्दो दृष्टान्ताभिधायकवाक्यसमाप्तौ, तथा–तेन प्रकारेण, मोक्षहेतुः–सकलकर्मक्षयकारणमपुनर्बन्धकाद्यवस्थासंभवशुभभावरूपं, स एवामृतम्–अजरामरत्वहेतुत्वान्मोक्षहेत्वमृतं तत्र सति, शुभा एव भक्तिशुद्धिरूपा भावा भवन्तीत्यनुवर्तते, एते च नास्माभिरेव निर्दिश्यन्त इत्यत आह–अन्यैरपि–

मंताइविहाणम्मिवि जायंइ कल्लाणिणो तहिं जत्तो। एत्तोऽधिगभावाओ भव्वस्स इमीए अहिगोत्ति ॥१३॥
एईए परमसिद्धी जायइ जत्तो दढं तओ अहिगा। जत्तम्मिवि अहिगत्तं भव्वस्सेयाणुसारेण ॥१४॥

आर्हतव्यतिरिक्ततीर्थिकैरपि, आस्तामार्हतैः,इंदीत्युपप्रदर्शने,निर्दिष्टा-भणिता पातञ्जलादिशास्त्रेषु,इति गाथार्थः॥१२॥ अथ शेषाणां वेलाराधनादीनां भाववन्दनालिङ्गानां समर्थनार्थमाह-'मंताई'त्यादि,मन्त्रादीनां-मन्त्रविद्याप्रभृतीनां प्रसिद्धस्वरूपाणां विधान-साधनविधिः पूर्वसेवादिगतो वेलाराधनादिरूपो मन्त्रादिविधानं तत्रापि, आस्तां वन्दनाविधाने,जायते-भवति, कल्याणिनः-स्वश्रेयसवत एव पुरुषस्य,नाकल्याणिनः,इह चावधारणं काकुपाठात्प्रतीयते, केति तत्र-विवक्षिते क्वचिन्मन्त्रादिविधाने,यत्नो-वेलाविधानाद्याराधनोद्यमः, एवं भव्यस्य वन्दनायां यत्नो जायते,केवलं 'एत्तोत्ति' इतो मन्त्रादिविधानात्सकाशात्,अधिकभावाद्-अधिकत्वाद्वन्दनायाः,तस्याः स्वर्गापवर्गसाधकत्वात्,भव्यस्य-वन्दनाया योग्यस्यापुनर्बन्धकादेः,'इमीएत्ति' अस्यां चैत्यवन्दनायाम्,अधिको-विशिष्टतरो, वेलाविधानतद्गतचित्तत्वादिरूपो यत्न इति प्रकृतम्,भवति हि विशिष्टफलार्थिनां विशिष्टफलहेतौ तदन्यापेक्षया विशिष्टो यत्नः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ती। एवमनेन भाववन्दनासद्भावे वेलाविधानादीनां सद्भावप्रतिपादनेन तल्लिङ्गता समर्थितेति गाथार्थः॥१३॥ अथ यदुक्तं 'एत्तोऽधिगभावाओ' इत्यादि तत्समर्थनार्थमाह-'एईई'त्यादि, एतया प्रक्रान्तचैत्यवन्दनया करणभूतया,एतस्या वा सकाशात्, परमसिद्धिः-अणिमादिसिद्ध्यपेक्षया प्रधाना पुरुषार्थनिष्पत्तिर्निर्वाणमित्यर्थः,जायते-भवति,यद्-यस्माद्धेतोः तत्-तस्मात्,दृढम्-अत्यर्थम्,ततो-मन्त्रादिविधानात् परमसिद्धिसाधनासमर्थात्,अधिका-विशिष्टतरा,चैत्यवन्दनेति प्रकृतम्,ततश्च यत्नेऽपि वन्दनाश्रयवेलाविधानाद्युपभेऽपि,आस्तां वन्दनायामधिकत्वं-विशिष्टतरत्वं भवतीति गम्यम्,कस्येत्याह-भव्यस्य-भाववन्दनायोग्य-

पायं इमीए जत्ते ण होइ इहलोगियावि हाणित्ति । णिरुवक्कमभावाओ भावोऽवि हु तीइ छेयकरो ॥१५॥
मोक्खद्धदुग्गगहणं एयं तं सेसगाणवि पसिद्धं । भावेयव्वमिणं खलु सम्मंति कयं पसंगेणं ॥१६॥

स्यापुनर्बन्धकादेः, एतदनुसारेण–वन्दनाधिक्यानुरूप्येण, यतो मन्त्रादिविधानादधिका वन्दनाऽतस्तदानुरूप्येण तद्गतयत्नोऽप्यधिको भवतीति भावः, अन्ये त्वाहुः–फलाधिक्यानुसारेण, इति गाथार्थः ॥१४॥ न खलु परमसिद्धिलक्षणमामुष्मिकफलमेव वन्दनातो जायते, किन्त्वैहिकमपीति दर्शयन्नाह–'पाय'मित्यादि, प्रायो–बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं निरुपक्रमकर्मोदयात् हानिः कदाचिद्भवत्यपीति दर्शनार्थम्, अस्यां वन्दनायाम्, यत्ने–वेलाविधानाद्याराधनोद्यमे सति, न जायते, ऐहलौकिक्यपि–इहलोकगताऽपि, न केवलं परलोकगता, हानिः–क्षतिर्धनधान्यादिविषया, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, ननु वन्दनातो वरतरसर्वविरत्यनुपालनयत्नवतामपि प्राणादिहानिः श्रूयते तत्कथं वन्दनायत्नान्न हानिर्भवतीत्यभिधीयते? इत्याशंक्याह–निरुपक्रमभावाद्–अनुपक्रमणीयत्वाद्–अवश्यंवेद्यस्वभावत्वात्, कर्मणामिति गम्यते, भावोऽपि स्यात्, न केवलमभाव एव स्यात्, हानेरिति गम्यते, हुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः, केवलमसौ 'तीइत्ति' तस्या–ऐहलौकिकहानेः, छेदकर एव–व्यवच्छेदकार्येव, अक्षेपेण मोक्षसाधकत्वाद्वन्दनायाः, न पुनर्जन्मान्तरे इहलोक इव विशिष्टवस्तुहानिर्भविष्यति वन्दनाप्रयत्नादित्यभिप्रायः, इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ अधिकृतवन्दनामेव तन्त्रान्तरपरिभाषया पुरस्कुर्वन्नाह—'मोक्खे'त्यादि, मोक्षाध्वनि–निर्वाणमार्गे दुर्गग्रहणमिव–पर्वतवनादिदुर्गाश्रयणमिव मोक्षाध्वदुर्गग्रहणम्, यथा ह्यध्वनि प्रवृत्तस्य तस्करादिभिरभिभूयमानस्य दुर्गसमाश्रयणं त्राणं भवति एवं मोक्षाध्वनि प्रवृत्तस्य कर्मचौरादिभिरभिभूयमानस्य यत्त्राणहेतुस्तन्मोक्षाध्वदुर्गग्रहणमुच्यते, अथवा मोक्षाध्वा च दुर्गग्रहणमिव दुर्गग्रहणं

पंचंगो पणिवाओ थयपाढो होइ जोगमुद्दाए । वंदण जिणमुद्दाए पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥१७॥

च मोक्षाध्वदुर्गग्रहणम्, एतद्-इदमेवाधिकृतवन्दनमेव तत्तु, यत्किंविधमित्याह-शेषकाणामपि-तीर्थान्तरीयाणामपि, आस्तामार्हतानाम्, प्रसिद्धं-प्रतीतम्, मोक्षाध्वदुर्गग्रहणशब्देन यदुच्यते परैस्तद्भाववन्दनमेव, अस्यैव विवक्षितविपक्षरक्षणक्षमत्वादिति भावः, तदेवं वस्तु व्यवस्थाप्याथोपदेशमाह-भावयितव्यं-विमर्शनीयम्, इदम्-एतदनन्तरोक्तमधिकृतवन्दनस्य तन्त्रान्तरप्रसिद्धमोक्षाध्वदुर्गग्रहणस्वरूपत्वम्, खलुर्वाक्यालङ्कारे, किंस्वरूपं भावयितव्यमित्याह-सम्यगिति, न पुनस्तन्त्रान्तरीयोक्ततया मिथ्येति, न हि तन्त्रान्तरीयाः सर्वथैव विपरीतवादिन इति, अथ भाववन्दनालिङ्गाधिकारनिगमनार्थमाह-कृतं-भवतु, प्रसङ्गेन-भाववन्दनालिङ्गविषये प्रसङ्गभाषितेन, इति गाथार्थः ॥१६॥ यदुक्तम् 'उत्कृष्टादित्रिभेदां वन्दनां वक्ष्ये' इति तन्नमस्कारादिभेदेनापुनर्बन्धकादिभावभेदेन चाभिहितम्, यथोक्तं 'मुद्राविन्याससंशुद्ध'मिति तदधुना समर्थयन्नाह-'पंचंगे'त्यादि, पञ्चाङ्गानि-अवयवा विवक्षितव्यापारवन्ति यत्र स पञ्चाङ्गः, प्रणिपातः-प्रणिपातदण्डकपाठस्यादावसाने च प्रणामो भवति कर्तव्य इति शेषः, यद्यपीह पञ्चाङ्गप्रणिपात इत्युक्तं तथापि पञ्चाङ्गमुद्रया प्रणिपात इति द्रष्टव्यम्, मुद्राणामेवाधिकृतत्वात्, तदुक्तं च-"पञ्चाङ्ग्या अपि मुद्रात्वमङ्गविन्यासविशेषरूपत्वाद्योगमुद्रावदिति", तथा स्तवपाठः-शक्रस्तवादिस्तवपठनं भवति, कर्तव्य इति शेषः, कयेत्याह-योगमुद्रया वक्ष्यमाणलक्षणया, ननु चतुर्विंशतिस्तवादेरेव पाठो योगमुद्रया विधेयो, न तु शक्रस्तवस्य, तं हि 'समाकुञ्चितवामजानुर्भूमिविन्यस्तदक्षिणजानुर्ललाटपट्टघटितकरकुड्मलः पठती'ति जीवाभिगमादिष्वभिधीयत इति ?, सत्यम्, केवलं नानन्तरोक्तविशेषणयुक्त एव तं पठतीति नियमोऽस्ति, पर्यङ्कासनस्थः शिरोऽधिनिवेशितकरकोरकस्तं पठतीत्यस्यापि ज्ञातधर्मकथासु दर्शनात्, तथा हरिभद्राचार्येणापि चैत्य-

दो जाणू दोण्णि करा पंचमगं होइ उत्तमंगं तु । सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगपणिवाओ ॥१८॥
अण्णोण्णन्तरिअंगुलिकोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं । पिट्टोवरिकोप्परसंठिएहिं तह जोगमुद्दत्ति ॥१९॥

वन्दनचूर्णौ "क्षितिनिहितजानुकरतलो भुवनगुरौ विनिवेशितनयनमानसः प्रणिपातदण्डकं पठति" इत्यस्य विध्यन्तरस्याभिधानात्, ततोऽस्य पाठे विविधविधिदर्शनात् सर्वेषां च तेषां प्रमाणग्रन्थोक्तत्वेन विनयविशेषभूतत्वेन च निषेद्धुमशक्यत्वाद्योगमुद्रयाऽपि शक्रस्तवपाठो न विरुध्यते, विचित्रत्वान्मुनिमतानाम्, न चैतानि परस्परमतिविरुद्धानि, सर्वैरपि विनयस्य दर्शितत्वादिति, तथा 'वंदणति' इहानुस्वारलोपो द्रष्टव्यः, तेन वंदणं-'अरहंतचेइयाणं' इत्यादिदण्डकपाठेन जिनबिम्बादिस्तवनम्, जिनमुद्रयोपदेक्ष्यमाणलक्षणया, इयं च पादाश्रिता, योगमुद्रा च हस्ताश्रितेत्युभयोर्वन्दने प्रयोगः, तथा प्रणिधानं-शुभार्थप्रार्थनारूपं विशिष्टचित्तैकाग्रतागर्भं 'जय वीयराय' इत्यादिपाठरूपं मुक्ताशुक्त्या निर्देक्ष्यमाणमुद्रया, कर्तव्यम्, इति गाथार्थः ॥१७॥ पञ्चाङ्गप्रणिपातादीनां व्याख्यानायाह-'दो जाणे'त्यादि, द्वे जानुनी-अष्ठीवन्तौ, द्वौ करौ-हस्तौ, पञ्चममेव पञ्चमकं, भवति-वर्तते, उत्तमाङ्गं तु-शिर एवेति, अनेन पञ्चाङ्ग इति व्याख्यातम्, अथ प्रणिपातव्याख्यानायाह-एतैरेव पञ्चभिरङ्गैः, सम्यक्-भक्तितो भून्यागतः, यः संप्रणिपातः-प्रणामोऽसौ, ज्ञेयो ज्ञातव्यः, पञ्चाङ्गप्रणिपातः पूर्वोक्तनिर्वचनः। इति गाथार्थः ॥१८॥ योगमुद्रायाः स्वरूपमाह-'अण्णोण्णे'त्यादि, अन्योऽन्येन-परस्परेणान्तरिता-व्यवहिता अङ्गुलयः-करशाखा ययोस्तौ तथा तौ कोशाकारौ च-कमलकोरकाकृती उभयजोडनेन अन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकोशाकारौ ताभ्यां, द्वाभ्यां हस्ताभ्यां-कराभ्यां-करणभूताभ्यां, पुनः किंभूताभ्याम्?-पेट्टस्य-उदरस्योपरि-ऊर्ध्वभागे कूर्पराभ्यां-कुक्षणिकाभ्यां सस्थितौ-व्यवस्थितौ यौ तौ तथा ताभ्यां पिट्टोपरिकूर्परसंस्थिताभ्यां, तथा-तेन प्रकारेणाचरणा-

चत्तारि अंगुलाइं पुरओ ऊणाइँ जत्थ पच्छिमओ । पायाणं उस्सग्गो एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥२०॥
मुत्तासुत्ती मुद्दा समा जहिं दोऽवि गब्भिया हत्था । ते पुण ललाडदेसे लग्गा अण्णे अलग्गत्ति ॥२१॥

गम्येन,अथवा पञ्चाङ्गप्रणिपातापेक्षया समुच्चयार्थस्तथाशब्दः,योगो हस्तयोर्योजनविशेषः समाधिर्वा तत्प्रधाना मुद्रा-अङ्गन्यासविशेषो-चितविशेषप्रत्ययोहनसमर्थो योगमुद्रा,भवतीति गम्यते,इतिशब्दो योगमुद्रालक्षणसमाप्तिसंसूचक उपप्रदर्शनार्थो वा,इति एवंरूपा योग-मुद्रेत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥१९॥ अथ जिनमुद्रामाह-'चत्तारी'त्यादि, चत्वारीति संख्या,अङ्गुलानि प्रतीतानि, तानि च स्वकीया-न्येव, पुरतः-अग्रतः, तथा ऊनानि-किञ्चिदूनानि अङ्गुलान्येव यत्र-यस्यां मुद्रायां, पश्चिमतः-पश्चिमभागे, पादयोः-चरणयोः,उ-त्सर्गः-परस्परपरित्यागः संसार्गाभावोऽन्तरमित्यर्थः, एषा-असौ, पुनःशब्दो योगमुद्रापेक्षया जिनमुद्राया वैलक्षण्यप्रतिपादनार्थः, भवति-संपद्यते, जिनानाम्-अर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का जिना वा-विघ्नजेत्री मुद्रा-अङ्गन्यासविशेषो जिनमुद्रा, इति गाथार्थः ॥२०॥ अथ मुक्ताशुक्तिमुद्रामाह-'मुत्तासुत्ती'त्यादि,मुक्ताशुक्तिरिव मुक्ताशुक्तिः,मुद्रा प्रतीता,इह स्थाने सा भवतीति वाक्यशेषो दृश्यः, समौ नान्योऽन्यान्तरिताङ्गुलितया विषमौ यस्यां मुद्रायां भवतः,ततः गर्भितौ-उन्नतमध्यौ, न तु नीरन्ध्रौ,हस्तौ-पाणी, इहैव लक्षणशेषमाह-तौ मुक्ताशुक्तिविधायकौ हस्तौ, पुनःशब्दो लक्षणान्तरत्वद्योतनार्थः,ललाटदेशे-भाललक्षणे शरीरभागे,लग्नौ-संबद्धौ कार्यौ,अन्ये तु-अपरे पुनराचार्याः, अलग्ना-असंबद्धौ ललाटदेश एव, इति-एतत् ,आहुरिति शेषः,इति गाथार्थः॥२१॥ननु-'प्रणि-धानं मुक्ताशुक्त्ये'त्युक्तं,तच्च किल वन्दनान्ते क्रियते,अतः शेषा वन्दना प्रणिधानविरहितैव करणीयेति प्राप्तमिति,अत्रोच्यते,यदेत-द्वन्दनान्ते प्रणिधानं तत्प्रार्थनागर्भोपयोगरूपं, यत्पुनर्वन्दनायां तदेकाग्रतारूप, अतस्तद्गर्भैव वन्दनायां विधेयमित्येतदेवाह—

सव्वत्थवि पणिहाणं तग्गयकिरियाभिहाणवन्ना(न्ने)सु । अत्थे विसए य तहा दिट्ठंतो छिन्नजालाए ॥२२॥
ण य तत्थवि तदणूणं हंदि अभावो ण ओवलंभोवि । चित्तस्सवि विण्णेओ एवं सेसोवओगेसु ॥२३॥

'सव्वत्थे'त्यादि, सर्वत्रापि-समस्तायामपि वन्दनायां, न केवलं तदन्त एवेत्यपिशब्दार्थः, प्रणिधानं-चित्तस्योपयोगः, कार्यं भवतीति शेषः, सामस्त्यमेव व्यक्तित आह-तत्र-वन्दनायां गता-आश्रितास्तद्गतास्ते च क्रियाभिधानवर्णाश्चेति विग्रहः, अतस्तेषु, तत्र क्रिया-मुद्राविन्यासमुखस्थगनभूप्रमार्जनकायोत्सर्गकरणादिका अभिधानानि-पदानि वर्णाः-तदेकदेशा अकारादयः, उत्तरस्तथाशब्दः समुच्चयार्थोऽत्र द्रष्टव्यः, अर्थे-अर्हदादिपदाभिधेये, तद्गते इति विशेषणमिहाप्यनुसर्तव्यम्, विषये-वन्दनाया गोचरे दृष्टिगोचरे वा जिनबिंबे, चशब्दः समुच्चयार्थ एव, अथैकदैकजीवस्यानेकोपयोगाभावान्न सर्वत्र क्रियादौ प्रणिधानं भवतीत्याशंक्याह-दृष्टान्तो-निदर्शनं छिन्नज्वालया-इन्धनस्याभित्रुटितार्चिषा, इहेति शेषः, अयमर्थः-यथा छिन्नज्वाला मूलज्वालायामसंबद्धतयोपलभ्यमानाऽपि कथञ्चित्तत्संबद्धेति प्रतिपद्यते, तत्परमाणूनां परिणामान्तरापन्नानामवश्यंभावात्, यथा वा गृहान्तर्गतस्य दीपस्य गृहद्वारनिर्गता प्रभा व्यक्ततयाऽनुपलभ्यमानाऽप्यस्तीति प्रतिपद्यते, गृहान्तराभ्यन्तरे तस्या उपलभ्यमानत्वात्, इह च पक्षे प्रभा ज्वालोच्यते, सा च छिन्नाऽन्तरालेऽनुपलब्धेरिति, एवं क्रियादीनामेकत्रोपलभ्यमानमपि प्रणिधानमन्यत्राप्यव्यक्ततयाऽवसेयमिति, अथवा छिन्नज्वाला-अलातज्वाला तस्याः प्रतिनियतदेशवर्तित्वेन च्छिन्नत्वात्, सा च यथा नियतदेशस्थाऽपि भ्राम्यमाणेऽलाते चक्राकारं दण्डाकारं वा दधती स्वावगाहक्षेत्रादन्यत्राप्याशुवृत्तेरवभासते एवं प्रणिधानमपि स्वरूपेणैकत्र वर्तमानमाशुवृत्तेः सर्वत्रावभासत इत्यतः साधूक्तं 'सव्वत्थवि पणिहाण'मिति गाथार्थः ॥२२॥ प्रस्तुतदृष्टान्तस्यैव भावनार्थमाह-'ण य तत्थे'त्यादि, न च-नैव, तत्रापि ज्वालोच्छेदे-



खाओवसमिगभावे दढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं । परिवडियंपि हु जायइ पुणोवि तब्भाववुड्ढिकरं ॥२४॥

ऽपि, आस्तां ज्वालायां, तदणूनां-ज्वालापरमाणूनां परिणामान्तरापन्नानाम्, ईदीत्युपप्रदर्शने, अभावः-असत्ताऽस्ति, संतत्यभावे ज्वालाया अनुपलंभप्रसंगात्, अपि तु भाव एव, न चोपलंभोऽपि-नैव दर्शनमप्यस्ति, ज्वालाणूनामिति वर्तते, तथैवानुभूतेरिति दृष्टान्तः, दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-चित्तस्यापि-प्रणिधानमनसोऽपि, आस्तां ज्वालायाः, विज्ञेयो-ज्ञातव्यो, व्यक्ततया अनुभवाभावेऽपि भाव इति हृदयम्, एवम्-अनेन च्छिन्नज्वालान्यायेन, केष्वित्याह-शेषोपयोगेषु-एकस्माद्व्यक्ततयाऽनुभूयमानोपयोगविषयादर्थादेर्येऽन्ये उपयोगविषयास्ते विषयविषयिणोरभेदाच्छेषोपयोगाः अतस्तेषु, अलातरूपच्छिन्नज्वालापक्षे पुनरेवं व्याख्या-न च तत्रापि च्छिन्नज्वालाविषयेऽपि चक्रादावित्यर्थः, तदणूनामभावो न, अपि त्वभाव एव, चक्राद्याकारस्यातात्त्विकत्वात्, 'उवलंभोत्ति' प्राकृतत्वेनोपलंभोऽप्यस्ति आशुवृत्तिकृतश्चक्राद्याकृतिभासः, इति गाथार्थः ॥२३॥ अथ कस्माद्वन्दनायां मुद्राविन्यासादिरात्यन्तिकप्रयत्नो विधीयत इत्याह-'खाओवे'त्यादि, क्षायोपशमिकभावे-मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्मविगमविशेषविहितात्मपरिणामे सति, न तु लाभाद्यर्थित्वलक्षणौदयिकभावे, दृढयत्नकृतं-परमादरविहितं, शुभं-प्रशस्तं, अनुष्ठानम्-आचरणं चैत्यवन्दनादि, इह यत्तदिति विशेषो दृश्यः, प्रतिपतितमपि-तथाविधकर्मदोषात् भ्रष्टमपि, आस्तामप्रतिपतितम्, हुशब्दोऽवधारणार्थः, तत्प्रयोगश्च दर्शयिष्यते, जायत एव-भवत्येव, पुनरपि-भूयोऽपि, किंभूतं जायत इत्याह-यस्मिन् भावे क्षायोपशमिके वर्तमाने तच्छुभमनुष्ठानं विहितं तस्य भावस्य-तस्याध्यवसायस्य वृद्धिकरं-वर्धनकारि तद्भाववृद्धिकरम्, अतः शुभभावस्य मोक्षहेतोर्वृद्धिकरत्वाद्वन्दनायां प्रयत्नः संगत एवेति, गाथार्थः ॥२४॥ कथमिदं सिद्धमित्यारेकायामाह-'अणुहवे'त्यादि, अनुभवसिद्धं-स्वसंवेदनप्रतीतम्, एतत्-अनन्तरोक्तं दृढप्रय-

अणुलयसिद्धं एयं पायं तह जोगभावियमईणं। सम्ममवधारियव्वं बुहेहिं लोगुत्तममईए ॥२५।
जिण्णासावि हु एत्थं लिंगं एयाइ हंदि सुद्धाए। णेव्वाणंगनिमित्तं सिद्धा एसा तयत्थीणं ॥२६॥
धिइसद्धासुहविविदिसभेया जं पायसो उ जोणित्ति। सण्णाणादुदयम्मी पइट्ठिया जोगसत्थेसु ॥२७॥

न फलसुभानुष्ठानस्य पतितस्यापि तद्भाववृद्धिकारकत्वम्, प्रायो-बाहुल्येन, केषामित्याह-तथा-तेन शास्त्रोक्तप्रकारेण, योगभावितमतीनां-धर्मव्यापारविशेषवासितधियाम्, एतच्च सम्यग्-याथात्म्येन, अवधारयितव्यं-संप्रधारणीयम्, कैः?-बुधैः-विद्वद्भिः, लोकोत्तममत्या-जनप्रधानबुद्ध्या, जिनप्रवचनानुसारिधियेत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥२५॥ 'मुद्राविन्यासपरिशुद्धां वन्दनां वक्ष्य' इत्याद्यगाथायामुक्तं तत्र परिशुद्धाया यल्लिंगं तद्दर्शयितुमाह-'जिण्णासे'त्यादि, 'एत्थंति' अस्यां वन्दनायां विषयभूतायाम्, जिज्ञासापि-बुभुत्सापि, न केवलं वेलाविधानाराधनादि, हुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, लिङ्गं-लक्षणम्, एतस्या वन्दनायाः, हंदीत्युपप्रदर्शने, किंभूतायाः?-शुद्धाया-निर्दोषायाः, अथ कथं शुद्धवन्दनाया लिङ्गं-तज्जिज्ञासेत्याह-निर्वाणाङ्गानां निर्वृतिकारणानां सम्यग्ज्ञानादीनां निमित्तं-हेतु-निर्वाणाङ्गनिमित्तम्, सिद्धा-प्रसिद्धा, एषा जिज्ञासा, तदर्थिनां-निर्वाणार्थिनाम्, ये हि निर्वाणार्थिनस्ते निर्वाणाङ्गानि जिज्ञासात एव लभन्ते, अतो निर्वाणाङ्गस्य शुद्धवन्दनालक्षणस्येयं कारणं, भवति च कारणं लिङ्गं, यथा विशिष्टांबुपातोऽङ्कुराणामिति गाथार्थः ॥२६॥ अथ कथं जिज्ञासा निर्वाणाङ्गानां निमित्ततया सिद्धेत्याह-'धिई'त्यादि, धृतिः-उद्वेगादिदोषपरिहारेण चित्तस्वास्थ्यं श्रद्धा-तत्त्वरुचिः सुखा-विशिष्टाह्लादरूपा विविदिषा-वेदितुमिच्छा जिज्ञासेत्यर्थः, एषां द्वन्द्वः, धृतिश्रद्धासुखाविविदिषारूपा भेदा-विशेषा यस्या योनेः सा तथा, सुखाविविदिषाशब्दयोश्च ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात्, यद्-यस्मात्, प्रायेणैव, न पुनरियद्भेदैव, भेदान्तराणामपि विज्ञप्त्यादीना-

पढमकरणोवरि तहा अणहिणिविट्ठाण संगया एसा। तिविहं च सिद्धमेयं पयडं समए जओ भणियं ॥२८॥
करणं अहापवत्तं अपुव्वमणियट्टि चेव भव्वाणं। इयरेसिं पढमं चिय भण्णइ करणत्ति परिणामो ॥२९॥

मुक्तत्वात्, यदाह–"धृतिः श्रद्धा सुखा विविदिषा विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्मयोनयः" तथा–"अब्भुट्ठाणे विणए परक्कमे साहुसेवणाए य। सम्मद्दंसणलंभो विरयाविरतीइ विरतीए ॥१॥ त्ति", योनिः–कारणम्, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्त्यर्थः, स च गाथान्ते दृश्यः, कस्मिन्नेतद्भेदा योनिरित्याह–सज्ज्ञानाद्युदये–सम्यग्ज्ञानदर्शनादिनिर्वाणकारणोत्पत्तौ, कुत एवंविधेयं सिद्धेत्याह–प्रतिष्ठिता–प्रतिपक्षक्षेपेण समर्थिता, योगशास्त्रेषु–अध्यात्मग्रन्थेषु पातञ्जलादिष्विति गाथार्थः ॥२७॥ कदेयं जिज्ञासालिङ्गा शुद्धवन्दना भवतीत्याह–'पढमे'त्यादि, प्रथमकरणस्य–आद्यपरिणामविशेषस्य यथाप्रवृत्ताख्यस्योपरि–उपरिष्टात् प्रथमकरणोपरि, वर्तमानानामपुनर्बन्धकादीनामितिगम्यम्, तथेति शुद्धवन्दनागतवक्तव्यान्तरसमुच्चयार्थः, अथवा तेन प्रकारेण–तत्कालोचिततया, अनभिनिविष्टानाम्–अतत्त्वाभिनिवेशवर्जितानां, प्रथमकरणोपर्येव वाह्यतत्त्वानभिनिवेशिनो भवन्ति, सङ्गता–युज्यमाना भवति, नान्यत्र, एषा शुद्धवन्दना, अथ कतिविधं करणं येन प्रथमत्वेन विशिष्यते? इत्याह–त्रिविधं च–त्रिप्रकारं पुनः, सिद्धं–प्रसिद्धम्, कुतः सिद्धमित्याह–प्रकट–व्यक्तार्थम्, समयेसिद्धान्ते, यतो–यस्मात्, भणितम्–उक्तम्। इति गाथार्थः ॥२८॥ यदुक्तं तदेवाह—'करणे'त्यादि, क्रियते–विधीयते कर्मबन्धोदयोदीरणोपशमनाद्यनेनेति करणम्–अध्यवसायविशेषः, तदेकं तावद्यथा–येनैव प्रकारेणानादिकालेऽभूत्तेनैव प्रवृत्तं–प्रवृत्तवत्, नाप्राप्तपूर्वं स्वभावान्तरं प्राप्तमिति यथाप्रवृत्तम्, तथाऽनादौ संसारेऽप्राप्तपूर्वमपूर्वमिति द्वितीयम्, तथा न निवर्तते–नापैति मोक्षतरुबीजकल्पं सम्यक्त्वमनासाद्येत्येवंशीलं अनिवर्ति, चैवशब्दोऽवधारणे, तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः, भव्यानामेव–मुक्तिगमनोचितानामेव भवति,

जा गंठी ता पढमं गंठिं समइच्छओ भवे बीयं । अणियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥३०॥
इत्तो उ विभागाओ अणादिभवदव्वलिंगओ चेव । णिउणं णिरूवियव्वा एसा जह मोक्खहेउत्ति ॥३१॥

इतरेषाम्–अभव्यानाम्,प्रथम–आद्यमेव,यथाप्रवृत्तमेव करणं भवतीति भावः। अथ करणमिति कोऽर्थं इत्याह–'भण्णइ करणत्ति परिणामो' करणमित्यनेन ध्वनिना परिणामो–जीवाध्यवसायो भण्यते–अभिधीयते समयज्ञैरिति गाथार्थः ॥२९॥ अथास्यैव करणत्रयस्य विभागं दर्शयन्नाह—'जा गंठी'त्यादि, 'जा' इति यावत्, ग्रन्थिः–जीवेन कर्म निर्जरयता अनतिक्रान्तपूर्वकर्मस्थितिविशेषः, आह च–"घंमणघोलणजोगा जीवेण जया हवेज कम्मठिती। खविया नवरं सागरकोडाकोडी पमोत्तूणं ॥१॥ तीएऽवि थेवमेत्तं खवियं एत्थंतरंमि जीवस्स। हवति हु अभिन्नपुव्वो गंठी एवं जिणा वेंति ॥२॥ गंठित्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व। जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥३॥" 'ता' इति तावत् ग्रन्थिभेदप्रदेशं यावदित्यर्थः,प्रथमं–यथाप्रवृत्तं,ग्रन्थिम्–उक्तलक्षणम्, 'समइच्छउत्ति' समतिगच्छतः–समतिक्रामतो भिन्दानस्येत्यर्थः,जीवस्येति शेषः,भवेद्–जायेत,द्वितीयम्–अपूर्वकरणमित्यर्थः,अनिवर्तिकरणं पुनस्तृतीयमित्यर्थः,सम्यक्त्वं–सम्यग्दर्शनं पुरस्कृतम्–अवश्यप्राप्तव्यतया अग्रे कृतं येन स तथा तत्र,पुरस्कृतसम्यक्त्वस्येत्यर्थः, इह क्तप्रत्ययान्तस्य परनिपात आहिताग्न्यादिदर्शनात्,जीवे–आत्मनि जीवस्येत्यर्थः, भवेदिति वर्तते। इति गाथार्थः ॥३०॥ अथ शुद्धवन्दनैव मोक्षहेतुरिति दर्शयितुमाह—'इत्तो'इत्यादि,इतस्तु–अस्मादेवानन्तरोक्ताद्विभागात्–प्रथमकरणस्योपरि शुद्धवन्दना भवतीत्येवंलक्षणात्, तथाऽनादिभवे–निष्प्रारम्भसंसारे यानि द्रव्यलिङ्गानि–भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजितादिनेपथ्यधरणलक्षणानि तानि तथा तेभ्यः ततोऽनादिभवद्रव्यलिङ्गतः, चशब्दः समुच्चये, एवशब्दोऽवधारणे, स चान्यत्र योक्ष्यते,निपुणं–सुनिश्चितं यथा

णो भावओ इमीए परोऽवि हु अवड्ढपोग्गला अहिगो । संसारो जीवाणं हंदि पसिद्धं जिणमयम्मि ॥२२॥
इय तंतजुत्तिओ खलु णिरूवियव्वा बुहेहिं एसत्ति । ण हु सत्तामेत्तेणं इमीइ इह होइ णेव्वाणं ॥२३॥

भवतीत्येवं, निरूपयितव्या-पर्यालोचनीया, कथं?, यथेति यदुत,एषा-एषैव शुद्धवन्दनैव,नेतरा,मोक्षहेतुः-निर्वाणबीजम्,अथवा इत एव विभागादनादिभवद्रव्यलिङ्गतश्च यस्मादियममोक्षहेतुरपि स्यादतस्तथा निरूपयितव्या एषा वन्दना यथा मोक्षहेतुः स्यात्, शुद्धा विधेयेत्युपदेशः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, अयमभिप्रायः-प्रथमकरणाभ्यन्तरे अनादिभवद्रव्यलिङ्गेषु चेयमनन्तशोऽवाप्ताऽपि न मोक्षहेतुर्जाताऽशुद्धत्वात्, ततोऽधुना तथा निरूपणीयेयं यथा मोक्षहेतुः स्यात्,शुद्धा विधेयेति भावः। इति गाथार्थः॥२१॥ अनादिभवद्रव्यलिङ्गत इत्यनेनानन्तशः प्राप्तिरस्या उक्ता,सा चाशुद्धाया एव,न तु शुद्धाया इत्येतद्दर्शयितुमाह—'णो भावे'त्यादि, नो-नैव, भावतः-शुद्धाध्यवसायतः शुद्धायामित्यर्थः,'इमीएत्ति' अस्यां वन्दनायां सत्याम्,परोऽपि-उत्कृष्टोऽपि,आस्तामितरः,हुशब्दोऽलङ्कारे, 'अवड्ढपोग्गलत्ति' इह पुद्गलशब्देन भीमादिन्यायेन पुद्गलपरावर्तोऽभिप्रेतः, ततश्चार्धं पुद्गलपरावर्तस्येत्यर्धपुद्गलपरावर्तः, अप इत्यपकृष्टः-किञ्चिन्न्यूनोऽर्धपुद्गलपरावर्तोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः,तस्मादधिकः-अर्गलः, संसारो जीवानां-जन्तूनां, भवतीति गम्यम्, कथमिदं सिद्धमित्याह-हंदीत्युपप्रदर्शने,प्रसिद्धं-प्रत्याख्यातम्,जिनमते-अर्हत्सिद्धान्ते, यदाह-"कालमणंतं च सुए अद्धापरिट्ठो य देसूणो। आसायणबहुलाणं उक्कोसं अंतरं होइ ॥१॥" इति। अतो द्रव्यत एषा आसीत् अनादौ भवे निरर्थ(र्थि)केति गाथार्थः ॥२२॥ प्रकृतार्थं निगमयन्नाह—'इये'त्यादि, इति-अनन्तरोक्तायास्तंत्रयुक्तेः-तंत्रयुक्तितः-आगमाश्रितोपपत्तिमाश्रित्य,अथवा तंत्रं युक्तिं चाश्रित्य,खलुर्वाक्यालङ्कारे,निरूपयितव्या-आलोचनीया(भावापार्धपुद्गल)मोक्षत्वहेतुभ्याम्,बुधैः-विद्वद्भि-

किंचेह छेयकूडगरूवगणायं भणंति समयविओ। तंतेसु चित्तभेयं तंपि हु परिभावणीयं तु ॥२४॥

निर्वाणार्थिभिरित्यर्थः,एषाऽनन्तरोक्ता वन्दना,इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ,अथ कस्मान्निरूपणमस्या उपदिश्यत इत्याह-न हु-नैव, स-
त्तामात्रेण-सद्भावेनैव 'इमीए' अस्या वन्दनायाः,इह वन्दनाविचारे,भवति-जायते,निर्वाणं-निर्वृतिः,किं तु शुद्धयाऽनया तत् जायतेऽत-
स्तस्यां यतितव्यमिति हृदयम्। इति गाथार्थः ॥२३॥ इहैव वन्दनायाः शुद्धाशुद्धत्वविचारेऽभ्युच्चयमाह—'किंचे'त्यादि,किंचेत्यभ्यु-
च्चयार्थः, इहशब्दोऽन्यत्र संभन्त्स्यते, छेकश्चासौ-शुद्धः कूटकश्च-कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटकः स चासौ रूपकश्च च्छेककूटकरूपकः स
एव तस्य वा ज्ञातं-निदर्शनं छेककूटकरूपकज्ञातं तद्भणन्ति-वदन्ति,समयविदः-सिद्धान्तवेदिनो भद्रबाहुस्वामिप्रभृतयः,तंत्रेषु-
आवश्यकनिर्युक्त्यादिशास्त्रेषु,तथाहि-"रुप्पं टंकं विसमाहयक्खरं तइयरूवओऽच्छेओ (नविय रूवओ छेओ)। दोण्हंपि समाओगे

अस्या व्याख्या-अत्र तावच्चतुर्भंगी, रूपमशुद्धं टंकं विषमाहताक्षरमित्येकः, रूपमशुद्धं टंकं समाहताक्षरमिति द्वितीयः, रूपं शुद्धं टंकं विष-
माहताक्षरमिति तृतीयः, रूपं शुद्धं टंकं समाहताक्षरमिति चतुर्थः, अत्र च रूपकल्पं भावलिंगं, टंककल्पं द्रव्यलिंगं, इह च प्रथमभंगतुल्या-
श्चरकादयः, अशुद्धोभयलिंगत्वात्, द्वितीयभंगतुल्याः पार्श्वस्थादयः, अशुद्धभावलिंगत्वात्, तृतीयभंगतुल्याः प्रत्येकबुद्धाः अन्तर्मुहूर्तमात्रं काल-
मगृहीतद्रव्यलिंगाः, चतुर्थभंगतुल्याः साधवः शीलयुक्ताः, गच्छतो निर्गताश्च जिनकल्पिकादयः, यथा रूपको भंगत्रयान्तर्गतः अच्छेक इत्यविकलं
तदर्थक्रियार्थिना नोपादीयते, चतुर्थभंगनिरूपित एवोपादीयते, एवं भंगत्रयनिदर्शिताः पुरुषा अपि परलोकार्थिनौघतो न नमस्करणीयाः, चरम-
भंगकनिदर्शिता एव नमस्करणीया इति भावना, अक्षराणि त्वेवं नीयंते-रूप्पं शुद्धाशुद्धभेदं, टंकं विषमाहताक्षरं, नैव रूपकश्छेकोऽसांव्यवहारिक
इत्यर्थः, द्वयोरपि शुद्धरूपसमाहताक्षरटंकयोः समायोगे सति रूपकश्छेकत्वमुपैतीति गाथार्थः (श्रीवन्दनावश्यके)॥

दव्वेणं टंकेण य जुत्तो छेओ हु रूवगो होइ। टंकविहूणो दव्वेऽवि ण खलु एगंतछेओत्ति ॥३८॥
अद्दव्वे टंकेणवि कूडो तेणवि विणा उ मुद्दत्ति। फलमेत्तो एयं चिय मुद्धाण पयारणं मोत्तुं ॥३९॥

रूवो च्छेयत्तणमुवेति ॥१॥" चित्रभेदं–बहुप्रकारं चतुर्विकल्पमित्यर्थः, इह स्थाने यदिति शेपो दृश्यः,तदपि–छेदकूटकरूपकज्ञातमपि, न केवलं द्रव्यलिङ्गग्रहणानन्त्येनाशुद्धत्वमस्या भावनीयमित्यपिशब्दार्थः, हुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्चेति, इहेति चन्दनायां परिभावनीयमेव–पर्यालोचयितव्यमेव, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ,इति गाथार्थः ॥३४॥ 'चित्रभेद'मित्युक्तं, तदेव दर्शयन्नाह–'दव्वेण'मित्यादि, द्रव्येण–रूप्यसुवर्णादिनोचितेन टंकेन च–चित्रविशेषेण च युक्तः–समन्वितो यः स च्छेक एव–विशुद्ध एव, हुसब्द एवकारार्थः, रूपको–द्रम्मो भवति–वर्तत इत्येको भेदः, तथा टंकविहीनः–उचितचित्रविकलो यः सः, द्रव्येऽपि–रूप्यादावप्युचिते भति, न खलु–नैवैकान्तच्छेकः–सर्वथा विशुद्धष्टंकाभावेन देशतः कूटत्वात्, इतिशब्दो द्वितीयभेदप्ररूपणासमाप्त्यर्थः ॥ इति गाथार्थः ॥३८॥ अथ तृतीयभेदमाह–'अदव्वे'त्यादि, अद्रव्ये–रूप्याद्युचितद्रव्याभावे सति, टंकेनापि–चित्रविशेषेणापि युक्तः, आस्तां टंकाभावे इत्यपिशब्दार्थः, कूटः–अशुद्ध एव, रूपको भवतीति प्रक्रमः, अथ चतुर्थमाह–तेनापि–टंकेनापि,अपिशब्दाद्द्रव्येणापि उभयाभाव इत्यर्थः, विना तु–वियुक्तः पुनः, रूपको–मुद्रेति चिह्नमात्रमिति व्यपदिश्यते, अथोपदर्शितरूपकचतुष्टयस्य फलमतिदेशत आह–फलमिष्टार्थप्राप्तिलक्षणं प्रयोजनम्, इतः–अन्तरोक्ताच्चतूरूपकादेवमेव–रूपकस्वरूपवदेव भवति, तत्र क्रमेण पूर्णमीषदपूर्णं विवक्षितफलाभावः सर्वथा फलाभावश्चेति, किमन्त्यद्वयात् किञ्चिदपि फलं न भवतीत्यत्राह–मुग्धानां–मूढानां, प्रतारणं–वंचनं, मुक्त्वा–विरहय्य, अन्यत् फलं न भवति, तत्पुनर्भवतीति, अथवा सामान्यतो दृष्टान्तयोजनामाह–'एत्तोवि' वन्दनायाः सकाशादिति, अतिप्रसङ्गं नारय-

तं पुण अणत्थफलदं णेहाहिगयं जमणुवओगित्ति । आयगयं चिय एत्थं चिंतिज्जइ समयपरिसुद्धं ॥३७॥
भावेणं वण्णादिहिं चेव सुद्धेहिं वंदणा छेया । मोक्खफलच्चिय एसा जहोइयगुणा य णियमेणं ॥३८॥

माह-'सुद्धे'त्यादि, रूपकात्प्रतारणं स्यादु, वन्दनायास्तु न, इति गाथार्थः ॥३६॥ आद्यव्याख्यापक्षे पातनैवं-अथ तेनैव फलेन तत्फलयद्धविप्पतीत्याह-'तं पुणे'त्यादि, तत्पुनर्मुग्धप्रतारणलक्षणं रूपकान्त्यभंगकद्वयजन्यं फलम्, किमित्याह-अनर्थफलकम-नर्थफलदं वा-स्वपरयोरपकाररूपफलदायकम्, अत एव न-नैव, इह रूपकविचारेऽधिकृतं-प्रस्तुतं, किमिति नाधिकृतमित्याह-पवू-यस्मादनुपयोगि-निष्प्रयोजनम्, न हि सतामनर्थफलदेन परप्रतारणेन प्रयोजनमस्ति, इतिशब्दाः समाप्तौ, तर्हि किमिहाधि-क्रियत इत्याह-आत्मगतमेव-स्वविषयमेव, क्रायकलभ्यमित्यर्थः, न तु परविषयं प्रतारणादि, आयगतं वा-रूपकविनिमयेन योऽभि-प्रेतवस्तुलाभस्तद्गतमेवात्र-रूपकविचारे चिन्त्यते-विचार्यते,समयपरिशुद्धं, न त्वसद्व्यवहारगतं परप्रतारणमपीति, व्याख्यान्तरे त्वेवं-ननु वन्दनातोऽपि प्रतारणं दृश्यत आह-'तं पुणे'त्यादि, 'नेहत्ति' नात्र वन्दनालक्षणे दार्ष्टान्तिकेऽधिकृतम्, 'आयगयं चियत्ति' जीवविषयमेव, 'समयपरिसुद्धंति' आगमानुगतं मोक्षादि, शेषं तथैवेति गाथार्थः ॥३७॥ एवं दृष्टान्तं सफलमभिधाय दार्ष्टान्तिकं सफलमाह, अथवा सामान्यतो दार्ष्टान्तिकयोजनामभिधाय विशेषतस्तामेवाह—'भावेण'मित्यादि, भावेन-अपुनर्बन्धकाद्युचित-श्रद्धानभक्तिरूपेण द्रव्योपमेन वर्णादिभिरेव च-अक्षरप्रभृतिभिरेव टंककल्पैः, आदिशब्दात्तद्गतक्रियालंबनादिग्रहः, चैवशब्दो व्या-ख्यात एव, शुद्धैः-निरवद्यैः करणभूतैः, या वन्दना सा छेका-शुद्धा प्रथमरूपकोपमा, किंफलेयमित्याह-मोक्षफलैव-निर्वाणप्रयो-जनैव, प्रधानफलापेक्षया, न पुनः संसारफलेति, एषा वन्दना, ऐहलौकिकफलापेक्षया पुनरियं किंविधेत्याह-यथा-येन प्रकारेणो-

भावेणं वण्णादिहिं तहा उ जा होइ अपरिसुद्धत्ति । बीयगरूवसमा खलु एसावि सुहत्ति णिद्दिट्ठा ॥३९॥
भावविहूणा वण्णाइएहिं सुद्धावि कूडरूवसमा । उभयविहूणा णेया मुद्दप्पाया अणिट्ठफला ॥४०॥
होइ य पाएणेसा किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं । पाएण दुग्गइफला विसेसओ दुस्समाए उ ॥४१॥

दितः-अभिहितस्तथैव गुणः-फलं यस्याः सा यथोदितगुणा यथोचितगुणा वा, गुणश्चायं-"पायं इमीएँ जत्ते ण होइ इहलोगियावि हाणित्ति", चशब्दः समुच्चये, नियमेन-अवश्यंतया, इति गाथार्थः ॥३८॥ अथ द्वितीयरूपकयोजनामाह-'भावेण'मित्यादि, भावेन-उत्कपरिणामेन द्रव्योपमेन, युक्तेति शेषः, तथाशब्दस्य समुच्चयार्थस्येह संबंधात् तथा वर्णादिभिः-अक्षरप्रभृतिभिः, तुशब्दः पुनरर्थस्तस्य चैवं संबन्धः-या पुनर्वन्दना भवति-वर्तते, अपरिशुद्धा-सदोषा, इति-एवंप्रकारा, द्वितीयरूपकसमा-द्रव्ययुक्तटंकविहीनरूपकतुल्या, खलुर्वाक्यालङ्कारे, एषाऽपि-असावपि, न केवलमाद्यरूपकसमा, शुभा-प्रशस्ता मोक्षाभ्युदयफलसाधकत्वात्, इतिशब्द उपप्रदर्शने, निर्दिष्टा-तीर्थकरादिभिरभिहिता भावप्राधान्यात्, आह च-"क्रियाशून्यश्च यो भावो, भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥१॥" इति गाथार्थः ॥३९॥ अथ रूपकचरमभङ्गकद्वययोजनाह-'भावे'त्यादि, भावविहीना-अपुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धानभक्तिरहिता या सा, वर्णादिभिः-अक्षरप्रभृतिभिः, शुद्धाऽपि-निरवद्याऽपि, आस्तां सावद्या, कूटरूपसमा-द्रव्यरहितटंकयुक्ततृतीयरूपकतुल्या, तथा उभयविहीना-भाववर्णादिशुद्धिरहिता या सा, ज्ञेया-ज्ञातव्या, मुद्राप्राया-मुद्राकल्पा, चरमभङ्गकद्वयस्यापि फलमाह-अनिष्टफला-अनभिमतप्रयोजनाऽनर्थफलेतियावत्, इति गाथार्थः ॥४०॥ इयं चांत्यभङ्गकद्वयवन्दना केषां किंफला च विशेषेण भवतीत्याह-'होई'त्यादि, भवति च-संपद्यते पुनः, प्रायेण-बाहुल्येन, प्रायोग्रहणमक्लिष्टसत्त्वानामपि कदा-

अण्णे उ लोगिगच्चिय एसा णामेण वंदणा जइणी। जं तीइ फलं तं चिय इमीएँ ण उ अहिगयं किंचि ॥४२॥
एयंपि जुज्जइ च्चिय तदणारंभाउ तप्फलं व जओ। तप्पच्चवायभावोऽवि हंदि तत्तो ण जुत्तत्ति ॥४३॥

चिदनुपयोगावस्थायामियं भवतीति ख्यापनार्थम्, एषा–अनन्तरोक्ता रूपकचरमभङ्गकद्वयोपमिता वन्दना प्रायः क्लिष्टसत्त्वानां–संक्लेशबहुलजीवानां, क्लिष्टं वा सत्त्वं येषां ते तथा तेषां, मन्दबुद्धीनां–जडधियां मिथ्यात्वोपहतत्वात्, तथा प्रायेण–बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च केषांचित् मुद्राप्रायाऽपि सती सा संपूर्णवन्दनाहेतुत्वेन सुगतिफलाऽपि भवतीति ज्ञापनार्थं, दुर्गतिफला–कुदेवत्वादिप्रयोजना, विशेषत इति–अग्रोत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धाद्विशेषेण पुनः, दुष्षमायां–दुष्षमाकाले कालदोषादेव, इति गाथार्थः ॥४१॥ इहैवार्थे मतान्तरमाह–'अण्णे'त्यादि, एके तावदियमनिष्टफलेत्याहुः, अन्ये तु–अपरे पुनराचार्याः साक्षादनर्थफलताम-पश्यन्तोऽस्याः प्राहुः यदुत लौकिक्येव–सामान्यलोकसंबन्धिन्येव, न पुनर्जैनी, एषा–अनन्तरोक्ताऽन्त्यभङ्गकद्वयवन्दना, ननु अर्हद्वन्दनेतीयं प्रसिद्धा, न शिवादिवन्दनेत्यतः कथं नार्हतीत्याह–नाम्ना–अभिधानेनैव, न तु फलतः, वन्दना–चैत्यवन्दना, जैनी–जिनसंबन्धिनी, अथ कथमिदमवसीयत इत्याह–यत इति वाक्यशेषः, यदिति–यदेव तस्या लौकिकवन्दनायाः फलं–साध्यं तदेव नान्यद् अस्या–अन्त्यभङ्गकद्वयगतजैनवन्दनायाः, न तु–न पुनरधिकृतं–प्रस्तुतं जिनवन्दनोचितं मोक्षादि, अथवाऽधिकं–अर्गलतरं लौकिकवन्दनापेक्षयेति, किंचित्–किमप्यल्पीयोऽपि, इति गाथार्थः ॥४२॥ एतस्यैवाचार्यान्तरमतस्याभ्यनुज्ञानार्थमाह–'एय'मित्यादि, एतदपि–अनन्तरोक्तमाचार्यान्तरमतेन कुवन्दनाया लौकिकत्वमपि, न केवलमसदुक्तमनिष्टफलत्वमेव, युज्यत एव–घटत एव, तत्रोपपत्तिमाह–तदनारंभात्–जैनवन्दनानासेवनात्, अन्त्यवन्दनाद्वये हि अपुनर्बन्धकादिभावाभावाज्जैनवन्दनाया अनारंभ एव, तत्फल-

जमुभयजणणसभावा एसा विहिणेयरेहिं ण उ अण्णा । ता एयस्साभावे इमीएँ एवं कहं वीयं ? ॥४४॥

मिव–जैनवन्दनाराधनाजन्यस्वर्गापवर्गसंपत्तिक्षुद्रोपद्रवहान्यादिलक्षणफलमिव, यतो–यस्माद्धेतोः, यस्या–जैनवन्दनाया अविधिकृतायाः सकाशात् प्रत्यपाया–उन्मादरोगधर्मभ्रंशलक्षणा अनर्थास्तत्प्रत्यपायास्तेषां भावस्तत्प्रत्यपायभावः, सोऽपि, अपिशब्दादिष्टार्थभावोऽपि, हंदीत्युपप्रदर्शने, ततः–कुवन्दनातः, अथवा 'तत्तोत्ति' तत एव–जैनवन्दनानारंभादेव, अवधारणं चेह काकुपाठात्प्रतीयते, न युक्तो–न घटमानः स्यात्, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, इदमुक्तं भवति–यथा जैनवन्दनानारम्भान् मुद्राप्रायवन्दनायामिष्टफलं न युक्तमेवं जैनवन्दनानारंभादेव तज्जन्यानर्थोऽपि न युक्तः स्यात्, दृश्यते च मुद्राप्रायवन्दनायामनर्थाभावः यतोऽतोऽसौ जैनी न भवति, अपि तु लौकिक्येव, इति गाथार्थः ॥४३॥ अमुमेवार्थं भावयन्नाह–'जमुभे'त्यादि, यद्–यस्माद्धेतोः, उभयजननस्वभावा–इष्टानिष्टार्थोत्पादनबीजकल्पा, एषा जैनवन्दना, अथ कथमेकैवोभयजननस्वभावेत्याह–'विहिणेयरेहिंति' विधानेन क्रियमाणेनेष्टफला इतरैः–अविधिभिस्तु प्रत्यपायफला, लौकिक्यप्येवंभूतेति चेदित्यत्राह–न त्वन्या–न पुनरपरा, लौकिकीत्यर्थः, लौकिकत्वादेव, ततः किमित्याह–'ता' इति यत एवं तत्–तस्मादेतस्य–प्राग्दृष्टान्तीकृतस्येष्टफलस्याभावे–अभवने अस्यां–द्विविधकुवन्दनायाम्, एवं–अमुना न्यायेन विधीतराभ्यां सत्फलप्रत्यपायजनकत्वलक्षणेन, कथं–केन प्रकारेण ?, न कथञ्चिदित्यर्थः, द्वितीयं प्रत्यपायलक्षणं फलमित्यर्थः, अतः सुष्ठूक्तं 'तत्फलमिव तत्प्रत्यपायभावोऽपि न युक्त' इति, *यत्र च प्रत्यपायोऽपि न भवति सा जैनी* न भवति, अथवा तस्मादेतस्य–इष्टानिष्टफललक्षणस्योभयस्याभावोऽस्यां कथं बीजमिव–बीजं जैनीत्वम्, ? जैनी ह्यर्थानर्थबीजं, अथवा कथं बीजं ?–कथमपुनर्बन्धकादित्वं, तद्धि वन्दनाजन्यार्थानर्थबीजं, अतो बीजाभावादेषा लौकिक्येवेति युक्तमेव, इति गाथार्थः

तम्हा उ तदाभासा अण्णा एसत्ति णायओ णेया । मोसाभासाणुगया तदत्थभावाणिओगेणं ॥४५॥

सुहफलजणणसभावा चिंतामणिमाइएवि णाभव्वा । पावंति किं पुणेयं परमं परमपयबीयंति ? ॥४६॥

॥४४॥ इदमेव निगमयन्नाह–'तम्हे'त्यादि, यस्मादस्याः प्रत्यपायाभावाज्जैनीत्वं नास्ति तस्माद्धेतोः, तुशब्दोऽवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते, तदाभासा–जैनीसदृशी जिनादिशब्दानामुपादानाद्, अन्यैव–लौकिक्येव, एषा–अधिकृतदुर्वन्दना, इतिशब्द उपदर्शने, न्यायतः–उपपत्त्या, न्यायश्चानन्तरगाथोक्त एव, ज्ञेया–ज्ञातव्या, पुनः किंभूतेत्याह–मृषाभाषानुगता–असत्यवादान्विता, कथमित्याह–तदर्थे–वन्दनाभिधेयवस्तुनि भावस्य–सच्छ्रद्धानाद्यध्यवसायस्यानियोगः–अव्यापारस्तदर्थभावानियोगस्तेन, यदा हि 'ठाणेणं मोणेणं झाणेणं' इत्यादिपदानि तदर्थे भावमनियुञ्जानः समुच्चारयति तदा मृषावाद एव स्यात्, ध्यानादीनामसंपादनात्, अथवा तदर्थाभावाद्–वन्दनाप्रयोजनाभावात् नियोगेन–अवश्यंतया, गाथार्थः ॥४५॥ एवं तावदन्त्यभङ्गकद्वयगतवन्दना फलत उक्ता, अथाद्यभङ्गकद्वयगतवन्दनाया अभव्यानां दुर्लभतामतिपादनायाह–'सुहफले'त्यादि, 'सुहे'त्यादि, शुभफलानां–अभिमतप्रयोजनानां विशिष्टाभ्युदयादीनां सुखलक्षणफलानां वा जननं–उत्पादनं स्वभावः–स्वरूपं येषां ते तथा तान्, चिन्तामण्यादिकानपि–चिन्तारत्नप्रभृतिकानपि, आदिशब्दात्कल्पद्रुमादिपरिग्रहः, मकारस्त्वागमिकः, अपिशब्दार्थं तूत्तरार्धेन वक्ष्यति, न–नैव, अभव्याः–अयोग्याः, प्राप्नुवन्ति–आसादयन्ति, किं पुनरिति पदं अप्राप्तिविशेषद्योतकं, सुतरां न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः, एतां–वन्दनां, परमां–प्रधानामाद्यभङ्गकद्वयगतां, परमपदबीजं–निर्वाणहेतुं, इतिशब्दो हेत्वर्थस्तेन परमामेतां, परमपदबीजत्वादिति, समासार्थो वाऽयम्, इति गाथार्थः ॥४६॥ अभव्यास्तावदिमां न प्राप्नुवन्ति, भव्या अपि न सर्व एवेति दर्शयन्नाह—'भव्वे'त्यादि, भव्या अपि–योग्या

भव्वावि एत्थ णेया जे आसन्ना ण जाइमेत्तेणं । जमणाइ सुए भणियं एयं ण उ इट्ठफलजणगं ॥४७॥
विहिअपओसो जेसिं आसण्णा तेवि सुद्धिपत्तत्ति । खुद्दमिगाणं पुण सुद्धदेसणा सीहणायसमा ॥४८॥
आलोचिऊण एवं तंतं पुव्वावरेण सूरीहिं । विहिजत्तो कायव्वो मुद्धाण हियट्ठया सम्मं ॥४९॥

अपि, अभव्यास्तावदयोग्या एवेत्यपिशब्दार्थः, अत्र परमवन्दनाप्राप्तौ, ज्ञेया–ज्ञातव्याः, य एव केचिदासन्नाः, परमपदस्येति गम्यं, व्यतिरेकमाह–न जातिमात्रेण–न जात्यैव, भव्या इति प्रक्रमः, कुत एतदेवमित्याह–यद्–यस्मादनादिकालीनं, श्रुते–सिद्धान्ते, भणितं–उक्तम्, 'एतद्'भव्यत्व,न तु–न पुनः विद्यमानमपीष्टफलजनकं–अभिमतार्थसाधकं मोक्षप्रापकमित्यर्थः, सर्वभव्यानां निर्वाणाप्राप्तेरिति गाथार्थः ॥४९॥ तत्र ये तावदेतां विधिना सेवन्ते तद्विधिं वा श्रद्दधति ते आसन्नभव्याः, ये तु तां न द्विषन्ति तेऽप्यासन्ना एवेति दर्शयन्नाह—'विही'त्यादि, विधौ–विधाने सम्यक्करणे, वन्दनाया इति प्रक्रमः, प्ररूप्यमाणे वाऽप्रद्वेषः–अमत्सरो माध्यस्थ्यं भवति, येषां भव्यानां, आसन्ना–निकटवर्तिनः, परमपदस्येति गम्यं, तेऽपि, न केवलमासेवाश्रद्धानवन्त एवेति, कुत एवमित्याह–शुद्धिप्राप्ता–अवाप्तक्लिष्टकर्मक्षयोपशमा इतिकृत्वा, न हि क्लिष्टकर्मणां मार्गं प्रति माध्यस्थ्यमपि जायते, एतदेव दर्शयति–क्षुद्रमृगाणां–क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणानां, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, शुद्धदेशना–विशुद्धप्रज्ञापना, विधिविषय उपदेश इत्यर्थः, सिंहनादसमा–केशरिशब्दतुल्या, त्रासहेतुत्वादनिष्टेत्यर्थः इति गाथार्थः ॥४८॥ एवं वन्दनां प्रति विध्यविध्योः फलमुपदर्श्य विधेर्विधेयतामुपदिशन्नाह–'आलो'इत्यादि, आलोच्य–विमृश्य, एवं–पूर्वोक्तन्यायेन, तंत्रं–प्रवचनं, कथमित्याह–पूर्वश्च–तंत्रस्य पूर्वो भागोऽपरश्च–तस्यैवापरो भागः पूर्वापरं तेन, सप्तम्यर्थे वा एनप्रत्यये सति पूर्वापरेणेति स्यात्, पूर्वापरभागयोरित्यर्थस्तयोर-

तिव्वगिलाणादीणं भेसजदाणाइयाइं णायाइं। दट्ठव्वाइं इहं खलु कुग्गहविरहेण धीरेहिं ॥५०॥

॥ वंदणविही सम्मत्ता ॥

विशेषेणेतियावत्, अनेन चालोचनमात्रस्य व्यवच्छेदः, तस्य तत्त्वावबोधासमर्थत्वादिति, सूरिभिः-आचार्यैः पण्डितैर्वा, विधौ-विधाने वन्दनागते वेलाद्याराधनरूपे यत्नः-उद्यमो विधियत्नः, स कर्तव्यो-विधातव्यः, विमुक्तालस्यैः स्वयं वन्दना कार्या, अन्येऽपि विधिनैव सा विधापयितव्या इत्यर्थः, किमर्थमेतदेवमित्याह-मुग्धानां-अव्युत्पन्नबुद्धीनां, हितं-श्रेयस्तद्रूपो योऽर्थो-वस्तु स हितार्थस्तस्मै हितार्थाय, सम्यग्-अविपरीततया, यदा हि गीतार्था विधिना स्वयं वन्दनां विदधति अन्यांश्च तथैव विधापयन्ति तदा मुग्धबुद्धयोऽपि तथैव प्रवर्तन्ते, प्रधानानुसारित्वान्मार्गाणां, आह च-"जो उत्तमेहिं मग्गो पहओ सो दुक्करो न सेसाणं। आयरियंमि जयन्ते तयणुचरो केण सीएज्जा ? ॥१॥" तथा-"जे जत्थ जया जइया बहुस्सुया चरणकरणउज्जुत्ता। जं ते समायरंती आलंबण तिव्वगढाणं ॥१॥" जयत्ति दुष्षमादौ, जइयत्ति दुर्भिक्षादाविति, तथा प्रवृत्ताश्च ते वन्दनाराधनाजन्यं हितमासादयन्ति, तद्विराधनाजन्यप्रत्यपायेभ्यश्च मोचिता भवन्तीति, अयं चोपदेशोऽसमञ्जसतया स्वयं वन्दनां विदधानांस्तथाऽनवाप्तापुनर्बन्धकाद्यवस्थेभ्यस्तथाविधजिनागमादितल्लिङ्गविकलेभ्यो ददानान् प्रति,जनेऽपभ्राजना मा भूदित्यभिप्रायेण,इति गाथार्थः ॥४९॥ उपदेशशेषमाह-'तिव्वे'-त्यादि, तीव्रग्लानादीनां-अत्यन्तिकव्याधिमत्प्रभृतीनाम्, आदिशब्दाज्जघन्यमध्यमग्लानवृद्धबालादिग्रहः, भैषज्यदानादीनि-पथ्यवितरणप्रभृतिकानि, आदिशब्दादौषधदानादिपरिग्रहः, ज्ञातानि-निदर्शनानि, द्रष्टव्यानि-अवलोकनीयानि, इह वन्दनायां प्रस्तुतायाम्, तत्र यथा ग्लानाय बालाय वृद्धाय वा उचित एव काले उचितमात्रयैव उचितमेव पथ्यमौषधं वा दीयमानं गुणकरं, अन्यथा पुनर्दोषा-

यैव स्यात्, एवं सकलकल्याणकरणशीलाऽपि वन्दना योग्येभ्य एव विधिनैव दीयमाना तैरेव तथैव च विधीयमाना गुणकरी भवति, अन्यथा त्वनर्थसंपादिकैवेति । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । कथं द्रष्टव्यानीत्याह-कुग्रहविरहेण-अशास्त्रीयाभिनिवेशत्यागेन, कुग्रहश्चाविधिनाऽप्यसौ विधेया, दुष्षमायां विधेर्दुर्लभत्वात्, तस्यैव चाश्रयणे मार्गोच्छेदप्रसङ्गादित्यादिलक्षणः, धीरैः-सत्त्वाधिकैरविवेकिलोकापवादादबिभ्यद्भिर्बुद्धिमद्भिर्वेति । इह च केचिन्मन्यन्ते-शक्रस्तवमात्रमेव वन्दनं श्रावकस्य युक्तं, जीवाभिगमादिषु तन्मात्रस्यैव तस्य विजयदेवादिभिः कृतत्वेन प्रतिपादितत्वात्, तथाहि-जीवाभिगमे विजयदेवेन राजप्रश्नकृते सूरिकाभदेवेन जंबूद्वीपप्रज्ञप्त्यां च शक्रेण ज्ञाताधर्मकथायां च द्रौपद्या शक्रस्तवमात्रमष्टोत्तरवृत्तशतपाठान्वितं वन्दनं कृतमिति श्रूयते, ततस्तदाचरितप्रामाण्यात्तदधिकतरस्य च गणधरादिकृतसूत्रेऽनभिधानान्न शक्रस्तवातिरिक्तं तदस्तीति, अत्रोच्यते, यदुक्तं 'आचरितप्रामाण्या'-दिति तदयुक्तं, यतो यदिदं जीवाभिगमादिसूत्रं तद्विजयदेवादिचरितानुवादमात्रमेवेति न ततोऽधिकृतवन्दनोच्छेदः कर्तुं शक्यः, तेषां ह्यविरतत्वात्प्रमत्तत्वाच्च तावदेव तद्युक्तं, तदन्येषां पुनरप्रमादविशेषवतां विशेषभक्तिमतां तदधिकत्वेऽपि न दोषः, यदि पुनस्तच्चरितमवलंब्य प्रवृत्तिः कार्या तदा बह्वन्यदपि कर्तव्यं स्यात् विधेयतयाऽङ्गीकृतमपि च बहु वर्जनीयं स्यात्, तथाहि-विजयदेवादिभिर्द्वारशाखाशालभञ्जिकादेहलीस्तंभमंडपमध्यगतशस्त्रधूपपीठसिंहासनपुष्करिण्यादि पूजितं, तथा भरतेन परिव्राजकवेषधारी मरीचिर्वन्दितः, भ्रातुर्वधाय चक्रमुदीर्णं, भगिनी प्रव्रजन्ती भोगार्थं विधृता, द्रौपद्या पञ्च भर्तारो विहिताः, प्रदेशिना च राज्ञा सत्रागाराणि च कारितानीति, एवमन्येनापि सर्वमेतद्विधेयं स्यात्, धर्मकृत्यमेव तदीयमालंबनीयमिति चेदेवं तर्हि विजयदेवादिभिः सिद्धप्रतिमास्नपनं स्वकीयपुष्करिणीजलेन कृतमितीन्द्राणां जिनजन्माभिषेकस्तेनैव विधेयः स्यात्, न पुनर्नानाविधतीर्थोदकमृत्ति-

काकपायादिभिः, विजयदेवादीनां वा पुष्करिणीजलेन तन्नोचितं स्यादिन्द्रैरन्यथा जिनजन्मस्नानस्य कृतत्वाद्, इन्द्राणां वा निर्वाणमज्जन क्षीरोदकेनैव न विधेयं स्यात्, जन्मनिष्क्रमणमज्जनयोस्तीर्थोदकादिभिस्तैरेव कृतत्वात्। तथा शक्रस्तवपाठोऽञ्चितवामजानोर्भून्यस्तदक्षिणजानोरेव च विधेयः स्यात्, इन्द्रादिभिस्तथा तस्य कृतत्वात्, न पुनः पर्यङ्कासनस्यस्यानशनप्रतिपत्तिकाले मेघकुमारसेव, तथा तण्डुलैरष्टाष्टमंगलकानि कृतानि देवैस्तथैव बलिरन्येनापि विधेयः स्यात्, न पुनर्विचित्रभ(भु)क्त्यादिभिः, एवमारात्रिकलवणाव तारणजलावतारणाद्यपि न विधेयं स्यात् इन्द्रादिभिर्विहितत्वेन जीवाभिगमादिष्वनभिहितत्वादिति, यच्चोक्तं 'तदधिकतरस्य तस्यानभिधाना'दिति तदयुक्तम्, 'तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइया' इत्यादिव्यवहारभाष्यवचनश्रवणात्, साध्वपेक्षया तदिति चेत् नैवं, साधुश्रावकयोः दर्शनशुद्धेः कर्तव्यत्वात् दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वाच्च वन्दनस्य। तथा संवेगादिकारणत्वादशठसमाचरितत्वाज्जीतलक्षणस्येहोपपद्यमानत्वाच्चैत्यवन्दनभाष्यकारादिभिरेतत्करणस्य समर्थितत्वाच्च तदधिकतरमपि तन्नायुक्तम्। न च वाच्यं भाष्यकारादिवचनान्यप्रमाणानि, तदप्रामाण्ये सर्वथाऽऽगमानवबोधप्रसङ्गाद्, आवश्यकानुज्ञाने च चैत्यवन्दनस्यानुज्ञातत्वादावश्यकान्तःपातित्वाच्चैत्यवन्दनसूत्रस्येत्यलं प्रसङ्गेन। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ चैत्यवन्दनविधिप्रकरणं समाप्तं वृत्तितः ॥

॥ अथ चतुर्थपंचाशकवृत्तिः ॥

उक्तोऽर्हच्चैत्यवन्दनविधिः, वन्दनं च पूजापूर्वकं कार्यमिति पूजाविधिमभिधित्सुर्मङ्गलादि प्रतिपादनायाह—

'नमिऊणे'त्यादि, नत्वा—प्रणम्य। महावीरं—वर्धमानजिनम्। जिनपूजाया—अर्हदर्चनस्य। विधिं—विधानम्। प्रवक्ष्यामि—

नमिऊण महावीरं जिणपूजाए विहिं पवक्खामि । संखेवओ महत्थं गुरूवएसाणुसारेण ॥१॥
विहिणा उ कीरमाणा सव्वचिय फलवती भवति चेट्ठा। इहलोइयावि किं पुण जिणपूया उभयलोगहिया ? ॥२॥
काले सुइभूएणं विसिट्ठपुप्फाइएहिं विहिणा उ। सारथुइथोत्तगरुई जिणपूजा होइ कायव्वा ॥ ३ ॥

भणिष्यामि । संक्षेपतः–समासतः, विस्तरतस्तु पूर्वसूरिभिरेव तस्योक्तत्वात्। एवं तर्ह्यल्पार्थं तद्भविष्यति इत्याशङ्क्याह–महार्थं–बृहदभिधेयं बृहत्प्रयोजनं वा । स्वयमुत्प्रेक्षितमेतदित्याशङ्कयानादेयमिदं मा भूदित्याह–गुरूपदेशानुसारेण–आचार्यशिक्षानुवर्तनेन ॥ इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अथ पूजाविधिभणने किं प्रयोजनमित्याह—'विहिणे'त्यादि, विधिनैव–यथोचितविधानेनैव । तुशब्द एवकारार्थः । क्रियमाणा–विधीयमाना । सर्वैव–समस्ताऽपि । फलवती–साध्यसाधिका। भवति–जायते। चेष्टा–क्रिया । ऐहलौकिक्यपि–इहलोकप्रयोजनाऽपि,कृष्यादिकाऽपीत्यर्थः। किं पुनरिति विशेषद्योतनार्थः,सुतरामित्यर्थः। जिनपूजा-अर्हदर्चनम्। किंभूता ?–उभयलोकहिता–इहलोकपरलोकयोर्हितकरीति, उभयलोकहितत्वाद्विशेषतो जिनपूजा विधिनैव विधीयमाना फलवती भवति । ततस्तद्विधिः प्ररूपणीयो भवतीति गाथार्थः ॥२॥ अथ विधिमाह—'काले'त्यादि, काले–समये वक्ष्यमाणस्वरूपे, कर्तव्येति संबंधः । तथा शुचिभूतेन–भूतशब्दस्य प्रकृतिमात्रार्थत्वाच्छुचिना, अथवा भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भूतशब्दस्य प्राप्त्यर्थत्वाच्च शुचितां प्राप्तेन, अथवा शुचिश्चासौ भूतश्च–संवृत्तः प्राणी वा शुचिभूतस्तेन, विशुद्धिमतेत्यर्थः। तथा विशिष्टपुष्पादिभिः–प्रधानसुमनःप्रभृतिभिः करणभूतैः, आदिशब्दार्थं स्वयमेव वक्ष्यति । तथा विधिना–वक्ष्यमाणविधानेनेति। तुशब्दः समुच्चयार्थः । तथा सारस्तुतिस्तोत्रगुर्वी–प्रधानस्तुतिस्तोत्रमहती, स्तुतिश्चैकश्लोकप्रमाणा स्तोत्रं तु बहुश्लोकमानं। जिनपूजा–अर्हदर्चनम्। भवति–वर्तते। कर्तव्या

कालम्मि कीरमाणं किसिकम्मं बहुफलं जहा होइ । इय सव्वच्चिय किरिया णियणियकालम्मि विण्णेया ॥४॥
सो पुण इह विण्णेओ संझाओ तिण्णि ताव ओहेण । वित्तिकिरियाऽविरुद्धो अहवा जो जस्स जावइओ ॥५॥
पुरिसेणं बुद्धिमया सुहबुद्धिं भावओ गणंतेणं । जत्तेणं होयव्व सुहाणुबंधप्पहाणेण ॥६॥

विधेया । इति द्वारगाथासमासार्थः ॥३॥ अथ जिनपूजायां कालः किमित्याश्रीयते इत्याह—'कालम्मि'इत्यादि, काले–प्रावृडादि-समये,निजे इति शेषः। क्रियमाणं–विधीयमानं। कृषिकर्म–क्षेत्रकर्षणक्रिया। बहुफलं–प्रभूतधान्यादिसाधकम्। यथा–येन प्रकारेण। भवति–जायते। इति–अनेनैव प्रकारेण। 'सव्वच्चिय'त्ति सर्वाऽपि–समस्ताऽपि, आस्तां जिनपूजाक्रियाकर्म। निजनिजकाले–स्वकीयस्व-कीयावसरे क्रियमाणा, बहुफलेति शेषः। विज्ञेया–ज्ञातव्या। भवतीति। अतो जिनपूजायाः करणे कालः समाश्रयणीय इति गाथार्थः ॥४॥ अथ पूजाकालं विशेषतो दर्शयन्नाह—'सो पुणे'त्यादि,स इति यः सर्वक्रियासु बहुफलनिबन्धनत्वेन प्रागुपदिष्टोऽसौ कालः। पुनरिति विशेषप्रतिपादनार्थः। इह–जिनपूजायां विषये। विज्ञेयो–ज्ञातव्यः। किंभूत इत्याह–सन्ध्याः–कालवेलाः। तिस्रः–त्रिसंख्याः। तावदिति वक्ष्यमाणापवादिककालापेक्षया प्रथमोऽयमिति क्रममात्रसूचनार्थः। ओघेन–सामान्येनोत्सर्गत इत्यर्थः। अथापवादमाह–वृत्तिः–जीवनं तदर्थाः क्रियाः–कर्माणि राजसेवावाणिज्यादीनि तासामविरुद्धः–अबाधको वृत्तिक्रियाऽविरुद्धः। अथवेति विकल्पार्थः, ततश्चापवादत इत्युक्तं भवति। यः पूर्वाह्णादिः। यस्य राजसेवकवाणिज्यकादेः। 'जावइओ'त्ति यत्परिमाणो यावान् स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिमाणः स तस्य तावत्कः पूजाकालो भवति, न पुनः सन्ध्यात्रयरूप एव। इति गाथार्थः ॥५॥ अथ किमर्थमापवा-दिककालप्ररूपणमित्याशङ्क्याह—'पुरिसेणं'इत्यादि, पुरुषेण–नरेण, नरग्रहणं चेह प्रायः पुरुषस्य प्राधान्यात्, अथवा पूः–शरीर

वित्तीवोच्छेयम्मि य गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ । णिरवेक्खस्स उ जुत्तो संपुण्णो संजमो चेव ॥७॥

ताऽऽसिं अविरोहेणं आभिग्गहिओ इहं मओ कालो । तत्थावोच्छिण्णो जं णिच्चं तक्करणभावोत्ति ॥८॥

वत्र शयनात्पुरुषो-जीवस्तेन । बुद्धिमता धीमता, बुद्धिमानेव हि औचित्येन वर्तत इति बुद्धिमद्ग्रहणम् । किं कुर्वता तेनेत्याह-शुभवृद्धि-कल्याणोपचयं सुखवर्धनं वा । भावतः-परमार्थतः । गणयता-आत्मनोऽभिवाञ्छता सता । किमित्याह-यत्नेन-आदरेण । भवितव्यं भाव्यं । शुभानुबंधप्रधानेन-कुशलाविच्छेदपरेण, यथा कल्याणसन्तानो वर्धते तथा यत्नो विधेयः । वृत्तिक्रियाविरुद्धसमये पूजासेवनेनातो व्यवच्छिद्यते अतः पूजायामापवादिकः कालः समाश्रीयते । इति गाथार्थः ॥६॥ अथ कथमापवादिककालानाश्रयणे शुभसंतानव्यवच्छेदः स्यात्?, वृत्तिव्यवच्छेदादिति ब्रूमः एतदेवाह—'वित्तीवोच्छेयम्मि' इत्यादि, वृत्तिव्यवच्छेदे-जीविकाविघाते वृत्तिक्रियाविरुद्धपूजाकालाश्रयणे कृते । चशब्दो विशेषद्योतकः पुनःशब्दार्थस्तस्य चैवं भावना-वृत्तिक्रियाविरुद्धकालाश्रयणे वृत्तिव्यवच्छेदो भवति । वृत्तिव्यवच्छेदे पुनः किमित्याह-गृहिणो-गृहस्थस्य । सीदन्ति-न प्रवर्तन्ते । सर्वक्रिया-धर्मलोकाश्रिताः समस्तव्यापाराः । अथ सीदन्तु ताः, सकलकल्मषविमोषपरपरमगुनिपदपङ्कजपूजनप्रवृत्तस्य किं ताभिरित्यत्राह-निरपेक्षस्य तु-वृत्तिनिःस्पृहस्य पुनः पुरुषस्य । युक्तः-संगतो विधेयतया । संपूर्णः-सर्वविरतिरूपतया परिपूर्णः । संयमश्चैव-साधुधर्म एव, साधोरिव, अन्यथा सर्वथा निरपेक्षतासिद्धेः ॥ इति गाथार्थः ॥७॥ अथ कालद्वार निगमयन्नाह—'ताऽऽसिं अविरोहेणं' इत्यादि, तत्-तस्मादासां-वृत्तिक्रियाणां, तासां वा, अविरोधेन-अनाबाधया, अभिग्रहः-चैत्यवन्दनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः तत्रोऽवनमस्येत्याभिग्रहिकः । इह-जिनपूजायां विषये, मतो-विदुषां संमतः कालः-अवसरः । अथ कथमभिग्रहोऽसौ-यतोऽभिग्रहेण

तत्थ सुइणा दुहावि हु दव्वे ण्हाएण सुद्धवत्थेण । भावे उ अवत्थोचियविसुद्धवित्तिप्पहाणेण ॥९॥

ण्हाणाइवि जयणाए आरंभवओ गुणाय णियमेण । सुहभावहेउओ खलु विण्णेयं कूवणाएणं ॥१०॥

लात्र–अकाले पूजायां प्रवर्त्यतेऽसौ,स्वरसप्रवृत्तिरेव च गुणकरीत्याशङ्क्याह–तत्र–अभिग्रहे सति । अविच्छिन्नः-अत्रुटितः,यद्-यस्मा-
त्यं–प्रतिदिनं,तत्करणभावः–पूजाविधानाध्यवसायो भवति, तत्परिणामाव्यवच्छेदस्य चाव्यवच्छिन्नपुण्यबंधहेतुत्वादभिमत एवा-
प्रवृत्तिकः पूजाकाल इति भावः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥८॥ उक्तं कालद्वारम्, अथ शुचिद्वाराभिधानायाह—
तत्थ सुइणे'त्यादि,'तत्थ'त्ति शुचिभूतेनेति यत् द्वारमुक्तं तत्रेदमुच्यते–शुचिना–शुचिमता प्राणिना,द्विधापि–द्वाभ्यामपि प्रकारा-
भ्यां,आस्तामेकधेत्यपिशब्दार्थः, हुशब्दः समुच्चये तत्प्रयोगश्च दर्शयिष्यते,जिनपूजा कर्तव्येति प्रक्रमः। द्वैविध्यं च द्रव्यभावापेक्षम्,
तदेवाह–द्रव्ये–द्रव्यशौचविषये,स्नातेन–जलक्षालितदेहेन,देशतः सर्वतो वा,तत्र देशतो विहितकरचरणमुखादिशौचेन, सर्वतस्तु
क्षालितसर्वशरीरेणेति,तथा शुद्धवस्त्रेण–शुचिनिवसनोत्तरीयवाससा च,सितवस्त्रेण वा,भावे तु भावशौचे पुनर्विषयभूते। अवस्थोचि-
ता–देशकालविशिष्टावस्थापेक्षया स्वभूमिकायोग्या विशुद्धा–निरवद्यप्राया वृत्तिः–जीविका तया प्रधानः–शोभनो यः सा वा प्रधाना
यस्य स तथा तेन, न्यायोपात्तवित्तवित्तयुक्तेनेति भावः, न्याय एव हि भावतः शौचं,कर्ममलपटलक्षालनजलकल्पत्वात्तस्य । इति गा-
थार्थः ॥९॥ ननु स्नानादिकं जीवनिकायवधहेतुत्वाद्दुष्टमतो न विधेयं तदित्याशङ्क्याह—'ण्हाणाई'त्यादि,स्नानाद्यपि–देहशौचप्र-
भृतिकमपि, आस्तां तद्वर्जनं पूजा वा, आदिशब्दाद्विलेपनादिग्रहः, गुणायेति योगः,यतनया–रक्षयितुं शक्यजीवरक्षणरूपया, तत्किं
साधोरपीत्याशङ्क्याह–आरंभवतः-स्वजनधनगेहादिनिमित्तं कृष्यादिकर्मभिः पृथिव्यादिजीवोपमर्दनयुक्तस्य, गृहिण इत्यर्थः,न पुनः

साधोः, तस्य सर्वसावद्ययोगविरतत्वाद्भावस्तवारूढत्वाच्च, भावस्तवारूढस्य हि स्नानादिपूर्वकद्रव्यस्तवोऽनादेय एव, भावस्तवार्थमेव तस्याश्रयणीयत्वात्, तस्य च स्वत एव सिद्धत्वात्। इमं चार्थं प्रकरणान्तरे स्वयमेव वक्ष्यतीति, गुणाय-पुण्यबन्धलक्षणोपकाराय, नियमेन-अवश्यंभावेन, अथ कथं स्वरूपेण सदोषमप्यारंभिणो गुणायेत्याह-शुभभावहेउत्ति शुभभावप्रत्ययत्वेन निर्देशस्य शुभभावहेतुत्वात्-प्रशस्तभावनिबन्धनत्वात् जिनपूजार्थस्नानादेः, अनुभवन्ति च केचित्स्नानपूर्वकं जिनार्चनं विदधानाः शुभभावमिति, खलुर्वाक्यालङ्कारे, विज्ञेयं-ज्ञातव्यम्, अथ गुणकरत्वमस्य शुभभावहेतुत्वात् कथमिव ज्ञेयमित्याह-कूपज्ञातेन-अवटोदाहरणेन, इह चैवं साधनप्रयोगः-गुणकरमधिकारिणः किञ्चित्सदोषमपि स्नानादि विशिष्टशुभभावहेतुत्वाद्, विशिष्टशुभभावहेतुभूतं यत्तद्गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननम्, विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया स्नानादि, ततो गुणकरमिति, कूपखननपक्षे शुभभावः तृष्णादिव्युदासेनानन्दावाप्तिरिति, इदमुक्तं भवति-यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्याधनन्तरोक्तदोषापोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय च किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारंभदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबंधकारणं भवतीति, इह केचिन्मन्यन्ते-पूजार्थस्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभावाद्विषममित्थमुदाहरणं तत्किलेदमित्थं योजनीयं-यथा कूपखननं स्वपरोपकाराय भवत्येवं स्नानपूजादिकं करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयोः पुण्यकारणं स्यादिति, न चैतदागमानुपाति, यतो धर्मार्थप्रवृत्तावप्यारंभजनितस्याल्पस्य पापस्येष्टत्वात्, कथमन्यथा भगवत्यामुक्तं-तहारूवं णं समणं वा माहणं वा पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे भंते! किं कज्जइ?, गोयमा!, अप्पे पावे कम्मे बहुयरिया से निज्जरा कज्जइ', तथा ग्लानप्रतिचरणानन्तरं पञ्चकल्या-

भूमीपेहणजलछाणणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ। एत्तो विसुद्धभावो अणुहवसिद्धो चिय बुहाणं ॥११॥
अन्नत्थारंभवओ धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो। लोए पवयणखिंसा अबोहिबीयंति दोसा य ॥१२॥

णकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथं स्यात् इत्यलं प्रसङ्गेन। इति गाथार्थः ॥१०॥ यतनया विहितस्य स्नानादेः शुभभावहेतुत्वं प्रागुक्तम्, अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहेतुतां च यतनाकृतस्नानस्य दर्शयन्नाह—'भूमीपेहे'त्यादि, भूमेः प्रेक्षणं च—स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं जलच्छाणनं च—पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनं आदिः—प्रमुखं यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादि, आदिशब्दान्मक्षिकारक्षणादिग्रहः। तत्किमित्याह—यतना—प्रयत्नविशेषः, तुशब्दः पुनरर्थः, तद्भावना चैवम्—स्नानादि यतनया गुणकरं भवति, यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादिः। भवति—वर्त्तते। केत्याह—स्नानादौ—अधिकृते देहशौचविलेपनजिनार्चनप्रभृतिनि च, इह च प्राकृते ओकारश्रुतेरभावात् ण्हाणाओ इत्येवं पठ्यते इति, 'एत्तो'त्ति इतः—पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभावः—शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव—स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव, बुधानां—बुद्धिमताम्, अनेन च शुभभावहेतुत्वादित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताशंका परिहृता। इति गाथार्थः ॥११॥ 'आरंभवतो यतनया स्नानादि गुणाये'ति यत्प्रागुक्तं तत्र कश्चिदाह—आरंभवानपि यद्यधिकतरपापभीरुतया धर्मार्थं स्नानादि न करोति तदा न क्षुणमुत्पश्यामः इत्याशङ्क्याह—'अन्नत्थारंभओ'त्यादि, अन्यत्र—अधिकृतस्नानादेरपरत्र विविधदेहगेहादिकर्मसु आरंभवतो—भूतोपमर्दनकारिणः सतो देहिनः धर्मे—धर्मविषये जिनार्चनादिनिमित्तमित्यर्थः 'अणारंभओ'त्ति अनारंभ एवानारंभको—भूतोपमर्दनपरिहारः, किमित्याह—अनाभोगो—ज्ञानाभावो वर्तते, अनाभोगकार्यत्वादनारंभस्य, अथवा—अनारंभतः—अनारंभादनाभोगोऽवसीयते, ज्ञानाभाव एव हि शास्त्रानुमतोऽपि जिनार्चनादिगत आरंभोऽकृत्यतयाऽव-

अविसुद्धावि हु वित्ती एवं चिय होइ अहिगदोसा उ। तम्हा दुहावि सुइणा जिणपूजा होइ कायव्वा ॥१३॥

गंधवरधूवसव्वोसहीहिं उदगाइएहिं चित्तेहिं। सुरहिविलेवणवरकुसुमदामबलिदीवएहिं च ॥१४॥

सिद्धत्थगदहिअक्खयगोरोयणमाइएहिं जहलाभं। कंचणमोत्तियरयणाइदामएहिं च विविहेहिं॥ युग्मम् ॥१५॥

भासते, तथा लोके–शिष्टजने, गम्यत इत्यर्थः, प्रवचनखिंसा–जिनशासनाश्लाघा "पूजाविधानाप्रतिपादनपरं जिनशासनं, अन्यथा कथमार्हताः शौचादिव्यतिरेकेणापि जिनं पूजयन्ति ?" इत्यादिरूपा भवति, सा चाबोधेः–जन्मान्तरे जिनधर्माप्राप्तेर्बीजमिव बीजं–हेतुरबोधिबीजं,इति–एतावनन्तरोक्तौ दोषौ–दूषणे भवतः, चशब्दोऽनाभोगापेक्षया समुच्चयार्थः, अथवा दोषाय–भवप्राप्तिलक्षणाय तदबोधिबीजं संपद्यते, इतिशब्दः समाप्तौ, ततो द्रव्यतः स्नातेन शुद्धवस्त्रेण च जिनपूजा विधेयेति स्थितमिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ अथ भावशौचानाश्रयणे दोषाभिधानायाह–'अविसुद्धे'त्यादि, अविशुद्धा–अवस्थाया अनौचित्येन सावद्या, अपिशब्दो भिन्नक्रमः, हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, वृत्तिरपि–जीविकाऽपि, न केवलं स्नानाद्यभाव एव,'एवं चिय'त्ति एवमेव–अनेनैव प्रकारेण स्नानादिद्रव्यशौचाकरणप्रदर्शितेन. भवति–संपद्यते, अधिकदोषा तु–द्रव्यशौचाभावापेक्षया प्रचुरदूषणैव, यतोऽनाभोगादयो द्रव्यशौचाभावोक्ता दोषास्तावदशुद्धवृत्त्या भवन्त्येव, अन्ये च राजनिग्रहादयो भवन्ति, अन्यायरूपत्वात्तस्याः, अथ 'शुचिभूतेने'त्येतद्द्वारोपसंहाराय 'तम्हे'ति यस्माद्द्रव्यशौचभावशौचाभावे एते दोषा भवन्ति तस्माद्धेतोः द्विधाऽपि–द्रव्यभावभेदप्रकारद्वयेनापि, आस्तामेकप्रकारेण, शुचिना शुचिभूतेन जिनपूजा–अर्हदर्चनं भवति–वर्तते कर्तव्या–विधेयेति गाथार्थः ॥१३॥ उक्तं 'शुचिभूतेने'ति द्वारम् ,अथ 'विशिष्टपूजादिभि'रित्येतद्द्वारप्रतिपादनायाह–'गंधे'त्यादि. 'सिद्धे'त्यादि च, द्वारगाथायां पुष्पादिभिरित्येवं द्वारस्य निर्दिष्टत्वाद्गन्धे-

पवरेहिं साहणेहिं पायं भावोऽवि जायए पवरो । ण य अण्णो उवओगो एएसि सयाण लट्ठयरो ॥१६॥

त्यादि न युक्तं, अत्रोच्यते, पुष्पादिरित्यत्रादिशब्दस्य प्रकारार्थत्वेन पुष्पादिभिः–पुष्पप्रकारैरिति व्याख्यानान्न दोषः, गन्धवरधूपः–प्रधानधूपो गन्धवरो वा–गन्धप्रधानो धूपः–कृष्णागरुप्रभृतिगन्धयुक्तिप्रसिद्धः, सर्वौषधयो–लोकरूढाः, एतेषां द्वन्द्वस्ताभिः, जिनपूजा भवति कर्तव्येत्यनेन द्वारगाथोक्तेन योगः, तथोदकादिभिः–जलप्रभृतिभिः, आदिशब्दादिक्षुरसघृतदुग्धादिपरिग्रहः, चित्रैः–विविधैः, एभिः पुनः पूजा जिनबिंबस्य स्नपनद्वारेण पुरतः स्थापनाद्वारेण वा यथारूढि स्यात्, उभयथाऽपि पूजात्वेनाविरुद्धत्वात् । अथ जीवाभिगमादिषु इक्षुरसादीनां पूजात्वेनाप्रदर्शितत्वान्न युक्तं तेषामादिशब्दोपादानव्याख्यानं, नैवं, जीवाभिगमाद्यप्रदर्शितानामपि बलिदीपगोरोचनादीनामिहोक्तत्वेन तदुपदर्शितस्य पूजाविधानस्याव्यापकत्वात्, अत एव जीवाभिगमे नन्दापुष्करिणीजलेन स्नानोक्तावपि जंबूद्वीपप्रज्ञप्त्यां नानाविधैर्जलैर्मृत्तिकातुवरादिद्रव्यैश्च स्नपनमुक्तम् । अथ घृतादिभिः स्नपनं न युक्तं, विगन्धित्वात्तेषां, को वा किमाह ?, यतो यानि गन्धादिभिः सुन्दराणि घृतादिद्रव्याणि शोभावहानि कर्तृद्रष्टॄणां भावोल्लासकारीणि तेरेव च तद्विधेयं, यतो वक्ष्यति–"जह रेहति तह सम्मं कायव्वमणण्णचेट्ठेणं"ति, तथा सुरभिविलेपनं–सुरभिश्रीखंडाद्यनुलेपनं, वरकुसुमदामानि–प्रधानपुष्पमाल्याः, बलिः–उपहारः, दीपकः–प्रदीपकः, एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैः। चशब्दः समुच्चये। सिद्धार्थकाः–सर्षपाः दपि च प्रतीतं अक्षताश्च–तण्डुला दध्यक्षतं, गोरोचना–गोपित्तजा, एषां द्वन्द्वोऽतस्तदादिभिः–एवंप्रभृतिभिः, आदिशब्दाच्छेषमंगलवस्तुपरिग्रहः। यथालाभं–यथासंपत्ति । कांचनमौक्तिकरत्नादिदामकैश्च–कनकमुक्ताफलमाणिक्यमालादिभिश्च विविधैः–बहुप्रकारैः। इति गाथाद्वयार्थः ॥ १४-१५॥ अथ कस्माद्विशिष्टपुष्पादिभिरेवं पूजा विधीयते इत्याशंक्याह–'पवरे'त्यादि, प्रवरैः–

इहलोयपारलोइयकज्जाणं पारलोइयं अहिगं । तंपि हु भावपहाणं सोऽवि य इयकज्जगम्मोत्ति ॥१७॥

उत्कृष्टैः साधनैः-पूजाकारणद्रव्यैः प्रायो-बाहुल्येन, कस्यापि क्लिष्टकर्मणः प्रवरसाधनैरपि न जायते प्रवरभावः,तस्मादन्यस्यातिशुभकर्मणः प्रवरद्रव्याणि विनैव प्रवरभावो जायते इत्येतदर्थसूचनाय प्रायोग्रहणं, भावोऽपि-अध्यवसायोऽपि, न केवलं द्रव्याण्येव प्रवराणीत्यपिशब्दार्थः, जायते-सम्पद्यते प्रवरः-प्रधानोऽशुभकर्मक्षयहेतुः, भवति च द्रव्यविशेषाद्भावविशेषः, यदाह-"गुणभूइट्ठे दव्वंमि जेणमित्तोऽहियत्तणं भावे । इय वत्थूओ इच्छति ववहारो निज्जरं विउलं ॥१॥" इत्येकं प्रवरद्रव्योपादाने कारणम् । अथ कारणान्तरमाह-न-नैव, चः समुच्चये, अन्यो-जिनपतिपूजातोऽपरः उपयोगो-विनियोगस्थानं एतेषां-प्रवरसाधनानां सतां-विद्यमानानां लष्टतरः-प्रधानतरो भवति, यदाह-"देहः पुत्रः कलत्रं वा, संसारायैव सत्कृताः । वीतरागस्तु भव्यानां, संसारोच्छित्तये भवेत् ॥ १ ॥" इति । अतः प्रवरपुष्पादिभिः पूजा विधेया । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ अमुमेवार्थं भावयन्नाह-'इहे'त्यादि, इहलौकिकपारलौकिककार्ययोः-वर्तमानभवपरभवप्रयोजनयोः साध्ययोर्मध्ये पारलौकिकं-पारभविकं (अधिकं-) प्रधानतरं, विशेषतस्तस्य साधनीयत्वात्, तदसाधने बहुतमानर्थसंभवात्, पारलौकिकं कृत्यं च जिनपूजेत्यतो नान्यदुपयोगस्थानं लष्टतरं प्रवरसाधनानामिति । तत्र च यत्प्रधानं तद्दर्शयितुमाह-'तंपि हु'त्ति तत्पुनः-पारलौकिकं कार्यं भावः-आत्मपरिणामः प्रधानः-साधकतयोत्तमो यस्मिंस्तद्भावप्रधानं-शुभभावसाध्यम् । अतोऽसौ-भावविशेषो विशिष्टपारलौकिककार्यार्थिना समाश्रयणीय इति हृदयम् । यदि नाम भवानं ततः किमित्याह-'सोऽवि य'त्ति स पुनः-पारलौकिककार्यहेतुभूतो भावः इतिकार्यगम्यः-इति-एवंविधमनन्तरोक्तं यत् कार्यं-भावस्य कृत्यं पूजार्थप्रवरपुष्पाद्युपादानरूपं तेन यो गम्यो-निश्चेतव्यः स इतिकार्यगम्यः, इतिशब्दः समाप्तौ, इदमुक्तं भवति-

ुरूवं विसिट्ठपुप्फाइएहिं जिणपूजा । कायव्वा बुद्धिमया तम्मी बहुमाणसारा य ॥१८॥
वेही विसेसओ सव्वमेव जत्तेणं । जह रेहति तह सम्मं कायव्वमणण्णचेट्ठेणं ॥१९॥

भावकार्यत्वात् प्रवरसाधनोपादानस्य शुभभावं सफलयद्भिस्तद्विधेयं भवति । इति गाथार्थः॥१७॥ अथाधि-
ना'इत्यादि, ता इति यस्मात् प्रवरसाधनैः प्रवरो भावो भवतीत्याद्युक्तं तत्-तस्माद्धेतोर्निजविभवस्य-स्वकीय-
ावो यस्य पूजाकरणस्य तन्निजविभवानुरूपं,कर्तव्येतिक्रियाया विशेषणमिदं । विशिष्टपुष्पादिभिः-उक्तस्वरूपैः
व्या-विधेया बुद्धिमता-धीमता, बुद्धिमानेव ह्युपादेयोपादानक्षमो भवतीति बुद्धिमतेत्युक्तं । तथा तस्मिन्-
प्रधाना, तद्यथा-अनुपकृतपरहितरतः शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान् । पूज्यो हितकामानां जिननाथो
पूजनं पूजा-षोडशके) ॥१॥ चशब्दः पूर्वोक्तविशेषणापेक्षया समुच्चयार्थः। इति गाथार्थः ॥१८॥ अथ विधि-
'इत्यादि,येन विधिना द्वारगाथायां पूजा कर्तव्यतया सूचिता असौ-एष एव पूर्वोक्तः कालाराधनशौचादिः
:-विधानं सामान्यत एव, यदि पुनः सर्वथैवायमेव विधिः स्यात्तदा द्वारगाथायां विधिनेयं गतार्थं स्यादतो
इत्यत एवाह-विशेषतो-विशेषेण पुनरयं-यदुत सर्वमेव-समस्तमपि कुसुममालान्यासादिकं पूजावस्तु
प्रकारेण 'रेहइ'त्ति-शोभते तथा-तेन प्रकारेण सम्यग्-भावशुद्ध्या कर्तव्यं-विधेयम् । किंविधेन सतेत्याह-
पूजातोऽपरा चेष्टा-व्यापारः कायकण्डूयनादिर्यस्य स तथा तेनानन्यचेष्टेन । इति गाथार्थः ॥१९॥ 'पलेने'-
'ति, एतद्द्वयमपि स्पष्टयन्नाह-'वत्थेणे'त्यादि, वस्त्रेण-वसनेन बद्ध्वा-आवृत्य नासां-नासिकां, अथवेति

वज्जेयव्वं तु तदा देहम्मिवि कंडुयणमाई ॥ २० ॥
वत्थेण बंधिऊणं णासं अहवा जहासमाहीए।
भिचावि सामिणो इय जत्तेण कुणंति जे उ सणिओगं। होंति फलभायणं ते इयरेसि किलेसमित्तं तु ॥२१॥
भुवणगुरूण जिणाणं तु विसेसओ एयमेव दट्ठव्वं। ता एवं चिय पूया एयाण बुहेहिं कायव्वा ॥२२॥

विकल्पार्थः, यथासमाधि-समाधानानतिक्रमेण, यदि हि नासाबन्धेऽसमाधानं स्यात्तदा तामबद्ध्वाऽपीत्यर्थः, सर्वं यत्नेन कार्यमित्यनुवर्तते। तथा वर्जयितव्यं-परिहर्तव्यं। तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, तस्य चैवं प्रयोगः-तदा तु-तदानीं पुनः, पूजाकाल इत्यर्थः, किं तदित्याह-देहेऽपि-शरीरेऽपि, चेष्टापरिहारदुष्करत्वप्रतिपादनार्थोऽपिशब्दः, कंडूयनादिः-खर्जूविनोदनप्रभृतिः, आदिशब्दात्प्रमिघानोत्सर्गविकथाकरणादिपरिग्रहः। इति गाथार्थः ॥ २० ॥ 'सर्वमेव यत्नेन कर्तव्य'मित्युक्तं, अथ यत्नं कुर्वतां यद्भवति तत्प्रदर्शनाय दृष्टान्तमाह-'भिचे'त्यादि, भृत्या अपि-सेवका अपि, न केवलं पूजका एव, स्वामिनो-राजादेः इति-एवं प्रकारेण 'वत्थेण बंधिऊणं' इत्यादिलक्षणेन यत्नेन-आदरेण कुर्वन्ति-विदधति. ये तु-य एव स्वनियोगं-स्वकीयव्यापारं श्मश्रुसमारचनाङ्गमर्दनादिकं, यदुक्तम्-"बंधित्ता कासवओ वयणं अट्ठगुणाइ पोत्तीए। पत्थिवमुवासए खलु वित्तिनिमित्तं भया चेव ॥ १ ॥" इति। भवन्ति-जायन्ते, स्वामिपरितोषणात्। फलभाजनं-ईप्सितार्थपात्रं, राजलक्ष्म्यादिभाज इत्यर्थः, 'ते' इति-त एव भृत्याः। एतद्विपर्ययमाह-इतरेषां तु-उत्तरस्य पुनरर्थस्य तुशब्दस्येह संबन्धात् अनादरेण स्वनियोगकारिणां पुनः क्लेशमात्रं-शरीरमनसोः खेद एव भवति, नेप्सितार्थसिद्धिः। इति गाथार्थः ॥२१॥ अथ दार्ष्टान्तिकमाह-'भुवे'त्यादि, भुवनगुरूणां-भुवनत्रयानुशासकानां जिनानां तु-वीतरागाणां पुनः, केचित् जिनानामपीति पठन्ति, विशेषतः-सुतरां भुवनगुरुत्वादेव एतत्-पूजाप्रयत्नवत्फलभाजनत्वं एवं-अने-

बहुमाणोऽवि हु एवं जायइ परमपयसाहगो णियमा। सारथुइथोत्तसहिया तह य चितियवंदणाओ य (उ) ॥२३॥

सारा पुण थुइथोत्ता गंभीरपयत्थविरइया जे उ । सब्भूयगुणुक्कित्तणरूवा खलु ते जिणाणं तु ॥२४॥

नानन्तरोक्तभृत्यन्यायेन, एवंशब्दस्यानुस्वाराश्रवणं गाथानुलोम्यतया, पाठान्तरेण एवमेव–इत्थमेव भृत्यवदेव फलजनकत्वमित्यर्थः द्रष्टव्यं–अवगन्तव्यं। 'ता' इति यस्माद्विनीतभृत्यवत्पूजकाः फलभाजनं भवन्ति ततः–तस्माद्धेतोः 'एवं चिय'त्ति एवमेव–'वत्थेण बंधिऊणं' इत्यादिपूर्वोक्तन्यायेनैव पूजा–समर्चनं एषां–वीतरागाणां बुधैः–विद्वद्भिः कर्तव्या–विधेयेति गाथार्थः ॥२२॥ 'तस्मिन् बहुमानसारे'ति यदुक्तं तत्र बहुमानोऽपि विधिनैव प्रवर्तमानानां भवतीति दर्शयन्नाह–'बहु'इत्यादि,बहुमानोऽपि–प्रीतिविशेषोऽपि, न केवलं भृत्यवत्फलभाजनत्वमेव, हुशब्दोऽलङ्कारे, एवं–अनेन 'एसो चेव इह विही' इत्यादिना प्रागुक्तपूजान्यायेन जायते–भवति,किंविध इत्याह–परमपदसाधको–मुक्तिनिर्वर्तकः नियमाद्–अवश्यंभावेन। तथा सारस्तुतिस्तोत्रसहितात्–गंभीरार्थस्तुतिस्तोत्रयुक्तात्, तत्र स्तुतिरेकश्लोकमाना स्तोत्रं पुनर्बहुश्लोकप्रमाणं। 'तह य'त्ति तथैव यथैव विधिप्रवृत्तेस्तथैव चैत्यवन्दनादपि प्रतीतात्, बहुमानो जायते इति प्रकृतं, तुशब्दोऽपिशब्दार्थे द्रष्टव्यः। अनेन चोत्तरार्धेन सारस्तुतिस्तोत्रगुर्वीति यत् द्वारं द्वारगाथायामुक्तं तस्य प्रस्तावना कृता। इति गाथार्थः ॥२३॥ प्रस्तावितद्वारमेवोपदर्शयन्नाह–'सारे'त्यादि,साराणि–प्रधानानि,पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, तथैवं–सारैः स्तुतिस्तोत्रैर्गुर्वी पूजा कर्तव्या, साराणि पुनस्तानि कानीति?, उच्यते–यानि त्वित्येतस्येह दर्शनात् यान्येव गंभीरैः–अतुच्छैः पदानां–शब्दानामर्थैः–अभिधेयैर्विरचितानि–दब्धानि गंभीरपदार्थविरचितानि,तद्यथा–पडिवण्णचरिमतणुणो अइसयलेसंपि जस्स दट्ठूणं। भवदुत्समणा जायंति जोइणो तं जिणं नमह ॥१॥ जे उ इति व्याख्यातमेव। अतुच्छपदार्थयुक्तान्यपि कानिचिदस-

तेसिं अत्थाहिगमे णियमेणं होइ कुसलपरिणामो । सुंदरभावा तेसिं इयरम्मिवि रयणणाएण ॥२५॥
जरसमणाई रयणा अण्णायगुणावि ते समिंति जहा । कम्मजराई थुइमाइयावि तह भावरयणा उ ॥२६॥

द्भूतगुणकीर्तनरूपाणि स्युः, यथा—"क्षेमाय मर्त्यजगतस्तल एव शंके, शाकंभरीनृप! गतं न भवद्यशोभिः। गायन्ति तानि यदि तत्र भुजङ्गयोषाः, शेषः शिरांसि धुनुयाश्च मही स्थिरा स्यात् ॥१॥" इत्येतद्व्यवच्छेदायाह—सद्भूतगुणोत्कीर्तनरूपाणि—विद्यमानगुणग्रहणस्वभावान्येव, खलुरवधारणे, तानि स्तुतिस्तोत्राणि जिनानां तु—आप्तानामेव, तद्यथा—"आणा जस्स विलइया सीसे सव्वेहिं हरिहरेहिंपि। सोऽवि तुह झाणजलणे मयणो मयणं व पविलीणो ॥१॥" इति गाथार्थः ॥२५॥ अथ कथं स्तुत्यादिप्रधानपूजाया गुरुतरमिति?, अत्रोच्यते—स्तुत्यादीनां कुशलपरिणामहेतुत्वात्, एतदेवाह—'तेसिं'मित्यादि, तेषां—सारस्तुत्यादीनां अर्थाधिगमे—अभिधेयावगमे सति नियमेन—अवश्यंभावेन भवति—जायते कुशलपरिणामः—शुभाध्यवसायः, अर्थाधिगमस्य भावः कुशलपरिणामकारकताविति, भव्यस्तोतृणामिति गम्यते। एवं तदर्थाधिगमवतामेव स्तुत्यादिभिर्गुर्वी पूजा स्यात्,नान्येषामिति, अत्रोच्यते—सुन्दरभावात्—शुभभावत्वात् तेषां—स्तुत्यादीनां इतरस्मिन्नपि—तदर्थानवगमेऽपि, आस्तां तदर्थाधिगमे, कुशलः परिणामो भवतीति प्रकृतं। यथ कथमिदमवसीयत इत्याह—रत्नज्ञातेन—माणिक्योदाहरणेन, यथा रत्नमज्ञातगुणमपि सुन्दरस्वभावतया गुणकरमेवमेतान्यपि। इति गाथार्थः ॥२५॥ यदिकृतमेव ज्ञातं ज्ञापनीये योजयन्नाह—'जरे'त्यादि, ज्वरशमनादीनि—ज्वरापहारप्रभृतीनि, अज्ञातगुणान्यपि—रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसामर्थ्यान्यपि, न केवलं ज्ञातगुणान्येव, तान् ज्वरादिरोगान् शमयन्ति—नाशयन्ति यथा—येन प्रकारेण सुन्दररूपतालक्षणेन, कर्मलक्षणज्वरादिरोगान् स्तुत्यादीन्यपि—स्तुतिस्तोत्राण्यपि, न केवलं रत्नान्येव 'तह' इति

ता एयपुव्वगं चिय पूजाए उवरि वंदणं नेयं । अक्खलियाइगुणजुयं जहाऽऽगमं भावसारं तु ॥२७॥

कम्मविसपरममंतो एयं एयंति बेंति सव्वण्णू (समयण्णू)। मुद्दा एत्थुस्सग्गो अक्खोभो होइ जिणचिण्णो

अत्रोत्तरस्यावधारणार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धात् तथैव-तेनैव प्रकारेण, किंभूतानि स्तुत्यादीनि ?-भावसाराणि-पारमार्थिकमाणिक्यानि, समयन्तीति प्रकृतम् । इति गाथार्थः ॥२६॥ सारस्तुतिस्तोत्रद्वारनिगमनं तथा यदुक्तं "सारथुइथुत्तसहियाउ तह य चिइयवंदणाउ"त्ति, तत्र चैत्यवन्दनस्यावसरं च दर्शयन्नाह-'ता'इत्यादि,'ता' इति यस्मात्स्तुत्यादीनामर्थावगमेऽन्यथा च कुशलपरिणामो भवति तस्मात् कुशलपरिणामार्थं भवति एतत्पूर्वकमेव-स्तुत्यादिपाठपुरस्सरमेव पूजाया-अर्चनस्य उपरि वन्दनं-चैत्यवन्दनं ज्ञेयं-विधेयत्वेन ज्ञातव्यं । किंभूतं ?-अस्खलितादिगुणयुतं-अस्खलिताव्यत्याम्रेडितादिगुणोपेतं, अस्खलितादिगुणाश्चानुयोगद्वाराध्ययनादवसेयाः, तथा यथाऽऽगमं-आगमानतिक्रमेण, तथा भावसारं तु-शुभाध्यवसायप्रधानमेव । इति गाथार्थः ॥२७॥ अथ कस्मात् स्तुत्यादियुक्तं पूजापूर्वकं चैत्यवन्दनं विधेयतयोपदिश्यत इत्याह-'कम्मे'त्यादि, कर्मैव विषमात्मनो विकारहेतुत्वात्कर्मविषं तस्य नाशकत्वेना-

१. अस्खलितादीना लक्षणमिदम्-"अक्खलियं अमिलियं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं" अस्या व्याख्या-उपलशकलाद्याकुलभूभागलांगलमिव स्खलति यत्तत्स्खलितं न तथाऽस्खलितं, अनेकशास्त्रसंबन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र पठति तन्मीलितं, असदृशधान्यमेलकवत्, अथवा परावर्तमानस्य यत्र पदादिविच्छेदो न प्रतीयते तन्मीलितं, न तथाऽमीलितं, एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्यान्यस्थाननिबद्धान्येकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो व्यत्याम्रेडितं, अथवा आचारादिसूत्रमध्ये स्वमतिविरचितानि तत्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याम्रेडितं, अस्थानविरतिकं वा व्यत्याम्रेडितं, न तथाऽव्यत्याम्रेडितं । सूत्रतो बिन्दुमात्रादिभिरन्यूनमर्थतस्त्वध्याहारा'ऽऽकाङ्क्षादिरहितं

एयस्स समत्तीए कुसलं पणिहाणमो उ कायव्वं । तत्तो पवित्तिविग्घजयसिद्धि तह य थिरीकरणं ॥२९॥

क्षरात्मकत्वसाधर्म्येण परममंत्र इव कर्मविषपरममंत्रः । एवं-अनेन प्रकारेण प्रागुक्तपूजापूर्वकत्वलक्षणेन, विधीयमानमिति शेषः एतच्चैत्यवन्दनं इति-एवं ब्रुवते-भणन्ति सर्वज्ञाः-सर्वविदः, पाठान्तरेण समयज्ञाः, सर्वज्ञोक्तत्वेन चास्य कर्मविनाशकत्वं प्रत्यव्यभिचारितोक्ता, अत एवोपादेयता च। मंत्रश्च किल क्षुद्रोपद्रवद्रावणसमर्थमुद्रापूर्वकं व्यापार्यते ततश्चेह वन्दनकमंत्रे का मुद्रेत्याह-मुद्रा-अङ्गविन्यासविशेषरूपा अत्र-चैत्यवन्दनायां, उत्सर्गः-कायोत्सर्गः, किंभूतः ?-अक्षोभः-अचलितस्वरूपः भवति-वर्तते जिनाः-श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानवन्तो जिनकल्पिकाश्च तैश्चीर्णः-आचरितो जिनचीर्णः, अनेन चास्य आदेयता दर्शितेति । चीर्णशब्दश्च 'चीर्णं मवासिव्रतं' इत्यादिशिष्टप्रयुक्तेः संस्कृतेऽपि साधुरेव । इति गाथार्थः ॥२८॥ चैत्यवन्दनसमाप्तौ यद्विधेयं तदाह-'एये'त्यादि, एतस्य-अनन्तरोक्तचैत्यवन्दनस्य समाप्तौ-उत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्येह संबन्धाभिप्रायां पुनः कुशलं-शुभं, न तु भवहेतुपदार्थप्रार्थनादिवदशुभं, प्रणिधानं-प्रार्थनागर्भमैकाग्र्यं, 'ओ' इति निपातः पादपूरणार्थः, तुशब्दः संबन्धित एव, कर्तव्यं-विधेयम् । अथ कस्मादिदं कर्तव्यं ?, अत्रोच्यते-यस्मादितः सत्प्रवृत्त्यादयो भवन्तीति, एतदेवाह-ततः-प्रागुक्तप्रणिधानात् प्रवृत्तिः-सद्धर्मव्यापारेषु

प्रतिपूर्णं, उदात्तादिघोषैरविकलं प्रतिपूर्णघोषं, अत्राह-घोषसममित्युक्तमेव तत्क इह विशेषः ? इति, उच्यते, घोषसममिति शिक्षाकालमधिकृत्योक्तं, प्रतिपूर्णघोषं तु परावर्तनादिकालमधिकृत्येति विशेषः, कंठश्चौष्ठश्च कंठोष्ठमिति प्राण्यङ्गत्वात्समाहारः तेन विप्रमुक्तं कंठोष्ठविप्रमुक्तं, बालमूकवापितवत् यदव्यक्तं न भवतीत्यर्थः, गुरुप्रदत्तया वाचनया उपगतं-प्राप्तं गुरुवाचनोपगतं न तु कर्णाघाटकेन शिक्षितं, न च पुस्तकात्स्वयमेवाधीतमिति भावः, तदेवं यस्य जन्तोरावश्यकशास्त्रं शिक्षितादिगुणोपेतं भवति ।

एत्तो चिय ण णियाणं पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं । सुहभावहेउभावा णेयं इहराऽपवित्ती उ ॥३०॥
एवं तु इट्ठसिद्धी ? दव्वपवित्ती उ अण्णहा णियमा । तम्हा अविरुद्धमिणं णेयमवत्थंतरे उचिए ॥३१॥

प्रवर्तनं, भवति हि जातमनोरथानां शक्तौ सत्यां तदुपाये प्रवृत्तिरिति, तथा विघ्नजयो-मोक्षपथप्रवृत्तस्यत्यूहस्य जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्याशुभभावरूपस्य प्रणिधानजनितशुभभावान्तरेणाभिभवः, तथा सिद्धिः-विघ्नजयात् प्रस्तुतधर्मव्यापाराणां निष्पत्तिः, एतस्य च प्रवृत्त्यादिपदत्रयस्य समाहारद्वन्द्वः । 'तह य'त्ति तथैव, समुच्चयार्थश्चायं । 'थिरीकरणं' ति स्वगतपरगतधर्मव्यापाराणां स्थिरीकरणं-स्थिरत्वाधानमिति, अतः प्रवृत्त्यादीनि वाञ्छता प्रणिधानमवश्यं करणीयं, तदभावे प्रवृत्त्याद्यसिद्धेः । इति गाथार्थः ॥२९॥ ननु प्रणिधानं प्रार्थनारूपत्वान्निदानवत्परिहार्यं स्यात्, नैवं, कुशलमिति विशेषणेन तस्य निदानरूपताया व्यपोहितत्वात्, अकुशलस्यैव निदानत्वात्, इदं च विशेषणफलमनवधारयतो मन्दमतिशिष्यस्य निदानत्वाशंकाव्यपोहायाह-'एत्तो' इत्यादि, 'एत्तो च्चिय'त्ति यत एव कुशलं प्रवृत्त्यादिहेतुर्वाऽत एव कारणात् न-नैव निदानं-आर्तध्यानविशेषो भवति । किं तत् ?, प्रणिधानं-चैत्यवन्दनावसानकृत्यं,निदानस्याकुशलत्वात् प्रवृत्त्याद्याशयविशेषानुत्पादकत्वाद्वा । तर्हि किंभूतमिदमित्याह-बोधिप्रार्थनासदृशं-"आरोग्गबोहिलाभं" इत्यादिप्रार्थनातुल्यं, यथा बोधि(लाभ)प्रार्थनं न निदानं तथेदमपीत्यर्थः॥ कुतएतदेवमित्याह-शुभभावहेतुभावात्-प्रशस्ताध्यवसायस्य कारणत्वात्, यथा हि बोधिप्रार्थनं शुभभावहेतुरेवमिदमपि, ज्ञेयं-ज्ञातव्यं। निदानरूपत्वे चास्य यत् स्यात्तदाह-इतरथा-अन्यथा निदानरूपतायामित्यर्थः अप्रवृत्तिस्तु-अप्रवर्तनमेव-चैत्यवन्दनान्ते प्रणिधानस्याकरणमेव स्यात्, निदानस्यागमे निषिद्धत्वात्। इति गाथार्थः ॥३०॥ अथ भवत्वस्याप्रवृत्तिः को दोषः ? इत्याशङ्क्य परिहरन्नाह-'एव'मित्यादि, एवं तु काक्वाऽध्येयं, एवं पुनः-

तं पुण संविग्गेणं उवओगजुएण तिव्वसद्धाए । सिरनमियकरयलंजलि इय कायव्वं पयत्तेण ॥३२॥

जय वीयराय ! जगगुरु होउ ममं तुह पभावओ भयवं ! । भवनिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥३३॥

लोगविरुद्धच्चाओ गुरुजणपूआ परत्थकरणं च । सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा ॥३४॥ युग्मम् ॥

[illegible] अन्यथा-प्रणिधानस्य [illegible] प्रणिधानशून्यं [illegible] 'तत्र'त्ति [illegible] प्रणिधाने [illegible] इदं प्रणिधानं [illegible] इति गाथार्थः ॥३२॥ [illegible] प्रणिधानं [illegible] इति [illegible]

उचियं च इमं णेयं तस्साभावम्मि तप्फलस्सऽण्णे। अपमत्तसंजयाणं आराऽणभिसंगओ ण परे ॥३५॥

निर्वेदः-संसारविरागः मार्गानुसारिता-मोक्षमार्गानुसरणं इष्टफलसिद्धिः-अभिमतार्थनिष्पत्तिरिहलौकिकी, ययोपगृहीतस्य चित्तस्वास्थ्यं भवति, ततश्च धर्मे प्रवृत्तिः स्यादिति ॥३३॥ तथा लोकविरुद्धत्यागः-सर्वजननिन्दादिलोकविरुद्धानुष्ठानवर्जनं गुरुजनपूजा-मातापितृधर्माचार्यादिपूजनं परार्थकरणं च-परप्रयोजनकारिता च शुभगुरुयोगः-सुन्दरधर्माचार्यसंबन्धः तद्वचनसेवना-गुरुवचनसेवा आभव-आसंसारं अखंडा-संपूर्णा भवतु। इति गाथाद्वयार्थः ॥३४॥ अथ यदुक्तं 'अवस्थान्तरे उचितं प्रणिधानं भवती'ति तद्दर्शनायाह-'उचिय'मित्यादि, उचितं-योग्यं चशब्दः पुनरर्थः इदं प्रणिधानं ज्ञेयं-ज्ञातव्यं तस्य-भवनिर्वेदादेः प्रार्थनीयार्थस्य अभावे-असत्तायां, अविद्यमानार्थविषयैव हि प्रार्थना भवति। इहैव मतान्तरमाह-तस्य-प्रार्थनीयार्थस्य भवनिर्वेदादेः यत् फलं-साध्यमनन्तरमप्रमत्तादिगुणस्थानमालारूपं परंपरं वा मोक्षाख्यं तत्फलं तस्य,अभावे इति वर्तते, अन्ये-अपरे सूरयः, उचितमिति प्रक्रमः। यद्यपि हि सोऽर्थः सामान्येनास्ति तथापि तत्फलसंसिद्धये स एव प्रार्थ्यते, विशिष्टतमस्यैव तस्य स्वफलप्रसाधकत्वादिति। एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-अप्रमत्तसंयतेभ्यः-सप्तमगुणस्थानकवर्तिभ्यः आराद्-अर्वाग्भावे, प्रमत्तसंयतान् यावत्, इदमुचितं भवतीति भावः। अथ परतोऽपीदं कस्मान्नोचितमित्याह-'अणभिसङ्गउ'त्ति अनभिष्वंगतः-अभिष्वंगाभावात् न-नैव परस्मिन्-प्रमत्तसंयतेभ्यः परत्राप्रमत्तसंयतादौ, उचितमिति प्रक्रमः, अप्रमत्तसंयतादयो हि निरभिष्वंगत्वान्न प्रार्थनापरा भवन्ति, यदाह-"मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः"। इति गाथार्थः ॥३५॥ यदुक्तं 'प्रणिधानं निदानं न भवती'त्यस्यार्थस्य साधकं प्रमाणं दर्शयन्नाह—'मोक्खं'इत्यादि,मोक्षाङ्गानां-निर्वृतिकारणानां प्रार्थना-आशंसा अथवा मोक्षाङ्गं चासौ प्रार्थना चेति मोक्षाङ्गप्रार्थना इति-एषा 'जय

मोक्खंगपत्थणाइ य ण णियाणं तदुचियस्स विण्णेयं। सुत्ताणुमइत्तो जह बोहीए पत्थणा माणं ॥३६॥
एवं च दसाईसुं तित्थयरंमिवि णियाणपडिसेहो। जुत्तो भवपडिबद्धं साभिस्संगं तयं जेण ॥ ३७॥

वीयराय' इत्याद्यनन्तरोक्तप्रकारा, अनेन च तीर्थकरत्वं मे भूयादित्यादिकाया रागाकुलमानसकृताया भवाङ्गभूताया व्युदासः। न-नैव निदानं आर्तध्यानविशेषो भवतीति विज्ञेयं-ज्ञातव्यमिति प्रतिज्ञा। कुत इत्याह-तदुचितस्य-प्रणिधानोचितस्य प्रमत्तसंयतान्तस्य गुणस्थानिन इत्यर्थः सूत्रानुमतितः-आगमानुज्ञातत्वात्, अप्रमत्तसंयतादेर्हि तत्सूत्रं नानुमन्यते, तस्यानभिष्वङ्गत्वात्, तदन्यस्य त्वनुमन्यते साभिष्वङ्गत्वात्, विशिष्टप्रणिधानस्य निरभिष्वङ्गताहेतुत्वादिति, अनेन च हेतुरुक्तः। यथेति दृष्टान्तसूचनार्थः। बोधेः-बोधिलाभस्य प्रार्थना-आशंसेति मानं-प्रमाणं इदमनुमानलक्षणं प्रणिधानस्य निदानत्वाभावसाधकमिति। प्रयोगश्चास्यैवम्-यत्सूत्रानुमतं मोक्षांगप्रार्थनं तन्निदानं न भवति, यथा बोधिप्रार्थनं, सूत्रानुमतं चेदमधिकृतं मोक्षाङ्गप्रार्थनमिति गाथार्थः॥३६॥
ननु मोक्षाङ्गानां प्रार्थनं न निदानं, तीर्थकरत्वं तु मोक्षाङ्गमतस्तस्यापि प्रार्थनाप्रतिषेधो यो दशाश्रुतस्कन्धेऽभिहितो नासौ युक्त इत्याशंक्याह-'एव'मित्यादि, एवं च-अनेन पूर्वोक्तेन प्रकारेण मोक्षाङ्गप्रार्थनाया अनिदानताप्रतिपादनलक्षणेन दशादिषु-दशाश्रुतस्कन्धप्रभृतिषु, आदिशब्दाद्ध्यानशतकादिपरिग्रहः, तीर्थकरेऽपि-भवभवनभीतजननिर्वाणनगरगमनसार्थवाहकल्पे जिनेऽपि विषये, आस्तां संसारावर्तपातनिमित्तभूतभूपतित्वादौ, निदानस्य 'अमुतो धर्मात्तीर्थकरो भूयासं' इत्येवं प्रार्थनस्य प्रतिषेधो—विधेयतया निषेधो निदानप्रतिषेधः, किमित्याह-युक्तः-संगतो वर्तते। केन कारणेनेत्याह-भवप्रतिबद्धं-संसारानुषक्तं येन- यस्मात्कारणात् 'तयं'ति तकं तीर्थकरत्वप्रार्थनं, भवप्रतिबद्धमेव कुत इत्याह-यतः साभिष्वङ्गं-रागोपेतं, यतस्तीर्थकरसत्कस्यामरवरनिर्मितसमवस-

जं पुण णिरभिस्संगं धम्मा एसो अणेगसत्तहिओ। णिरुवमसुहसंजणओ अपुव्वचिंतामणीकप्पो ॥३८॥
ता एयाणुट्ठाणं हियमणुवहयं पहाणभावस्स। तम्मि पवित्तिसरूवं अत्थापत्तीएँ तमदुट्ठं ॥३९॥ युग्मम्॥

रणकनककमलमुखविभवस्य दर्शनात् श्रवणाद्वा संजाततदभिलापः कोऽपि विकल्पं करोति-भवभ्रमणतोऽप्यहं तीर्थकरो भूयासं। इति गाथार्थः॥ ३७॥ एतस्यैव साभिष्वङ्गताविपर्यये दोषाभावमाह—'ज'मित्यादि 'ते'त्यादि च, 'जं पुण'त्ति साभिष्वङ्गं तावदुष्टमेव, यत्पुनस्तीर्थकरत्वप्रार्थनं निरभिष्वङ्गं रागाभावेन विहितं तददुष्टमिति संबन्धः। निरभिष्वङ्गतामेव तस्याह-धर्मात्-कुशलानुष्ठानरूपादर्हद्वात्सल्यादेः सकाशात् धर्माय वा भव्यानां एषः तीर्थकरः, भवतीति गम्यं। किंभूतः?-अनेकसत्त्वहितो-निखिलजगज्जन्तुजातपरमबान्धवः, कथं?-यतो निरुपमसुखसंजनकः-अनुपमानन्दसंपादको निर्वाणहेतुत्वात्, अत एवापूर्वचिन्तामणिकल्पः चिन्तातिक्रान्तसुखविधायित्वादिति॥ 'ता' इति यस्मादनेकसत्त्वहितत्वादिविशेषणस्तीर्थकरस्तु तस्मात् एतस्य-तीर्थकरस्यानुष्ठानं-सद्धर्मदेशनादिकमेतदनुष्ठानं, किमित्याह-हितं-पथ्यं, इष्टार्थसाधकत्वात्। किंभूतं?-अनुपहतं-अप्रतिघातं, इह स्थाने इतिशब्दो द्रष्टव्यः, ततश्च इतिप्रधानभावस्य-एवंभूतप्रवराध्यवसायस्य देहिनः, किंभूतं तीर्थकरत्वप्रार्थनमित्याह-तस्मिन् धर्मदेशनादिजिनानुष्ठाने प्रवृत्तिस्वरूपं प्रवर्तनस्वभावं। ननु तीर्थकरोऽहं भवेयमित्येतस्य प्रार्थनस्य तीर्थकरवृत्तिकत्वात् कथमिदं धर्मदेशनाप्रवर्तनस्वभावमित्यत आह-अर्थापत्त्या-न्यायतः, यद्यपि तत्प्रार्थनं साक्षात्तीर्थकरत्ववृत्तिकं तथाप्यर्थापत्त्या धर्मदेशनादावेव वर्तते, तीर्थकरत्वप्रार्थनाद्वारेण धर्मदेशनादिजिनानुष्ठानस्यैव हितादिविशेषणस्य प्रार्थितत्वादिति तीर्थकरत्वप्रार्थनमदुष्टं-न दूषणवदिति गाथाद्वयार्थः॥ ३८॥ ३९॥ अथ प्रणिधानवक्तव्यतामुपसंहरन्नुपदेशमाह—कृतं-अलं अत्र-प्रणिधानवक्तव्यतायां,

कयमित्थ पसंगेणं पूजा एवं जिणाण कायव्वा। लद्धूण माणुसत्तं परिसुद्धा सुत्तनीतीए ॥ ४० ॥
पूजाए कायवहो पडिकुट्ठो सो य णेव पुज्जाणं। उवगारिणित्ति तो सा परिसुद्धा कह णु होइत्ति ? ॥४१॥

प्रसङ्गेन-प्रसङ्गायातभणितेन। पूजा-अर्चनं। एवं-उक्तेन कालाद्याराधनप्रकारेण जिनानां-अर्हतां कर्तव्या-विधेया लब्ध्वा-प्राप्य मानुषत्वं-नरत्वं, मानुषाणां विशेषेणोपदेशार्हत्वात् प्रायो यथोपदिष्टकारकत्वाच्च लब्ध्वा मानुषत्वमित्युक्तं, न पुनर्देवत्वादिव्यवच्छेदार्थं। किंविधाऽसावित्याह-परिशुद्धा-निर्दोषा। सा च स्वप्रतिभासेनापि स्यादत आह-सूत्रनीत्या-आगमन्यायेन। इति गाथार्थः ॥४०॥ 'परिशुद्धा पूजा कर्तव्ये'त्युक्तं, तत्र च तत्परिशुद्धतामसंभावयतः परस्य मतमादर्शयन्नाह—'पूजे'त्यादि, पूजायां-जिनार्चने कायवधः-पृथिव्यादिजीवनिकायहिंसा भवति तत्कथमसौ परिशुद्धेति। अथ कायवधो न दूषणमित्यत आह-'पडिकुट्ठो सो य'त्ति स च पुनः-कायवधः प्रतिकुष्टो-निवारितो विधेयतया जिनैः, यदाह-"सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं। तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥" इति। तथा प्रतिषिद्धकायवधद्वारेणापि पूजा विधीयमाना परिशुद्धा भवेद्यद्युपकारस्तया पूज्यानां स्यात्, न चासावित्येतदाह-नैव पूज्यानां-जिनानां उपकारिणी-उपकरणशीला, वीतरागतया तेषां परितोषाविधायकत्वात्, इतिशब्दो दूषणवक्तव्यतासमाप्तौ। 'तो' इति यस्माद्दूषणोपेतेयं तस्माद्धेतोः सा पूजा परिशुद्धा-अनवद्या कथं ?-केन प्रकारेण, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'नु' इति वितर्के, भवति-जायते। इतिशब्दः परमतसमाप्तौ। इति गाथार्थः ॥४१॥ इहोत्तरदानायाह-'भण्णई'त्यादि, भण्यते-अभिधीयते, समाधिरिति गम्यं, जिनपूजायां कायवधो-जीवनिकायहिंसा यद्यपीति परवचनाभ्युपगमे भवति-जायते तुशब्दः पादपूरणे कथञ्चित्-केनचित्प्रकारेण, यतनाविशेषेण वर्तमानस्य सर्वथापि न भवतीत्यपि दर्शनार्थं कथञ्चिद्ग्रहणं।

भण्णइ जिणपूयाए कायवहो जतिवि होइ उ करिंचि। तहवि तई परिसुद्धा गिहीण कूवाहरणजोगा ॥४२॥
असदारंभपवत्ता जं च गिही तेण तेसि विन्नेया। तन्निवित्तिफलच्चिय एसा परिभावणीयमिणं ॥४३॥
उवगाराभावम्मिवि पुज्जाणं पूजगस्स उवगारो। मंतादिसरणजलणाइसेवणे जह तहेहंपि ॥ ४४ ॥

तथा यद्यपि चासौ प्रतिपिद्ध इत्येतदिह स्थाने द्रष्टव्यं तथापि तदिति (तदपि) 'तई'तका सा जिनपूजा परिशुद्धा- निरवद्या, केषां?— गृहिणां, न तु साधूनां, यतः—"अधिकारिवशात् शास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः। व्याधिप्रतिक्रियातुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः"॥१॥ रिति कथं परिशुद्धेत्याह—कूपोदाहरणस्य—अवटखननज्ञातस्य योगः-संबन्धो दार्ष्टान्तिकयोजनं कूपोदाहरणयोगः तस्मादिति। उदाहरणयोजनं चैवं—यद्विशिष्टगुणान्तरसंपादकं तदीषद्दोषदुष्टमपि परिशुद्धमवसेयं, यथा श्रमतृष्णाकर्दमलेपादिदोषयुक्तं जलोद्भमसंपाद्याकालतृष्णाच्छेदादिमहागुणयुक्तं कूपखननं, विशिष्टकर्मक्षयादिगुणसंपादिका च जिनपूजा। इति गाथार्थः ॥४२॥ समाधानान्तरमाह—'असदे'त्यादि, असदारंभप्रवृत्ताः—प्राण्युपमर्दनहेतुत्वेनाशोभनकृष्यादिव्यापारप्रसक्ताः यद्—यस्माद्धेतोः चशब्दः समुच्चये गृहिणो—गृहस्थाः तेन हेतुना तेषां—गृहिणां विज्ञेया—ज्ञातव्या तन्निवृत्तिफलैव—देहगेहादिनिमित्तजीवोपमर्दनरूपाशुभारंभनिवृत्तिप्रयोजनैव, भवति हि जिनपूजाजनितभावविशुद्धिप्रकर्षेण चारित्रमोहनीयक्षयोपशमसद्भावात् कालेनासदारंभेभ्यो निवृत्तिः, तथा जिनपूजाप्रवृत्तिकाले वाऽसदारंभाणामसंभवात् शुभभावसंभवाच्च तन्निवृत्तिफलाऽसौ भवतीत्युच्यते। एषा जिनपूजा। परिभावनीयं- पर्यालोचनीयं इदं—जिनपूजाया असदारंभनिवर्तनफलत्वं भवद्भिरपि येनावबुध्यते तथैव प्रतिपद्यते। इति गाथार्थः ॥४३॥ अथ यदुक्तं 'नैव पूज्यानामुपकारिणी'ति तत्समाधानार्थमाह—'उवे'त्यादि, उपकाराभावेऽपि—कृतकृत्यत्वेनानन्दाद्यप-

देहादिणिमित्तंपि हु जे कायवहम्मि तह पयट्टंति । जिणपूयाकायवहंमि तेसिमपवत्तणं मोहो ॥ ४८ ॥

सुत्तभणिएण विहिणा गिहिणा णिव्वाणमिच्छमाणेण । तम्हा जिणाण पूजा कायव्वा अप्पमत्तेणं ॥ ४९ ॥

कारस्याणंमवेऽपि, आत्मानुपकारसद्भावे, केषामित्याह–पूज्यानां–पूजार्हाणां जिनानां पूजकस्य–अर्चकस्य उपकारः–पुण्यबन्धादिलक्षणो गुणो भवति, एतद्दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह–मंत्रादिस्मरणं च–मंत्रविद्याध्यानं ज्वलनादिसेवनं च–वह्निनीरप्रभृतिसंश्रय इति समाहारद्वन्द्वोऽतस्तस्मिन् यथा-येन प्रकारेण सेव्यस्यानुपकारेऽपि सेवकस्योपकारस्तथा–तेनैव प्रकारेण इहापि–पूजाविषयेऽपि पूजकस्योपकारो भवति । इति गाथार्थः ॥४७॥ पूजायां कायवधो भवतीति मन्यमानास्तद्भीरुतया तत्र ये न प्रवर्तन्ते तदुपलंभनार्थमाह—'देहे'त्यादि, देहादिनिमित्तमपि शरीरगृहपुत्रकलत्रप्रभृत्यर्थमपि, न केवलं धर्मार्थमेव, हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, ये गृहिणः कायवधे-जीवनिकायहिंसायां तथा–तेन प्रकारेण हलशकटखेटनादिना प्रवर्तन्ते-व्याप्रियन्ते जिनपूजार्थं कायवधो-हिंसा जिनपूजाकायवधस्तस्मिन् तेषां गृहिणां अप्रवर्तनं–अप्रवृत्तिः मोहो–मूढता । अप्रवर्तने (तदप्रवृत्तेः) मोहकार्यत्वात्, न हि मोहं विना सात्मीभूतजीवघाततया विशिष्टदयावर्जितस्य गृहिणो विशुद्धभावनिबन्धनतया बोधिलाभादिगुणकारणत्वेन जीवरक्षानिबन्धनतया दयैकरूपायां परम्परेण च निर्वाणावन्ध्यबीजभूतायां जिनपूजायामप्रवृत्तिः स्यात्, मोहस्यैव हि तत्प्रवृत्तिविघातकत्वात् । इति गाथार्थः ॥४८॥ अथ पूजाविधिमुपसंहरंस्तद्विषयमुपदेशमाह—'सुत्ते'त्यादि, सूत्रभणितेन–आगमोक्तेन विधिना–विधानेन, पूजा कर्तव्येति संबन्धः, केनेत्याह–गृहिणा–गृहस्थेन, साधोरनधिकारित्वात् । किंविधेनेत्याह–निर्वाणं–निर्वृतिमिच्छता, निर्वाणव्यतिरिक्तस्य फलस्योपायान्तरेणापि सुलभत्वात्, 'तम्ह'त्ति तस्मात् जिनानां कृतकृत्यत्वेनानुपकारेऽपि पूजकस्योपकारो भवति, तथा जिन-

एक्कंपि उदगबिंदू जह पक्खित्तं महासमुद्दम्मि । जायइ अक्खयमेवं पूया जिणगुणसमुद्देसु ॥ ४७ ॥

उत्तमगुणबहुमाणो पयमुत्तमसत्तमज्झयारम्मि । उत्तमधम्मपसिद्धी पूयाएँ जिणवरिंदाणं ॥ ४८ ॥

पूजायामप्रवर्तनं मोहादेव, तस्माद्धेतोः जिनानां–अर्हतां पूजा–अर्चनं कर्तव्या–विधेया अप्रमत्तेन–अप्रमादवता प्रमादपरिहारे-णेतियावत्। इति गाथार्थः । ४६ । अथ कस्मादेवं पूजा विधेयेत्युपदिश्यते ?, उच्यते, महाफलत्वात्, एतदेवाह— 'एक्क' मित्यादि, 'एक्कंपी'ति प्राकृतत्वेन एकोऽपि, आस्तामनेकः, उदकबिन्दुः–जललवः यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थः प्रक्षिप्तो-निःसृष्टः महासमुद्रे–स्वयंभूरमणादिबृहत्सागरे जायते–भवति अक्षयः–अप्रणाशी, विपुलजलनिलीनतया शोषाभावात्, एवमिति दार्ष्टान्तिकोपनयनार्थः, पूजा–अर्चना, केष्वित्याह–जिनाश्च ते गुणानां–गुणरत्नानामाधारत्वेन प्राचुर्येण च समुद्रा इव समुद्रा-श्चेति जिनगुणसमुद्रास्तेषु फलापेक्षयाऽक्षया भवति । इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ पूजामेव पुरस्कुर्वन्नाह—उत्तमे'त्यादि. उत्तम-गुणेषु–प्रधानगुणेषु जिनेषु वीतरागत्वादिषु वा जिनगुणेषु बहुमानः–पक्षपात उत्तमगुणबहुमानः, स जिनपूजया भवतीति संबन्धः, पूजकस्येति गम्यं, तथा पदं–अवस्थानमुत्तमसत्त्वमध्यकारे–प्रधानप्राणिनां प्रधानाशयविशेषाणां वा जिनगणधरना-किनरनायकादीनां मध्ये, तथोत्तमधर्मप्रसिद्धिः-प्रधानधर्मस्य पूजाकाले प्रकृष्टपुण्यकर्मबन्धरूपस्याशुभकर्मक्षयरूपस्य च कालान्तर-क्रमेण यथाख्यातचारित्ररूपस्य निष्पत्तिर्भवति, अथवोत्तमधर्मप्रसिद्धिः–जिनशासनप्रकाशः पूजया–अभ्यर्चनेन जिनाः–छद्मस्थ-वीतरागास्तेषां वराः–प्रधानाः केवलिनस्तेषामिन्द्राः - तीर्थंकरनामकर्मोदयवर्तित्वान्नानाविधातिशयसमेतत्वाच्च तीर्थंकरा अत-स्तेषां जिनवरेन्द्राणाम्। इति गाथार्थः ॥ ४८॥ पूजा तावन्महाफलेव, अथ पूजाप्रणिधानमपि महाफलमिति दृष्टान्तेन दर्शयन्नाह–

सुव्वइ दुग्गइणारी जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं । पूजापणिहाणेणं उववण्णा तियसलोगम्मि ॥ ४९ ॥

'सुव्वइ'इत्यादि, श्रूयते-आकर्ण्यते जिनेन्द्रप्रवचने, किं तदित्याह-दुर्गतिनारी-दारिद्र्योपहतयोषा जगद्गुरोः त्रिभुवननाथस्य सिन्दुवारकुसुमैः-निर्गुंडीपुष्पैः करणभूतैः या पूजा-अर्चनं तत्र यत् प्रणिधानं-पूजां करोमीत्येवंविधमैकाग्र्यं तत्पूजाप्रणिधानम्, इह च कुसुमशब्दसापेक्षत्वेऽपि पूजाशब्दस्य प्रणिधानशब्देन सह समासो देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादाविव न दोषायेति। तेन पूजाप्रणिधानेन करणभूतेन, पूजां विनैव भावमात्रेणैवेति हृदयं, उपपन्ना-उत्पन्ना त्रिदशलोके स्वर्गे इत्यक्षरार्थः। कथानकं पुनरेवं पूज्याः प्रतिपादयन्ति-श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी इक्ष्वाकुकुलनन्दनः प्रसिद्धसिद्धार्थपार्थिवपुत्रः पुत्रीयितनिखिलभुवनजनो जनितजनमनश्चमत्कारगुणग्रामो ग्रामाकरनगरपुरपौरपृथुं पृथिवीं विहरन्नन्यदा कदाचित्काकन्दीनामिकायां पुरि समाजगाम, तत्र चामरवरविसरविरचितसमवसरणमध्यवर्तिनि भगवति धर्मदेशना विदधति तथा नानाविधयानवाहनसमारूढप्रौढपत्तिपरिगते सिन्धुरस्कन्धमधिष्ठिते छत्रच्छन्ननभस्तले मागधोद्गीतगुणगणे भेरीभांकारभरितांबरतले नरपतौ तथा द्विजवरवैश्यादिके पुरजने तथा गन्धधूपपुष्पपटलप्रभृतिपूजापदार्थव्यग्रकरकिंकरीनिकरपरिगते विविधवसनाभरणरमणीयतरशरीरे नगरनारीनिकरे भगवतो वन्दनार्थं व्रजति सति एकया वृद्धदरिद्रयोषिता जलेन्धनाद्यर्थं बहिर्निर्गतया कश्चिन्नरः पृष्टः-'क्वायं लोक एकमुखस्त्वरितं याति?' तेनोक्तम्-'जगदेकबान्धवस्य देहिनां जन्मजरामरणरोगशोकदुर्गत्यादिदुःखच्छिदुरस्य श्रीमन्महावीरस्य वन्दनपूजाद्यर्थं' ततस्तच्छ्रवणात्तस्या भगवति भक्तिरभवत्, अचिन्तयच्च-'अहमपि भगवतः पूजार्थं यत्नं करोमि, केवलमहमतिदुर्गता पुण्यरहिता विहिता पूजाङ्गवर्जितेति' ततोऽरण्यदृष्टानि सुधालभ्यानि सिन्दुवारकुसुमानि स्वयमेव गृहीत्वा भक्तिभरनिर्भराङ्गी-अहो धन्या पुण्या कृतार्था कृतलक्षणाऽहं,

सम्मं णाऊण इमं सुयाणुसारेण धीरपुरिसेहिं। एवं चिय कायव्वं अविरहियं सिद्धिकामेहिं ॥५०॥

सुलब्धं मम जन्म, जीवितफलं चाहमवाप्तेतिभावनया पुलककंटकितकाया प्रमोदजलपूरप्लावितकपोला भगवन्तं प्रति प्रयान्ती समवसरणकाननयोरन्तराल एव वृद्धतया क्षीणायुष्कतया च झगिति मृतिमुपागता, ततोऽसावविहितपूजाऽपि पूजाप्रणिधानोल्लसितमानसतया देवत्वमवाप्तवती, ततस्तस्याः कलेवरमवनिपीठलोठितमवलोक्यानुकंपापरीतान्तःकरणो लोको मूर्च्छितेयमिति मन्यमानोऽम्भसा सिषेच, ततस्तामपरिस्पन्दामवलोक्य लोको भगवन्तं पप्रच्छ—'भगवन्नसौ वृद्धा किं मृतोत जीवतीति' भगवांस्तु व्याजहार—'यथा मृताऽसौ देवत्वं चावाप्ता। ततः पर्याप्तिभावमुपागत्य प्रयुक्तावधिः पूर्वभवानुभूतमवगम्य वन्दनार्थमागतः, स चायं मत्पुरोवर्ती देव इति'। ततो भगवदभिहितमिदमनुश्रुत्य समस्तः स समवसरणधरणीगतो जनः परमं विस्मयमगमत्, यथा—'अहो पूजाप्रणिधानमात्रेऽपि कथममरतामवाप्ताऽसाविति'। ततो भगवान् गंभीरां धर्मकथामकथयत्, यथा—"स्तोकोऽपि शुभाध्यवसायो विशिष्टगुणपात्रविषयो महाफलो भवति, यतः—'एगंपि उदगबिंदु'गाहा, 'उत्तमगुण'गाहा, ततो भगवांस्तत्संबन्धिनं भाविभवव्यतिकरमकथयत्, यथा—'अयं दुर्गतनारीजीवो देवसुखान्यनुभूय ततश्च्युतः सन् कनकध्वजो नाम नृपो भविष्यति, स च कदाचित्प्राज्यं राज्यसुखमनुभवन् मंडूकं सर्पेण सर्पं कुररेण कुररमजगरेण तमपि महाहिना ग्रस्यमानमवलोक्य भावयिष्यति—'यथा एते मंडूकादयः परस्परं ग्रसमाना महाहेर्मुखमवशाद्विशन्ति एवमेतेऽपि जना बलवन्तो दुर्बलान् यथाबलं बाधयन्तो यमराजमुखं विशन्ति' इति भावयंश्च प्रत्येकबुद्धो भविष्यति, ततो राज्यसंपदमवधूय श्रमणत्वमुपगम्य देवत्वमवाप्स्यति, एवं भवपरंपरयाऽयोध्याया नगर्याः शक्रावतारनाम्नि चैत्ये केवलश्रियमवाप्य सेत्स्यति। इति गाथार्थः ॥५०॥ अथ तत्त्वोपदेशमाह—

॥ पूयापगरणं चउत्थं सम्मत्तं ॥ ४ ॥

'सम्म'मित्यादि, सम्यग्–यथावत् ज्ञात्वा–अवगम्य, यतोऽसम्यग्ज्ञानमज्ञानं च नोपकाराय, इममिति–इदं पूजाविधानं श्रुतानुसारेण–आगमोद्देशेन, स्वयमुत्प्रेक्षितस्य प्रायो व्यभिचारित्वात्, धीरपुरुषैः–बुद्धिमन्नरैः, अबुद्धिमतां सम्यग्ज्ञानकरणयोरसंभवाद्, अक्षोभणैर्वा, कुनयमतिविधुरितमानसा हि सम्यग्ज्ञानकरणयोरसमर्था एव 'एवं चिय'त्ति एवमेव–आगमानुसारेणैव कर्तव्यं–विधेयं अविरहितं–सन्ततं, अविच्छेदकरणे हि शुभाध्यवसायः प्रकर्षं लभते, ततश्चेष्टसिद्धिर्भवतीति, सिद्धिकामैः–मुक्तिप्राप्तिलंपटैः, मुक्तिप्राप्तेरनन्योपायत्वात्। इति गाथार्थः ॥५०॥ पूजाप्रकरणविवरणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

——*——

॥ अथ पञ्चमपञ्चाशकवृत्तिः ॥ ५ ॥

जिनपूजा प्रागुपदर्शिता, तदनन्तरं च प्रत्याख्यानं विधेयमतस्तद्विधिं विभणिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—

नमिऊण वद्धमाणं समासओ सुत्तजुत्तिओ वोच्छं। पच्चक्खाणस्स विहिं मंदमइविबोहणट्ठाए ॥ १ ॥

'नमी'त्यादि, नत्वा–प्रणम्य वर्धमानं–महावीरं समासतः–संक्षेपेण, वक्ष्ये इत्यनेन संबन्धः। तथा सूत्रयुक्तितः–आगमाश्रितामुपपत्तिमाश्रित्य, अथवा सूत्रं च युक्तिं चाश्रित्य, वक्ष्ये–भणिष्यामि प्रत्याख्यानस्य–नमस्कारसहितादिनियमस्य विधिं–विधानं। किमर्थमित्याह–मन्दमतीनां–अल्पमेधसां विबोधनं–प्रबोधनं तल्लक्षणोऽर्थः–प्रयोजनं मन्दमतिविबोधनार्थस्तस्मै मन्दमतिविबोधनार्थाय,

पच्चक्खाणं नियमो चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा। मूलुत्तरगुणविसयं चित्तमिणं वण्णियं समए ॥१॥

इह पुण अद्धारूवं णवकारादि पतिदिणोवओगित्ति। आहारगोयरं जइगिहीण भणिमो इमं चेव ॥३॥

यतः पूर्वाचार्यैः प्रत्याख्यानविधिर्विस्तरेण महामतिसमधिगम्य एवोक्तः। इति गाथार्थः ॥१॥ अथ प्रत्याख्यानमेव पर्यायतो भेदतश्च निरूपयन्नाह—'पच्चे'त्यादि, प्रति-प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आ-मर्यादया ख्यानं-प्रकथनं प्रत्याख्यानं ? तथा नियमनं-नियमः, हेयार्थेभ्य उपरमः २ तथा चरति-मोक्षं प्रति याति येन तच्चरित्रं, तच्च तद्धर्मश्चेति चरित्रधर्मः, चरित्रशब्देन श्रुतस्य व्यवच्छेदः ३ चशब्दः समुच्चये, भवन्ति-वर्तन्ते, एकार्था-अभिन्नार्थाः निवृत्त्यभिधायकत्वाद्, एते शब्दा इति गम्यते। मूलानीव चारित्रकल्पद्रुमस्य मूलानि उत्तरे च तस्यैव शाखाद्यवयववत् ये गुणास्ते विषयो-गोचरो यस्य तन्मूलोत्तरगुणविषयं, तत्र मूलगुणाः-सर्वतो महाव्रतानि देशतश्चाणुव्रतानि, उत्तरगुणास्तु सर्वतः पिंडविशुद्ध्यादयो देशतश्च दिग्व्रतादयः, अथवोत्तरगुणा दशविधप्रत्याख्यानमनागतादि नमस्कारसहितादि वाऽऽगमप्रसिद्धं, अत एव चित्रं-बहुप्रकारं इदं प्रत्याख्यानं वर्णितं-भणितं समये-प्रत्याख्याननिर्युक्त्यादिसिद्धान्ते इति गाथार्थः ॥२॥ तदेवमनेकविधस्यापि प्रत्याख्यानस्य भणनीयतया प्राप्तौ यदेवेह विवक्षितं तदेव प्रतिजानानः प्राह—'इहे'त्यादि, इह-अस्मिन् प्रकरणे, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, स चायं-अद्धा-कालः तेन रूपं-स्वभावो यस्य तदद्धारूपं, अद्धारूपतां च प्रत्याख्यानस्य तत्परिमाणभूतकालादभिन्नत्वविवक्षयेति। किं तदित्याह-'नवकाराइ'त्ति नमस्कारसहितप्रभृति दशधा, आह च-नवकार १ पोरिसीए २ पुरिमड्ढे ३ एकासणे ४ एकठाणे ५ य। आयंबिल ६ ऽभत्तट्ठे ७ चरिमे ८ य अभिग्गहे ९ विगई १० ॥ १ ॥" ननु नमस्कारसहिताद्यपि न सर्वमप्यद्धाप्रत्याख्यानं, एकाशनाचामाम्लादेः परिमाणकृताभिधानप्रत्याख्यानरूपत्वात्,

[1]गहणे [2]आगारेसुं [3]सामइएचेव [4]विहिसमाउत्तं। [5]भेए [6]भोगे [7]सयपालणाएँ [8]अणुबंधभावे य ॥४॥ दारगाहा ॥

यदाह–"दत्तीहिँ व कवलेहिँ य घरेहिँ भिक्खाहिँ अहव दव्वेहिं। जो भत्तपरिच्चायं करेइ परिमाणकडमेयं ॥१॥" इति, तत्कथमुक्तमद्धारूपं 'नवकाराइ'त्ति ?, अत्रोच्यते, अद्धाप्रत्याख्यानपूर्वकं प्राय एकाशनादि प्रतिपद्यते तेन नमस्कारादिकं दशविधमप्यद्धारूपतयोक्तमिति न दोषः। अथ शेषभेदत्यागेन नमस्कारसहितादिकमेव कस्माद्भण्यत इत्याह–प्रतिदिनं–अनुदिवसमुपयोगि–प्रयोजनवत् प्रतिदिनोपयोगि, इतिशब्दो हेत्वर्थः, प्रतिदिनोपयोगित्वमेवास्य कुत इत्याह–आहारगोचरं–अशनाद्याहारविषयं यतः, आहारश्च प्रायः प्रतिदिनोपयोगीति। अथ किं यतीनामेवेदं ?, नेवं, अत आह–यतिगृहिणामुभयसाधारणमित्यर्थः, अनेन च ये श्रावकाणां नमस्कारसहितादिप्रत्याख्यानं न प्रतिपद्यन्ते तन्मतमपास्तं, तत्र चोपपत्तिः प्रागुपदर्शिता। 'भणिमो'त्ति भणामः, इदमेव–अनन्तरगाथोक्ततया प्रत्याख्यानमेव, चेवशब्द एवकारार्थः, एवकारश्च प्रत्याख्यानाद्व्यतिरिक्तस्य पदार्थान्तरस्य भणनीयतया व्यवच्छेदार्थः॥इति गाथार्थः॥३॥ अथ प्रत्याख्यानविधिं प्रतिपिपादयिषुस्तद्द्वाराण्याह–'गहणे' इत्यादि–ग्रहणम्–अङ्गीकरणं तद्विषये, विधिसमायुक्तं प्रत्याख्यानं भणाम इति प्रकृतं, एवमुत्तरपदेष्वपि योजना कार्या, तथा आकारेषु–प्रत्याख्यानापवादेषु 'सामइए चेव'त्ति सामायिक एव च–सामायिकप्रत्याख्याने सत्यपि प्रतिपत्तव्यमेवेदमित्यादिलक्षणो विधिरिति गर्भः 'विहिसमाउत्तं'ति एतेषु ग्रहणादिषु यो विधिः–विधानं तेन समायुक्तं–समन्वितं यत्तत्तथा, तथा भेदे–अशनादावाहारभेदे, तथा भोगे–भोजने, तथा स्वयंपालनायां–आत्मनैवासेवनायां, तथाऽनुबन्धो–भोजनोत्तरकालमपि स्वाध्यायादिसक्रियापाराभिष्वङ्गात्प्रत्याख्यानपरिणामाविच्छेदः, प्रत्याख्याताहारस्य हि स्वाध्यायादि न निर्वहति, ततो भुक्त्वाऽपि यदि तमेव करोति तदा प्रत्याख्यानेऽनुबन्धोऽवसीयत इति, तदेवमनु-

गिण्हति सयंगहीयं काले विणएण सम्ममुवउत्तो। अणुभासंतो पइवत्थु जाणगो जाणगसगासे ॥८॥

न्धस्य भावः-सत्ताऽनुबन्धभावस्तस्य च, विधिसमायुक्तमिति प्रकृतं, चशब्दः समुच्चये। इति द्वारगाथासमासार्थः ॥७॥ एतामेव लेशतो व्याचिख्यासुर्ग्रहणविधिप्रतिपादनार्थं तावदाह—'गिण्हइ' इत्यादि,-गृह्णाति-प्रतिपद्यते, प्रत्याख्यानमिति प्रकृतं, स्वयंगृहीतं-आत्मना प्रतिपन्नं, विकल्पमात्रेण स्वमाश्रितया वा चैत्यस्थापनाचार्यसमक्षं वा, कदा गृह्णातीत्याह-काले-पौरुष्यादिके आगामिनि सति, न पुनस्तदतिक्रमे, अनागतकालस्यैव प्रत्याख्यानविषयत्वात्, अतीतवर्तमानयोर्निन्दासंवरणविषयत्वादिति। तथा विनयेन-वन्दनकदानादिना, अनेन प्रत्याख्यानस्य विनयतः शुद्धिरुपदर्शिता, यदाह-"किइकम्मस्स विसोहिं पउंजई जो अहीणमइरित्तं। तिविहकरणोवउत्तो तं जाणसु विणयओ सुद्धं ॥ १ ॥" तथा सम्यग्-रागाद्यभावेन, अनेन च भावशुद्धिरस्योक्ता, यदाह-"रागेण व दोसेण व परिणामेण व न हीलियं जं तु। तं खलु भावविसुद्धं पच्चक्खाणं मुणेयव्वं ॥१॥" उपयुक्तः-सावधानः, अनुपयुक्तकरणे हि तद्द्रव्यप्रत्याख्यानं स्यादिति। तथाऽनुभाषमाणो-गुरुवचनमनुवदन्, अनेन चानुभाषणशुद्धिरस्योक्ता, आह च-"अणुभासइ गुरुवयणं अक्खरपयवंजणेहिं परिसुद्धं। पंजलिउडो अभिमुहो तं जाणऽणुभासणासुद्धं ॥ १ ॥" इह च गुरुशिष्ययोर्भणने एतावानेव भेदः-गुरुराह-प्रत्याख्याति व्युत्सृजति च, शिष्यस्तु-प्रत्याख्यामि व्युत्सृजामि चेति। वस्तु वस्तु प्रति-प्रतिवस्तु, वस्तु च पुरिमार्धाशनादि, इदं चानुभाषमाण इत्यनेन ज्ञायक इत्यनेन वा संबन्धनीयं। तथा ज्ञायको-ज्ञाता गृह्णातीति प्रकृतं, अनेन च ज्ञानशुद्धिरस्योक्ता, ज्ञानस्य दर्शनपूर्वकत्वात् दर्शनशुद्धिश्च, यदाह-"पच्चक्खाणं जाणति कप्पे जं जंमि होइ कायव्वं। मूलगुणउत्तरगुणा तं जाणसु जाणणासुद्धं ॥ १ ॥" तथा-"पच्चक्खाणं सव्वण्णुदेसियं जं जहिं जया काले। तं जह सद्दहइ नरो तं जाणसु सद्दहण-

एत्थं पुण चउभङ्गो विण्णेओ जाणगेयरगओ उ। सुद्धासुद्धा पढमतिमा उ सेसेसु उ विभासा ॥ ६ ॥

सुद्ध ॥ १ ॥" तथाऽनेनैव प्रत्याख्यापकलक्षण मकलमुपलक्षित, तच्चेद-"किइकम्माइविहिण्णू उवओगपरो य असढभावो य। संविग्गथिरपइण्णो पच्चक्खावितओ होइ ॥ १ ॥" इह प्रत्याख्यापकः शिष्यः, प्रत्याख्याने-आहार प्रत्याख्याननिषेधे गुरोः प्रयोजनात्। तथा ज्ञायकसकाशे ज्ञातगुरुसमीपे, अगीतार्थसमीपे प्रत्याख्यानग्रहणस्य प्रायो निष्फलत्वात्, तस्यागीतार्थतयैवाव्युत्पादकत्वात्, अनेनापि प्रत्याख्यातृलक्षणं सकलमुपलक्षितं, तच्चेदम्-"मूलगुणउत्तरगुणे देसे सव्वे य तह य सोहीए। पच्चक्खाणविहिण्णू पच्चक्खाया गुरू होइ ॥ १ ॥" प्रत्याख्याता गुरुः, शिष्यं प्रत्याहारनिषेधकारणात्। इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ 'ज्ञायको ज्ञायकसमीप' इत्युक्त, इह च चत्वारो भङ्गा भवन्तीति तदुपदर्शनायाह—'एत्थ'मित्यादि, अत्र ज्ञायको ज्ञायकसमीप इत्यत्र ग्रहणविधेरवयवे, पुन शब्दोऽस्यैव विशेषद्योतनार्थः, स चाय-चतूरूपो भङ्गश्चतुर्भेदः, जातावेकवचन, चत्वारो भङ्गका भवन्तीत्यर्थः, विज्ञेयो ज्ञातव्यः। किंविषयोऽसावित्याह ज्ञायकः प्रतिवस्तु ज्ञाता इतरश्च-अज्ञायकस्तौ गतः-आश्रितो ज्ञायकेतरगतः, तुशब्दोऽवधारणे, तेन ज्ञायकेतरगत एवेति स्यात्, ते चामी-ज्ञायकसमीपे ज्ञायकः १ ज्ञायकसमीपेऽज्ञायकः २ अज्ञायकसमीपे ज्ञायकः ३ अज्ञायकसमीपेऽज्ञायकः ४ इति, एतेषां च शुद्धेतरविभागमाह-शुद्धाशुद्धौ-निर्दोषसदोषौ क्रमेण प्रथमान्तिमावेव-आद्यचरमावेव, आद्यस्य सम्यग्ज्ञानयोगाच्छुद्धत्वं, अन्तिमस्य तु सर्वथा ज्ञानाभावादशुद्धत्व, निरतो ज्ञानस्यैव शुद्धिहेतुत्वादिति, तुशब्द एवकारार्थस्तत्प्रयोगो दर्शित एव, शेषयोस्तु-प्रथमान्तिमाभ्यामन्ययो' पुनर्द्वितीयतृतीययोरित्यर्थ', किमित्याह-विभाषा-शुद्ध्यशुद्धिविषये विविध भाषण, कार्येति शेषः, इदमुक्त भवति-कथञ्चि शुद्धाशुद्धौ च तौ स्याताम्। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ विभाषामेव स्पष्टयन्नाह —'किइ'इत्यादी-द्वितीये

पिइए जाणावेउं ओहेणं तइय जेट्ठगाइंमि। कारणओ उ ण दोसो इहरा होइत्ति गहणविही ॥७॥ दा. १।

दो चेव णमोकारे आगारा छच पोरसीए उ। सत्तेव य पुरिमड्ढे एक्कासणगम्मि अट्ठेव ॥ ८ ॥

गमनीपेऽज्ञायक इत्येवंलक्षणे भङ्गके, न दोष इति संबन्धः, कथं?–ज्ञापयित्वा ओघेन–सामान्येन, विशेषज्ञापनस्य प्रत्याख्याना- वसरे ग्रहीतुमशक्यत्वात्, प्रत्याख्येयवस्त्वादिकगतं प्रत्याख्यानप्रतिपत्तारं प्रत्याख्यायत इति गम्यं, तथा तृतीये–अज्ञायकसमीपे ज्ञायक इत्येवंलक्षणे भङ्गके, न दोष इति संबन्धः, कथमित्याह–ज्येष्ठकः-आचार्यादिसंबन्धी वृद्धभ्राता, आदिशब्दात्तन्मातुलपितृ- पितृव्यादिग्रहः, तत्र विषये, कारणत एव-पुष्टालंबनेनैव, गुरूणां पूज्योऽयमित्यस्य पूजा कृता भवतु, असंतोषश्चास्य परिहृतो- ऽस्त्वित्यादिलक्षणेन, न तु यथाकथञ्चित्, तुशब्द एवकारार्थः, प्रत्याख्यानं प्रतिपद्यमानस्येति शेषः, न दोषो–नापराधः ‘अजा- णगो अजाणगमगासे’ इत्याज्ञाभङ्गरूपो भवति। अथोक्तविपर्ययमाह-इतरथा–अन्यथाऽज्ञापयित्वा प्रत्याख्यानं यच्छतस्तथाऽऽलंबना- भावेऽप्यज्ञसमीपे तद् गृह्णत इत्यर्थः भवति-जायते दोषविशेषः, इति–एषोऽनन्तरोक्तः ग्रहणविधिः-प्रत्याख्यानादानविधानमिति। एवमाद्यद्वारं निगमितम्। इति गाथार्थः ॥७॥ अथाकारेष्विति द्वितीयद्वारप्रतिपादनायाह—‘दो चेवे’इत्यादि, द्वावेव च, न संख्या- न्तरं, चैवशब्दोऽवधारणार्थः, नमस्कारे–भीमादिन्यायेनैकपदलोपान्नमस्कारसहिते, नमस्कारश्च–पञ्चमङ्गलरूपस्तेन सहितं–संयुतं, नमस्कारपाठं यावद्भवति, न परतोऽपि, यत्प्रत्याख्यानं तन्नमस्कारसहितं अभिधीयते, न चेदमेव ग्रन्थिसहितादिवत्संकेतप्रत्या- ख्यानतयाऽऽसेयं, सहितशब्दोपादानेऽप्यस्य मुहूर्तमध्ये नमस्कारपाठमात्रेणापूर्यमाणत्वात्, मुहूर्तनमस्कारपाठाभ्यां च पूर्यमाण- त्वात्। अथ कथं मुहूर्तोऽप्रात्रयितयाऽभीयते?, अत्रोच्यते–अद्धाप्रत्याख्यानत्वादस्य, अथाद्धाप्रत्याख्यानताऽपि कुतोऽस्य?, अत्रा-

च्युत्सृजते–'उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खाइ' इत्येतत्सूत्रप्रामाण्यात्, अयमभिप्रायः–अद्धाप्रत्याख्यानमेवेदं, सूरोद्गमेन विशेषणात्, पौरुष्यादिप्रत्याख्यानवत्, अन्यथा निर्विशेषणमेवेदमभविष्यत्, ग्रन्थिसहितादिवत्, यथा हि सूरे उद्गते सति–सूरोद्गमादारभ्येत्यर्थः पौरुषीं प्रत्याख्यातीत्येवं विशेषणात्प्रथमपौरुषीत्यवगीयते एवमुद्गते सूरे नमस्कारसहितं प्रत्याख्यातीति विशेषणात्प्रथममुहूर्तः प्रत्याख्यानावधितयाऽवसीयते, अथातो विशेषणात्प्रथमतावसिता, न मुहूर्तता, सत्यं, किं तु नमस्कारसहितादिकमद्धाप्रत्याख्यानत्रयं यथोत्तरमाकारवृद्धिमदभिहितं, तत्र चात्यन्ताल्पाकारता अत्यन्ताल्पकालीन एव प्रत्याख्याने संभवतीत्यतोऽनुमीयते–नमस्कारसहितं हि पौरुषीतोऽल्पमिति, तच्च मुहूर्तमात्रमेव भवति, अद्धाप्रत्याख्यानलक्षणगाथायामन्यस्य पौरुषीतो लघुतरस्यानभिधानात्, तथाहि–'अद्धापच्चक्खाणं जं तं कालप्पमाणछेएणं। पुरिमड्ढपोरिसीहिं मुहुत्तमासद्धमासेहिं ॥ १ ॥" इति। आक्रियेते–विधीयेते प्रत्याख्यानभङ्गपरिहारार्थमित्याकारौ–प्रत्याख्यानापवादहेतू भवतः, तौ चेमं–'उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ' त्ति, तत्रोद्गते सूरे सति, सूर्योद्गमादारभ्येत्यर्थः, नमस्कारसहितं मुहूर्तप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याति–प्रतिपद्यते, कथं?–चतुर्विधमपि, न पुनरेकविधादिकमेव आहारं–अभ्यवहार्यमाश्रित्येति शेषः, अथवा नमस्कारसहितं प्रत्याख्याति, तत्र च चतुर्विधमप्याहारं व्युत्सृजतीति योगः, इदं च किल चतुर्विधाहारस्यैव प्रायो भवतीति संप्रदायः, रात्रिभोजनव्रतस्य तीरणप्रायत्वात् अस्य, आहारचातुर्विध्यमेवाह–अशनमित्यादि, अत्र च नियमभङ्गदोषस्यात्यन्तपरिहारायाकारावाह–'अण्णत्थऽणाभोगेणं' इह पञ्चम्यर्थे तृतीया, ततोऽनाभोगात्–अत्यन्तविस्मृतेः अन्यत्र, तं वर्जयित्वेत्यर्थः, व्युत्सृजतीति संबन्धः, तथा सहसाकारात्–अतिप्रवृत्तियोगानिवर्तनरूपादन्यत्रेति, व्युत्सृजति·

वर्जयति, चतुर्विधं आहारमिति प्रक्रमः। इह च कालस्याल्पत्वेन बहुतराकाराणां प्रायोऽसंभवात् द्वावेवोक्ताविति। 'छच्च पोरिसीए उ'-त्ति षट् पुनराकारा भवन्ति, पुरुषः प्रमाणमस्या इति पौरुषी—छाया, सा भवति यत्र कालविशेषे साऽपि पौरुषी, प्रहर इत्यर्थः, तद्विषयं प्रत्याख्यानमपि पौरुषीत्युक्तस्यां। तुशब्दः पूरणे। ते चैवम्—पोरिसिं पच्चक्खाइ उग्गए सूरे चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छण्णकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ'त्ति, व्याख्या पूर्ववत्, नवरमन्यत्र प्रच्छन्नात्कालात्, प्रच्छन्नता च तस्य यदा मेघेन रजसा गिरिणा वाऽन्तरितत्वात्सूरो न दृश्यते तदा पौरुषी पूर्णेति मत्वा भुञ्जानस्यापूर्णायामपि न भंग, न पूर्णेति ज्ञाने तु भुञ्जानस्य भंग एव। दिग्मोहस्तु यदा पूर्वामपि पश्चिमेति जानाति तदा चापूर्णायामपि तस्यां मोहाद् भुञ्जानस्य न भंगः, मोहविगमादौ तु निरपेक्षतया भुञ्जानस्य भंग एवेति। साधुवचनं पुनरुद्घाटा पौरुषीत्यादिकं विभ्रमकारणं। तथा सर्वसमाधिः—कृतपौरुषीनियमस्य समुत्पन्नतीव्रशूलादिदुःखस्य संजातार्तरौद्र-ध्यानस्य सर्वथा तन्निरासः, तस्यै सर्वथा समाधेः प्रत्ययः—कारणं निमित्तं स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सर्वसमाधिप्रत्ययाकारः तस्मान् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात्, समाधिनिमित्तमौषधपथ्यादिप्रवृत्तौ न भङ्ग इत्यर्थः। 'सत्तेव य पुरिमड्ढे'त्ति सप्तैवाकारा भवन्ति, पुरिमं—पूर्वं तच्च तदर्धं च—दिनस्याद्यं प्रहरद्वयं पुरिमार्द्धं, तद्गतं प्रत्याख्यानमपि पुरिमार्द्धं तत्र, चशब्दः पुनरर्थः, ते चैवम्—सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खाइ' शेषं पौरुषीवत्, नवरं सप्तमोऽयमिहाकारः 'महत्तरागारेणं' ति, तत्र सूरे उद्गते सति—सूर्योद्गमा-दारभ्येत्यर्थः इत्यादि सर्वं तथैव, नवरं 'महत्तरागारेणं'ति महत्तरं—प्रत्याख्यानानुपालनलभ्यनिर्जरालाभापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभ-हेतुभूतं पुरुषान्तरऽसाध्यं ग्लानचैत्यसंघादिप्रयोजनं तदेवाकारः—प्रत्याख्यानापवादो महत्तराकार इति, यच्चास्येहैं वोपादानं न पुनः-

र्नमस्कारसहितादौ तत्र कालस्य बहुत्वमल्पत्वं न कारणं संभावयाम इति। तथा 'एक्कासणयंमि अट्ठेव' त्ति, एकं-सकृदुपविष्टस्य पुताचलनतः तच्च तदशनं च-भोजनं आसनं वा उपवेशनं एकाशनमेकासनं वा, तद्व्रतं प्रत्याख्यानमपि तथोच्यते, एकं अशनमासनं वा यत्र तदेकाशनमेकासनकं वा, तत्राष्टावेवाकाराः स्युः, न तु संख्यान्तरापन्नाः, ते चैवं-'एकासणगं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थऽणाभोगेणंसहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ'त्ति, एकाशनकं पूर्वोक्तार्थं प्रत्याख्याति-विधेयतयाऽभ्युपगच्छति, शेषं तथैव, नवरं सहागारेण-गृहेण वर्तते इति सागारः स एव सागारिको-गृहस्थः स एवाकारः-प्रत्याख्यानापवादहेतुः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र, सागारिकं वर्जयित्वेत्यर्थः, गृहस्थसमक्षं हि साधूनां भोक्तुं न कल्पते, प्रवचनोपघातसंभवात्, अत एवोक्तं-'छक्कायदयावंतोऽवि संजओ दुल्लहं कुणति बोहिं। आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य ॥१॥' ततश्च यदा भुञ्जानस्य सागारिकः समायातः स्थिरश्चासौ तदा स्वाध्यायादिविघातो मा भूदिति ततः स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि न भङ्गः, गृहस्थापेक्षया तु यच्चक्षुपेक्षितं भक्तं न जीर्यते तदादिः सागारिक इति व्याचक्ष्यते, आकुञ्चनं च-जंघादेः संकोचनं प्रसारणं च-तस्यैवाकुञ्चितस्य ऋजूकरणं आकुञ्चनप्रसारणं, तत्र ह्यसहिष्णुना क्रियमाणे किञ्चिदासनचलनं भवतीत्यतस्ततोऽन्यत्र प्रत्याख्यानमिति, तथा गुरोः-अभ्युत्थानार्हस्याभ्युत्थानं-तं प्रतीत्यासनत्यजनं गुर्वभ्युत्थानं ततोऽन्यत्र प्रत्याख्यानं, तस्यावश्यं कर्तव्यत्वादिति, तथा परिष्ठापनं-सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्येति पारिष्ठापनिकं तदेवाकारः पारिष्ठापनिकाकारस्ततोऽन्यत्र, तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसंभवात् आश्रीयमाणे चागमिकन्यायेन गुणसंभवाच्च तद् भुञ्जानस्यापि न भङ्ग इति, 'वोसिरइ'त्ति अनेकाशनं चतुर्विधाहारं वा व्युत्सृजतीति-

सत्तेगट्ठाणस्स उ अट्ठेवायंबिलस्स आगारा। पंच अभत्तट्ठस्स उ छ प्पाणे चरिम चत्तारि ॥ ९ ॥

परित्यजतीति गाथार्थः॥ ८॥ 'सत्तेगे'इत्यादि, सप्ताकारा भवन्ति एकं-अचलनेनाद्वितीयादिकं स्थानम्-अङ्गन्यासरूपमेकस्थानं तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानं, एकमेव वा स्थानं यत्र तत्तथा तस्यैकस्थानस्य पुनः, तुः पुनःशब्दार्थो व्याख्यात एव, ते च यथैवैकाशनके, नवरमाकुञ्चनप्रसारणमिह नास्ति, एकस्थानकस्य मुखहस्तवर्जाङ्गान्तरत्राचलनरूपत्वादिति। तथा 'अट्ठेवायंबिलम्मि आगारे'ति अष्टैव, न न्यूनाधिकाः, आयामम्-अवश्रावणं अम्लं च-सौवीरकं ते एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके तदायामाम्लं समयभाषयोच्यते, एतद्रूतं प्रत्याख्यानमपि तदेवेत्यतस्तस्मिन्नायामाम्ले आयामाम्लस्य वा आकारा भवन्ति, ते चैवं-'आयंबिलं पच्चक्खाइ अण्णत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ', व्याख्यानं सर्वं प्राग्वत् , नवरमायामाम्लं प्रत्याख्याति-तदेव मया भोक्तव्यमिति प्रतिजानीते, लेपो-भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमनादिना वा आयामाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता स चालेपश्च-विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना संलेखनतो निर्लेपतेति लेपालेपं तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः। तथा उत्क्षिप्तस्य-शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्यायामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्य द्रव्यस्य विवेको-निःशेषतया पृथक्करणमुद्धरणमुत्क्षिप्तविवेकस्तस्मादन्यत्र प्रत्याख्यानं, भोक्तव्यद्रव्यस्याकल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शेऽपि न भङ्ग इति भावः। तथा गृहस्थस्य-भक्तदायकस्य संबन्धि संसृष्टं-विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्तं करोटिकादिभाजनं तद्गृहस्थसंसृष्टं ततोऽप्यन्यत्र, विकृत्यादिसंसृष्टभाजनेन दीयमानं भक्तमकल्प्यद्रव्यावयवमिश्रं भवति, न च तद् भुञ्जानस्यापि भङ्ग इति भावः, 'वोसिरइ'त्ति अनायामाम्लं

ध्युत्सृजतीति। तथा 'पंच अभत्तट्ठस्स उ' पंच आकारा भवन्तीति प्रकृतम्, भक्तेन-भोजनेनार्थः-प्रयोजनं भक्तार्थः तन्निषेधोऽभक्तार्थः तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्यभक्तार्थः, अथवा न विद्यते भक्तार्थो यत्र प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थस्तस्य, तुशब्दः पुनरर्थः, ते चैवं-"सूरे उग्गए अभत्तट्ठं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अनाभोगसहसाकारपारिष्ठापनिकमहत्तरसर्वसमाधय इति, तत्र सूर उद्गते सति, सूर्योद्गमादारभ्येत्यर्थः, अनेन भोजनानन्तरस्यास्य निषेध उक्तः, अभक्तार्थं-अन्नप्रयोजननिषेधं प्रत्याख्याति-कर्तव्यतयाऽभ्युपगच्छति, व्युत्सृजति च भक्तार्थं चतुर्विधाहारं चेति। यदा पौरुषीपुरिमार्धैकाशनकाभक्तार्थानां प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारस्य प्रतिपद्यते तदा पानकमाश्रित्य षडाकारान् करोतीत्यत आह-'छ प्पाणे' षडाकारा भवन्ति पानके-पानकाहारे, ते चैते-"लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ" अयमर्थः-इहान्यत्रेत्यस्यानुवृत्तेस्तृतीयायाः पञ्चम्यर्थत्वात् 'लेवाडेण व' त्ति कृतलेपाद्वा-पिच्छिलत्वेन भाजनादीनामुपलेपकारकात् खर्जूरादिपानकादन्यत्र, तद्वर्जयित्वेत्यर्थः, त्रिविधाहारं व्युत्सृजतीति योगः, वाशब्दोऽलेपकृतपानकापेक्षयाऽस्यावर्जनीयत्वाविशेषद्योतनार्थः, अलेपकारिणेव लेपकारिणाऽप्युपवासादेर्न भङ्ग इति भावः, एवमलेपकृताद्वा-अपिच्छिलात्, अच्छाद्वा-निर्मलादुष्णोदकादेर्बहलाद्वा-गडुलाचिलतंडुलधावनादेः ससिक्थाद्वा-भक्तपुलकोपेतादवश्रावणादेः, असिक्थाद्वा-सिक्थवर्जात् पानकाहारादिति। 'चरिमे चत्तारि'त्ति चरमः-अन्तिमः, भाग इति गम्यते, स च दिवसस्य भवस्य चेति द्विधा, तद्विषयं प्रत्याख्यानमपि चरमं, इह च भवचरमं यावज्जीवकं, तत्र द्विविधेऽपि चत्वार आकारा भवन्ति, ते चानाभोगसहसाकारमहत्तरसमाधिलक्षणा इति। ननु दिवसचरिमप्रत्याख्यानं नार्थवत्, एकाशनकप्रत्याख्यानेनैव तस्य गतार्थत्वात्, नैवम्, एकाशनकं ह्यष्टाकारं एतच्च चतुराकारं, तत आका-

पंच चउरो अभिग्गहि णिव्विइए अट्ठ णव य आगारा। अप्पाउरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥१०॥
णवणीओगाहिमए अद्दवदहिपिसियघयगुळे चेव। णव आगारा तेसिं सेसदवाणं च अट्ठेव ॥ ११ ॥

राणा सक्षेपकरणारगार्थ कमेनैतदिति, अत एवैकाशनादिकं दैवसिकमेव भवति, रात्रिभोजनस्य विशेषतः त्रिविध त्रिविधेन याव ज्जीवतया प्रत्याख्यातत्वात्, गृहस्थापेक्षया पुनरिदमादित्योद्गमान्तं, दिवसस्याहोरात्रपर्यायतयाऽपि दर्शनात्, तत्र च येषां रात्रिभोजननियमोऽस्ति तेषामपीदं सार्थकं प्रायो भवति, रात्रिभोजनव्रतस्य तदीयस्य बह्वाकारत्वादेतस्य चाकारसंक्षेपरूपत्वादिति, यदा तु रात्रिभोजनव्रत दुष्कालभयाद्याकारवर्जितं चतुर्विधाहारविषय च प्रतिपन्नं भवति तदा गृहस्थानामपीदं दैवसिकमेव। इति गाथार्थः ॥९॥ 'पंच चउरो' इत्यादि, 'पंच चउरो' त्ति पञ्च चत्वारो वाशब्दस्य विकल्पार्थस्य लुप्तस्येह दर्शनात्, अभिग्रहे आकारा भवन्तीति योगः। निर्गतं विकृतेः-दुग्धादिकाया इति निर्विकृतिकं भोजनं तद्विषय प्रत्याख्यानमपि निर्विकृतिक, तत्राष्टौ नव वा, चशब्दो वाशब्दार्थः, आकारा-अपवादा भवन्ति, विकृतिविशेषापेक्षयेति। पञ्च चत्वारो वेति यदुक्त तस्य विभागदर्शनायाह-अप्रावरणं-प्रावरणनिषेधः तद्विषयोऽभिग्रहोऽप्यप्रावरणं तत्र पञ्च भवन्ति, तुशब्दः पुनरर्थः, तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते, भवन्ति-जायन्ते, शेषेषु पुनः-अप्रावरणादन्येष्वभिग्रहेषु दण्डकप्रमार्जनादिविषयेषु चत्वार इति, तत्र प्रावरणाभिग्रहेऽनाभोगसहसाकारचोलपट्टकाकारमहत्तरसमाधिलक्षणाः पञ्च भवन्ति, शेषेषु पुनरेत एव चोलपट्टकाकारवर्जाश्चत्वारो भवन्तीति गाथार्थः ॥१०॥ अथ यदुक्तं 'निव्विइए अट्ठ नव य आगारे' ति तद्विभागदर्शनायाह- 'णवणीओ' इत्यादि, नवनीतं च-म्रक्षणं अवगाहेन-स्नेहबोलनेन निर्वृत्तमवगाहिम तदेवावगाहिमकं-पक्वान्नं तच्चेति नवनीतावगाहिमकं तत्र, तथा अद्रवं-कठिनं यद्दधिपिशितघृतगुल

प्रतीतस्वरूपं तत्तथा, समाहारद्वन्द्वगर्भकर्मधारयपदमिदम्। तथा द्रवदधिपिशितघृतगुडमेव, चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ, दर्शित एव चानयोः प्रयोगः। किमित्याह–नवाकारा भवन्ति, एतेपूत्क्षिप्तविवेकस्य संभवात्, तथाहि–भक्तस्योपरि नवनीतं दधिपिशितादीनि चाद्रवं मुक्तं तदुत्क्षिप्यमाणं कठिनत्वेन सर्वथा विवेचयितुं शक्यमतस्तत्संसृष्टमपि भक्तं भुञ्जानस्य उक्खित्तविवेगेणमित्येतदाकारबलान्न भङ्गः, एवं तावदाकारनवकसंभव उक्तः। अथ तदष्टकसंभवमाह–तेषां दध्यादीनां विकृतिविशेषाणां पूर्वमद्रवशब्देन विशेषितत्वादिह द्रवाणामिति विशेषणं द्रष्टव्यं तथा शेषाः–प्रागुक्तनवनीतादिव्यतिरिक्ता विकृतिविशेषास्ते च ते द्रवाश्च–श्लथा भोजने निक्षिप्ताः सन्तः सर्वथा विवेक्तुमशक्याः शेषद्रवाः तेषां शेषद्रवाणां–मद्यादीनां चशब्दः समुच्चये, संबन्धिनि प्रत्याख्यान इति गम्यते, किमित्याह–अष्टैव, न तु नव, भवन्त्याकाराः। इह च विकृत्यन्तरप्रत्याख्यानमपि निर्विकृतिकमुच्यते, तेन यो मद्यदुग्धतैलादीनां प्रत्याख्यानं करोति तस्योत्क्षिप्तविवेकोच्चारणं नार्थवत्, दध्यादिप्रत्याख्यातुः पुनरर्थवत्, तद्विवेकस्य संभवादिति भावना, इदं च वस्तुविचारमात्रमेव, यतो दुग्धादिकमपि प्रत्याचक्षाणेनोत्क्षिप्तविवेक उच्चारणीय एव, भगवतीयोगवाहिना गृहस्थसंसृष्टादिवदिति, अन्ये त्वाहुः–वचनप्रामाण्यान्नोच्चारणीय एवेति, एते चैवं–"निव्विगइयं पच्चक्खाइ अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ" व्यक्तं, नवरं गृहस्थसंसृष्टस्य निर्विकृतिकं प्रति विशेषव्याख्यानमिदं–गृहस्थेन स्वप्रयोजनाय दुग्धेन संसृष्ट ओदनो दुग्धं यदि तमतिक्रम्योत्कर्षतश्चत्वार्यङ्गुलानि यावदुपरि वर्तते तदा तद् दुग्धमविकृतिः, पञ्चमाद्यङ्गुलारंभे तु विकृतिरेव, अनेन न्यायेनान्या अपि, तत्रोक्तं–"खीरदहीवियडाणं चत्तारि उ अंगुलाइँ संसट्ठं। फाणियतेल्लघयाणं अंगुलमेगं तु संसट्ठं॥१॥ महुपोग्गलर-

सगाणं अद्धंगुलयं तु होइ संसट्ठं। गुलपोग्गलनवणीयं अद्दामलयं तु संसट्ठं॥२॥ फाणियं-काकवः, पुद्गलरसको-मांसरसः,पुद्गलं-मांसं, आर्द्रामलकं तु पीलुमयूर इति सम्प्रदाय इति। 'पडुच्चमक्खिएणं'ति प्रतीत्य-सर्वथा रूक्षं मण्डकादिकमपेक्ष्य म्रक्षितं-स्नेहितं, ईषत्स्नेहमार्गोत्पादनात् म्रक्षितमिव यद्वर्तते तत् प्रतीत्यम्रक्षितं, म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुताया अभावाच्च म्रक्षितमिव यद्वर्तते तत् प्रतीत्यम्रक्षितं, म्रक्षिताभास इत्यर्थः, तस्मात्प्रतीत्यम्रक्षितादन्यत्र निर्विकृतिकं, इह च पञ्चम्यर्थे तृतीयेति, इह चायं विधिः-यद्यङ्गुल्या तैलादि गृहीत्वा मण्डकादि म्रक्षितं तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य, धारया तु न कल्पते, व्युत्सृजति-विकृतिं त्यजतीत्यर्थः। इह सूत्रे 'निव्विइए अट्ठ नव य आगारा' इत्येवं निर्विकृतिकस्यैव प्रत्याख्यानतया विधानेऽपि विकृतिपरिमाणप्रत्याख्यानमपि न दुष्टं, अप्रमादवृद्धिहेतुत्वात्, तथा अत एव सूत्रे 'चउव्विहंपि आहारं' इत्येवं पाठेऽपि द्विविधाहारस्य त्रिविधाहारस्य च पौरुष्यादिप्रत्याख्यानमदुष्टं, एवमेकाशनकस्य पौरुष्याः पुरिमार्धस्यैव च सूत्रेऽभिधानेऽपि द्व्याशनकस्य सार्धपौरुष्या अपार्धस्य च प्रत्याख्यानमदुष्टमिति केचित्, अप्रमादवृद्धेर्द्व्याशनकादिष्वपि संभवात्, आकारा अपि य एवैकाशनकादिषु त एवेतरेष्वपि न्याय्याः, अशनादिशब्दसाम्यात्, विकृतिपरिमाणद्विविधाद्याहारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानेष्विवेति। न च वाच्यमभिग्रहप्रत्याख्यानानि द्व्याशनकादीनि ततस्तेषु चत्वार एवाकारा भविष्यन्ति, एकाशनादिभिस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् इतरेषामिति, अन्ये तु मन्यन्ते-एवं हि प्रत्याख्यानमर्यादा न काचित् स्यात्, तत एकाशनकादीन्येव प्रत्याख्यानानि, एकाशनकाद्यशक्तस्तु सार्धपौरुषीं वा यावदङ्गुष्ठग्रन्थिसहि-

१ यथैव निर्विकृतिकप्रत्याख्यानाकारा विकृतिपरिमाणे चतुर्विधाहारपौरुष्याकारा द्विविधाहारादिपौरुष्यां तथैवैकाशनकाद्याकाराः पुनः द्व्याशनकादिष्वपीति तत्त्वं।

वयभंगो गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ। गुरुलाघवं च णेयं धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥१२॥
सामइएवि हु सावज्जचागरूवे उ गुणकरं एयं। अपमायवुड्ढिजणगत्तणेण आणाउ विण्णेयं ॥ १३ ॥

तमेव तदुपरि प्रत्याख्यातीति गाथार्थः ॥११॥ अथाकाराः किमर्थमिहाभिधीयन्ते इति?, अत्राह—'वयभङ्गो'इत्यादि, व्रतभङ्गो-नियमभङ्गः, किमित्याह-गुरुः-महान् दोषो-दूषणमशुभकर्मबन्धादिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोषः, भगवदाज्ञाविराधनात्, तथा स्तोकस्या-पि आकाराश्रयणतो व्रतस्य आस्तां महतः, पालना-आराधना गुणकरी तु-कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकारिण्येव, विशुद्धकुशलपरिणामरूप-त्वात्, तथा गुरु च-सारं लघु च-असारं तयोर्भावो गुरुलाघवं तच्च ज्ञेयं-ज्ञातव्यं भवति, केत्याह-धर्मे-चारित्रधर्मे, तथाहि-उपवासे कृतेऽपि संजातासमाधेरौषधादिदानतः समाधिसंपादने निर्जरागुणो गुरुर्भवति, इतरथा पुनरल्प इति विमर्शनीयं, एकान्ताग्रहस्य प्रभू-तापकारकारित्वेनाशोभनत्वात्, यत एवं अतः-अस्मात्कारणात् तुशब्दः पूरणार्थः आकारा-अपवादाः, प्रत्याख्याने क्रियन्त इति। इदमुक्तं भवति-कृतप्रत्याख्यानस्यापि गुरुलाघवचिन्तया समाध्याद्यर्थमाहारस्यावश्यं ग्रहणमुचितमतः कृताकारत्वेनाल्पमपि व्रतं सम्यक् पालितं भवति, अकृताकारतायां तु महदपि तद् भग्नमेव भवति, पालनाभङ्गौ चार्थानर्थकरावित्याकाराः समाश्रयणीया भवन्तीति गाथार्थः ॥ १२ ॥ उक्त आकारविधिः, अथ सामायिकविधिरभिधीयते, तस्य चैवं प्रस्तावना-ननु सामायिके सकल-सावद्ययोगविरतिरूपे सति किमनेनाहारप्रत्याख्यानेन?, सकलगुणानां सामायिकेनैवाक्षिप्तत्वात्, अत एव कैश्चिदुद्घुष्यते-"रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्?। तावेव यदि न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्? ॥१॥" इत्याशङ्क्याह—'सामइए'इत्यादि, सामायिके-आत्मपरिणामविशेषे, अपिशब्द उत्तरत्र संभंत्स्यते हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, किंभूते?-सावद्यत्यागरूपेऽपि-निखिलस-

एत्तो य अप्पमाओ जायइ एत्थमिह अणुहवो पायं। विरतीसरणपहाणो सुद्धपवित्तीसमिद्धफलो ॥ १४ ॥
ण य सामाइयमेयं बाहइ भेयगहणे (ग्गहे) वि सव्वत्थ । समभावपवित्तिणिवित्तिभावओ ठाणगमणं व॥१५॥

पापव्यापारपरिहारस्वभावेऽपि, न केवलं देशविरतिसम्यक्त्वश्रुतसामायिकेष्वेव, तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, गुणकरमेव-उपकारकमेव, एतद्-आहारप्रत्याख्यानमनन्तरोक्तं, कथमिदमेवमित्याह – अप्रमादवृद्धिजनकत्वेन – अप्रमत्तताप्रकर्षोत्पादकत्वात्, अनुभवन्ति च साधवोऽमुतोऽप्रमादवृद्धिं, तथा आज्ञातः-सर्वविदादेशात्, आदिष्टं च सर्वविदा सामायिकवतामेतच्चतुर्थादि, तपसामादेशात्, आह च-"तवहेउ चउत्थाइ जाव य छम्मासिओ तवो होइ।" विज्ञेयं-ज्ञातव्यं गुणकरमिति योगः, अतः सामायिके सत्यपीदं युक्तमिति गाथार्थः ॥१३॥ न चाप्रमादवृद्धिजनकत्वमस्यासिद्धमित्याह—'एत्तो य' इत्यादि, इतः-अनन्तरोक्तादाहारप्रत्याख्यानात्, तुशब्दश्चशब्दो वा पुनरर्थः, अप्रमादः-अप्रमत्तता जायते-विशेषेण संपद्यते। काप्रमादो जायत इत्याह-'एत्थ' अत्र-सावद्ययोगविरतिरूपे सामायिके। अथ किमत्र प्रमाणमित्याह-इहास्मिन् प्रत्याख्यानस्याप्रमादजनलक्षणेऽर्थे अनुभवः-स्वसंवेदनं प्रमाणं प्रायो-बाहुल्येन, वीतरागाणामप्रमादस्य जातत्वात् अनुपयुक्तसाधूनां वा न जायतेऽसौ प्रत्याख्याने सत्यपीत्यप्रमादविशेषानुभवाभावोऽपि स्यात् एतत्सूचनार्थं प्रायोग्रहणं। किंविधोऽसावप्रमाद इत्याह-विरतिसरणप्रधानः-प्रत्याख्येयार्थनिवृत्तिस्मृतिपरमः, प्रत्याख्यानजन्याप्रमादो हि विरतिं स्मारयत्येव, अनेन च आन्तरं फलमप्रमादस्योक्तम्। तथा शुद्धप्रवृत्तेः-अनवद्यानुष्ठानस्य समृद्धिः-संपूर्णता फलं यस्य स तथा, दृश्यते च प्रत्याख्यानजन्याप्रमादवतां सत्प्रवृत्तिप्रकर्षः, अनेन पुनरस्य बाह्यं फलमुक्तम्। इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ नन्विदमाहारप्रत्याख्यानं त्रिविधाद्याहारभेदेन गृह्यमाणमप्रत्याख्यातान्यतराहारविषयेऽभिष्वङ्गाकारयुक्तत्वेनेनरत्र

सामइए आगारा महल्लतरगेवि णेह पण्णत्ता। भणिया अप्पतरेवि हुं णवकाराइम्मि तुच्छमिणं ॥१६॥
समभावे च्चिय तं जं जायइ सव्वत्थ आवकहियं च। ता तत्थ ण आगारा पण्णत्ता किमिह तुच्छंति? ॥१७॥

च द्वेषभावोपेतत्वेन सामायिकं बाधते, सर्वत्र तस्य निरभिष्वङ्गतास्वभावत्वादित्याशंक्याह—'ण ये'त्यादि, न च-नैव सामायिकं-समभावलक्षणं कर्मतापन्नं एतद्-आहारप्रत्याख्यानं कर्तृ बाधते-विनाशयति भेदेन-त्रिविधाहारादिलक्षणविकल्पेन ग्रहणं-प्रतिपत्तिः भेदग्रहणं तत्रापि, न केवलं चतुर्विधाहारग्रहण एवेति प्रतिज्ञा, कुत एतदेवमित्याह-सर्वत्र-आहारादौ समभावेन-प्रत्याख्यातेतराहार-भेदयोस्तुल्यपरिणामेन ये प्रवृत्तिनिवृत्ती-क्रमेणाप्रत्याख्यातप्रत्याख्यातार्थयोः प्रवर्तननिवर्तने तयोर्यो भावः-सद्भावः स तथा तस्मात्, समभावप्रवृत्तिनिवृत्तिभावत इति हेतुः, समभावता च प्रत्याख्यातुः प्रत्याख्यातेतराहारविषये वेदनावैयावृत्त्यादिनाऽऽतंकोप-[illegible] च शास्त्रोक्तालंबनेनैव प्रवृत्तेर्निवृत्तेश्च, स्थानगमने प्रतीते इव--स्थानगमनवदिति दृष्टान्तः, यथा हि समभावत एव [illegible] स्थाने गमने [illegible]रेतरपरिहारवदपि न सामायिकं बाधते एवमिदमपीति, प्रयोगोऽत्र-यत् समभावपूर्वकमनुष्ठानं तत् सामायिकं न [illegible], [illegible] इव, समभावपूर्वकं च भेदप्रत्याख्यानम्। इति गाथार्थः॥१८॥ अथाहारप्रत्याख्यानवत् सामायिके आकाराः [illegible] नोक्ता इति [illegible] आह—'सामइए'इत्यादि, सामायिके-सर्वविरतिरूपे आकारा-अपवादाः 'महल्लतरगे-[illegible] आहारप्रत्याख्यानापेक्षया महत्तरकेऽपि-बृहत्तरेऽपि, महत्तरत्वं च तस्य यावज्जीवतया त्रिविधंत्रिविधेन च प्रतिपत्तेः, न-[illegible]कारे प्रज्ञप्ताः-प्ररूपिताः, महत्तर एव विषये ते प्ररूपयितव्या भवन्तीति हृदयं, भणिताश्च-प्ररूपिताः [illegible]ऽपि, अपिशब्दोऽत्राहारप्रत्याख्यानस्याल्पतरत्वेनाकारभणनायोग्यतासंसूचनार्थः, हुशब्दो वाक्याल-

तं खलु णिरभिस्संगं समयाए सव्वभावविसयं तु। कालावहिम्मिवि परं भंगभया णावहित्तेण ॥१८॥

ङ्कारार्थः, नमस्कारादौ–नमस्कारसहितपौरुषीप्रभृतिके तदेवं तुच्छम्–असारमिदं नमस्कारसहितादावाकारभणने सति सामायिके तदभणनं, युक्तिरहितत्वादिति गाथार्थः ॥१६॥ अत्रोत्तरमाह—'समभावे'इत्यादि, समभाव एव–रागादिविहितवैषम्यविरहितपरिणाम एव सति, नान्यथा, तत् सामायिकं यद्–यस्मात् जायते–भवति, किंविषये समभाव इत्याह–सर्वत्र–सर्वेषु पदार्थेषु शत्रुमित्रादिषु, अनेन द्रव्याण्याश्रित्य सामायिकमुक्तं, अथ कालतस्तदेवाह–यावत्कथिकं–यावज्जीविकं चशब्दः समुच्चये, तज्जायत इति वर्तते, तत्–तस्मात्कारणद्वयात् तत्र सामायिके नाकारा–नापवादाः प्रज्ञप्ताः–प्ररूपिताः, जिनैरिति गम्यम्। ततश्च किं, न किञ्चिदित्यर्थः, इह–आकारविचारे तुच्छं–असारं, युक्तियुक्तत्वादिति,अयमत्र भावार्थः–सामायिके आकारा न युक्तास्तस्याजन्म समभावरूपत्वात्, तथाहि–यदि गुरुलाघवालोचनतो ग्लानाद्यवस्थायां प्रशस्तालम्बनः काञ्चित्प्रतिषेवां करोति तदा तस्य समभावावस्थितत्वेन सामायिकस्याबाधितत्वात् किं महत्तराकारादिकाकारकरणेन?, यदि च सामायिकप्रतिपत्तिकाले सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि अन्यत्र वैरिप्रतीकारादेरित्येवं साकारं षण्मासादि यावदित्यवधिविशेषवद्वा प्रत्याख्याति तदा वैरिकादिषु षण्मासादिपरतश्च समभावाभावात् सामायिकं नास्त्येवेत्याकारकरणमनर्थकमित्येवं सामायिक आकाराभाव इति गाथार्थः ॥ १७॥ एतदेव सामायिकस्य सर्वार्थनिरभिष्वङ्गत्वं यावत्कथिकत्वं च स्पष्टयन्नाह—'तं खलु'इत्यादि, तत्–सामायिकं खलुरवधारणे भिन्नक्रमश्च निरभिष्वङ्गमेव–निराशंसमेव तथा समतया–इष्टानिष्टार्थेषु तुल्यतया हेतुभूतया सर्वभावविषयं–समस्तवस्तुगोचरमेव, क्वचिद्दृश्यते 'सव्वभावविसयं-ति' त्ति तत्र निरभिष्वङ्गमेव तत् समतया सर्वभावविषयमितिकृत्वेति व्याख्येयम्, अनेन 'समभावे च्चिय तं जं जायइ सव्वत्थे'ति

मरणजयज्झवसियसुहडभावतुल्लमिह हीणणाएण। अवचायाण ण विसओ भावेयव्वं पयत्तेण ॥१९॥
एत्तो चिय पडिसेहो दढं अजोग्गाण वण्णिओ समए। एयस्स पाइणोऽवि हु बीयंति विद्दी य अइसइणा ॥२०॥

भावितम्। ननु चास्य कथं निरभिष्वङ्गत्वं, जीवनं यावदेव निवृत्तिभावेन तत्परतोऽभिष्वङ्गभावात् ?, अत्रोच्यते, कालावधावपि-यावज्जीवतयेत्येवंभूतमर्यादायामपि, किंभूते कालावधावित्याह–परमिति–जीवनात्परतः भङ्गभयात्–प्रतिज्ञाभ्रंशभीत्या, कृते सतीति शेषः, नावधित्वेन–न पुनर्मर्यादात्वेन, परतः सावद्यं करिष्यामीत्येवंरूपेणेति शेषः, निरभिष्वङ्गमेव तदिति प्रकृतम्, अनेन च 'आवकहियं' ति भावितम्। इति गाथार्थः॥१८॥ अथ निदर्शनतः सामायिकमाकाराणामविषय इति दर्शयन्नाह—'मरणे'त्यादि, मर्तव्यं वा मया जयो वाऽऽत्मन्य इत्युल्लेखेन रणावसरे मरणजयौ–मृत्युरिपुविजयावध्यवसितौ येन सुभटेन स तथा तस्य यो भावः–अध्यवसायः तस्य सदृशं–तुल्यं यत्तत्तथा इह लोके हीनज्ञातेन–तुच्छोदाहरणेन, हीनता चास्य तज्जेतव्यस्यैकभविकत्वात्, रागादिवैरिवारविधुरितान्तःकरणत्वात्, परापकारकरणपरायणत्वात्, सामायिकवतश्चैतद्विपरीतत्वात्, तदेकाध्यवसायतामात्रेणैव च साधर्म्यात्। यतश्चैवमतोऽपवादानां–आकाराणां, न विषयो–न गोचरस्तथाविधैकरूपत्वात्, भावयितव्यं–भावनीयमेतत् प्रयत्नेन–आदरेण, न ह्युपादेयविशेषे उपायविशेषतः प्रवर्तमान आशङ्कावान् भवति। इति गाथार्थः॥१९॥ यत एवेदमित्थं महत्तरमत एवाह—'एत्तो चिये'त्यादि, यत एवेदं सुभटभावतुल्यमत एव कारणात् प्रतिषेधो–निवारणा दानं प्रति दृढं–अत्यर्थं अयोग्यानां–क्षुद्रसत्त्वतया सुभटभाववर्जितानाम् (भावतुल्यभाववर्जितानां) वर्णितः–अभिहितः समये–सिद्धान्ते, कस्य प्रतिषेध इत्याह–एतस्य सामायिकस्य। ननु यद्ययोग्यानामेतद्दाननिषेधो वर्णितस्तदा कथं भगवता महावीरेण जन्मान्तरविदारितसिंहजीवाभीरस्य सामायि-

तस्स उ पवेसणिग्गमवारणजोगेसु जह उ अववाया । मूलाबाहाए तहा णवकाराइम्मि आगारा ॥२१॥
ण य तस्स तेसुवि तहा णिरभिस्संगो उ होइ परिणामो । पडियारलिंगसिद्धो उ णियमओ अपणहारूवो ॥२२॥

कथंतिपाततोऽपि सामायिकदानविधिरादिष्टो गौतमस्येत्याशंक्याह—पातिनोऽपि—अवश्यं सामायिकात्प्रतिपतनशीलस्यापि, आस्तामितरस्य तुशब्दोऽलङ्कारार्थः बीजमिति—मुक्तिप्राप्त्यवन्ध्यकारणमयं सामायिकविधिरस्य भविष्यतीतिकृत्वा विधिश्च—सामायिकदानप्रवर्तनं च, वर्णित इति प्रकृतं, अतिशायिना—केवलिना भगवता महावीरेण, अतो विशिष्टतरोपकारहेतुत्वं विज्ञाय केवलिना तद्विधेः कृतत्वान्न तत्र भङ्गदोषः, प्रकृत्यैव तस्य भावात्, गुणस्यैव तत्राधिकत्वात्, मारणान्तिकसन्निपाते स्मृतिकार्यौषधदानवत् । इति गाथार्थः॥ २० ॥ ननु यदि सुभटभावतुल्यत्वात् सामायिके नाकारा भवन्ति तदा सामायिकवतो नमस्कारसहितादावपि ते न युक्ताः, सुभटभावतुल्यभावबाधकत्वात्तेषामित्याशङ्क्याह—'तस्स उ' इत्यादि, तस्य तु—तस्यैव सुभटस्य प्रवेशश्च—संग्रामे जयार्थिनः प्रवेशनं निर्गमश्च—तत एव जयार्थिन एव निर्गमनं वारणं च—विशिष्टावसरप्राप्तये प्रहरतः स्वबलस्य शत्रोर्वा निवारणं योगश्च—तस्यैव प्रयोगो—व्यापारणं प्रवेशनिर्गमवारणयोगाः प्रवेशनिर्गमवारणान्येव वा योगा—व्यापाराः प्रवेशनिर्गमवारणयोगा अतस्तेषु वैरिनिराकरणोपायभूतेषु सामायिकसिद्ध्युपायभूतनमस्कारसहितादिकल्पेषु यथा तु—यथैव अपवादा—आकाराः तत्कारणभजनालक्षणा महत्तराकारादिकल्पा भवन्ति, कथमित्याह—मूलाबाधया—मूलभूतस्य मर्तव्यं जयो वाऽवाप्तव्य इत्येवंलक्षणस्य अध्यवसायस्याविचलिततया तथा—तेनैव प्रकारेण नमस्कारादौ—नमस्कारसहितादौ प्रत्याख्याने आकारा—अपवादा महत्तरादिलक्षणा मूलाबाधया सुभटभावकल्पसामायिकाबाधया भवन्तीति गाथार्थः ॥ २१ ॥ मूलाबाधामेव स्पष्टयन्नाह—'ण य' इत्यादि, न च—नैव

ण य पढमभावबाधाय मो उ एवंपि अवि य तस्सिद्धी। एवं चिय होइ दढं इहरा वामोहपायं तु ॥२३॥
उभयाभावेऽवि कुतोऽवि अग्गओ हंदि एरिसो चेव। तक्काले तब्भावो चित्तखओवसमओ णेओ ॥२४॥

तस्य सामायिकरतः सुभटस्य च, तेष्वपि-अपवादेष्वपि सत्सु, आस्तामन्यत्र, तथा-तत्प्रकार इष्टानिष्टार्थतुल्यतारूपो जीवितानपेक्षश्च निरभिष्वङ्गस्तु-निराशंस एव सन् भवति-जायते परिणामः-अध्यवसायोऽन्यथारूप इति योगः, किंभूतोऽसावन्यथारूपः?-प्रतीकारः-प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरूपः, सुभटपक्षे तु शरणान्वेषणादिरूपः स एव लिङ्गं-चिह्नं तेन सिद्धो यः स तथा, तुशब्दः पूरणार्थः, नियमाद्-अवश्यंभावेन अन्यथारूपः-साभिष्वङ्ग इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति-यदि सामायिकवतो महत्तराद्याकारेषु सत्सु साभिष्वङ्गः परिणामोऽभविष्यत्तदा तच्छुद्धये प्रायश्चित्तमकरिष्यत्, न चैवं, ततस्तस्याकारेष्वपि सत्सु निरभिष्वङ्ग एव परिणामः, अतः साधूक्तं-मूलाबाधया। इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अपवादाश्रयणेऽपि न मूलभावबाधा भवतीत्येतदेव सविशेषं दर्शयन्नाह—'ण य'इत्यादि, न च-नैव प्रथमभावव्याघात-आद्याध्यवसायबाधा प्रत्याख्यानपक्षे सामायिकबाधा सुभटपक्षे जयाध्यवसायबाधा, 'मो' इति निपातः पादपूरणे तुशब्दः पुनरर्थः तत्संबन्धश्च दर्शयिष्यते, एवमपि-अनन्तरोक्तापवादाश्रयणेऽपि, अपिचेत्यभ्युच्चये, तत्सिद्धिः-प्रथमभावस्य विशेषतो निष्पत्तिः एवमेव-अपवादाश्रयण एव भवति-जायते दृढं-अत्यर्थं, आकारवत्प्रत्याख्यानाश्रयणस्य तदुपायत्वात्, रिपुविजये प्रवेशादिभजनाया इवेति, इतरथा पुनः-अपवादवत्प्रत्याख्यानानाश्रयणे पुनः व्यामोहप्रायं तु-मूढताप्रव्यमेव सामायिकं सुभटस्य विजयाध्यवसानं वा भवेत्, उपायत एव तत्सिद्धेरिति गाथार्थः॥२३॥ ननु यद्यपि सामायिकं सुभटाध्यवसायतुल्यं तथापि कस्यापि प्राणिनः कालान्तरे तस्य प्रतिपातः संभवतीत्यतस्तदपि सापवादमेव कर्तुं युक्तं, अत्रोत्तरमाह—'उभयाभावे'इत्यादि, उभयस्य (वर्त्तमानभव-

आहारजाइओ एस एत्थ एक्कोऽवि होति चउभेओ। असणाइजाइभेया णाणाइपसिद्धिओ णेओ ॥२५॥
णाणं सद्दहणं गहण पालणा विरतिवुड्ढि चेव एवंति। होइ इहरा उ मोहा विवज्जओ भणियभावाणं ॥२६॥

क्षपस्य भाववैरिजयादपवर्गस्य च) सुभटदृष्टान्तापेक्षया तु मरणरिपुविजयलक्षणस्य द्वयस्याभावः-असत्ता उभयाभावस्तत्रापि, आस्तां तदभ्रंशे, कुतोऽपि-कस्मादपि परीषहानीकभयादेः अग्रतः-पुरतः-सामायिकप्रतिपत्तेरनन्तरं तत्पालनावसरे, सुभटपक्षे तु संग्रामकाल इत्यर्थः,इंदीत्युपप्रदर्शने,ईदृश एव-मर्तव्यं वा भाववैरिविजयो वा विधेय इत्येवंविध एव,न पुनरपवादाभिमुखः,तद्भाव इति योगः,कदे-त्याह-तत्काले-सामायिकांगीकारावसरे संग्रामप्रवेशावसरे वा, कोऽसावित्याह-तद्भावः-सामायिकप्रतिपत्तिपरिणामः,अन्यत्र तु सुभ-टाध्यवसायः, कथमेतदेवमित्याह-चित्रक्षयोपशमतः-कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् ज्ञेयो-ज्ञातव्यः, एवंविधो हि तस्य क्षयोपशमो भवति यतोऽवश्यप्राप्तव्यमनोभङ्गत्वेऽपि साधुसुभटस्यादावुदात्त एव भावो भवतीति गाथार्थः ॥२४॥ तदेवं सामायिके विधिसमायुक्त-मित्यभिहितं, अथ भेदे विधिसमायुक्तमेव तदभिधातुमाह—'आहारे'त्यादि, आहारजातितः-अभ्यवहार्यसामान्यमाश्रित्य एष आहारः अग्रेत्युत्तरत्र संभंत्स्यते एकोऽपि-निर्भेदोऽपि सन् ,अनेकस्तु चतुर्विधो भवत्येवेत्यपिशब्दार्थः, भवति-जायते, चतुर्भेदः-चतु-ष्प्रकारः,तेयोऽत्र प्रत्याख्यानावसरे, कुतोऽस्य चतुर्भेदत्वमित्याह-अशनादीनां--अशनपानखादिमस्वादिमानां या जातयः-सामान्यवि-शेषाःप्रसिद्धितो जातयस्ताभिर्यो भेदो-भिन्नता आहारसामान्यस्य सोऽशनादिजातिभेदोऽतस्तस्मात् ,अथ किमर्थमयं चतुर्विधो भवति ज्ञेय इत्याह-ज्ञानादिप्रसिद्धितः-ज्ञानादिश्रद्धादीनां निष्पत्तिमाश्रित्य,ज्ञानादिसिद्ध्यर्थमित्यर्थः,अस्य हि चातुर्विध्ये प्ररूपिते एतद्विषया ज्ञाना-दयः सुखेन सिद्ध्यन्तीति,ज्ञेयो ज्ञातव्य इति संबन्धितमेव,इति गाथार्थः ॥२५॥ ज्ञानादीन्येवोपदर्शयन्नाह-'णाण'मित्यादि,ज्ञानं-आहा-

असणं ओयणसत्तुगमुग्गजगाराइ खज्जगविही य। खीराइ सूरणाई मंडगपभिई य विण्णेयं ॥ २७॥
पाणं सोवीरजवोदगाइ चित्तं सुराइगं चेव। आउक्काओ सव्वो कक्कडगजलाइयं च तहा ॥ २८॥

रभेदविषयोऽवबोधः, ततः श्रद्धानं-तद्विषयैव रुचिः ततो ग्रहणं-द्विविधाहारभेदवत्प्रत्याख्यानप्रतिपत्तिः इहानुस्वारलोपो द्रष्टव्यः, ततश्च पालना-यथाप्रतिपन्नप्रत्याख्यानसंराधना, ततो विरतेः-अशनादिनिवृत्तेर्वृद्धिः-यथाशक्ति द्विविधादिभेदेन वर्धनं विरतिवृद्धिः, चशब्दः समुच्चये, एतदाहारचातुर्विध्ये सति इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ भवति-जायते, इतरथा-तदप्ररूपणायां, तुशब्दः पुनरर्थः, संग्रहात्-प्रत्याख्येयविषयविभागापरिज्ञानात् पर्ययो विपर्ययो वैपरीत्यं भणितभावानां-अनन्तरोक्तार्थानां ज्ञानश्रद्धादीनां, अत आहारचातुर्विध्यप्ररूपणं साधु। इति गाथार्थः॥२६॥ अथाशनादिभेदनिरूपणायाह—'असण'मित्यादि, अश्यते-भुज्यत इत्यशनमिति व्युत्पत्तिमात्रं, अशनशब्दप्रवृत्तिस्तु रूढित ओदनादौ, एतदेवोच्यते-ओदनसक्तुमुद्गजगार्यादि अशनं भवति, विज्ञेयमिति योगः, इह जगारीशब्दः समयसिद्धः, ओदनादयस्तु लोकरूढाः, आदिशब्दात्क्षैरेयीकरम्भकादिग्रहः, खाद्यकविधिश्च-अशोकवृत्तिमोदकादिलक्षणो भोजनप्रकारः, तथा क्षीरादि-दुग्धदधिघृततक्रतीमनादि, तथा सूरणादि-सूरणकन्दप्रभृति, आदिशब्दस्तथाभूतकन्दान्तरपरिग्रहार्थः, मण्डकप्रभृति च-मण्डकापूपपोलिकादि च, विज्ञेयमिति योजितमेव, इति गाथार्थः ॥२७॥ अथ पानकमाह—'पाण'मित्यादि, पीयत इति पानं, तच्च रूढितो विज्ञेयं, एतदेवोच्यते-सौवीरयवोदकादि, सौवीरं-काञ्जिकं, यवोदकं-यवधावनजलं, आदिशब्दात्तिलतण्डुलक्षालनजलादिग्रहः, चित्रं-बहुविधं, किं तदित्याह-सुरादिकमेव च, तत्र सुरा-पिष्टादिनिष्पन्नो मद्यविशेषः, आदिशब्दात्सारकमैरेयकादिग्रहः, चैवशब्दयोः प्रयोगो दर्शित एव, तथाऽप्कायः-शस्त्रानुपहतोदकं सर्वः-समस्तो वापीकूपतडागनद्यन्तरिक्षो-

भत्तोसं दन्ताई खज्जूरं नालकेरदक्खादी । कक्कडिअंबगफणसाइ बहुविहं खाइमं णेयं ॥ २९ ॥

दंतवणं तंबोलं चित्तं तुलसीकुहेडगाई य । महुपिप्पलिसुंठाई अणेगहा साइमं होइ ॥ ३० ॥

लेसुद्देसेणेए भेया एएसिँ दंसिया एवं । एयाणुसारओ च्चिय सेसा सयमेव विण्णेया ॥ ३१ ॥

दकादिरूपः, तथेत्ययं वाक्योपक्षेपार्थ इह दृश्यः, कर्कटकजलादिकं-कर्कटकाख्यफलविशेषरसमिश्रोदकादिकम्, आदिशब्दात् खर्जूरद्राक्षादाडिमचश्चाजलादिग्रहः, च शब्दः समुच्चये, पानमिति वर्तते, इति गाथार्थः ॥२८॥ अथ खादिममाह—'भत्तोस'मित्यादि, भक्तं च-तद्भोजनं ओषं च-दाह्यं भक्तौषं, रूढितः परिभृष्टचनकगोधूमादि, दन्तादि-गुडसंस्कृतदन्तपवनादि देशविशेषप्रसिद्धं, खर्जूरं प्रसिद्धं, नालिकेरद्राक्षादि प्रतीतमेव, आदिशब्दाद् दाडिमादिपरिग्रहः, कर्कटकाम्रपनसादि अनेकधा-बहुविधं खादनेन निर्वृत्तं खादिमं, ज्ञेयं-ज्ञातव्यं, इति गाथार्थः ॥२९॥ अथ स्वादिममाह—'दंतवण'मित्यादि, दन्ताः पूयन्तेऽनेनेति दन्तपवनं-दशननिर्लेपनकाष्ठं यष्टीमध्वादि ताम्बूलं प्रतीतं तच्च चित्रं-बहुप्रकारं नागवल्लीपत्रपूगफलखदिरसारचूर्णैलालवङ्गकङ्कोलकर्पूरादिद्रव्यसमुदायात्मकं तुलसिका-सुरसा कुहेडकः-पिण्डारकः, आदिशब्दात् जीरकहरितादिग्रहः, तथा मधु-माक्षिकं, पिप्पली-कृष्णा, शुण्ठ्यादि-नागरप्रभृति, आदिशब्दान्मरिचहरीतक्यादिग्रहः, इत्येवमनेकधा-अनेकप्रकारं, स्वादनेन स्वादनाय (वा) निर्वृत्तं स्वादिमं, भवति-स्यात्, इति गाथार्थः ॥३०॥ अथोक्तशेषानशनादिभेदानतिदेशतो दर्शयन्नाह—'लेसु'इत्यादि, लेशस्य-आहारभेदानामल्पांशस्योद्देशो-भणनं लेशोद्देशस्तेन एते-अनन्तरोक्ताः भेदा-ओदनादयो विशेषा एतेषाम्-अशनादीनामाहारभेदानां दर्शिता-उक्ता एवं-उक्तन्यायेन । ततः किमित्याह-एतदनुसारत एव-दर्शितभेदानुसारेणैव शेषा-अप्रदर्शिता एतज्जातीयाः स्वयमेव-आत्मनैव विज्ञेया

तिविहाइभेयओ खलु एत्थ इमं वण्णियं जिणिंदेहिं। एत्तो चिय भेएसुवि सुहुमंति वुहाणमविरुद्धं ॥३२॥
अण्णे भणंति जतिणो तिविहाहारस्स ण खलु जुत्तमिणं। सव्वविरइउ एवं भेयग्गहणे कहं सा उ? ॥३३॥

ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ अथाहारभेदप्ररूपणायां सत्यां यद्भवति तद्दर्शयन्नाह—'तिविहाई'त्यादि, त्रिविधः पानकवर्जाहार आदिर्यस्य स तथा, आदिशब्दाच्चतुर्विधपरिग्रहः, स चासौ भेदश्च–विशेषस्त्रिविधादिभेदस्तस्मात्–तमाश्रित्य, खलुर्वाक्यालङ्कारे, अत्र–प्रवचने इदं–आहारप्रत्याख्यानं वर्णितं-उक्तं जिनेन्द्रैः–जिननायकैः, पानकाहारं प्रत्याकारपञ्चकस्य वर्णितत्वादिति, 'एत्तो चिय' त्ति इत एव–त्रिविधस्य चतुर्विधस्य वाऽऽहारस्य प्रत्याख्यानानुज्ञानात्, भेदेष्वपि–अशनादिगतौदनादिविशेषेष्वपि, न केवलं त्रिविधादिभेदत एवेदं, अविरुद्धमिति योगः यथा एतावन्त्येवौदनादिद्रव्याण्येतत्परिमाणान्येव च ग्रहीष्यामीति, आह च–"लेवडमलेवडं वा अमुगं दव्वं च अज्ज घेच्छामि। अमुगेण व दव्वेण उ अह दव्वाभिग्गहो नाम ॥१॥" इति। किमित्येवमित्याह–सूक्ष्ममिति–निपुणमितिकृत्वा बुधानां–विवेकिनां अविरुद्धं–अविरोधवत्, विशेषतोऽप्रमादवृद्धिहेतुत्वात्, इति गाथार्थः ॥३२॥ इहार्थे विप्रतिपत्तिं दर्शयन्नाह—'अण्णे' इत्यादि, अन्ये–जैनविशेषेभ्योऽपरे दिगंबरा इत्यर्थः, भणन्ति–ब्रुवते, किं तदित्याह–यतेः–साधोः त्रिविधाहारस्य पानकवर्जस्य न खलु–नैव युक्तं–संगतं इदं प्रत्याख्यानं, कुत एतदेवमित्याह–सर्वविरतेः–समस्तवस्तुविनिवृत्तत्वात्, किंचात इत्याह–एवं–उक्तन्यायेन त्रिभेदतोऽपि प्रत्याख्यानं स्यादित्यभ्युपगमलक्षणेन भेदग्रहणे–त्रिविधाहारस्येत्येवं विशेषप्रतिपत्तौ कथं तु?–केन पुनः प्रकारेण?, न कथञ्चिदित्यर्थः, सा सर्वविरतिः, तुशब्दः पुनरर्थः, तत्प्रयोगश्च दर्शित एव, एतदुक्तं भवति–त्रिविधाहारस्य प्रत्याख्याने सर्वाहारस्याप्रत्याख्यानादसर्वविरतित्वं स्यात्। इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ अत्रोत्तरमाह—'अपमाये'-

अपमायवुड्ढिजणगं एयं एत्थति दंसियं पुव्वं। तब्भोगमित्तकरणे सेसच्चागा तओ अहिगो ॥ ३४ ॥
एयं कहंचि कज्जे दुविहस्सवि तण्ण होति चिंतमिणं। सच्चं जइणो णवरं पाएण ण अण्णपरिभोगो ॥ ३५ ॥

त्यादि, अप्रमादवृद्धिजनकम्–अप्रमत्ततोत्कर्षसंपादकं एतदाहारप्रत्याख्यानं अत्र सर्वसावद्ययोगविरतिरूपे सामायिके सत्यपीति–एतद्दर्शितं–उक्तं पूर्वं–प्राक्, तद्यथा–"सामइएवि हु–सावज्जचागरूवे उ गुणकरं एयं। अपमायवुड्ढिजणगत्तणेण आणाउ विण्णेयं ॥१॥" इति, ततश्च तद्भोग एव–पानकाहार एव तद्भोगमात्रं तस्य करणं विधानं तद्भोगमात्रकरणं तत्र सति शेषत्यागाद्–अशनाद्याहारत्रयपरिहारात् तकः–अप्रमादः अधिकः–सर्वविरतिसामायिकप्रतिपत्तिसमयाप्रमादापेक्षयाऽर्गलतरो भवति, अतः सर्वसावद्ययोगविरतेरबाधितत्वादप्रमादविशेषोत्पादकत्वाच्च सर्वविरतस्यापि त्रिविधाहारप्रत्याख्यानमसंगतं न भवति, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ इहाभ्युपगमे परवचनमाशङ्क्य परिहरन्नाह—'एव'मित्यादि, एवं–अनेन प्रकारेणाप्रमादवृद्धिजनकतया त्रिविधाहारप्रत्याख्यानाभ्युपगमे कथञ्चित्–केनचित्प्रकारेण वाताभिभवादिना कार्ये–प्रयोजने ग्लानत्वादौ, पाठान्तरेण कश्चित्कार्ये, द्विविधस्यापि–अशनखादिमरूपस्याप्याहारस्य, आस्तां त्रिविधस्य, तन्न प्रत्याख्यानं न भवति–न जायते चिंत्यं–चिन्तनीयं इदं–तत् भवन्मतं, भवत्येव द्विविधाहारस्यापि तदिति पराभिप्रायः, अत्रोत्तरमाह–सत्यमेवैतत्, एवं प्रसंगमभ्युपगम्य तत्रैव विशेषमाह–यतेः–साधोः नवरं–केवलं प्रायेण–बाहुल्येन विशिष्टग्लानाद्यवस्थां मुक्त्वा न–नैव अन्यपरिभोगः–अशनपानकापेक्षयाऽपरस्य खादिमस्वादिमाहारस्य भोजनमस्ति, वेदनादिष्वाहारग्रहणकारणेषु खादिमस्वादिमयोरात्यन्तिकतयाऽनुपयोगित्वात्, यतिग्रहणेन श्रावकस्य द्विविधाहारस्यापि प्रत्याख्यानमभ्युपगतम्, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ व्याख्यातं भेदद्वारं, अथ भोगद्वारव्याख्यानायाह—'विहिगा' इत्यादि,

विहिणा पडिपुण्णम्मी भोगो विगए य थेवकाले उ। सुहधाउजोगभावे चित्तेणमणाकुलेण तहा ॥३६॥

काऊण कुसलजोगं उचियं तक्कालगोयरं णियमा। गुरुपडिवत्तिप्पमुहं मंगलपाढाइयं चेव ॥ ३७ ॥

विधिना–विधानेन प्रतिपत्तिसमनन्तरं सततमुपयोगतः प्रतिचरणलक्षणेन प्रतिपूर्णे–पौरुष्याद्यवधिके प्रत्याख्यान इति प्रक्रमः भोगो–भोजनं भवति कार्यः, अनेनास्य पालितत्वमुक्तं, उपलक्षणत्वाच्चास्य स्पृष्टत्वमप्यस्योक्तमवगन्तव्यं, लक्षणं चेदमनयोः–"उचिते काले विहिणा पत्तं जं फासियं तयं भणियं। तह पालियं तु असइं सम्मं उवओगपडियरियं ॥१॥" ति, किं पूर्णमात्र एव?, नेत्याह–विगते च–अतिक्रान्ते च पौरुष्याद्यवधेरुपरि स्तोककाले तु–अल्पवेलायामेव, अनेन च तीरितत्वमस्योपदिष्टं, तल्लक्षणं चेदम्–"पुण्णेऽवि थेवकालावत्थाणा तीरियं होइ" तथा शुभानां–सुन्दराणां धातूनां–वातपित्तकफानां योगानां–कायादिव्यापाराणां भावः–सत्ता शुभधातुयोगभावस्तस्मिन्, धातूनां च शुभत्वं स्तोककालातिक्रमेण भिक्षाटनादिजन्यश्रमविनोदनेन समत्वं, अत एव योगानामपीति, तथा चित्तेन–मनसा अनाकुलेन–अव्याक्षिप्तेन, व्याकुलचित्तेन हि भोजने दोषसंभवात्, यदाह–"ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन, लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥१॥" तथेति समुच्चये, इति गाथार्थः ॥३६॥

भोगविधिमेव विशेषेणाह—'काऊण' इत्यादि, कृत्वा–विधाय कुशलयोगं–शोभनव्यापारं, भुंजते धर्मरता इति योगः, उचितं–स्वभूमिकार्हं तत्कालगोचरं–भोजनावसरविषयं नियमाद्–अवश्यंतया, किंभूतमित्याह–गुरूणां–मातापितृधर्माचार्यदेवतालक्षणानां प्रतिपत्तिः–उचितपूजा प्रमुखा–आद्या यस्य परि॥ग्लानप्रतिचरणादेः स तथा तं, अनेन च शोभितत्वं प्रत्याख्यानस्योक्तं, यदाह–"गुरुदाणसेसभोयणसेवणयाए उ सोहियं जाण" तथा मङ्गलपाठादिकं चैव–पञ्चनमस्कारपठनप्रभृतिकमेव च, आदिशब्दाद्धर्म-

सरिऊण विसेसेणं पच्चक्खायं इमं मए पच्छा । तह संदिसाविऊणं विहिणा भुंजंति धम्मरया ॥३८॥ युग्मं।
सयपालणा य एत्थं गहियम्मिवि ता इयम्मि अन्नेसिं। दाणे उवएसम्मि य ण होंति दोसा जहऽण्णत्थ॥३९॥

मङ्गलादिप्रशस्तश्रुतपरिग्रहः,इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ तथा—'सरिऊणे'त्यादि,स्मृत्वा—अनुचिन्त्य विशेषेण—भोजनकालात्प्राचीन-सामान्यस्मरणापेक्षया विशेषतः, किं तदित्याह—प्रत्याख्यातं—अभ्युपगतं, इदं नमस्कारसहितादिकं मयेत्यात्मनिर्देशे, कदा प्रत्याख्यातमित्याह—पश्चात्—पूर्वकाले भोजनकालापेक्षया, अनेन चास्य कीर्तितत्वमुक्तं, आह च—"भोयणकाले अमुगं पच्चक्खायंति भुंज किट्टियं"। तथेति क्रियान्तरसमुच्चये, संदेश्य—संदिशन्तं—अनुजानन्तमाचार्यमनुप्रयुज्य 'संदिशत यूयं मां येन पारयामी'त्येवमनुज्ञाप्येत्यर्थः, विधिना—अनेनैवोक्तरूपेण भोजनविधिना वा स्थानविशेषाश्रयणादिना, तद्यथा—"ठाण दिसि पगासणया भायण पक्खेवणा य गुरु भावे, सत्तविहो आलोओ सयावि जयणा सुविहियाणं ॥१॥" भुञ्जते—अश्नन्ति धर्मरताः—चारित्रधर्मासक्तचित्ताः, इति गाथार्थः ॥३८॥ उक्तं भोगद्वारमथ स्वयंपालनाद्वारमाह—'सयपालणा'इत्यादि, स्वयं—आत्मना पालना—प्रत्याख्याताहार-परिहारः स्वयंपालना, अत्रानुस्वारस्याश्रवणं प्राकृतत्वात्, चशब्दस्यैवकारार्थत्वात् स्वयंपालनैव कार्या, न पुनरन्येषामन्नदाना-दिपरिहारोऽपि अत्र—आहारप्रत्याख्याने सति, 'ता' इति यस्मादेवं तस्मात् गृहीतेऽपि—प्रतिपन्नेऽपि, आस्तामगृहीते, अस्मिन्—आहार-प्रत्याख्याने अन्येभ्यः—आत्मव्यतिरिक्तेभ्यः दाने—वितरणे अन्नादेः उपदेशे च "भुञ्जीत यूयं" "अमुत्र वा श्राद्धगृहादावन्नलाभार्थं यात" इत्येवंरूपे वा आदेशे न भवन्ति—न जायन्ते दोषा—भोजने परप्रवर्तनानुमोदनतत्तत्फललक्षणदूषणानि यथा अन्येन प्रकारेण: अन्यथा परत्र—प्राणातिपातविरत्यादौ दोषा इति व्यतिरेकदृष्टान्तः. प्राणातिपातादौ हि प्रत्याख्याते यथा तत्र स्वयं न प्रवर्तते,

कयपच्चक्खाणोऽवि य आयरियगिलाणबालवुड्ढाणं। देज्जाऽसणाइ संते लाभे कयवीरियायारो ॥४०॥

संविग्गअन्नसंभोइयाण दंसेज्ज सड्ढगकुलाणि। अतरंतो वा संभोइयाण जह वा समाहीए ॥ ४१ ॥

एवमन्यं न प्रवर्तयति न चानुमोदयति, अन्यथा व्रतभङ्गः, अनेन चायं पूर्वपक्षः परिहृतो द्रष्टव्यः, तद्यथा–"आह जह जीवघाए पच्चक्खाए न कारए अन्नं। भंगभयाऽसणदाणे धुव कारवणंति नणु दोसो ॥१॥" ततश्च–"नो कयपच्चक्खाणो आयरियाईण देइ असणाई। न य विरइपालणाओ वेयावच्चं पहाणयरं ॥ १ ॥" आहारप्रत्याख्यानं हि प्राणातिपातप्रत्याख्यानवन्न त्रिविधंत्रिविधेनेत्येवं प्रत्याख्यातीत्यतोऽन्नदानादौ न दोषः, यदाह–"नो तिविहंतिविहेणं पच्चक्खइ अन्नदाण कारवणं। सुद्धस्स तओ मुणिणो न होइ तब्भंगहेउ ॥ १ ॥ त्ति," इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ 'अन्येभ्योऽन्नस्य दानोपदेशयोर्न दोष' इत्युक्तं, तत्र दानविधिमुपदर्शयन्नाह—'कयपच्चक्खाणो' इत्यादि, कृतप्रत्याख्यानोऽपि च..शक्तिमन्नाहारनियमोऽपि च, आस्तां तदन्यः, आचार्यग्लानबालवृद्धेभ्यः प्रतीतेभ्यः सांभोगिकेभ्य इति हृदयं, उपलक्षणत्वाचास्य प्राघूर्णकसहोदरनिर्लब्धिकादिभ्यश्च, एतद्ग्रहणं च गुणाधिकत्वासमर्थत्वादिहेतुतः तदुपष्टंभस्याधिकनिर्जराकारणत्वादिति, दद्याद्–वितरेत् अशनादि–भक्तपानखादिमप्रभृति सति–विद्यमाने लाभे–अशनादिप्राप्तौ कृतवीर्याचारो–विहितस्वशक्तिव्यापारणो भिक्षाटनादिना। इति गाथार्थः ॥४०॥ उक्तो दानविषयो विधिः, अथ दानोपदेशविषयं तमाह–'संविग्गअन्नसंभोइयाण' इत्यादि, संविग्नाः–संसारभीरवः ते च वस्तुतः सुविहिता एव ते च ते अन्यसांभोगिकाश्च–भिन्नसामाचारीकाः संविग्नान्यसांभोगिकास्तेषां देशयेत्–उपदिशेत् श्राद्धककुलानि–दानश्रद्धालुगृहाणि, तेभ्य आनीय न दातव्यमन्नं

एवमिह सावगाणवि दाणुवएसाइ उचियमो णेयं । सेसम्मिवि एस विही तुच्छस्स दिसादवेक्खाए ॥ ४२ ॥

भवति, भिन्नसामाचारीकतया शिष्यकाणां मतिमोहसंभवादिति, पक्षान्तरमाह—'अतरंतो व' त्ति ग्लानादित्वेन श्राद्धकुलादन्नमानीय दातुमशक्नुवन् सांभोगिकानां—एकसामाचारीकाणां देशयेत्, श्राद्धककुलानीति वर्तते, तेषां ह्यानीय दातव्यं भवति, एकसामाचारीकत्वात्, पक्षान्तरमाह—यथा—येन प्रकारेण समाधिना—आत्मनः परस्य च समाधानेन, दातुं चोपदेष्टुं वा शक्नोति तथा करोतीति शेषः, न हि समाधानातिक्रमे दानोपदेशयोः साफल्यं भवति। इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ एवं प्रत्याख्यानप्रसंगेन साधूनां दाने तदुपदेशे च विधिरुक्तः, अथ श्रावकाणां तमतिदिशन्नाह—'एवमिह' इत्यादि, एवम्—अनेन प्रकारेण शक्तश्चेद्ददाति अशक्तः पुनरुपदिशतीत्येवंरूपमात्रलक्षणेन, सांभोगिकेतरविशेषो हि साधून् प्रति श्रावकाणां नास्तीति इह प्रत्याख्यानगतस्वयंपालनाप्रक्रमे श्रावकाणामपि—श्रमणोपासकानामपि, आस्तां साधूनां, दानोपदेशादि—भक्तदानतद्विषयोपदेशप्रभृति, आदिशब्दादनुमोदनादिग्रहः 'उचियमो' त्ति उचितमेव—संगतमेव ज्ञेयं—ज्ञातव्यं, भक्तपानादौ दातव्ये तावदयं श्रावकाणां विधिः, अथ वस्त्रादौ कोऽसावित्याह—शेषेऽपि—अशनादेरन्यत्रापि वस्त्रादौ, आस्तामशनादौ, एषः—अनन्तरोक्तोऽविशेषेण ददाति तदशक्तश्च तदुपदिशतीत्येवंलक्षणः विधिः—अनुष्ठानम्। अथात्र विशेषमाह—तुच्छस्य—दरिद्रश्रावकस्य दिगाद्यपेक्षया—दिश्यते यया शिष्यः सा दिक् आचार्योपाध्यायादिका, यथाऽमुष्याचार्यादिरयं शिष्यः, तत्प्रतिबोधितत्वात्, आदिशब्दात्तत्परिवारादिपरिग्रहः, तस्यापेक्षा—अवलम्बनं दिगाद्यपेक्षा तया, दानोपदेशाद्युचितं ज्ञेयमिति प्रक्रमः, तुच्छो ह्यविशेषेण दातुमशक्तोऽतोऽसौ धर्मगुरूणां दुष्प्रतिकारतया विशेषतः पूजनीयत्वात्तेभ्यस्तत्परिवाराय वा ददातीत्यभिप्रायः, अत एवोच्यते—"सड्ढेणं सइ विहवे साहूणं वत्थमाइ दायव्वं। गुणवंताणऽविसेसा दिगाइ

संतेअरलद्धिजुएअराइभावेसु होइ तुल्लेसु। दाणं दिसाइभेए तीएऽदिंतस्स आणादी ॥ ४३ ॥

तत्थवि न जेसतिथ ॥ १॥" तुच्छेन दिशा देयं, तत्रापि येषां साधूनां वस्त्रादि नास्ति, तेभ्यो देयमित्यर्थः, आभवद्व्यवहारापेक्षया च दिग् गृहस्थस्य प्रविव्रजिषोरुत्प्रव्रजितस्य वा आगमे दृश्यते, नान्यस्य, यत इयं कल्पव्यवहारोक्ता दिग्व्यवस्था—यः प्रव्रजितुकामः सामायिकादिपाठप्रवृत्तः स त्रीणि वर्षाणि यावत् प्रतिबोधकाचार्यस्यैव सत्को भवति, यदाह—"सामाइयाइया खलु धम्मायरियस्स तिण्णि जा वासा। नियमेण होइ सेहो उज्जमओ तदुवरिं भयणा ॥१॥" यस्तु निह्नवादि भूत्वा पुनः प्रव्रजति तस्य स्वेच्छया दिक्, अत्यक्तसम्यक्त्वस्तूत्प्रव्रज्य यः प्रव्रजति स त्रीणि वर्षाणि यावत् पूर्वाचार्यस्यैव, आह च—"परलिंगि निण्हए वा सम्मद्दंसणजढे उ उवसंते। तद्दिवसमेव इच्छा सम्मत्तजुए समा तिण्णि ॥१॥" उत्प्रव्रजितस्तु द्विधा—सारूपी गृहस्थश्च, तत्र सारूपी रजोहरणवर्ज-साधुवेषधारी, स च यावज्जीवं पूर्वाचार्यस्य तन्मुण्डीकृतानि च, यानि च तेन न मुण्डितानि, केवलं बोधितान्येव तानि यमाचार्यमिच्छन्ति तस्यासौ ददाति, तदीयानि च तानि भवन्ति, अनपत्यानां चायं विधिः, तदपत्यानि तु पूर्वाचार्यस्यैव, आह च—"सारूवी जावज्जीवं पुव्वायरियस्स जे य पव्वावे। अपव्वाविते सच्छंदो इच्छाए जस्स सो देइ ॥१॥" गृहस्थः पुनर्द्विविधो—मुण्डितः नशिखश्च, स च द्विविधोऽपि पूर्वाचार्यस्य, यानि च तेनोत्प्रव्रजनानन्तरं वर्षत्रयाभ्यन्तरे बोधयित्वा मुण्डीकृतानि तानि चेति, आह च—"जो पुण गिहत्थमुंडो अहवाऽमुंडो उ तिण्ह वरिसाण। आरेणं पव्वावे सयं च पुव्वायरिय सव्वे ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥४२॥ 'तुच्छस्य दिगाद्यपेक्षये'त्युक्तं, अथास्यैव विभजनार्थमाह—'संतेअरल'इत्यादि, इहाविशेषेण साधुभ्यो दानं दातव्यं श्रावकेण, अथ तुच्छद्रव्यत्वादविशेषेण दानाशक्तिस्तदाऽसद्वस्त्राद्युपधिभ्य एव वस्त्रादि ददाति, तेषां तदभावे संयमबाधा मा भूदिति, अथ द्वये

भोत्तूणमुचियजोगं अणवरयं जो करेइ अवद्दित्तो । णियभूमिगाएँ सरिसं एत्थं अणुबंधभावविही ॥ ४४ ॥

वस्त्रादिहीनास्तदा तल्लब्धिहीनेभ्यो ददाति, नेतरेभ्यः, अथ द्वयेऽपि सद्वस्त्रत्वादिभिर्धर्मैरतुल्यास्तदा को विधिः?, अत्रोच्यते–'संते'त्ति

सद्–विद्यमानं वस्त्रादि इतरच्च–अविद्यमानं वस्त्राद्येव तदसत्त्वेऽपि लब्धियुतश्च–वस्त्रादिलाभयोग्यतायुतः इतरश्च तद्विकल इति द्वन्द्वः ते आदिर्येषां ते तथा, आदिशब्दात् सपक्षसत्त्वेन संभाव्यमानवस्त्रादिलाभतदितरादिग्रहः, एतानि च सदादिपदानि लुप्तभावप्रत्ययानि द्रष्टव्यानि, ततश्च ते च ते भावाश्च–साधूनामवस्थाः सदितरलब्धियुतेतरादिभावास्तेषु तुल्येषु–समेषु सत्सु, किमित्याह–भवति–वर्तते, तुच्छस्येति प्रक्रमः, दानं–वस्त्रादिवितरणं दिगादिभेदे–दिगादिभिर्भेदे सति, दिगाद्यपेक्षयेत्यर्थः, तथाहि–द्वयोः साध्वोः सद्वस्त्रत्वे सति यो दिशाऽऽसन्नस्तस्मै देयं, एवमसद्वस्त्रत्वे लब्धियुततदितरत्वेऽपि चेति, अथ तुल्येऽपि भावे दिशमतिक्रम्य ददतः किं स्यादित्याह–तया दिशा अददतः–अप्रयच्छतः आज्ञादयः–आज्ञाभङ्गानवस्थामिथ्यात्वविराधनालक्षणा दोषा भवन्ति, 'दाणं दिसाए' त्ति पाठान्तरं, तत्र तुल्येषूक्तभावेषु दानं दिशा देयं भवति, 'भेदे'त्ति उक्तभावानामतुल्यत्वे तु 'तीए'त्ति दिशा ददत आज्ञाभंगादयः स्युः इति, पाठान्तरापेक्षया पुनरियं गाथा एवं व्याख्येया–तुच्छस्स दिसादवेक्खाए इत्युक्तं, अथातुच्छस्य दाने को विधिरित्याह–संते गाहा, सदसदादित्वेतरलब्धियुतत्वेतरादयो भावा येषां ते तथा तेषु साधुषु विषयेषु, किंविधेषु ?–तुल्येषु–तुल्यगुणेषु दानं दिगाद्यभेदे सति–दिगादिकं भेदमनवेक्ष्य, तया पुनर्दिगाद्यपेक्षया ददत आज्ञादयो दोषा भवन्ति, इति गाथार्थः ॥४३॥ उक्तं सप्रसंगं स्वयंपालनाद्वारं, अथानुबन्धभावविधिप्रतिपादनायाह—'भोत्तूण'इत्यादि, भुक्त्वा–सत्याख्यानावधिपूर्तौ भोजनं कृत्वा उचितयोगं–संगत

गुरुआएसेणं वा जोगंतरगंपि तदहिगं तमिह । गुरुआणाभंगम्मी सव्वेऽणत्था जओ भणितं ॥४५॥
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं । अकरिंतो गुरुवयणं अणंतसंसारिओ होति ॥ ४६ ॥

व्यापारं–स्वाध्यायध्यानादिकं अनवरतं–सततं यः साधुः करोति–विधत्ते, किंभूतः सन् ?–अव्यथितः–अपीडितो भावतः कायतश्च, किंभूतमुचितयोगं?–निजकभूमिकायाः–स्वकीयपदविकाया आचार्योपाध्यायप्रवर्तिस्थविरगणावच्छेदकसाधुत्वलक्षणायाः सदृशं–अनुरूपमर्थप्रदानादिकं, इह च स्थाने तस्येति शेषो दृश्यः, ततश्च तस्य प्रत्याख्यातुः साध्वादेः अत्र–आहारप्रत्याख्याने अनुबन्धभावविधिः–प्रत्याख्यानपरिणामाविच्छेदभावस्य विधानं भवति, भोजनोत्तरकाले हि स्वाध्यायादिविधाने प्रत्याख्यानपरिणामोऽनुबन्धितो भवति, यतः क्षुद्वेदनातः स्वाध्यायाद्यनिर्वाहे एव भोजनं विधीयते, तन्निर्वाहे त्वनप्रत्याख्यानमेव युक्तं स्यात् , इति गाथार्थः॥४४॥ अत्रैव विशेषमाह—'गुरुआएसेणं'इत्यादि, गुर्वादेशेन–रत्नाधिकाज्ञया, वाशब्दो विकल्पार्थः, योगान्तरमपि–स्वभूमिकासदृशयोगाद्–अर्थकथनादेरन्यो योगो–व्यापारो ग्लानप्रतिजागरणादिर्योगान्तरं तदेव योगान्तरकं तदपि, आस्तां स्वभूमिकासदृशयोगं, यः करोति तस्यानुबन्धभावविधिरिति प्रक्रमः, कस्मादेवमित्यत आह–तस्मात्–भूमिकासदृशयोगादर्थकथनादेरधिकं–प्रधानतरं तदधिकं, पुष्टालम्बनवेदिभिर्गुरुभिरुपदिष्टत्वात् , तदिति योगान्तरं ग्लानप्रतिचरणादिः इह प्रक्रमे, अथ स्वभूमिकोचित एव योगो विधेयः, किं गुर्वादेशात्तेन कृतेनेति ?,अत्राह–गुर्वाज्ञाभंगे–धर्माचार्यादेशविराधने सर्वे–समस्ताः अनर्था–अपाया भवन्ति,एतदेव कुत इत्याह–यतो–यस्मात्कारणात् भणितं–उक्तमागमे गुर्वाज्ञाभङ्गेऽनर्थप्रतिपादनपरं वचनमितिगाथार्थः ॥४५॥ तदेव वचनं दर्शयन्नाह–'छट्ठट्ठमदसम'इत्यादि, षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः–क्रमेणोपवासद्वयादिस्वरूपैः तथा मासार्धमासक्षपणैः प्रसिद्धैः, इह व्यवत्यपेक्षं बहु-

यज्झाभावेऽवि इमं पचक्खंतस्स गुणकरं चेव । आसवनिरोहभावा आणाआराहणाओ य ॥ ४७ ॥
न य एत्थं एगंतो सगडाहरणादि एत्थ दिट्ठंतो । संतंपि णासइ लहुं होइ असंतंपि एमेव ॥ ४८ ॥

वचनम्, इह च युक्तोऽपीति शेषो दृश्यः, अकुर्वन्-अनाचरन् गुरुवचनं-रत्नाधिकाज्ञां अनन्तसंसारिकः-अनन्तभवभ्रमणयुक्तो भवति-जायते, यतः संविग्नगीतार्था गुरवो भवन्ति, ते चाप्तोपदिष्टमेवादिशन्ति, आभिनिवेशिकं च तदकरणं मिथ्यात्वोदयादेव, तदुदयाच्चानन्तसंसारिकत्वं यदुग्रतपश्चरणवतोऽपि भवति तन्नाद्भुतम्, इति गाथार्थः ॥४६॥ अथ कोऽपि ब्रूयाद्-विद्यमानार्थविषयमेव प्रत्याख्यानमुपपद्यते, निवृत्तिफलत्वादिति, अत्राह-'यज्झाभावे' इत्यादि, बाह्याभावेऽपि-दुर्भिक्षकान्तारादावशनादेर्बाह्यस्य प्रत्याख्येयद्रव्यस्यात्यन्तासद्भावेऽपि, आस्तां सद्भावे, इदं प्रत्याख्यानं प्रत्याचक्षाणस्य च-प्रत्याख्यातुः गुणकरमेव-कर्मनिर्जरणोपकारकरणशीलमेव भवति, कुत इत्याह-'आश्रवनिरोधभावात्' आश्रवस्य-कर्मादानहेतोरविरतिलक्षणस्याऽऽन्तरार्थस्य निरोधो-निषेधो यस्तस्य यो भावः-सत्ता स तथा तस्मादाश्रवनिरोधभावात् आज्ञाराधनाच्च-सर्वज्ञाज्ञानुपालनाच्च, सर्वविदो हि बाह्याभावेऽप्यातुरस्याविरत्यान्तरार्थस्य प्रत्याख्येयस्य सद्भावात् प्रत्याख्यानस्य सफलतां पश्यन्तस्तदादिशन्ति, रङ्कादीनां प्रव्राजनश्रवणादिति गाथार्थः॥४७॥ अथास्यैव समर्थनार्थमाह-'न य एत्थं' इत्यादि, न च-नैव अत्रापि-बाह्यप्रत्याख्येयद्रव्याभावे निर्विषयं प्रत्याख्यानं भवतीत्यस्मिन्नपि पक्षे, अपिशब्दाद् बाह्यसद्भावे सविषयमित्यत्रापि, एकान्तः-अवश्यंभावः, अथ चार्थो दृष्टान्तादिति इत्याह-शकटं-यानं तेनोपलक्षितमुदाहरणं-कथानकं शकटोदाहरणं तदादिर्यस्य कुंभादेः शकटोदाहरणादिः अत्र-बाह्याभावे प्रत्याख्यानं निर्विषयमित्यस्य पक्षस्यानैकान्तिकत्वे साध्ये दृष्टान्तो-निदर्शनम्, अत्रैव हेतुमाह-सदपि-विद्यमानमपि प्रत्याख्येयं वस्तु, असत्पुनर्नष्टमेवेत्यपिशब्दार्थः, नश्यति-[illegible]

ओहेणाविसयंपि हु ण होइ एयं कत्थइ णियमेण। मिच्छाससाज्जयकम्मओ तहा सव्वभोगाओ ॥४९॥

पुण्यविपर्ययात् लघु-शीघ्रं, तथा भवति-जायते असदपि-अविद्यमानमपि प्रत्याख्येयवस्तु पुण्यवशात्, सत् पुनर्जातमेवेत्यपिशब्दार्थः, एवमेव-लब्धेव, अथवा सतो नाशः प्रायः प्रसिद्धोऽसतस्तु भावो न तथेत्यत उच्यते-एवमेव-यथा सन्नश्यति तथाऽसदपि स्यादित्यर्थः, हेतुप्रयोगश्चैवम्-अविद्यमानार्थविषयं प्रत्याख्यानमविषयमेवेत्यनेकान्तः, असतोऽपि सत्त्वसंभवात्, शकटकथानके असतः शकटस्येवेति गाथाक्षरार्थः। कथानकं पुनरेवम्-किल केनचित् द्विजातिना तथाविधमुनिपुङ्गवचरणकमलमूले नानाविधविषयाश्रियमाणान् प्रतिपद्यमानान् मानवानवलोक्याऽसंभवद्विषयत्वेन निष्फला एते नियमा इति मन्यमानेनोपहासपरि(गत)बुद्धिना 'यद्यसद्विषयमपि प्रत्याख्यानं सफलं भवति ततो ममापि तद्भवतु' इत्यग्रतया मया शकटं न भोक्तव्यं इत्येवंभूतो नियमो विहितः, तस्य चान्यदा कथञ्चित् कान्तारोत्तीर्णस्यातिबुभुक्षितस्य कयाचिद्गृहपतिसुतयाऽऽगमननिमित्तमपूर्वमुद्गलिङ्गसमग्रजन्मानमन्वेषमाणया पक्वान्नमयं शकटं भोजनपात्र्यां विन्यस्य समुपहितं, ततोऽसौ दृष्ट्वा चिन्तयामास-"अहो साधूक्तं साधुभिः-'असंभाविनोऽपि वस्तुनः कथञ्चित्संभवो भवतीति' सविषयमेव मम प्रत्याख्यानं, तदिदं शकटं भक्ष्यतया प्राप्तं, कथमहं स्ववाचाऽभक्ष्यतया प्रतिज्ञातं स्ववचनविलोपनेन भक्षयिष्यामि?" इति विभाव्य तत् परिहृतवान्, संजातसाधुवचनबहुमानश्च राजसुतासंबोधनार्थं सर्वा स्ववार्तां तस्याः कथितवानिति संक्षेपतो दृष्टान्तः, इति गाथार्थः॥ ४८॥ पुनरपि प्रत्याख्यानस्य निर्विषयतापरिहारार्थमाह—'ओहेण' इत्यादि, ओघेन-सामान्येन अविषयमपि-बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरमपि शकटभक्षणनियमवत्, अपिशब्दः संभावनायाम्, तुशब्दो वाक्यालङ्कारे, न भवति-न जायते एतत्प्रत्याख्यानम्, कुत इत्याह-क्वचित्-देशे काले वा, सर्वभोगादिति संबन्धः, नियमेन-अवश्यंतया, कुत

विरईए संवेगा तक्खयओ भोगविगमभावेण। सफलं सव्वत्थ इमं भवविरहं इच्छमाणस्स ॥५० ॥

पच्चक्खाणपगरणं सम्मत्तं ॥ ५ ॥

एतदेवमित्याह-मिथ्या-विरत्यपेक्षया विपरीततया अविरत्यासंसज्जितं-सामस्त्येन प्रगुणितं, पाठान्तरेण संसंजितं-जीवेन स्वप्रदेशेषु संबन्धितं यत्कर्म-चारित्रमोहादि तत्तथा तस्मान्मिथ्यासंसज्जितकर्मतो मिथ्यासंसंजितकर्मतो वा, तथा-तेन केनापि विशिष्टेन प्रकारेणाशकटादावपि शकटाद्याकारवत्त्वेन तत्कल्पनादिना सर्वेषां-समस्तानां असंभाव्यमानभोगभावानां शकटादिप्रत्याख्येयार्थानां भोगः सर्वभोगस्तस्मात्, इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ नन्वेवमपि प्रत्याख्यानं निष्फलमेव मिथ्यासंसज्जितकर्मतः सर्वस्य भोगभावेनावश्यंतया तस्य भङ्गसंभवादित्याशंक्याह—'विरईए'इत्यादि, विरतेः-प्रत्याख्येयार्थेषु निवृत्तिपरिणामाद्धेतोः तथा संवेगाद्-विरतिप्रतिपत्तिकारणभूतान्मोक्षाभिलापरूपाध्यवसायात्, किमित्याह-तस्य मिथ्यासंसज्जितकर्मणः क्षयस्तत्क्षयस्तस्मात्तत्क्षयतः कारणात्, किं?-भोगस्य-विरतिविबाधकस्य कर्मजन्यस्य प्रत्याख्यानार्थोपभोगस्य विगमभावो-वियोगसत्ता भोगविगमभावस्तेन हेतुना सफलं-फलवत् सर्वत्र-सर्वेषु विद्यमानाविद्यमानेष्वर्थेषु इदं प्रत्याख्यानं, कस्येत्याह-भवविरहं-संसारवियोगं इच्छतः-अभिलषतः, तदन्यस्य हि प्रत्याख्यानाप्रतिपत्तेः, प्रतिपत्तावपि सांसारिकफलसाधकत्वात् परमार्थतस्तन्निष्फलमेव, इति गाथार्थः ॥ ५० ॥

इति पंचमप्रत्याख्यानप्रकरणविवरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

॥ अथ षष्ठपञ्चाशकवृत्तिः ॥

नमिऊण जिणं वीरं तिलोगपुज्जं समासओ वोच्छं। थयविहिमागमसुद्धं सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥
दव्वे भावे य थओ दव्वे भावथयरागओ सम्मं। जिणभवणाइविहाणं भावथओ चरणपडिवत्ती ॥ २ ॥

प्राक्तनप्रकरणे पूजोक्ता, सा च द्रव्यस्तवः, अनन्तरप्रकरणे च प्रत्याख्यानमभिहितं, तच्च भावस्तवः, अधुना तयोरेव स्वरूपमुपदिदर्शयिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा-नमस्कृत्य जिनं-रागादिजेतारम्, अनेन सर्वदोषविनिर्मुक्तता प्रणम्यस्योक्ता, तदुक्त्या च सर्वगुणयुक्तता, दोषनिवृत्तिरूपत्वात् प्रायो गुणानां, वीरं-वर्धमानं, अनेन च विशेष्यमुक्तं, त्रिलोकपूज्यं-सुरनरादिलक्षणभुवनत्रितयपूजनीयम्, अनेन च दोषनिर्मुक्तेर्गुणावाप्तेर्वा बाह्यफलमिति। ततः किमित्याह-समासतः-संक्षेपेण, न तु पूर्वसूरिवद्विस्तरतः,वक्ष्ये-अभिधास्ये,कमित्याह-स्तवः-पूजा तस्य विधिः-विधानं प्रकारः स्तवविधिस्त,स्योत्प्रेक्षितत्वमस्य निरस्यन्नाह-आगमः-स्तवपरिज्ञादिकमाप्तवचनं तेन शुद्धः-तदुक्तानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धस्तं, किमर्थमित्याह-स्वपरयोः-आत्मतदन्ययोः अनुग्रहः-उपकारस्तल्लक्षणो योऽर्थः-पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थस्तस्मै अनुग्रहार्थाय, तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभावात् परोपकारद्वारा आयातकर्मक्षयावाप्तेश्च, परानुग्रहस्तु परेषां निर्मलबोधतत्पूर्वकक्रियासंपादनात् परंपरया निर्वाणसंपादनाच्च। इति गाथार्थः ॥१॥ स्तवमेव भेदतः प्ररूपयन्नाह—'दव्वे'इत्यादि, द्रव्ये-द्रव्यविषयः, भावस्तवकारणभूत इत्यर्थः, भावे-भावविषयः, पारमार्थिकः परिणामविशेषरूपो वेत्यर्थः, चशब्दः समुच्चये, स्तवः-स्तोतव्यपूजनं, भवतीति गम्यं।

जिणभवणबिंबठावणजत्तापूजाइ सुत्तओ विहिणा। दव्वत्थउत्ति नेयं भावत्थयकारणत्तेण ॥ ३ ॥

विहियाणुट्ठाणमिणंति एवमेयं सया करेंताणं। होइ चरणस्स हेऊ णो इहलोगाइवेक्खाए ॥ ४ ॥

तयाद्यं गाथाद्वयं-द्रव्यो-द्रव्यविषयस्तवः, क इत्याह-'जिणभवणाइविहाणं' अर्हद्गृहप्रतिमादीनां करणं, उपलक्षणत्वात्कारणं च, कथं?-सम्यग्-आगमनीत्या, कुतः?-भावस्तवरागतः-सर्वविरतिबहुमानात्, चरणं हि निर्वाणैकहेतुत्वाच्चरणं (भावस्तवः) तत-स्तत्प्रापकश्च द्रव्यस्तव इति विधेयोऽभावित्येतद्रूपादिति। अथ भावस्तवस्वरूपमाह-भावस्तवः-परमार्थपूजनमध्यात्मपूजा वा, क इत्याह-चरणप्रतिपत्तिः-सर्वविरत्यभ्युपगमः। इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अथ द्रव्यस्तवलक्षणं प्रपञ्चयन्नाह—'जिणे'त्यादि, जिनस्य-अर्हतो भवनं च-गृहं बिंबं च-प्रतिमा स्थापनं च-प्रतिष्ठा यात्रा च-अष्टाह्निकामहिमा पूजा च-पुष्पाद्यर्चनं आदिर्यस्य जिन-गुणगानादेस्तज्जिनभवनबिंबस्थापनयात्रापूजादि, द्रव्यस्तव इति ज्ञेयमिति योगः, तच्च न यथाकथञ्चिदित्याह-सूत्रतः-आगम-मासृत्य, तदपि विधिना-"जह रेहइ तह सम्मं" इत्यादिना विधानेन द्रव्यस्तवो-भावस्तवकारणभूतपूजा इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः ज्ञेयं-ज्ञातव्यं। केन हेतुनेत्याह-भावस्तवकारणत्वेन-चरणप्रतिपत्तिरूपभावस्तवहेतुत्वात्, द्रव्यशब्दो ह्यत्र कारणपर्यायः। इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ कथं पुनरिदं जिनभवनादि भावस्तवहेतुतां प्रतिपद्यत इत्याह—'विहिये'त्यादि, विहितं-आप्तागमे विधेयतया-अनुमतं यदनुष्ठानं-क्रिया तद्विहितानुष्ठानं इदं-जिनभवनादिकरणलक्षणं इति-अनेनोल्लेखेन, एवं-अनेन भावस्तवानुरागलक्षणेन वा प्रकारेण एतत्-जिनभवनादिविधानं सदा-सर्वकालं कुर्वतां-विदधतां भवति-जायते चरणस्य-सर्वविरतिरूपचारित्रस्य हेतुः-निमित्तं एतदेव जिनभवनादि। उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह-नो-नैव इहलोकाद्यपेक्षया-ऐहभविककीर्त्यादिपारभविकदेवत्वराज्या-

एवं चिय भावथए आणाआराहणाउ रागोऽवि। जं पुण इयविवरीयं तं दव्वथओ वि णो होइ ॥ ५ ॥
भावे अइप्पसंगो आणाविवरीयमेव जं किंचि। इह चित्ताणुट्ठाणं तं दव्वथओ भवे सव्वं ॥ ६ ॥
जं वीयरागगामी अह तं णणु गरहितंपि हु स एवं। सिय उचियमेव जं तं आणाआराहणा एवं ॥ ७ ॥

दिपदार्थालंबनेन चरणस्य हेतुर्भवति एतज्जिनभवनादिविधानं, निदानदूषितत्वात्। इति गाथार्थः ॥४॥ भावस्तवकारणत्वं तदनुरागस्य द्रव्यस्तवानिबन्धनमुक्तं, तत्रासौ यथा भावस्तवहेतुः स्यात्तथा दर्शितं, न पुनस्तदनुराग इत्याशंक्याह—'एव'मित्यादि, 'एवं चिय' एवमेव विहितानुष्ठानमिदमित्यभिप्रायेण भावस्तवे-चरणप्रतिपत्तिरूपे रागोऽपि-बहुमानोऽपि, न केवलं चरणहेतुत्वमित्यपिशब्दार्थः, कुत एतदेवमित्याह-आज्ञाराधनात्-आप्तोपदेशानुपालनात्, निर्निदानतामेव हि जिनाः समनुमन्यन्ते। उक्तविपर्ययमाह-यत्-जिनभवनादिविधानं पुनरिति पूर्वोक्तार्थविलक्षणताप्रतिपादनार्थः इतिविपरीतं-अनन्तरोक्तविधिविपर्ययस्तं तज्जिनभवनादिविधानं द्रव्यस्तवोऽपि-उक्तनिर्वचनो, न केवलं भावस्तवः, उत्सूत्रत्वात्, न भवति-न जायते। इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ उक्तविधिविपरीततायामपि तद्द्रव्यस्तवो भविष्यतीत्याशंक्याह-'भावे'इत्यादि, भावे च-सत्तायां पुनः द्रव्यस्तवस्योक्तविपरीत्येऽपि, किं स्यादित्याह-अतिप्रसंगः-अतिव्याप्तिलक्षणापत्तिरित्यर्थः, अतिप्रसंगमेव व्यनक्ति-आज्ञाविपरीतमेव-आप्तवचनविपर्यस्तमपि, एवकारस्यापिशब्दार्थत्वात्, यदित्यनुष्ठानं किञ्चित्-अनियतस्वरूपं इह स्तवविचारे चित्रानुष्ठानं-नानाप्रकारहिंसादिक्रिया तदनुष्ठानं द्रव्यस्तवो-निर्णीतशब्दार्थो भवेत्-जायेत सर्वं-समस्तं आज्ञाविपरीतत्वात् निर्विशेषणजिनभवनादिविधानवत्। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ इहार्थे परमतमाशंक्य परिहरन्नाह—'जं वीये'त्यादि, यदित्यनुष्ठानं वीतरागगामि-जिनविषयं अथेति

उचियं खलु कायव्वं सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमंता। इह फलसिद्धी णियमा एस च्चिय होइ आणत्ति॥८॥
जं पुण एगविउत्तं एगंतेणेव भावसुण्णंति। तंविसयम्मिवि ण तओ भावथयाहेउतो णेयं ॥ ९ ॥

परमश्चार्थः यदनुष्ठानं आज्ञाविपरीतमपि द्रव्यस्तवो भवति, किं पुनर्यत्किञ्चन हिंसादिकं, अतः कथमतिप्रसंगः? इति परमतम्। एतत् परिहरन्नाह–नन्विति परमताक्षमायां, गर्हितमपि–निन्द्यमपि गालिमदानादिकं, आस्तामगर्हितम्, तुशब्दो वाक्यालङ्कृतौ, स इति द्रव्यस्तवः भवेत् एवं–अनेन भवदभ्युपगतन्यायेन–आज्ञाविपरीतमप्यनुष्ठानं वीतरागविषयं द्रव्यस्तव इत्येवंलक्षणेन। पुनः परमतमाशंकमान आह–स्याद्–भवेत्, तव मतिरिति गम्यं, यदुत उचितमेव–संगतमेव यदित्याज्ञाविपरीतं वीतरागगामि तदित्यनुष्ठानं द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्गर्हितमपीति नातिप्रसंग इति, अत्रोत्तरमाह–आज्ञाराधना–आज्ञादेशपालनैव एवं–अनेनैव प्रकारेण, आज्ञाविपरीतमपि यदुचितमनुष्ठानं तद्द्रव्यस्तव इत्येवंलक्षणेन द्रव्यस्तवाभ्युपगमे, आज्ञानुपालनारूपत्वादुचितस्य, न साक्षोत्तीर्णमप्युचितं भवितुमर्हति। इति गाथार्थः ॥७॥ उचितानुष्ठानस्याज्ञानुपालनारूपत्वमेव दर्शयन्नाह—'उचिये'त्यादि, उचितमेव–देशकालावस्थाद्यपेक्षया संगतमेव खलुः–अवधारणे कर्तव्यं–विधेयं सर्वत्र–समस्ते देशे पात्रे वा सदा–सर्वदा नरेण–पुरुषेण, नरग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणं, धर्मोपदेशे नराणां प्राधान्यात्, बुद्धिमता–मतिमता, बुद्धिविकलो हि न तत्कर्तुं क्षमते, बुद्धिवैकल्यादेव। अथ कस्मादेवमुपदिश्यत इत्याह–इति–अनेनोचितकरणेन फलसिद्धिः–साध्यनिष्पत्तिः नियमात्–निश्चयेन, साध्यश्च मुख्यवृत्त्या मोक्षार्थः, तत्कारणतया धर्मार्थः, प्रसंगतश्चेतराविति। प्रकृतार्थयोजनामाह–एषैव–अनन्तरोक्ता उचितक्रिया भवति–वर्तते आज्ञा–आप्तोपदेशः, तत उचितकरणमाज्ञाराधनेति स्थितं, इतिशब्दः समाप्तावुपप्रदर्शने चेति गाथार्थः ॥८॥ उचितकरणं द्रव्यस्तव

समयम्मि दव्वसद्दो पायं जं जोग्गयाए रूढोत्ति । णिरुवयरितो उ बहुहा पओगभेदोवलंभाओ ॥१०॥
मिउपिंडो दव्वघडो सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति । साहू य दव्वदेवो एमाइ सुए जओ भणितं ॥११॥

इत्युक्तं, अथैतस्यैव विपर्ययमाह—'ज'मित्यादि, यदित्यनुष्ठानं, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, एतद्वियुक्तं-औचित्यरहितं तथा एकान्तेनैव-सर्वथैव भावशून्यं-बहुमानशून्यं, एकान्तग्रहणाद्भावलेशयुक्तस्य कथञ्चिदौचित्यवियुक्तस्यापि द्रव्यस्तवत्वमाह, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थो भिन्नक्रमश्च, तदित्यनुष्ठानं विषयेऽपि-वीतरागेऽपि विधीयमानं, आस्तामविषये, न तकों-न द्रव्यस्तवो भवतीति ज्ञेयं-ज्ञातव्यं, कुत इत्याह-भावस्तवाहेतुतः-इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भावस्तवाहेतुत्वाद्-भावस्तवाकारणत्वात् । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ अथ कस्माद्भावस्तवाहेतुभूतमनुष्ठानं द्रव्यस्तवो न भवतीत्यत्राशंकायामाह—'समये'त्यादि, समये-सिद्धान्ते द्रव्यशब्दो-द्रव्य इत्येवं ध्वनिः प्रायो-बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात् क्वचिदप्राधान्येऽपि वर्तत इति सूचनार्थः, यदिति यस्मादर्थे, अयं च 'भावत्थयहेऊ' इत्यनेन व्यवहितगाथावयवेन संभंत्स्यते, योग्यतायां-योग्यतावाचित्वे रूढः-प्रसिद्धः इति-एवं वक्ष्यमाणोदाहरणन्यायेन । उपचरिताद्-उपचाराग्निष्क्रान्तो निरुपचरितः-अकाल्पनिकः, तुशब्द एवकारार्थः, तेन निरुपचरित एव । कुत एतदेवमित्याह-बहुधा-बहुभिः प्रकारैः प्रयोगभेदोपलंभात्-प्रयुक्तविशेषदर्शनात् । इति गाथार्थः ॥ १० ॥ प्रयोगभेदानेव दर्शयन्नाह—'मिउ'इत्यादि, मृत्पिंडो- मृत्तिकापिंडो 'द्रव्यघटो'- द्रव्यतो-योग्यतया घटो द्रव्यघटः, सुश्रावकः-शोभनः श्रमणोपासकः, तथा चेति समुच्चये, द्रव्यतो-योग्यतया साधुर्द्रव्यसाधुः, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः, साधुश्च-संयतः पुनः द्रव्यतो-योग्यतया देवः-सुरो द्रव्यदेवः, 'एमाइ'त्ति इह चशब्दलोपः प्राकृतत्वात् ततश्च एवमादि च-इत्यादि प्रयोगजातं, आदिशब्दाद् द्रव्यनारकादिग्रहः, श्रुते-प्रवचने यतो-

ता भावत्थयहेऊ जो सो दव्वत्थओ इहं इट्ठो। जो उ ण णेवंभूओ स अप्पहाणो परं होति ॥१२॥
अप्पाहण्णेऽवि इहं कत्थइ दिट्ठो उ दव्वसद्दोत्ति। अंगारमद्दगो जह दव्वायरिओ सयाऽभव्वो ॥१३॥

यस्माद्भणितं-उक्तं ततः प्रयोगभेदोपलंभात् द्रव्यशब्दो योग्यतायां रूढः। इति गाथार्थः ॥११॥ यतो योग्यतायां द्रव्यशब्दः 'ता' इत्यादि, तत्-तस्मात् भावस्तवहेतुः-चरणप्रतिपत्तिकारणं साक्षात् परंपरया वा यो जिनभवनविधानाद्यनुष्ठानविशेषः 'सो' इति असौ द्रव्यस्तवः-पूर्वोक्तस्वरूपः इह-द्रव्यस्तवाधिकारे, अन्यत्र पुनः स्तवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तपुरुषादिलक्षणोऽपि, इष्टः-अभिमतो द्रव्यस्तवस्वरूपविदुषां,ननु भावस्तवाहेतुरपि द्रव्यस्तवोऽभव्यादीनामिष्यते तत्कथमित्याह-यः पुनर्द्रव्यस्तवविशेषः न-नैव एवंभूतं-अमुं प्रकारं भावस्तवकारणत्वलक्षणं प्राप्तः स द्रव्यस्तवः अप्रधानः-अशोभनः परं-केवलं भवति-जायते, द्रव्यस्तवशब्दस्याप्राधान्येऽपि प्रवृत्तेः, अशोभनत्वं चास्य भावस्तवाहेतुत्वादेव। इति गाथार्थः ॥१२॥ अप्राधान्यार्थतामेव द्रव्यशब्दस्य दर्शयन्नाह-'अप्पाहे'त्यादि,अप्राधान्येऽपि-अप्रधानत्वेऽपि, न केवलं योग्यतायामेव,इह-प्रवचने क्वचित् शब्दविषये दृष्टस्तु-उपलब्ध एव द्रव्यशब्दो-द्रव्य इति ध्वनिः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इहैव निदर्शनमाह-अंगारमर्दकः प्रवचनप्रतीतः यथेति दृष्टान्तार्थः द्रव्याचार्यः-आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाचार्यः, कियन्तं कालं यावदित्याह-सदा-आजन्मापीत्यर्थः, अथवा स च-स पुनः अभव्यो-मुक्तेरयोग्यो यत इति ॥ एतत्संविधानकं चैवं श्रूयते-सूरिर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारतः। समायातो महाभागः, पुरे गर्जनकाभिधे ॥१॥ अथात्र तिष्ठतस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुंगवैः। गवां विसर्गवेलायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥२॥ कलभानां शतैः शुरैः, शूकरः परिवारितः। पञ्चभिर्भद्रजातीनामस्मदाश्रयमागतः ॥३॥ ततस्ते कथयामासुः, सूरेः

स्वप्नं तमद्भुतम् । सूरिस्तत्राथ तस्यार्थं, साधूनां पृच्छतामभुम् ॥४॥ सुसाधुपरिवारोऽद्य, सूरिरेष्यति कोऽपि नः । प्राघूर्णिकः परं भव्यो, नासाविति विनिश्चयः ॥५॥ यावज्जल्पत्यसौ तेषां, साधूनां सूरिरग्रतः । रुद्रदेवाभिधः सूरिस्तावत्तत्र समागतः ॥६॥ शनैश्चर इव स्फारसौम्यग्रहगणान्वितः । एरंडतरुरकान्तकल्पवृक्षगणान्वितः ॥७॥ कृता च तस्य तैस्तूर्णमभ्युत्थानादिका क्रिया । आतिथेयी यथायोगं, सगच्छस्य यथाऽऽगमम् ॥८॥ ततो विकालवेलायां, कोलाकारस्य तस्य तैः । परीक्षणाय निक्षिप्ता, अंगाराः कायिकाभुवि ॥९॥ स्वकीयाचार्यनिर्देशात्, प्रच्छन्नैश्च तकैः स्थितैः । वास्तव्यसाधुभिर्दृष्टास्ते प्राघूर्णकसाधवः ॥१० पादसंचूर्णितांगारकशत्काररवश्रुतौ । मिथ्यादुष्कृतमित्येवब्रुवाणाः प्राणिशंकया ॥११॥ कशत्काररवस्थाने, क्वचिद्वा इतीक्षया । दिने निभालयिष्यामः, कशत्कारः किमुद्भवः ? ॥१२॥ आचार्यो रुद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकाभुवम् । कशत्कारवं कुर्वन्नंगारपरिमर्दनात् ॥१३॥ जीवाश्रद्धानतामूढो, यदंभैतज्जिनैः किल । जन्तवोऽमी विनिर्दिष्टाः, प्रमाणैर्न्यक्कृता अपि ॥१४॥ वास्तव्यसाधुभिर्दृष्टो, यथादृष्टं च साधितम् । सूरेर्विजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥१५॥ स एष शूकरो भद्रास्त्वेते करहस्तिनः । स्वप्नेन सूचिता ये वो, न विधेयोऽत्र संशयः ॥१६॥ तैः प्रभातेऽत्र तच्छिष्या, बोधितास्तूपपत्तिभिः । यथैव चेष्टितेनायमभव्य इति बुध्यताम् ॥१७॥ त्याज्यो योऽयं यतो घोरसंसारतरुकारणम् । ततस्तैरप्युपायेन, क्रमेणासौ विवर्जितः ॥१८॥ ते चाकलंकमाधुर्यं, विपाल्याथ दिवं गताः । ततोऽपि प्रच्युताः सन्तः, क्षेत्रेऽत्रैव भारते ॥१९॥ श्रीवसन्तपुरे जाता, जितशत्रोर्महीपतेः । पुत्राः सर्वेऽपि कालेन, ते प्रापुर्यौवनश्रियम् ॥२०॥ अन्यदा तान् गुरूपास्तकलाकौशलयोगतः । सर्वत्र ख्यातकीर्तित्वात्, सर्वानप्यन्यमंत्रयत् ॥२१॥ हस्तिनागपुरे राजा, कनकध्वजसंज्ञितः । स्वकन्याया वरार्थाय, तत्स्वयंवरमण्डपे ॥२२॥ तत्रायातैः स तैर्दृष्टो, गुरुरंगारमर्दकः ।

अप्पाहण्णा एवं इमस्स दव्वत्थवत्तमविरुद्धं । आणावज्झत्तणओ न होइ मोक्खंगया णवरं ॥१४॥
भोगादिफलविसेसो उ अत्थि एत्तोवि विसयभेदेण । तुच्छो उ तगो जम्हा हवंति पगारंतरेणावि ॥१५॥

उग्रत्वेन समुत्पन्नः, पृष्ठारूढमहाभरः ॥२३॥ गलावलंबितस्थूलक्रुतुपोऽपेशलं रसन् । पामनः सर्वजीर्णांगो, गतत्राणोऽतिदुःखितः ॥२४॥ तमुष्ट्रमीक्षमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम् । जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां शुभभावतः ॥२५॥ देवजन्मोद्भवज्ञानज्ञातत्वात्तैरसौ स्फुटम् । करभः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं बत नो गुरुः ॥२६॥ ततस्ते चिन्तयामासुर्धिक् संसारविचेष्टितम् । येनैष तादृशं ज्ञानमवाप्यापि कुभावतः ॥२७॥ अवस्थामीदृशीं प्राप्तः, संसारं च भ्रमिष्यति । ततोऽसौ मोचितस्तेभ्यस्तत्स्वामिभ्यः कृपापरैः ॥२८॥ ततस्तदेव ते प्राप्य, भवनिर्वेदकारणम् । कामभोगपरित्यागात्ते प्रव्रज्यां प्रपेदिरे ॥२९॥ ततः सुगतिसन्तानान्निर्वास्यन्त्यचिरादमी । अन्यः पुनरभव्यत्वाद्भवारण्ये भ्रमिष्यति ॥३०॥ इति गाथार्थः ॥१३॥ "जो उ न एवंभूतो स अप्पहाणो परं होइ" इत्येनं पूर्वोक्तमर्थं निगमयन्नाह—'अप्पाहे'त्यादि, अप्राधान्याद्-भावस्तवाहेतुत्वेनाशोभनत्वात् एवं-उक्तेन न्यायेनाप्राधान्यार्थे द्रव्यशब्दप्रवृत्तिदर्शनलक्षणेन 'इमस्स'त्ति अस्य भावस्तवाहेतोः द्रव्यस्तवस्य द्रव्यस्तवत्वं-द्रव्यस्तवता अविरुद्धं-संगतमेव । एवं तर्हि भावस्तवहेतोस्तद्हेतोश्च द्रव्यस्तवत्वाविरुद्धतायां सत्यामविशेष एव तयोः, सत्यं, नवरं-केवलं न भवति-न जायते मोक्षांगता-निर्वाणहेतुता 'इमस्स' इति वर्तते, कुतः?-आज्ञाबाह्यत्वाद्-आप्तवचनबहिष्कृतत्वात्, यदाज्ञाबाह्यं तन्मोक्षांगं न भवति, तथाविधहिंसादिवत्, आज्ञाबाह्यश्चायं भावस्तवाहेतुर्द्रव्यस्तवः । इति गाथार्थः ॥१४॥ यथाऽस्मादप्रधानान्मोक्षो न भवति तथा फलान्तरमपि किं नास्त्याशंक्याह—'भोगादी'त्यादि, भोगा-मनोज्ञशब्दादयः, आदिशब्दात्स्वर्गसुकुलप्रत्यायातिशुभशरीरादिपरिग्रहः, ते एव फल-

उचियाणुट्ठाणाओ विचित्तजइजोगतुल्ल मो एस। जं ता कह दव्वथओ? तद्दारेणऽप्पभावाओ ॥१६॥
जिणभवणादिविहाणद्दारेणं एस होति सुहजोगो। उचियाणुट्ठाणंपि य तुच्छो जइजोगंतो णवरं ॥१७॥

विशेषः-साध्यभेदो भोगादिरूफलविशेषः पुनः अस्ति-भवति इतोऽपि-अप्रधानद्रव्यस्तवादपि, न केवलं प्रधानद्रव्यस्तवादेव, अथ कथमाज्ञाबाह्यानुष्ठानस्यैवंफलतेत्याशंक्याह-विषयभेदेन-गोचरविशेषेण, निखिलातिशयमाणिक्यमकराकरभगवद्वीतरागलक्षणेन हेतुना, न हि भगवद्विषयमाज्ञाविकलमप्यनुष्ठानमफलं पात्रप्राधान्यादिति। ननु यद्येवंफलमाज्ञाबाह्यानुष्ठानं तदा कथमस्याप्रधानद्रव्यस्तवतेत्यत्राह-तुच्छस्तु-अल्पः पुनः तकोऽसौ भोगादिफलविशेषो, नासौ विवेकिनां फलतयाऽवभासते। कस्मादेवमित्याह-यस्मात्कारणात् भवति-जायते तको भोगादिफलविशेष इति प्रकृतं प्रकारान्तरेणापि-उपायान्तरेणापि जिनभवनादिव्यतिरेकेणापि, बालतपःप्रभृतिभिरपीत्यर्थः, दौर्गत्यदोषविच्छेदिमणिप्राप्तिपटीयसः पारावाराज्जरत्काचखंडप्राप्तिः फलं किमु?। इति गाथार्थः ॥१५॥ अथ द्रव्यस्तवस्याद्रव्यस्तवतामाशंक्य परिहरन्नाह—'उचिये'त्यादि, 'उचियाणुट्ठाणाओ' इह भावप्रत्ययस्य लुप्तत्वेनोचितानुष्ठानत्वाद्-आप्तोपदिष्टत्वेन विहितक्रियारूपत्वाद्विचित्रयतियोगतुल्यो-ग्लानप्रतिचरणस्वाध्यायादिरूपनानाविधसाधुव्यापारसदृशोऽतिशुभ इत्यर्थः,मकारोऽत्र प्राकृतशैलीप्रभवः, एषोऽनन्तरोक्तो जिनभवनविधानादिकोऽनुष्ठानविशेषः यदिति यस्मादेवं तत्-तस्मात् कथं-केन प्रकारेण द्रव्यस्तवो भवति?, न कथंचिदित्यर्थः, भावस्तव एवायमिति हृदयम्। अत्रोत्तरमाह-तद्द्वारेण-जिनभवनादिविधानमुखेन अल्पः-साधुयोगापेक्षया स्तोको भावः-शुभाध्यवसायो यस्मात्स तथा तस्मात्, इह च भावप्रत्ययो दृश्यः, अतोऽल्पभावत्वात्। इति गाथार्थः ॥१६॥ अमुमेव गाथार्थं भावयन्नाह—'जिणे'त्यादि, जिनभवनादिवि-

सव्वत्थ निरभिसंगत्तणेण जइजोग मो महं होइ। एसो उ अभिस्संगा कत्थइ तुच्छेऽवि तुच्छे उ ॥१८॥
जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसेइ णियमतो चेव। तद्दूसियस्स जोगो विसघारियजोगतुल्लोत्ति ॥१९॥
जइणो अदूसियस्सा हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स। सुद्धो उ उवादेए अकलंको सव्वहा सो उ ॥२०॥

थानद्वारेण-अर्हदाश्रयबिम्बप्रभृतिकरणमुखेन एव द्रव्यस्तवः भवति-वर्तते शुभयोगो-यतियोगवत् प्रशस्तव्यापारः, तथा उचितानुष्ठानमपि च-विहितक्रियाऽपि च जिनभवनादिविधानद्वारेणैव, अपिचेति समुच्चये, यद्यप्येवं तथापि तुच्छः-असारः, अल्पमाघरूपत्वात् यतियोगतः-साधुव्यापारात्सकाशात् नवर-केवलं, यतियोगो हि स्वरूपेणैव शुभ उचितानुष्ठानरूपश्च अयं पुनर्जिनभवनादिद्वारेणैव, न तु स्वरूपेण,तस्य मनागवद्यरूपत्वात्। इति गाथार्थः ॥१७॥ यतियोगापेक्षयाऽस्य तुच्छतामेव दर्शयन्नाह—'सव्वत्थे'त्यादि, सर्वत्र-समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु निरभिष्वङ्गत्वेन-साधूनां संगरहिततया यतियोगः-स्वाध्यायादिः साधुव्यापारः मकारः पूर्ववत् महान्-गुरुः द्रव्यस्तवापेक्षया भवति, एष तु-अयं पुनः द्रव्यस्तवः अभिष्वङ्गात्-द्रव्यस्तवकारिणां प्रतिबन्धात् क्वचित्-कुत्रचिद्देहगेहपुत्रमित्रकलत्रादौ तुच्छे-असारेऽपि परलोकानुपकारित्वात्, अपिशब्दः तुच्छे सङ्गकरणस्यानुचितत्वद्योतनार्थः, तुच्छस्तु-असार एव, यतियोगापेक्षया न महान्। इति गाथार्थः ॥१८॥ अथ कथमभिष्वङ्गादपि तुच्छत्वं द्रव्यस्तवस्येत्याह-'जम्हे'त्यादि, यस्मात् तुशब्दो भावनार्थः येन हि कारणेन अभिष्वङ्गः-तथाविधवस्तुसङ्गः जीवं-प्राणिनं स्वभावतः स्फटिकोपलशकलधवलमपि दूषयति-कलुषयति नियमतश्चैव-नियमादेव,ततः किमित्याह-तद्दूषितस्य-अभिष्वङ्गकलंककलुषितस्य योगो-व्यापारः विषघारितयोगतुल्यो-हालाहलव्याप्तपुरुषव्यापारसदृशः अस्पष्टचेतनत्वादल्प इत्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यार्थस-

असुहतरंडुत्तरणप्पाओ दव्वत्थओऽसमत्तो य । णदिमादिसु इयरो पुण समत्तबाहुत्तरणकप्पो ॥२१॥
कडुगोसहादिजोगा मंथररोगसमसण्णिहो वावि । पढमो विणोसहेणं तक्खयतुल्लो य बितिओ उ ॥२२॥

मातो । इति गाथार्थः ॥१९॥ इहैवार्थे व्यतिरेकमाह—'जइणो' इत्यादि, यतेः—साधोः अदूषितस्य—अभिष्वङ्गेणाकलुषितस्य अत एव हेयात्—परिहर्तव्यात् हिंसादेः सर्वथा—सर्वप्रकारैः करणकारणादिभिः निवृत्तस्य, किमित्याह—शुद्धस्तु—शुद्ध एव अभिष्वङ्गादूषित एव भवति,योग इति प्रक्रमः, उपादेयवस्तुनि—महाव्रतादौ विषये आज्ञाप्रवृत्तेः, अतोऽकलङ्कः—अपेतदोषकलङ्कः सर्वथा—सर्वप्रकारैः स तु—स एव यतियोग एव भवतीति, अतो विचित्रयतियोगतुल्यत्वाभावेन न द्रव्यस्तवो भावस्तव एवेति स्थितमिति गाथार्थः ॥२०॥ अथ दृष्टान्तेन द्रव्यस्तवभावस्तवयोर्विशेषमाह—अशुभं—अशोभनं कटकादियोगाद् असुखं वा तत एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तत्तरकाण्डं च—काष्ठादि तेन यदुत्तरणं—पारगमनं तत्प्रायः—तत्कल्पो यः स तथा, मनागवद्यसंकीर्णत्वात् , कोऽसावित्याह—द्रव्यस्तवः प्रतीतः तथाऽसमाप्तः—अपर्याप्तश्च, तत एव सिद्ध्यसिद्धेः, केषु तत्तरणोत्तरणमित्याह—नद्यादिषु—नदीह्रदप्रभृतिषु तरणीयेषु, इतरो—भावस्तवः पुनरिति विशेषद्योतनार्थः समाप्तः—पर्याप्तः स चासौ बाहूत्तरणकल्पश्च—भुजपारगमनतुल्यः समाप्तबाहूत्तरणकल्पः, तत्र समाप्तत्वं भावस्तवस्य द्रव्यस्तवानपेक्षस्यापि संसारसागरपारप्रापणप्रवणत्वात् बाहूत्तरणकल्पत्वं चात्मपरिणामरूपत्वेन बाह्यानपेक्षत्वात् । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह—'कडुगो' इत्यादि, कटुकौषधादियोगात्—नागराद्यौषधसंबन्धात् , आदिशब्दात् क्षारशरी (शिरा) वेधादिग्रहः, मन्थरो—विलम्बितो दीर्घकालगामी यो रोगशमो—व्याधिशमनमात्र, न तु सर्वथा क्षयः, तत्सन्निभः—तत्तुल्यो यः स तथा,वापीति प्रागुक्तदृष्टान्तापेक्षया समुच्चयार्थः, कोऽसावेवंविध इत्याह—

पढमाउ कुसलबंधो तस्स विवागेण सुगइमादीया। तत्तो परंपराए बितिओऽवि हु होइ कालेणं ॥२३॥
चरणपडिवत्तिरूवो थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ। संपुण्णाणाकरणं कयकिच्चे हंदि उचियं तु ॥२४॥

प्रथमो-द्रव्यस्तवः, प्रथमत्वं चास्य सूत्रक्रमप्रामाण्यात् आदितः प्रायः प्राप्तेर्वा, इह चाल्पलेशयुक्ततया कर्मरोगोपशमहेतुतया च यद्यपि द्रव्यस्तवः कटुकौषधादितुल्यो, मन्थररोगोपशमतुल्यः पुनर्दीर्घकालभाविद्रव्यस्तवजन्यः कर्मशमस्तथापि कर्मशमस्य द्रव्यस्तवव्यपदेशतः कार्ये कारणोपचारान्मन्थररोगशमसन्निभो द्रव्यस्तव इत्युक्तं। तथा विनौषधेन-औषधं कटुकमधुरादिरूपं विनैव तत्क्षयतुल्यश्च-रोगात्यन्तिकनाशतुल्य एव, चशब्दोऽवधारणे, द्वितीयस्तु-भावस्तवः पुनः, अयमभिप्रायः-भावस्तव आत्मपरिणामरूप एव, न तु द्रव्यस्तववद्बाह्यद्रव्यसव्यपेक्षः, तथा भावस्तवादेवात्यन्तिकः कर्मक्षयो भवतीतिकृत्वा विनौषधेन तत्क्षयतुल्य इत्युक्तं, तथा यद्यपीह कटुकौषधाभावकल्पो भावस्तवो रोगक्षयतुल्यश्च भावस्तवसाध्यः कर्मक्षयस्तथापि कर्मक्षयस्य भावस्तवव्यपदेशतः कार्ये कारणोपचारात् क्षयतुल्यो भावस्तव इत्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अथैतयोरेव हेतुफलभावतो भेदमाह—'पढमे'त्यादि, प्रथमादिति-द्रव्यस्तवात् कुशलबन्धः-पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धन भवति, तस्य कुशलस्य कर्मणः विपाकेन-उदयेन सुगत्यादयः-सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणसद्गतिप्रभृतयो भवन्ति, आदिशब्दात्सुभसत्त्वसंपदादिग्रहः, ततः सुगत्याद्यनन्तरं परंपरया-अविच्छिन्नसन्तानया सुगत्यादीनामेव द्वितीयो-भावस्तवोऽपि न केवलं सुगत्यादय एव हुशब्दोऽलङ्कारे भवति-जायते कालेन-समयेन कियताऽप्यतिक्रान्तेन, कालस्य तथाभव्यत्वपरिपाकहेतुत्वादेवमभिधानम्। इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ 'द्वितीयोऽपि भवति कालेने'त्युक्तं, अथ तस्यैव द्वितीयस्य स्वरूपप्रतिपादनायाह—

णेयं च भावसाहुं विहायॅ अण्णो चएति काउं जे। सम्मं तग्गुणणाणाभावा तह कम्मदोसा य ॥२५॥
इत्तो च्चिय फुल्लामिसथूईपडिवत्तिपूयमज्झंमि। चरिमा गरूई इट्ठा अण्णेहिवि णिच्चभावाओ ॥ २६ ॥

'चरणे'त्यादि, चरणप्रतिपत्तिरूपः-चारित्राभ्युपगमस्वभावः, भावस्तव इति प्रकृतं, स्तोतव्ये-पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता-संगता प्रवृत्तिः-प्रवर्तनं सा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिस्तस्याः स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोः गुरुको-गरीयान्, द्रव्यस्तवापेक्षया, ननूचितप्रवृत्तितो द्रव्यस्तवोऽपि गुरुकोऽस्तु, नैवं, यतः संपूर्ण-सर्वविरतिप्रतिपत्तितोऽखण्डं यदाज्ञाकरणं-आप्तवचनानुपालनं तत्संपूर्णाज्ञाकरणं तदेव कृतकृत्ये-विहितनिखिलकर्तव्ये सिद्धप्रयोजने भगवति वीतरागे इंदीत्युपदर्शने उचितं-संगतं, पुष्पादीनां तु द्रव्यस्तवाङ्गानां कृतकृत्यत्वेन तस्यानुपयोगित्वात्, तुशब्दोऽवधारणार्थो योजितश्च। इति गाथार्थः ॥२४॥ संपूर्णाज्ञाकरणं च साधोरेव भवति, नेतरस्येति दर्शयन्नाह-'णेय'मित्यादि, न-नैव इदं-संपूर्णाज्ञाकरणं चशब्दः पुनरर्थः, भावसाधुं-पारमार्थिकयतिं विहाय-विमुच्य अन्यः-अपरः 'चएइ'त्ति शक्नोति कर्तुं-विधातुं, जे इति पादपूरणे निपातः, कुत एतदेवमित्याह-सम्यग्-यथावत् तद्गुणज्ञानाभावात्-आज्ञाकरणगुणोपलंभाभावात्, न हि यथा भावयतिराज्ञाकरणगुणान् वेत्ति तथाऽन्यः, तस्यैव तत्र विशेषाधिकारित्वात्, तथा कर्मदोषाच्च-कथञ्चिदाज्ञाकरणगुणपरिज्ञानेऽपि चारित्रमोहनीयकर्मविपाकाच्चेति, अतो भावसाधोरेव कर्तुं शक्यत्वेन संपूर्णाज्ञाकरणरूपो भावस्तवो गुरुकः। इति गाथार्थः॥२५॥भावस्तवस्याचार्यान्तरैरपि गुरुत्वमिष्टमित्यावेदयन्नाह—'इत्तो'इत्यादि, इत एव-संपूर्णाज्ञाकरणस्य भावसाधुमात्रसाध्यत्वादेव 'फुल्लामिसथुइपडिवत्तिपूयमज्झंमि'त्ति-पुष्पाणि-जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्वस्त्ररत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वेदितव्यः, आमिषं-आहारः,इहापि तथैव फलादिसकलनैवे-

दव्वत्थयभावत्थयरूवं एयमिह होति दट्ठव्वं। अण्णोऽण्णसमणुवद्धं (विद्धं) णिच्छयंतो भणियविसयं तु ॥२७॥
जइणोऽवि हु दव्वत्थयभेदो अणुमोयणेण अत्थित्ति । एयं च एत्थ णेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए ॥२८॥
तंतम्मि वंदणाए पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो । जतिणोऽवि हु णिद्दिट्ठो ते पुण दव्वत्थयसरूवे ॥२९॥

यपरिग्रहो द्वयः,स्तुतिः-गुणोत्कीर्तनं प्रतिपत्तिः-चरणाभ्युपगमः एता एव पूजास्तासां मध्यं-अत्रहिभाव: पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्ति-
पूजामध्यं तत्र चरमा-प्रतिपत्तिपूजा गुर्वी-ज्येष्ठा इष्टा-मता अन्यैरपि ग्रन्थकारैः, इहार्थे साधनमाह-नित्यभावात्-सर्वदा सद्भावात्तस्याः,
सा हि यावज्जीविकी, शेषास्तु कादाचित्क्य इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ एवं भिन्नावपि परस्परानुगतरूपावेतावििति दर्शयन्नाह—
'दव्वे'त्यादि, द्रव्यस्तवभावस्तवयो रूपं-स्वभावो द्रव्यस्तवभावस्तवरूपं एतदिति-अत्रोत्तरतुशब्दयोगादेतत्तु-एतत्पुनः प्रागुप-
दर्शितं जिनभवनादिविधानचरणप्रतिपत्तिलक्षणं इह-स्तवाधिकारे भवति-वर्तते द्रष्टव्यं-बोद्धव्यं, किंभूतमित्याह-अन्योऽन्यसम-
नुविद्धं-परस्परानुगतं निश्चयतः-परमार्थतः भणितः-प्रागभिहितो विषयो-गोचरः प्रायो गृहिसाधुलक्षणो यस्य तत्तथा । तुशब्दो
व्याख्यात एव । इति गाथार्थः ॥२७॥ तत्र भावस्तवरूपं द्रव्यस्तवेन समनुविद्धमिति तावद्दर्शयन्नाह—'जइणो'-
इत्यादि, यतेरपि-भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिण एव हुशब्दोऽलङ्कृतौ द्रव्यस्तवभेदो-द्रव्यस्तवविशेषः अनुमोदनेन-
जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या अस्ति-विद्यते, इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ । अथ साधोर्द्रव्यस्तवेऽनुमोदन-
मसिद्धमित्याशंक्याह-एतच्च-एतत्पुनरनुमोदनं अत्र-द्रव्यस्तवे ज्ञेयं-ज्ञातव्यं इति-अनया वक्ष्यमाणया शुद्धं-अनवद्यं तंत्रयु-
क्त्या-शास्त्रगर्भोपपत्त्या । इति गाथार्थः ॥२८॥ तंत्रयुक्त्या द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनमस्तीत्येतदेव दर्शयन्नाह— 'तंतंमी'त्यादि,

मल्लाइएहिं पूजा सक्कारो पवरवत्थमाईहिं । अण्णे विवज्जओ इह दुहावि दव्वत्थओ एत्थ ॥३०॥
ओसरणे बलिमादी ण चेह जं भगवयावि पडिसिद्धं । ता एसमणुण्णाओ उचियाणं गम्मती तेण ॥३१॥

तंत्रे-शास्त्रे, किंनामके?-वन्दनायां-चैत्यवन्दनाभिधाने पूजनसत्कारहेतुः-पूजासत्कृतिनिमित्तं उत्सर्गः-कायोत्सर्गः यतेरपि-भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिणः तुशब्दस्यार्थः, निर्दिष्टः-अभिहितस्तीर्थकरादिभिः, यतस्तत्र सूत्रम्-"अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए" इत्यादि, यद्येवं तदा प्रस्तुते किमायातमित्याह-'ते पुण'त्ति तौ पुनः-पूजनसत्कारौ 'दव्वत्थयसरूवे'त्ति प्राकृतत्वात् द्रव्यस्तवस्वरूपौ-द्रव्यस्तवस्वभावौ भवतः, द्रव्यस्तवस्वरूपे वा एतौ वर्तेते, इदमुक्तं भवति-द्रव्यस्तवस्वरूपपूजादिप्रत्ययकायोत्सर्गप्रतिपादनात् साधोर्द्रव्यस्तवेऽनुमोदनमनुज्ञातं सूत्रे । इति गाथार्थः ॥२९॥ अथ पूजनसत्कारयोर्द्रव्यस्तवताभिधानायाह—'मल्लाई'त्यादि, मालायां साधूनि माल्यानि-ग्रथितकुसुमानि तदादिभिः, आदिशब्दादग्रथितकुसुमग्रहः, पूजा-पूजनं भवति, सत्कारः-सत्कृतिर्भवति प्रवरवस्त्रादिभिः-प्रधानवसनप्रभृतिभिः इह च मकारः प्राकृतप्रभवः, आदिशब्दश्च कनकादिपरिग्रहार्थ इत्येकीयं मतं, अन्ये-अपरे सूरयः विपर्ययो-व्यत्यासः पूजा प्रवरवस्त्रादिभिः सत्कारो माल्यादिभिरित्येवंलक्षणः इहेति-पूजासत्कारलक्षणे इति, मन्यन्त इति वाक्यशेषः । प्रस्तुतयोजनार्थमाह-द्विधापि-द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां व्याख्यानद्वयेऽपीत्यर्थः द्रव्यस्तवोऽस्ति अत्रेति-पूजासत्कारयोः इति गाथार्थः ॥३०॥ एवं तावत्तत्रो द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनं दर्शितं, अथोपपत्तिगवादेव दर्शयन्नाह—'ओसरणे'इत्यादि, अवसरणे-समवसरणे देवसंस्कृतभगवद्व्याख्यानभूमौ बल्यादि-उपहारप्रभृति, आदिशब्दात् गन्धमाल्यगीतवाद्यपरिग्रहः, न-नैव, चशब्दो द्रव्यस्तवानुमोदनस्य समर्थने कारणान्तरसमुच्चयार्थः, इह-आगमे लोके वा यत्-यस्मात्कारणात् भगवता-जिनेनापि, तेन हि किल तन्निवृत्तिवाचारित्रतया निषेधनीयं स्यादित्यपिशब्दार्थः, प्रतिषिद्धं-निवारितं

ण य भगवं अणुजाणति जोगं मुक्खविगुणं कदाचिदपि। ण य तयणुगुणोवि तओ ण बहुमतो होति अण्णेसिं॥३२॥
जो चेव भावलेसो सो चेव य भगवतो बहुमतो उ। ण तओ विणेयरेणंति अत्थओ सोवि एमेव ॥३३॥

'ता' इति तस्मात्कारणात् एष द्रव्यस्तवः,नृत्यादिविधानस्य द्रव्यस्तवत्वात्,अनुज्ञातः-अनुमतः इति गम्यते-अवसीयते,'अप्रतिषिद्धमनुमत'मितिवचनात्, उचितानां-तद्योग्यानां गृहस्थानां राजादीनामित्यर्थः, तेन भगवता जिनेनेति, आह च "राया व रायमच्चो तस्सासइ पउरजणवओ वावि। दुब्बलिखंडियछड्डियतंडुलाणाढग कलमा ॥१॥ भाइयपुणाणियाणं अखंडफुडियाण फलगसरिया(सा)ण। कीरइ बली सुरावि हु तत्थेव छुहंति गंधाई ॥२॥ "इत्यादि। इति गाथार्थः॥३१॥" अथ भवतु भगवतोऽनुमतोऽयं, तदन्येषां तदनुमतिर्न युक्ता, अमुवत्यङ्गत्वादित्याशंकयाह—न च-नैव भगवान्-अर्हन् अनुजानाति-अनुमन्यते योगं-व्यापारं, किंविधं?-मोक्षविगुणं-निर्वाणाननुगुणं कदाचिदपि-कचिदपि काले, पारमार्थिकपरोपकारकरणस्वरूपत्वाद्भगवतः। ततः किमित्याह-न च-न पुनः तदनुगुणोऽपि-मोक्षानुकूलोऽपि, मोक्षविगुण एवाबहुमतो भवतीति सूचनार्थोऽपिशब्दः,तको-योगः न बहुमतो-नानुमतो, बहुमत एव,भवति-जायते अन्येषां-भगवतोऽपरेषां साधूनामिति गाथार्थः ॥३२॥ ननु भगवतोऽपि चारित्रित्वाद्द्रव्यस्तवानुमतिर्न युक्तेत्याशंकयाह-'जो चेवे'त्यादि,य एव भावलेशो-भगवद्बहुमानरूपः,द्रव्यस्तवाद्भवतीति शेषः, 'सो चेव य' त्ति स एव-असावेव, नेतरः, चशब्दः इदमपरं युक्त्यन्तरमिति सूचनार्थः, भगवतो-जिनस्य बहुमतः-अनुमतो,मुख्यवृत्त्या,भगवतस्तथास्वभावत्वात्,तुः पूरणे,केवलं न नैव तका-असौभावलेशो विनेतरेण द्रव्यस्तवं विना भवति इति हेतोः अर्थतः-सामर्थ्यात् सोऽपि-द्रव्यस्तवोऽपि, न केवलं भावलेश एव, एवमेव-भावलेशवदेव बहुमत एव। इति गाथार्थः ॥३३॥

कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणंपि इट्ठं तु। जह आहारजतित्तिं इच्छंतेणेह आहारो ॥३४॥
जिणभवणकारणाइवि भरहादीणं ण वारितं तेण। जह तेसिं चिय कामा सल्लविसादीहिँ णाएहिं ॥३५॥

ता तंपि अणुमयं चिय अप्पडिसेहाउ तंतजुत्तीए। इय सेसाणवि एत्थं अणुमोयणमादि अविरुद्धं ॥३६॥
भावलेशं बहु मन्यमानेन द्रव्यस्तवो बहुमत एवेति समर्थयन्नाह—'कज्जं'इत्यादि, कार्यं-साध्यं भावलेशादिकं इच्छता-अनुमन्यमानेन अनन्तरं-अव्यवहितं, न तु व्यवहितं कृष्यादिकं, तथैवानुभूतेः, कारणमपि-हेतुरपि द्रव्यस्तवादिकः, न केवलं कार्यमेवेत्यपिशब्दार्थः, इष्टं तु-अभिमतमेव, कारणाविनाभूतत्वात् कार्यस्य, किमिवेत्याह-यथा-यद्वत् आहारजतृप्ति-भोजनजनितबुभुक्षोपशमं इच्छता-वाञ्छता इह लोके आहारो-भोजनं, इष्ट इति प्रक्रमः। इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ अथ बल्यादौ भवत्वनुमतिर्जिनस्य, जिनभवनादौ तु सा तस्य न भविष्यतीत्याशंकायामाह—'जिणे'त्यादि, जिनभवनकारणाद्यपि-अर्हदायतनविधानप्रभृतिकमपि, न केवलं समवसरणे बल्यादि, आदिशब्दाज्जिनबिंबपूजादिग्रहः, भरतादीनां-भरतचक्रवर्तिप्रभृतीनां न वारितं-न निषिद्धं तेन भगवता आदिदेवेन,कथमित्याह-यथा-यद्वत्तेषामेव-भरतादीनां कामाः-शब्दादिभोगाः शल्यविषादिभिः-शल्यविषप्रभृतिभिः ज्ञातैः-निदर्शनैः, निषिद्धा इति प्रक्रमः । ज्ञातानि पुनरेवम्-"सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा। कामे पत्थेमाणा,'अकामा जंति दुग्गइं ॥१॥" अयमभिप्रायः-यदि जिनभवनविधापनादिकमननुमतमभविष्यद्भगवतस्तदा कामवन्निषिद्धमभविष्यत्। इति गाथार्थः ॥३५॥ यदि तत्तेन तेषां न वारितं ततः किमित्याह—'ता त'मित्यादि,यतो जिनभवनादि न निवारितं तत्-तस्मात् तदपि-जिनभवनाद्यपि,अपिशब्दाद् बल्याद्यपि, अनुमतमेव-बहुमतमेव भगवतः, कुत एतदवसितमित्याह-अप्रतिषे-

जं च चउद्धा विणओ भणिओ उवयारिओ उ जो तत्थ। सो तित्थगरे णियमा ण होइ दव्वत्थयादण्णो ॥३७॥

यात्-अनिवारणात्, अथ कथमप्रतिषेधमात्रादिदमवसितमित्याह-तंत्रयुक्त्या-शास्त्रीयोपपत्त्या, यदि तस्य तदननुमतमभविष्यत्तदा सामानामिव तन्निषेधमकरिष्यत्, न चासौ कृतस्तेन, अतस्तस्य तदनुमतमित्येवंलक्षणया। यदि भगवतस्तदनुमतं तदाऽन्येषां किमित्याह-इति-एवं भगवन्न्यायेन शेषाणामपि-भगवतोऽपरेषामपि साधूनां, न केवलं भगवत एव, अत्र जिनभवनविधापनादिद्रव्यस्तवे अनुमोदनादिकं-जिनबिम्बादिदर्शनसमुल्लसितप्रमोदसत्कारकोपबृंहणतश्च याऽनुमतिस्तत्प्रभृतिकं, आदिशब्दात्तदुपबृंहणेन तत्कर्त्रदेशनेन च बिम्बादिविधापनोत्साहसंवादनस्तद्विधापनस्य परिग्रहः, अविरुद्धं-संगतं, मोक्षसाधनस्यैव भावलेशस्य तत्र मुख्यवृत्त्योपादेयत्वादिति च प्राग्दर्शितम्। इति गाथार्थः ॥३६॥ तदेवं "जइणोऽवि हु दव्वत्थयभेओ अणुमोयणेण अत्थि"त्ति यदुक्तं तत् समर्थितं, अथ तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह—'जं चे'त्यादि, यद्-यस्मात्कारणात् चशब्द उपपत्त्यन्तरसमुच्चयार्थः चतुर्धा-चतुर्भिः प्रकारैर्ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारलक्षणैः भणितः-साधूनां विधेयतया वर्णितो विनयसमाध्यध्ययनादौ विनयः-कर्मविनयनसमर्थोऽनुष्ठानविशेषः 'तत्थ'त्ति तत्र तेषु चतुर्षु विनयेषु मध्ये उपचारो-लोकव्यवहारः पूजा वा प्रयोजनमस्येत्यौपचारिको भक्तिरूपः तुशब्दः पुनरर्थः य इति विनयः स इत्यसौ तीर्थकरे-अर्हद्विषये नियमाद्-अवश्यंभावेन न भवति-न वर्तते द्रव्यस्तवात्-पूजादेः अन्यः-अपरो, द्रव्यस्तव एवासाविति भावः,तस्माद्द्रव्यस्तवानुविद्धो भावस्तव इति प्रकृतं,औपचारिकविनयस्वरूपं चेदम्-"तित्थयरसिद्धकुलगणसंघकिरियधम्मनाणनाणीण। आयरियथेरुवज्झायगणीणं तेरस पयाणि ॥१॥ अणसायणा १ य भत्ती २ बहुमाणो ३ तहय वण्णसंजलणा ४। तित्थयराई तेरस चउग्गुणा होंति बावन्ना ॥२॥" इति गाथार्थः ॥३७॥ यदि

एयस्स उ संपाडणहेउं तह चेव वंदणाए उ । पूजणमादुच्चारणमुच्चरणं होइ जइणोऽवि ॥३८॥
इहरा अणत्थगं तं ण य तयणुच्चारणेण सा भणिता । ता अहिसंधारणओ संपाडणमिट्ठमेयस्स ॥३९॥
सक्खा उ कसिणसंयमदव्वाभावेहिं णो अयं इट्ठो । गम्मइ तंतठितीए भावपहाणा हि मुणउत्ति ॥४०॥

एतस्य तु-एतस्यैव द्रव्यस्तवरूपौपचारिकविनयस्य संपादनहेतुं-संपादनार्थं द्रव्यस्तवादन्यो नासौ ततः किमित्याह—'एये'त्यादि, 'तह चेव'त्ति तथैव-तेनैव प्रकारेण कायोत्सर्गकरणरूपेण वन्दनायां-चैत्यवन्दनायां तुशब्दः पूरणे पूजनाद्युच्चारणं-पूजाप्रभृति-पदाभिधानं, आदिशब्दात्सत्कारादिपरिग्रहः, उपपन्नं-संगतं भवति-वर्तते यतेरपि-भावस्तववतोऽपि, न केवलं गृहिण एव । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ उक्तविपर्यये बाधकमुपदर्शयन् प्रकृतनिगमनायाह—'इहरे'त्यादि, इतरथा-अन्यथा द्रव्यस्तवसंपादनार्थं यदि पूजाद्युच्चारणं न भवति तदा अनर्थकं-निष्प्रयोजनं तत्-पूजाद्युच्चारणं, पूजादीनामनिष्टत्वात्, न च निरर्थकं वाक्यमुच्चारयन्ति सन्तः, तत्त्वक्षतिप्रसंगात्, अथ न कुर्वन्त्येव वन्दनायां पूजासत्काराद्युच्चारणमित्याशंक्याह-न च-नैव तदनुच्चारणेन सा वन्दना भणिता--अभिहिताऽऽगमे विधेयतया, ता इति-यस्मादेवं तस्मात् अभिसंधारणात्-कायोत्सर्गकरणद्वारेण पूजादिसंपादनाभिसन्धेः संपादनं-करणं इष्टं-अभिमतं एतस्य द्रव्यस्तवस्येति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ यदि नाम यतिनाऽभिसंधारणतो द्रव्यस्तवः संपाद्यते तदा साक्षादेव कस्मान्न क्रियत इत्याशंक्याह—'सक्खे'त्यादि, साक्षात्तु-स्वयंकरणतः पुनः कृत्स्नसंयमश्च-सर्वथा प्राणवधविरतिः द्रव्याभावश्च-निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्त्वा कृत्स्नसंयमद्रव्याभावौ ताभ्यां, पाठान्तरेण 'कृत्स्नसंयमद्रव्यभावाभ्यां' तत्र द्रव्यभावः-अप्रधानत्वं द्रव्यस्तवस्येति, नो-नैव अयं द्रव्यस्तवः इष्टः-अभिमतो यतीनां विधेयतयेति गम्यते-अवसीयते, कथं ?-तंत्रस्थित्या-

एएहिंतो अण्णे जे धम्महिगारिणो हु तेसिं तु । सक्खं चिय विण्णेओ भावंगतया जतो भणितं ॥४१॥
अकसिणपवत्तयाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥४२॥

आगमनीत्या,तंत्रं हि साधूनां स्नानादिपरिहारप्रतिपादनपरं निर्ग्रन्थताभिधायकं च,ततो युज्यते च स्वयमकरणं द्रव्यस्तवस्येति,आह च--भावप्रधाना--भावपूजापराः, न द्रव्यप्रधानाः,हिर्यस्माद्र्थः मुनयो-यतयो भवन्तीत्यतो भावत एव पूजा तेषां युक्ता,तदभिसंधारणं पुनर्भाव एव, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥४०॥ केषां तर्हि द्रव्यस्तवस्य साक्षात्करणमिष्टमित्यत्राह—'एएहिं'मित्यादि, एतेभ्यो मुनिभ्योऽन्ये-अपरे ये इत्यत्रोत्तरस्य पुनरर्थस्य तुशब्दस्य संबन्धात् ये पुनः धर्माधिकारिणो धार्मिकास्तेषां तु-तेषामेव साक्षादेव-स्वयंकरणतोऽपि विज्ञेयो-विधेयतया ज्ञातव्यः, द्रव्यस्तव इति प्रक्रमः, कथमित्याह-भावांगतया-शुभभावकारणतया भावस्तवाङ्गतया वा, इहार्थे शास्त्रं प्रमाणतयोपदिशन्नाह-यतो-यस्मात्कारणात् भणितं-अभिहितं निर्युक्तौ इति गाथार्थः ॥४१॥ यद्भणितं तद्दर्शयन्नाह—'अकसिणे'त्यादि, अकृत्स्न-अपरिपूर्णं संयमं प्रवर्तयन्ति-विदधति ये तेऽकृत्स्नप्रवर्तकास्तेषां, अत एव विरताश्च-ते निवृत्ताः स्थूलादिविशेषणेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः अविरताश्च-अनिवृत्ताः सूक्ष्मादिविशेषणेभ्यस्तेभ्य एवेति विरताविरतास्तेषां, एष द्रव्यस्तवः खलुरवधारणे भिन्नक्रमश्च युक्त एव-संगत एव, किंफलोऽयमित्याह-संसारं-भवं प्रतनुं-अल्पं करोतीति संसारप्रतनुकरणः; इह च विशेषणस्य परनिपातः सिद्धसेनाचार्य इत्यादाविव न दुष्टः, लुप्तभावप्रत्ययाद्वा संसारप्रतनुताकरण इति दृश्यं, ननु कथंचित्सावद्यतया सदोषत्वेनानाश्रयणीयत्वादस्य कथं संसारप्रतनुकारित्वमित्याशंक्याह-द्रव्यस्तवे-आश्रयणीयतया साधयितुमिष्टे कूपदृष्टान्तः-अवटखननज्ञातमस्तीति,तत्प्रयोगश्चैवम्-सदोषमपि स्वरू-

सो खलु पुप्फाईओ तत्थुत्तो न जिणभवणमाईवि । आईसद्दा वुत्तो तयभावे कस्स पुप्फाई? ॥४३॥
णणु तत्थेव य मुणिणो पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि । अत्थि तयं सयकरणं पडुच्च नऽणुमोयणाईवि ॥४४॥

येण यद् गुरुकगुणान्तरकारण तदाश्रयणीयं, यथा कूपखननं, तथा च द्रव्यस्तव इति दृश्यं, दृष्टान्तद्वारेण भावना तु प्रागवत् । इति गाथार्थः ॥४२॥ अथ 'अकसिणपवत्तयाणं' इत्यत्र गाथायां पुष्पादिरेव द्रव्यस्तवोऽभिहितः, इह च प्रकरणे जिनभवनादिरप्युक्तः तत्कथमियमिहत्यसंवादाय स्यादित्येतदाशंक्य परिहरन्नाह—'सो'इत्यादि, स द्रव्यस्तवः खलुरवधारणे तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते पुष्पादिक एव-कुसुमधूपदीपप्रभृतिरेव तत्र 'अकसिणपवत्तगाण' इत्यत्र चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिगाथायां उक्तः-अभिहितः "दव्वथओ पुप्फाती संतगुणकित्तणा भावे" इतिप्रक्रमपतितत्वादस्याः, न-नैव जिनभवनाद्यपि-जिनभवनकरणप्रभृतिरपि, इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवः, अपिशब्दः समुच्चयार्थत्वेनोक्त इति क्रियाभिसंबन्धार्थः, इहाक्षेपे समाधिमाह-आदिशब्दात्-"दव्वथओ पुप्फाती" इत्यत्रोपन्यस्तादुक्तो-भणितः, जिनभवनादिर्द्रव्यस्तव इति प्रक्रमः, विपर्यये बाधकमाह-आदिशब्देन जिनभवनादीनामनभिधाने चेत्तदा तेषामद्रव्यस्तवत्वेनाकरणप्रसंगात् अभावे-जिनभवनविधाद्यभावे कस्य?, न कस्यापि, पुष्पादिः—कुसुमवस्त्रादिर्द्रव्यस्तवः स्याद् निर्विषयत्वादिति भावना । इति गाथार्थः ॥४३॥ ननु जिनभवनादिर्द्रव्यस्तवो भवतु, किं त्वसावागमे यतेर्निषिद्धस्तत्कथं भावस्तवो द्रव्यस्तवानुगतः? इत्याशक्य परिहरन्नाह—'णणु'इत्यादि, नन्विति परमताशंकायां तत्रैव च ग्रन्थे यत्र विरतानां द्रव्यस्तवस्य साक्षात्करणमुपदिष्टं मुनेः-साधोः पुष्पादिनिवारणं-कुसुममाल्यादिनिषेधनं स्फुटं-व्यक्तं अस्ति-विद्यते, यतस्तत्रोक्तम्-"छज्जीवकायसंजमु दव्वथए सो विरुज्झए कसिणो। तो कसिणसंजमविऊ पुप्फाईयं न इच्छंति

सुव्वइ य वइररिसिणा कारवणंपि हु अणुट्ठियमिमस्स । वायगगंथेसु तहा एयगया देसणा चेव ॥४५॥

॥१॥" अतः कथं पूजादिद्रव्यस्तवानुमोदनविधापने भवदभ्युपगते साधोः संगते? इति परमतं, समाधिश्चैवम्–अस्ति–विद्यते तत् मुनेः पुष्पादिनिवारणं, केवलं स्वयंकरणं–आत्मना पूजादिविधानं प्रतीत्य–आश्रित्य, न पुनरनुमोदनाद्यपि–पुष्पपूजादेरनुमति-विधानप्रभृतिकमपि प्रतीत्य, अपिशब्दः समुच्चयार्थः। इह यद्यप्याचार्येणापि अविशेषेण द्रव्यस्तवं प्रति साधोर्विधापनमभ्युपगतं तथापि द्रव्यस्तवफलस्वरूपप्ररूपणद्वारेण तद् दृष्टव्यते, न पुनः साक्षात्कारेण,यथा–त्वं जिनभवनं कुरु, तदर्थं च भूमिं खन, मृत्तिकां वह, जलमानय, इत्यादि विभाषा, न ह्येवं स्वयंकरणस्य कारणस्य च महान् विशेषोऽस्ति। इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अथ द्रव्यस्तवस्यानुमोदनं साधोर्युक्तं, ज्ञापकैस्तस्य समर्थितत्वात्, कारणं त्वयुक्तं, ज्ञापकाभावात्, इत्याशंक्याह—'सुव्वई'त्यादि, श्रूयते–समाकर्ण्यते आवश्यकनिर्युक्तौ चशब्दो युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थः वैरऋषिणा– वैराभिधानमुनिपतिना कारापणमपि–देवैर्विधापनमपि, न केवलमनुमोदनं,यद्भवतामनभिमतं कारापणं तदपीत्यर्थः, हुताशयालकारे अनुष्ठितं–आसेवितं अस्य पुष्पादिद्रव्यस्तवस्य, यतस्तत्रोक्तम्–"माहेसरीउ सेसा पुरिं पनीया हुयासणगिहाओ। गयणयलमइवइत्ता वइरेण महाणुभावेण ॥ १ ॥" किलैकदा भगवान् वैरस्वामी पुरिकाभिधानायां नगर्यां विहरति स,तत्र च तदा श्रमणोपासकैर्बौद्धोपासकैश्च परस्परस्पर्धया स्वकीयदेवानां माल्यारोपणानि विधीयंते स, सर्वत्र च बौद्धोपासकाः पराजीयन्ते स, राजा च तेषामनुकूलः, ततस्तैर्नृपोऽभ्यर्थितः, तेन च श्रमणोपासकानां कुसुमानि निषेधितानि, पर्युषणादिने च तदभावाच्छ्रावका विषण्णाः, सबालवृद्धाश्च ते वैरस्वामिनमुपस्थिता भणितवन्तश्च–'यदि युष्माभिर्नाथैः प्रवचनमपभ्राज्यते तदनया यूयमेव यद्भवति तज्जानीथे'ति, ततश्च समुत्पत्य माहेश्वरीं नगरी-

गगनङ्गगवान्, तत्र च हुताशनं नाम व्यन्तरगृहं, तदारामे प्रतिदिनं पुष्पाणां कुंभ उत्पद्यते, तत्र च वैरस्वामिनः पितृसुहृच्चिन्तकोऽभवत्, स च भगवन्तमुपलभ्य ससंभ्रममवादीत्–'किमागमनप्रयोजनं?,' ततो भगवानुवाच–'पुष्पैः प्रयोजनमस्ति' ततोऽसावुवाच–'अनुग्रहो नो, गृह्णीतैतानि', भगवानवादीत्–'यावत् एतानि तावद्यूयं यावद्गत्वाऽहमागच्छामि' ततः समुत्पत्य हिमवन्महागिरौ श्रीदेवतायाः समीपे जगाम, श्रिया च चैत्यार्चनाय तदा पद्मं चिच्छिदे, ततो वन्दित्वा तया तेन निमंत्रितः, तच्च गृहीत्वा हुताशनगृहमाजगाम, तत्र च तेन विमानं विरचितं, तत्र पुष्पकुंभं क्षिप्त्वा जृंभकदेवगणपरिवृतो दिव्येन गन्धर्वगीतनादेनाम्बरतलमापूरयन् महेश्वर्याः पुरीमागतवान्, तृतीयवर्णिकाश्च जृंभकनिकायाकीर्णमाकाशमवलोक्य वितर्कयामासुः–'अस्माकमिदं प्रातिहार्यं देवा विदधती'ति,अर्घमादाय स्वकीयायतनेभ्यस्तदभिमुखं निर्गतवन्तः,भगवांस्तु देवसमुदायपरिवृतो जिनायतनमगमत्, तत्र च देवा महान्तं महिमानमकार्षुः, जिनशासनं प्रति च लोकस्यातीव बहुमानः समजनि, राजाऽपि चार्जितः श्रमणोपासको बभूवेति। तथा वाचकग्रन्थेषु–वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्ताऽऽचार्यः सुप्रसिद्धोऽभवत् तस्य प्रकरणेषु, तथेति वाक्योपक्षेपे स च वाक्यप्रसादो इष्यः, एतद्गता–द्रव्यस्तवविषया देशना–प्ररूपणा, तथाहि–'यस्तृणमयीमपि कुटीं कुर्याद्दद्यात्तथैकपुष्पमपि। भक्त्या परमगुरुभ्यः पुण्योन्मानं कुतस्तस्य? ॥१॥" तथा–"जिनभवनं जिनबिंबं जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात्। तस्य नरामरशिवसुखफलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥" इति, अनया हि देशनया श्रोता द्रव्यस्तवं कारितो भवति, ततो वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवकारणमस्तीति भावः, चैवेति समुच्चयार्थः, तदेवं स्वयंकरणमेवाश्रित्य प्रतिषेधनं साधोः, न पुनरनुमोदनामपीति प्रकरणार्थः । इह च व्याख्यानार्थेन चैतदाहरणतो द्रव्यस्तवकारणं साधोरविशे-

दव्वत्थओवि एवं आणापरतंतभावलेसेण । समणुगउच्चिय णेओऽहिगारिणो सुपरिसुद्धोत्ति ॥४६॥

पेण विधेयतया दर्शितं तथाऽप्यापवादिकमेवेदमित्यवसेयं, चन्दनकनिर्युक्त्यां चैतस्य भग्नशुभपरिणामालम्बनतयोपदिष्टत्वात्, तथाहि–"नीयावासविहारं चेइयभत्तिं च अज्जियालाभं । विगईसु य पडिबंधं निद्दोसं चोइया बेंति ॥१॥" तत्र चैत्यभक्ति मतिउत्तम्–"चेइयकुलगणसंघे अन्नं वा किंपि काउ निस्साणं । अहवावि अज्जवइरं तो सेवंती अकरणिज्जं ॥१॥ चेइयपूया किं वइरसामिणा मुणियपुव्वसारेणं । न कया पुरियाइ ? ततो मोक्खंगं सावि साहूणं ॥२॥" इह चायं समाधिस्तत्रैवोक्तः–"ओभावणं परेसिं सतित्थउब्भावणं च वच्छल्लं । न गणेंति गणेमाणा पुव्वुधियपुप्फमहिमं च ॥१॥" 'गणेमाण'त्ति आलम्बनानि गणयन्तः, अपवादतस्तु स्वयंकरणं कारणं चानुमतमेव, यतः कल्प उक्तम्–"सीलेह मंखफलए इयरे चोयंति तंतुमाईसु । अह(हि) जोइंति सचित्तेसु अणिच्छ फेडिंति दीसंता ॥१॥" 'मंखफलए'त्ति मंखफलकानीव मंखफलकानि–निर्वाहहेतुचैत्यानि, तथा–"अन्नाभावे जयणाएँ मग्गनासो भवेज्ज मा तेण । पुव्वकयाययणाइ ईसिं गुणसंभवे इहरा ॥१॥ चेइयकुलगणसंघे आयरियाणं च पवयण सुए य । सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेणं ॥२॥" ति, तथा वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवफलाद्यभिधानायैव देशना, फलार्थिनस्तु स्वत एव तत्र प्रवर्तन्ते, यदि पुनः साक्षात् परप्रवर्तनाय सा स्यात्तदा साक्षादेव तत्र तत्प्रवर्तनमपि विधेयं स्यात्, तथा च वैरस्वामिचरितालम्बनस्य पुष्टत्वमेव स्यात्, अपुष्टत्वं च तस्यावेदितमिति । द्रव्यस्तवादिश्रावकधर्मप्ररूपणं च यतिधर्मासमर्थस्यैव शिष्यस्य विधेयं, अन्यथाऽऽरंभेषु प्रवर्तनदोषसंभवात्, आह च–"जइधम्मम्मिऽसमत्थे जुज्जइ तद्देसणंपि साहूणं । तदहिगदोसनिवित्तीफलंति (छ) कायाणुरूवद्दा ॥१॥" इति गाथार्थः ॥४५॥ एवं तावद्भावस्तवस्वरूपं द्रव्यस्तवानुगतमिति प्रतिपादितं, अथ द्रव्यस्तवस्वरूपं

लोगे सलाहणिज्जो विसेसजोगाउ उण्णइणिमित्तं । जो सासणस्स जायइ सो णेओ सुपरिसुद्धोत्ति ॥४७॥
तत्थ पुण वंदणाइंमि उचियसंवेगजोगओ णियमा । अत्थि ग्वलु भावलेसो अणुहवसिद्धो विहिपराणं ॥४८॥

भावस्तवानुगतमिति प्रतिपादयन्नाह–'दव्वे'त्यादि, द्रव्यस्तवोऽपि–पूजादिरूपः, न केवलं भावस्तव एवेतरानुगतः, एवमिति–भावस्तववत्, आज्ञापरतंत्रश्चासौ–आप्तवचनायत्तो भावलेशश्च–चरणप्रतिपत्त्यपेक्षया द्रव्यस्तवसमुत्थजिनबहुमानरूपोऽल्पो भावः आज्ञापरतंत्रभावलेशः, आज्ञापारतंत्र्यविशेषणहीनभावो हि पूजादिरूपो न केवलो भावस्तवः तत्फलासाधकत्वात् इत्याज्ञापरतंत्रविशेषणं, अयं च भावस्तवलेश इति हृदयं, जिनगतचरणादिगुणबहुमानरूपत्वेन चरणानुमतिरूपत्वादस्येति, अतः तेन समनुगत एव–समनुविद्ध एव ज्ञेयो–ज्ञातव्यः, कस्येत्याह–अधिकारिणो–योग्यस्य गृहिण इत्यर्थः, किं द्रव्यस्तवमात्रमपि ?, नेत्याह–सुपरिशुद्धः–अनवद्यो वक्ष्यमाणलक्षणः, अन्ये तु द्रव्यस्तवोऽप्येवं सुपरिशुद्धो ज्ञेय इत्येवं संबन्धयंति, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥४६॥ 'सुपरिशुद्ध' इत्युक्तं, अथ तस्यैव लक्षणमाह—'लोगे'इत्यादि, लोके–विगतसरगायविशेषज्ञजने श्लाघनीयः–प्रशंसनीयः, कुतः ?–विशेषयोगात्–लौकिककुभावचनिकद्रव्यस्तवापेक्षया यो विशेषः–तदसंगवितथाविधौदार्यौचित्यलक्षणा विशिष्टता तद्योगात्–तत्संबन्धात् . यत एव 'उण्णइणिमित्तं' प्रभावनाहेतुर्यो द्रव्यस्तवः शासनस्य–जिनप्रवचनस्य जायते–संपद्यते स द्रव्यस्तवः ज्ञेयो–ज्ञातव्यः सुपरिशुद्ध इति–निरवद्य इत्येवं, इतिशब्दस्योपप्रदर्शनार्थत्वात् । इति गाथार्थः ॥४७॥ 'द्रव्यस्तवो भावलेशेनानुगत' इति प्रागुक्तं, तत्र च द्रव्यस्तवे भावलेशो नासिद्ध इति दर्शयन्नाह—'तत्थे'त्यादि, तत्र पूजादिद्रव्यस्तवे, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, ग्ग गैं भावना–द्रव्यस्तवो भावलेशेन संगतोऽतस्तत्र पुनर्द्रव्यस्तवे भावलेशोऽस्तीति योगः, कस्मिन्निति ?, वन्दनादौ–चैत्यवन्दन-

दव्वत्थयारिहत्तं सम्मं णाऊण भयवओ तंमि । तह उ पयट्टंताणं तब्भावाणुमइओ सो य (चेव) ॥४९॥
अलमेत्थ पसंगेणं उचियत्तं अप्पणो मुणेऊणं। दोवि इमे कायव्वा भवविरहत्थं बुहजणेणं ॥५०॥स्तवः॥

स्तुतिप्रणिधानप्रभृतिके, अथवा किंविधे द्रव्यस्तव इत्याह–वन्दनादौ–वन्दनपूजादौ, इह च व्याख्यानद्वयेऽपि पूजानन्तरकृत्यत्वेन वन्दनादिर्द्रव्यस्तवः, अन्यथा "संतगुणुक्कित्तणा भावे" इति वचनाद्भावस्तव एवासौ, तथा पूजादावपि भावलेशोऽस्ति, किंतु वन्दनायामतिव्यक्ततयाऽसावनुभूयत इति वन्दनादावित्युक्तं, कुत इत्याह–उचितसंवेगयोगतः–वन्दनादिजनितशक्यभावविशेषसंबन्धात् , नियमाद्–अवश्यंतया अस्ति खलु–विद्यत एव भावलेशः–शुभभावमात्रा, कुतः प्रमाणादयं सिद्ध इत्याह–अनुभवसिद्ध एव–स्वसंवेदनप्रतीत एव, न प्रमाणान्तरतः साध्यः, केषामित्याह–विधिपराणां–द्रव्यस्तवचैत्यवन्दनाद्यागमिकविधानोद्यतानाम् । इति गाथार्थः ॥४८॥ अथ कथमसौ तेषां स्यादित्याह—'दव्वे'त्यादि, द्रव्यस्तवार्हत्वं–पूजादिद्रव्यस्तवोचितत्वं महागुणत्वात् सम्यक्–याथात्म्येन ज्ञात्वा–विज्ञाय भगवतः–समग्रैश्वर्यादिगुणयुतस्य वीतरागस्य, अनेन ज्ञानपूर्वेव क्रिया सम्यगित्युक्तं भवति, तस्मिन् द्रव्यस्तवे 'तह उ' त्ति तथैव सम्यगेव प्रवर्तमानानामस्ति भावलेशोऽनुभवसिद्ध इति प्रकृतं, तथा तद्भावानुमतितः–द्रव्यस्तवप्रवृत्तिलक्षणार्थानुमोदनात् ,चैवशब्दः समुच्चयार्थः 'सो य'त्ति पाठान्तरं, तत्र स च–स पुनः भावलेशः तद्भावानुमतेः–जिनभावानां–जिनगुणानामनुमतेः–अनुमोदनाद्भवतीति। तदेवं द्रव्यस्तवो भावस्तवानुविद्ध इत्युक्तमिति गाथार्थः॥४९॥तदेवं 'द्रव्यस्तवभावस्तवयोः सरूपमन्योऽन्यानुगत'मिति समर्थितं. अथोपसंहरन्नेतद्गतमेवोपदेशमाह—'अले'त्यादि, अलं–पर्याप्तं अत्र–

द्रव्यस्तवादिस्वरूपभणितौ प्रसंगेन–वचनविस्तरेण उचितत्वं–द्रव्यस्तवेतरयोग्यत्वं आत्मनः–स्वस्य 'मुणेऊणं' ति ज्ञात्वा द्वावपि, न पुनरेकतर एव, इमौ–द्रव्यस्तवभावस्तवौ कर्तव्यौ–विधेयौ भवविरहार्थं–संसारविच्छेदनिमित्तं, प्रयोजनान्तरस्य प्रकारान्तरेणापि भावात्, बुधजनेन–साधुश्रावकलोकेन, तस्यैव सम्यग्दर्शनपूर्वबोधतया निरुपचरितबुधत्वेनोचितत्वात्। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥

॥ स्तवविधिप्रकरणं षष्ठं वृत्तितः समाप्तम् ॥ ६ ॥



॥ अथ सप्तमपञ्चाशकवृत्तिः ॥

नमिऊण वद्धमाणं वोच्छं जिणभवणकारणविहाणं। संखेवओ महत्थं गुरूवएसाणुसारेणं ॥ १ ॥

अनन्तरं स्तवविधिरुक्तः, तत्र च जिनभवनादिविधानरूपो द्रव्यस्तव उक्त इति, अतोऽत्र जिनभवनकारणविधानमुपदिदर्शयिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा–प्रणम्य वर्धमानं–महावीरं वक्ष्ये–भणिष्यामि जिनभवनकारणविधानं–जिनायतननिर्मापणविधिं संक्षेपतः–समासेन, न पुनर्विस्तरतः पूर्वसूरिवत्, महार्थं–बृहदभिधेयं, न तु संक्षिप्तत्वेनाल्पसूत्रतयाऽल्पार्थं, गुरूपदेशानुसारेण–आचार्यशिक्षानुरूप्येण, न तु स्वोत्प्रेक्षिततया, व्यभिचारित्वाशंकया तस्यानादेयताप्रसंगात्। इति गाथार्थः ॥१॥

गाथा ॥१॥ [illegible] प्रतिबद्धत्वमेव धर्मस्य दर्शयन्नाह–'आराहे'त्यादि, आराधनया–पालनया, पञ्चमीसप्तम्योर्वैकवचनं व्याख्येयं,

अहिगारिणा इमं खलु कारेयव्वं विवज्जए दोसो । आणाभंगाउ च्चिय धम्मो आणाएँ पडिबद्धो ॥ २ ॥

आराहणाइ तीए पुण्णं पावं विराहणाए उ । एयं धम्मरहस्सं विण्णेयं बुद्धिमंतेहिं ॥ ३ ॥

अहिगारी उ गिहत्थो सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो । अक्खुद्दो धिइबलिओ मइमं तह धम्मरागी अ ॥४॥

'जिनभवनकारणविधानं वक्ष्य' इत्युक्तं, जिनभवनं च येन कारयितव्यं तमादौ तावन्निरूपयन्नाह–'अही'त्यादि, अधिकारिणा–तत्कारणयोग्यतावतैव इदं जिनभवनं, खलुरवधारणे तस्य च प्रयोगः प्रागुपदर्शित एव, कारयितव्यं–विधापयितव्यम् । अथ किमिति अधिकारिणैवेत्युच्यते ? इत्याह–विपर्यये–विपरीतत्वेऽनधिकारिकारिण इत्यर्थः दोषो–दूषणमशुभकर्मबन्धलक्षणं । ननु संसारसरित्तरणतरकाण्डकल्पद्रव्यस्तवविधावपि कथं दोष इत्याह–आज्ञाभंगादेव–आप्तवचनोल्लंघनादेव, आज्ञा चेवं द्रव्यस्तवं प्रति व्यवस्थिता–"अकसिणपवत्तगाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे दव्वथए कूवदिट्ठंतो ॥१॥" अथाज्ञाभंगेऽपि कथं दोष इत्याह–धर्मो–द्रव्यस्तवादिरूपः आज्ञायां–आप्तवचने प्रतिबद्धो–नियतो वर्तते यतोऽतस्तद्भंगे दोष एव धर्माभावलक्षणः । इति तस्या आज्ञायाः पुण्यं–शुभकर्म भवति, पुण्यं च धर्म एव, तद्धेतुकत्वात्पुण्यस्य, पापं–अशुभं कर्म भवति विराधनया तु–बाधया पुनः, आज्ञाया एव धर्मनिमित्ततां प्रति पुरस्करणायाह–एतदनन्तरोक्तमाराधनाविराधनारूपं विधिनिषेधद्वारेण धर्मरहस्यं–कुशलकर्मगुह्यं विज्ञेयं–ज्ञातव्यं बुद्धिमद्भिः–पंडितैः, यतः पारलौकिकेषु विधिष्वाज्ञात एव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः, प्रत्यक्षादीनां तत्राप्रवृत्तेः, अनाप्तवचनस्य च व्यभिचारित्वादिति, आह च–"यस्मात्प्रवर्तकं भुवि निवर्तकं चान्तरात्मनो वचनम् । धर्मश्चैतत्संस्थो मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥१॥" इति गाथार्थः ॥३॥ तदेवं जिनभवनकारणविधानाधिकारिणं प्रस्ताव्य तमेव निदर्शयन्नाह—

गुरुपूयाकरणरई सुस्सूसाइगुणसंगओ चेव । णायाऽहिगयविहाणस्स, धणियं माणप्पहाणो य ॥५॥ युग्मम् ॥

'अहिगे'त्यादि, 'गुरु'इत्यादि, अधिकारी तु-योग्यः पुनः जिनभवनविधौ गृहस्थः-अगारी, न तु साधुः, विशेषप्रतिज्ञारूढत्वात्तस्य, सोऽपि न सामान्य इत्यत आह-शुभस्वजनः-असंक्लिष्टबान्धवः, अशुभस्वजनो हि स्वजनानां लोकधर्मविरुद्धचारित्वेन न शुभभाववृद्धिमवाप्नोति, न च प्रवचनं प्रभावयितुमलं, एतद्द्वयार्थमेव हि जिनभवनारंभो विवेकिनामिति, सोऽपि वित्तसंयुतो-द्रव्यपतिः, अनीदृशस्य हि तदारब्धमपि न सिद्ध्यति, तदसिद्धौ च खेदभाजनं भवति, पराभ्यर्थनाद्वारेण तत् साधयन्नपि जनहास्यो भवति 'अहो जिनभवनकारणव्याजेनायं कुटुम्बं पुष्णाती'तिसंभावनाहेतुत्वादिति, सोऽपि कुलजः-प्रशस्यकुलजातोऽनिन्द्यकुलजातो वा, अन्यथाविधेन हि विहितं तन्नात्यन्तं लोकादेयं स्यादिति, सोऽप्यक्षुद्रः-अकृपणः, कृपणो ह्यौचित्येन द्रव्यव्ययकरणाशक्तत्वान्न तत्साधनाय शासनप्रभावनाय चालं, अथवाऽक्षुद्रः-अक्रूरः, क्रूरेण हि परोपतापित्वाज्जनद्वेष्येण कृतं तदायतनं तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति, सोऽपि धृतिबलिकः-चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्तः, धृतिबलविहीनो हि द्रव्यव्यये पश्चात्तापान्न पुण्यभाजनं भवति, सोऽपि मतिमान्-बुद्धियुक्तः, मतिविहीनो ह्यनुपायप्रवृत्तेर्न दृष्टादृष्टफलभाग्भवति, तथेति समुच्चये, सोऽपि धर्मरागी-श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्तः, धर्माननुरागी शुक्तगुणकलापोपेतो न जिनभवनविधाने प्रवर्तते, प्रवृत्तावपि नाभिप्रेतफलसिद्धिभागिति नासावधिकारी, चशब्दः समुच्चयार्थ एवेति । तथा गुरवः-पूज्या लौकिका लोकोत्तराश्च, लौकिकाः पित्रादयो वयोवृद्धाश्च, लोकोत्तरास्तु धर्माचार्यादयः तेषां पूजाकरणे-यथोचितविनयाद्यर्चाविधौ रतिः-आसक्तिर्यस्य स तथा, गुरुपूजाकरणरतो वा, एवंविधो हि जनप्रियत्वेन सप्रहायतया समारब्धसाधनसमर्थो भवति, तथा शुश्रूषादिगुणसंगत एव च, शुश्रूषा-श्रोतुमिच्छा तदाद-

एसो गुणड्ढिजोगा अणेगसत्ताण तीइ विणिओगा। गुणरयणवियरणेणं तं कारिंतो हियं कुणइ ॥६॥

तं तह पवत्तमाणं वट्टुं केइ गुणरागिणो मग्गं। अण्णे उ तस्स बीयं सुहभावाओ पवज्जंति ॥७॥

योऽष्टौ गुणाः, तद्यथा—"शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा। ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं तु धीगुणाः ॥ १ ॥" तैः समन्वित एव च, चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ नियोजितावेव, एवंविधो हि शास्त्रसंस्कृतबुद्धित्वेनोपायज्ञतयेप्सितार्थसाधको भवति। अस्यैव विशेषमाह—ज्ञाता—विद्वान्, कस्येत्याह—अधिकृतविधानस्य—जिनभवनकारणविधेः, एवंविधेन हि क्रियमाणं तद्विवक्षितार्थसाधकं भवति, तथा धनिकं—अत्यर्थमाज्ञाप्रधानश्च—आगमपरतंत्रश्च, एतेन हि तत्कारितं लोकोत्तरक्रियत्वेन निर्वाणाङ्गं भवति, चशब्दः समुच्चयार्थः ॥ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ४–५ ॥ अथ कस्मादस्यैवं गुणगणो मृग्यत इत्याह—'एसो' इत्यादि, एषः—अनन्तरोक्तो जिनभवनविधानाधिकारी गुणर्द्धियोगाद्—अनन्तरोक्तगुणश्रीयुक्तत्वात् अत एव तस्या गुणर्द्धेः विनियोगात्—स्वकीये स्वकीये कार्ये व्यापारणात् अत एव गुणरत्नवितरणेन—सम्यक्त्वबीजसम्यग्दर्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यविश्राणनेन अनेकसत्त्वानामिति संबन्धनीयं तत्—जिनभवनं कारयन्—विधापयन् हितं—श्रेयः करोति—विदधाति, अनेकसत्त्वानामात्मनो वेति, अतो हितहेतुत्वाद्गुणगणोऽन्विष्यते। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ 'गुणरत्नवितरणेने'त्युक्तं, तत्पुनरस्य यथा स्यात्तथा दर्शयन्नाह—'तं तहे'त्यादि, तं जिनभवनकारणाधिकारिणं तथा—तेन प्रकारेणोक्तगुणानुरूपलक्षणेन प्रवर्तमानं—जिनभवनविधौ घटमानं दृष्ट्वा—उपलभ्य केचित्—एकतमे जीवाः, किंविधाः?—गुणरागिणो—गुणपक्षपातिनः, तदन्येषां मार्गादिप्रतिपत्तेरसंभवात्, मार्गं—सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपथं, प्रतिपद्यन्त इति योगः, अन्ये तु—मार्गप्रतिपत्तृभ्योऽपरे पुनः तस्य—मार्गस्य बीजं—हेतुं प्रवचनप्रशंसादिकं, कुत इत्याह—

जोच्चिय सुहभावो खलु सव्वन्नुमयम्मि होइ परिसुद्धो। सोच्चिय जायइ बीयं बोहीए तेणणाएण ॥८॥

शुभभावात्-शोभनपरिणामात् प्रतिपद्यन्ते-समाश्रयन्ति। इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ 'शुभभावाद् बीजं प्रतिपद्यन्त' इति यदुक्तं तत्समर्थनार्थमाह—'जो चिये'त्यादि, य एव-जघन्यादिरूपतया सामान्यः शुभभावः-प्रशस्तपरिणामः प्रशंसादिरूपः खल्ववियालङ्कारे सर्वज्ञमते-सर्ववेदिप्रवचनविषयः,तदन्यविषयस्यातथाविधत्वात्, भवति-जायते परिशुद्धः-शुद्धो,न पुनः परानुवृत्त्यादिदूषणोपेतत्वेनापरिशुद्धः, स एव-असावेव परिशुद्धः शुभभाव एव जायते-संपद्यते बीजमिव बीजं-कारणं बोधेः-सम्यग्दर्शनस्य, अयं चार्थः कथं समर्थनीय इत्याह-स्तेनज्ञातेन-चौरोदाहरणेन, तच्चेदम्-इहाभूतां नरौ कौचिदन्योऽन्यं दृढसौहृदौ। युवानौ साहसोपेतौ, चौरौ स्वबलगर्वितौ॥ १ ॥ भोगलुब्धौ समस्तेच्छापूरकद्रव्यवर्जितौ। तौ च चौर्यं व्यधासिष्टां, भोगवांछाविडम्बितौ ॥२॥ दंडपाशिकलोकेन, संप्राप्तावन्यदा तकौ। नीयमानौ च तौ तेन, वध्यस्थानं तपस्विनौ ॥ ३ ॥ दृष्टवन्तौ मुनीन् मान्यान्, मानिमानवसंहतेः। साधूनां सत्क्रियां दृष्ट्वा, तयोरेको व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥ अहो धन्यतमा एते, मुनयो विमलक्रियाः। स्वकीयगुणसन्दोहाज्जगतां पूज्यतां गताः ॥ ५ ॥ वयं पुनरधन्यानामधन्या धनकांक्षया। विदधाना विरुद्धानि, वध्यतां प्रापिता जनैः ।६। धिक्कारोपहतात्मानो, यास्यामः कां गतिं मृताः?। ही जाता दुःस्वभावेन, लोकद्वयविराधकाः ॥ ७ ॥ तदेवं साधु साधूनां, वृत्तं वारितकल्मषम्। विपरीतमतोऽस्माकमस्मात् कल्याणकं कुतः? ॥ ८ ॥ अन्यः पुनरुदासीनो, भवति स मुनीनभि। गुणरागादवापैको, बोधिबीजं न चापरः ॥ ९ ॥ ततस्तनुकषायत्वाद्दानशीलतया च तौ। नरजन्मोचितं कर्म, बद्धवन्तावनिन्दितम् ॥१०॥ मृत्वा च तौ समुत्पन्नौ, कौशाम्ब्यां पुरि वाणिजौ। जातौ चानिन्दिताचारौ, वणिग्धर्मपरायणौ ॥ ११ ॥ जन्मान्तरीयसंस्कारा-

दाशालत्वात्तयोरभूत्। अत्यन्तमित्रताभावो, लोकाश्चर्यविधायकः ॥ १२ ॥ रोचते च यदेकस्य, तदन्यस्यापि रोचते। ततो लोके
गतौ ख्यातिमेकचित्ताभिधाविति ॥ १३ ॥ ततः कुलोचितं कर्म, कुर्वतोर्यान्ति वासराः। अन्यदा भुवनानन्दी, शास्तत्र जिनेश्वरः
॥ १४ ॥ भगवान् श्रीमहावीर, इक्ष्वाकुकुलनन्दनः। वाग्नीरैर्जनसंतापशमनेऽम्भोदसन्निभः ॥ १५ ॥ विदधुस्तस्य गीर्वाणा,
व्याख्याभूमिं मनोहराम्। तत्रासौ धर्ममाचख्यौ, सनरामरपर्षदि ॥ १६ ॥ तमागतं समाकर्ण्य, कौशाम्बीवासिनो जनाः। राजादयः
समाजग्मुर्वन्दितुं तत्पदाम्बुजम् ॥ १७ ॥ तावपि श्रेष्ठिसत्पुत्रौ, कुतूहलपरायणौ। जनेन सार्धमायातौ, जिननायकसन्निधौ ॥१८॥
जिनस्तु देशयामास, मोक्षमार्गं सनातनम्। सत्त्वानां सर्वकल्याणकारणं करुणापरः ॥१९॥ ततस्तयोर्वणिक्पुत्रयोरेकस्य तज्जिनो-
दितम्। श्रद्धानमार्गमायाति, भाव्यतेऽथ स मानसे ॥२०॥ स्फाराक्षो मस्तकं धुन्वन्, कर्णपर्णपुटार्पितम्। रोमाञ्चितः पिबत्युच्चैर्जिन-
वाक्यं यथाऽमृतम् ॥ २१ ॥ तदन्यस्य तदाभाति, वालुकाकवलोपमम्। अन्योऽन्यस्य च तौ भावं, लक्षयामासतुस्तराम् ॥ २२ ॥
व्याख्याभुवः समुत्थाय, जग्मतुर्भवनं निजम्। तत्रैको व्याजहारैवं, जातस्त्वं भावितः किल ॥२३॥ जैनवाचा न चाहं भोस्तदत्र
किमु कारणम्?। एकचित्ततया ख्यातावावां लोक इयच्चिरम् ॥ २४ ॥ इदानीमत्र संजातं, विभिन्नं चित्तमावयोः। तदत्र कारणं किं
स्यादन्यो वक्ति स विस्मितः ॥ २५ ॥ सत्यमेवं ममाप्यत्र, विकल्पः संप्रवर्तते। केवलं केवली नूनं, निश्चयं नः करिष्यति
॥ २६ ॥ स एव प्रश्नितोऽत्रार्थे, तद्यातास्तस्तदन्तिके। एवं तौ निश्चयं कृत्वा, प्रातर्यातौ तदन्तिकम् ॥२७॥ पप्रच्छतुस्तमाराध्यं,
विनयेन स्वसंशयम्। सोऽप्युवाच पुरैकेन, साधवो वां प्रशंसिताः ॥ २८ ॥ न चान्येन तदेकस्य, जातं बीजस्य सत्फलम्। सद्बो-
धरूपमन्यस्याबीजत्वेन न चाभवत् ॥ २९ ॥ एवं पूर्वभवासेवां, जिनेनोक्तां सविस्तराम्। निशम्यैकस्य संजातं, जातेः संस्मरणं

जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमी १ दलं च कट्ठाई २ । भियगाणइसंधाणं ३ सासयवुड्ढी ४ य जयणा ५ य ॥९॥
वच्चे भावे य तहा सुद्धा भूमी पएसऽकीला य । दव्वेऽपत्तिगरहिया अण्णेसिं होइ भावे उ ॥१०॥

[illegible]मात् ॥ २० ॥ ततोऽसौ प्रत्यये जाते, जातः संवेगभावितः । भावतश्च जिनोद्दिष्टं, प्रपेदे शासनं शुभम् ॥ २१ ॥ तत्प्रतिपत्ति-सामर्थ्यात्, शुभकर्मानुबन्धतः । सिद्धिं प्राप्स्यत्यसौ काले, परः संसारभेद हि ॥ २२ ॥ ततः [illegible]तेन, भावो जैनमताश्रयः । [illegible] ॥२३॥ इति गाथार्थः ॥८॥ एवं जिनभवनकारणाधिकारी समर्थितोऽभिहितः, अथाधिकृतमेव [illegible]—'जिणे'त्यादि. जिनभवनकारणविधिः [illegible], किंविध इत्याह—शुद्धा—निर्दोषा, कासौ?—भूमि—[illegible] तथा दलं च—[illegible]कारणं, किंभूतं?—काष्ठादि—दारुपाषाणप्रभृति शुद्धमिति प्रकृतम्, तथा भृतकानां—कर्मकराणामनतिसन्धानं-[illegible] तथा स्वाशयस्य—शोभनाध्यवसायस्य [illegible] वृद्धिः—वर्धनं स्वाशयवृद्धिः सा च, तथा [illegible] यतना च, [illegible] समुदायार्थः, इह भूम्यादीनि जिनभवनविधेरङ्गानीत्यभेदोपचारे हे-[illegible] इति द्वारगाथासमासार्थः ॥९॥ 'शुद्धा भूमि'रित्युक्तमतस्तां दर्शयन्नाह—[illegible] इह [illegible] समुच्चये तथा—तेन वक्ष्यमाणप्रकारेण विशिष्टप्रदेशादिलक्षणेन, किंवि-[illegible] भूमि निर्दोषा जिनभवनोचिता [illegible] भवति । [illegible] प्रदेशे—विशिष्टजनोचितभूभागे तथा [illegible] वा, द्रव्ये—द्रव्यतः, शुद्धा भूमिर्भवतीति प्रकृतम् । अथ [illegible]—अप्रीति-[illegible] समासः तथादर्शनादिति, अन्येषां—परेषां भवति—

साहूणमणणुवाओ किरियाणासो उ अववाए ॥११॥
अपदेसंमि ण वुड्ढी कारवणे जिणघरस्स ण य पूया। आणादीया दोसा संसारणिबंधणा घोरा ॥१२॥
सासणगरिहा लोए अहिगरणं कुच्छियाण संपाए। एएसि वज्जणट्ठा जइज्ज इह सुत्तविहिणा उ ॥१३॥
कीलादिसल्लजोगा होंति अणिव्वाणमादिया दोसा।

'विशिष्टजनाकीर्णप्रदेशे जिनभवनभूमिर्द्रव्यतः शुद्धा
वर्तते भावे तु–भावतः पुनः शुद्धा भूमिरिति प्रस्तुतमेवेति गाथार्थः ॥१०॥
भवती'त्युक्तं अन्यत्र पुनरशुद्धा भवति दोषसंभवाद्, अथैतद्दर्शयन्नाह–'अपदे'इत्यादि, अप्रदेशे–नञः कुत्सार्थत्वादलाक्षणिकत्वेना-
शिष्टजनाकीर्णत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे 'कारवणे' त्ति करणे–विधापने जिनगृहस्य–अर्हन्निवासस्य न वृद्धिः–नानुदिनं स्फाति-
र्भवति, अपलक्षणसामर्थ्यादसज्जनसामर्थ्याच्च, अत एव न च–नैव पूजा–अर्चा तस्य भवति, जिनबिम्बपूजाऽपि जिनभवनपूजा
विवक्षिता, बिम्बानां तदाश्रितत्वेनोपचारादिति। तथा साधूनां–संयतानां अननुपातः–अनागमनं चैत्यवन्दनाद्यर्थं, वेश्यापिङ्गा-
दिभ्यो धर्मभ्रंशभयात्, अथापतन्ति ते तत्र तदा यद्भवति तदाह–क्रियानाशः–स्वाचारभ्रंशो विटचेष्टादर्शनवचनश्रवणादिभिः
साधूनां भवति, तुशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च, अवपाते तु–तत्रागमने पुनः इति गाथार्थः ॥११॥ तथा—'सासणे'त्यादि,
शासनगर्हा–प्रवचननिन्दा 'एवंप्राया एव ह्येते जैनाः ये वेश्यापाटकमद्यापणपाटकद्यूतखलकमत्स्यबन्धादिपाटकादिषु जिनायतनं
विधापयन्ती'त्येवंरूपा लोके–जनमध्ये, तथाऽधिकरणं–कलहो भवति कुत्सितानां–निन्द्यानां मद्यपप्रभृतीनां संपाते–समागमे
सति, ते हि निवार्यमाणाः कलहायोत्तिष्ठन्ते, तथा तत्रैवाज्ञादयः–आज्ञाभङ्गानवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषा भवन्ति, किंभूताः?–
संसारनिबन्धना–भवहेतवः घोरा–दारुणाः। इति गाथार्थः ॥१२॥ 'अकीला चे'त्युक्तं, तत्र सकीलायां दोषमाह—'कीलादी'-

धम्मत्थमुज्जएणं सव्वस्सापत्तियं ण कायव्वं । इय संजमोऽवि सेओ एत्थ य भयवं उदाहरणं ॥१४॥
सो तावसासमाओ तेसिं अप्पत्तियं मुणेऊणं । परमं अबोहिबीयं ततो गतो हंतऽकालेवि ॥१५॥

त्यादि, कीलादिशल्ययोगात्-शिवकांगारास्थिकप्रभृतिशल्यसम्बन्धात् भवन्ति-जायन्ते अनिर्वाणादयः-अनिवृत्त्यर्थहान्यर्थासिद्धि-
प्रभृतयः दोषा-दूषणानि, यस्मादेवं तस्मात् एतेषामनिवृत्त्यादीनामुक्तदोषाणां वर्जनार्थं-परिहारार्थं यत्नं-कुर्यात् इह-जिनभवनं
प्रति द्रव्यतो भूमिशुद्धौ छत्रविधिना तु-आगमनीत्यैवोक्तलक्षणया । इति गाथार्थः ॥१३॥ द्रव्यतो भूमिशुद्धिरुक्ता, अथ भाव-
ततामाश्रित्य यदुक्तं 'अप्रीतिकरहिते'ति तत्र कारणमाह—'धम्मे'त्यादि,धर्मार्थं-जिनभवनोद्देशेन कर्मक्षयनिमित्तं उद्यतेन-उद्यमं
कुर्वता सर्वस्य-समस्तस्य जघन्यादिजनस्य अप्रीतिकं-अप्रेम न कर्तव्यं-विधातव्यं, धर्मविरुद्धत्वादस्य,अप्रीतिनियोगाच्च जिनभव-
नविधानादिप्रवृत्ता दीर्घसंसारभाजनं भवन्तीत्यतोऽप्रीतिकरहिता भावतः शुद्धा भवति भूमिरिति हृदयं । न केवलं जिनभवनवि-
धिरूपं धर्ममिच्छता पराप्रीतिकं न कार्यं,किं तु इति-एवं अप्रीतिवर्जनेन संयमोऽपि-आश्रवनिरोधोऽपि,आस्तां जिनभवनं,श्रेयान्-
प्रशस्यः, अथ कथमयमर्थः सिद्ध इत्याह-अत्र च-इह पुनः पराप्रीतिपरिहारेण संयमस्य श्रेयस्त्वे प्रत्येतव्ये भगवान्महावीरः
उदाहरणं-ज्ञातं, उदाहरणप्रयोगश्चैवम्-ये संयमार्थिनस्ते पराप्रीतिकं न कुर्वन्ति, संयमार्थित्वादेव, यथा भगवान् । इति गाथार्थः
॥१४॥ एतदेव दर्शयन्नाह—'सो'इत्यादि, स भगवान् यः पूर्वगाथायामुदाहरणतयोक्तः तापमाश्रमात्-पाखंडिकविशेषनिवासात्
तेषां-तापसानां अप्रीतिकं-अप्रीतिं 'मुणेऊणं' ति ज्ञात्वा परमं-आत्यन्तिकं अबोधबीजं-सम्यग्दर्शनाभावहेतुं ततः-तस्मात् यत्र ताप-
साश्रमे वर्षावासः कर्तुमारब्धः गतो-निर्गतः, हन्तेति कोमलामंत्रणे प्रत्यवधारणे वा, अकालेऽपि-साधूनां विहारासमयेऽपि,

प्रावृषीत्यर्थः, अविहारकालश्चासौ, यदाह–"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण व पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए" तथा–
"दगसंघट्टणओ हरियतणाण च वीहिमाइसु। आयाविराहणाओ न जई वासासु विहरंति ॥१॥" काल एव किल गच्छन्तिः
माघत्र इत्यर्थसंसूचकोऽपिशब्द इत्यक्षरार्थः। भावार्थः कथानकगम्यः, तच्चेदम्–जिनः श्रीमान्महावीरो, चारित्रान्तरशात्रवः।
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, प्रव्रज्यां प्रतिपद्य च ॥१॥ निःसंगोऽतिमहासत्त्वः, सत्त्वानां रक्षणोद्यतः। ग्रामादिसंकुलां पृथ्वीं,छद्मस्थो
विहरन्नसौ ॥२॥ मथूराकाभिधं ग्रामं, संप्राप्तस्तत्र चाश्रयः। दूयमानाभिधानानां,पाखण्डिगृहिणामभूत् ॥३॥ तेषां कुलपतिर्मित्र-
मासीद्भगवतः पितुः। महावीरमसौ दृष्ट्वा, संभ्रमेण समुत्थितः ॥४॥ स्नेहादालिंगनार्थाय, श्रीजिनस्य ततो जिनः। बाहुं प्रसार-
यामास, तं प्रति प्राक्प्रयोगतः ॥५॥ सोऽवोचत्सन्ति वेश्मानि, योग्यान्यत्राश्रमे तव। ततः कुमार! तिष्ठ त्वमत्राथ जिननायकः
॥६॥ एकां तत्र स्थितो रात्रिमन्यत्र गतवांस्ततः। गच्छन्तं च जिनं स्नेहादवोचत्तापसाधिपः ॥७॥ यद्यत्र रोचते तुभ्यं, तदागत्य
निषीद्यताम्। वर्षारामो जनस्यास्यानुग्रहार्थं त्वया मुने!॥८॥ मासानष्टौ विहृत्याथ,तं ग्राममागमज्जिनः। उपागतासु वर्षासु,मठं चैकः
समाश्रितः॥९॥ प्रारंभे प्रावृषस्तत्राप्राप्नुवन्ति नवं तृणम्। गोरूपाणि मठानां तत्, प्रचखादुः पुरातनम् ॥१०॥ तापसा वारयन्ति स्म,
तानि ते दण्डपाणयः। भट्टारकः पुनस्तानि, निःसंगत्वादुपेक्षते ॥११॥ ततस्ते तापसाः स्वस्य, नायकस्य न्यवेदयन्। यथैष भवता-
श्रितो, गोभ्यो नावति नो मठम् ॥१२॥ ततः कुलपतिर्गत्वा, बभाण श्रीजिनं प्रति। कुमार! भो न युक्तं ते, मठस्योपेक्षणं यतः
॥१३॥ शकुन्तोऽपि निजं नीडं, रक्षत्येव यथाबलम्। ततो गावो निवार्यास्ते, नाशयन्त्यो मठं तकम् ॥१४॥ इत्येवं शिक्षयामास,
सपिपासमसौ जिनम्। ततः स्वामी तदप्रीतिं, ज्ञात्वा निर्गतवांस्ततः ॥१५॥ प्रावृषोऽतिगते पक्षे, अस्थिकग्राममाययौ। अप्रीतिपरि-

इय सव्वणाव सम्म सक्क अप्पत्तिय सइ जणस्स । णियमा परिहरियव्वं इयरंमि सतत्तचिंता उ ॥१६॥
कट्ठादीवि दलं इह सुद्धं ज देवतादुवचणाओ । णो अविहिणोवणीयं सयं च काराविगं जण्णो ॥१७॥

हाराय, यतेतैव यथा जिनः ॥ १६ ॥ इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ इदमेव निदर्शनमङ्गीकृत्योपदिशन्नाह—'इये'त्यादि,इति-एवं भगवतेवेत्यर्थः सर्वेणापि-समस्तेनापि जिनभवनादिविधानार्थिना संयमार्थिना च, न केवलमेकतरेणैवेत्यपिशब्दार्थः, अप्रीतिकं परिहर्तव्यमिति योगः, कथं?-सम्यग्-भावशुद्ध्या, किंभूतं तदित्याह-शक्यं-शक्यपरिहारत्वेन शकनीय, नाशकनीयमपि, तस्य परिहर्तुमशक्यत्वादेव,'अप्पत्तिय'ति अप्रीतिरेवाप्रीतिकं सकृत्-सदा जनस्य-लोकस्य नियमाद्-अवश्यंतया परिहर्तव्यं-वर्जनीयम्, इतरस्मिन्-अशक्यपरिहारेऽप्रीतिके स्वतत्त्वचिन्ता तु-स्वस्वभावपर्यालोचनमेव विधेयं, तथाहि-"ममैवायं दोषो यदपरभवे नार्जितमहो, शुभ यस्माल्लोको भवति मयि कुप्रीतिहृदयः। अपापस्यैव मे कथमपरथा मत्सरमयं, जनो याति स्वार्थं प्रति विमुखतामेत्य सहसा? ॥१॥" इति गाथार्थः ॥१६॥ व्याख्यात 'शुद्धा भूमि'रिति द्वार,अथ दलद्वारमधिकृत्याह-'कट्ठे'त्यादि, काष्ठादि-दारुपाषाणप्रभृतिकं, अपिशब्दस्योत्तरत्र सम्बन्धो, दलमपि-जिनभवनोपादानद्रव्य, अपिशब्दो भूम्यपेक्षया समुच्चयार्थः, इहेति-जिनभवनविधौ शुद्धं-अनवद्यं, किंविधमित्याह-यदिति दलं 'देवयादुवचणाउ'त्ति इहादिशब्दस्यान्यत्र दर्शनाद्देवतोपवनादेरिति द्रष्टव्यं, तेन देवतोपवनाद्-व्यन्तरकाननात्, आदिशब्दात्तद्भवनादिपरिग्रहः, तदानयने हि तस्याः प्रद्वेपसंभवाज्जिनायतनस्य तत्कारकादीनां च व्याघातसंभवादिति, नो-नैव उपनीत- उपहित तथाऽविधिना -द्विपदचतुष्पदानां शारीरादिसंतापजननद्वारेण तथा स्वयं च--आत्मना च कारित- वृक्षच्छेदेष्टकापचनादिभिर्निर्धापित यद्दलं नो -नैव तत् शुद्धमिति, उक्त च--"दलमिष्टकादि तदपि च शुद्धं

तस्सवि य इमो णेओ सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ। तक्कहगहणादिम्मी सउणेयरसण्णिवातो जो ॥१८॥
णंदादि सुहो सद्दो भरिओ कलसो य सुंदरा पुरिसा। सुहजोगाइ य सउणो कंदियसद्दादि इतरो उ ॥१९॥

तत्कारिवर्गतः क्रीतम्। उचितक्रयेण यत् स्यादानीतं चैव विधिना तु ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ अथ दलस्यैव शुद्धाशुद्धत्वपरिज्ञानोपायं दर्शयन्नाह—'तस्से'त्यादि, तस्य दलस्य, अपिचेतिशब्दाद् भूमेश्च, अयमेव वक्ष्यमाणः ज्ञेयः--ज्ञातव्यः शुद्धाशुद्धपरिज्ञानोपायो--निर्दोषसदोषत्वावगमहेतुः, तयोर्दलभूम्योः कथा च- ग्रहणाय पर्यालोचो ग्रहणं च- परतः स्वीकरणं तदादिर्यस्यानयनादेस्तत्तथा तत्र तत्कथाग्रहणादौ शकुनेतरसन्निपातः--साधकासाधकक्षुतादिनिमित्तसंबन्धो यः, स उपाय इति प्रकृतम्। इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ शकुनाशकुनयोरेव स्वरूपोद्देशमाह—'णंदे'त्यादि, नन्द्यादिः--नन्दीप्रभृति, तत्र नन्दी द्वादशतूर्यनिर्घोषः, तद्यथा—"भंभा मउंद मद्दल कदंब झल्लरि हुडुक्क कंसाला। वीणा वंसो पडहो संखो पणवो य बारसमो ॥ १ ॥" आदिशब्दाद् घंटाशब्दादिपरिग्रहः, शुभः-प्रशस्तः स्वतंत्र एव वा 'सिद्ध इन्द्र' इत्यादिः शास्त्रप्रसिद्धः, तथाहि—"सिद्धे इंदे चंदे सूर नरिंदे तहेव गोविंदे। सेल समुद्दे गय वसह सीह तह मेह सद्दे य ॥१॥" शब्दो--ध्वनिः, तथा भृतो—जलपरिपूर्णः कलशो-घटः अत्र-व्यतिकरे सुन्दराः-प्रशस्ताकारनेपथ्याः पुरुषा-नराः शुभयोगादि-प्रशस्तचेष्टाप्रभृति शुभचन्द्रनक्षत्रादि सम्बन्धादि वा चशब्दः समुच्चये शकुनो-विवक्षितार्थसिद्धिसूचकं निमित्तं, क्रन्दितशब्दादि-आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवचनप्रभृति पुनः इतरः-अशकुन इत्यर्थः, तुशब्दः पुनरर्थः, स च संबन्धित एवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥ दलगतमेव विधिशेषमाह—'सुद्धे'त्यादि, शुद्धस्यापि-शकुनसन्निपातेन निश्चितनिरवद्यत्वस्यापि, अशुद्धस्य ग्रहणमेव नास्तीति प्रतिपादनपरोऽपिशब्दः, गृहीतस्य-स्वीकृतस्य, दलस्येति प्रकृतं, कदा गृही-

सुद्धस्सवि गहियस्सा पसत्थदियहम्मि सुहमुहुत्तेणं । संकामणम्मिवि पुणो विण्णेया सउणमादीया ॥२०॥
कारवणेवि य तस्सिह भितगाणऽतिसंधणं ण कायव्वं । अवियाहिगप्पदाणं दिट्ठादिट्ठप्फलं एयं ॥२१॥
ते तुच्छगा वराया अहिगेण दढं उविंति परितोसं । तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहिगं पकुव्वंति ॥२२॥

तस्येत्याह-प्रशस्तदिवसे-नन्दादिकायां तिथौ शुभमुहूर्तेन-भद्रादिना शुभकालविशेषेण करणभूतेन संक्रामणेऽपि-गृहस्थानात्स्थानान्तरनयनेऽपि, न केवलं ग्रहण एव, पुनरपि-भूयोऽपीत्यर्थः विज्ञेया-ज्ञातव्याः निरूपणीया इत्यर्थः शकुनादयः-शकुनप्रभृतयः, आदिशब्दाच्छुभदिनादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥२०॥ गतं दलद्वारं, अथ भृतकानतिसन्धानद्वारं प्रतिपादयन्नाह—'कारे'त्यादि, कारापणे-विधापने, अपिचेत्यस्य समुच्चयार्थत्वाद्दलग्रहणानयनादावपिचेति व्याख्येयं, तस्य जिनभवनस्य इह द्रव्यस्तवाधिकारे भृतकानां-कर्मकराणां सूत्रधारादीनां अतिसन्धानं-वञ्चनं देयद्रव्यापेक्षया न कर्तव्यं-नैव विधेयं, अपिचेति विशेषप्रतिपादनार्थः, अधिकप्रदानं-प्रतिपन्नवेतनापेक्षया समर्गलतरद्रव्यवितरणं कर्तव्यमिति प्रक्रमः, यतो दृष्टादृष्टफलं-उपलभ्य(स्यानुपलभ्य) प्रयोजन एतदधिकप्रदानम् । इति गाथार्थः ॥२१॥ दृष्टफलप्रतिपादनायाह—'ते तुच्छगे'त्यादि, ते भृतकाः तुच्छकाः-अगंभीराः वराकाः-तपस्विनः यतोऽतः अधिकेन-प्रतिपन्नवेतनापेक्षया समर्गलेन द्रव्येण दत्तेनेति गम्यं दृढं-अत्यर्थं उपयान्ति-उपगच्छन्ति परितोषं-आनन्दं । ततः किमित्याह-तुष्टाश्च-हृष्टाः पुनः तत्र-चिकीर्षितजिनभवने कर्म-भृतकोचितव्यापारं ततः-अधिकदानानन्तरं अधिकदानं वा विना कृतं यत्कर्म ततः-तत्सकाशात् अधिकं-अर्गलं प्रकुर्वन्ति-विदधति इति गाथार्थः ॥२२॥ एवं तावदधिकदानस्य दृष्टफलसाधकतां प्रतिपाद्यादृष्टफलसाधकतां प्रतिपादनायाह—'धम्मे'त्यादि, धर्मप्रशंसया-जिनशासन-

धम्मपसंसाएँ तहा केइ णिबंधंति बोहिबीयाइं । अण्णे उ लहुयकम्मा एत्तो च्चिय संपबुज्झंति ॥२३॥
लोगे य साहुवाओ अतुच्छभावेण सोहणो धम्मो । पुरिसुत्तमप्पणीतो पभावणा चेव तित्थस्स ॥२४॥
सासयवुड्ढीवि इहं भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिण्णाए । तब्बिंबठावणत्थं सुद्धपवित्तीएँ णियमेण ॥२५॥

श्लाघया तथेत्यधिकदानोद्भवसन्तोषप्रभवया केचिद्-एके भृतकाः तदन्ये वा भृतकविषयाधिकदानदर्शनावर्जितहृदयाः निबध्नन्ति-उपार्जयन्ति बोधिबीजानि-सम्यग्दर्शनकारणानि । अन्ये तु-बोधिबीजबन्धकेभ्योऽपरे पुनर्भृतकास्तद्दानदर्शिनो वा लघुकर्माणो-बोधिबीजबन्धकापेक्षयाऽल्पावरणाः इत एव-अधिकदानात् संप्रबुध्यन्ते-सम्यग्बोधमुपयान्ति, इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ 'लोगे'त्यादि, लोके-शिष्टजने चशब्दो गुणान्तरसमुच्चये साधुवादो-वर्णवादो भवति, केनेत्याह-अतुच्छभावेन-उदाराशयेन जिनभवनकारयितृगतेन करणभूतेन, किंभूतः साधुवाद इत्याह-शोभनः-प्रधानः उदारत्वाज्जैनानां धर्मो जिनप्रवचनरूपः पुरुषोत्तमप्रणीतः-उत्तमपुरुषगदितः तथा प्रभावना-उद्भावना चः समुच्चये एवं-अनेन न्यायेन अनुस्वाराश्रवणं नेह गाथानुलोम्यात् तीर्थस्य-जिनप्रवचनस्य भवति । इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ उक्तं भृतकानतिसन्धानद्वारं, अथ स्वाशयवृद्धिद्वारमाह—स्वाशयवृद्धिरपि-कुशलपरिणामवर्धनमपि, न केवलं भृतकानतिसन्धानमित्यपिशब्दार्थः,इह-जिनभवनविधाने भवतीति गम्यं,कथमित्याह-भुवनगुरुजिनेन्द्रगुणपरिज्ञया-त्रिलोकगौरवजिनेश्वरसर्वज्ञत्वसंसारकान्तारोत्तारणसामर्थ्यादिगुणपरिज्ञानेन करणभूतेन तद्बिम्बस्थापनार्थं-जिनेन्द्रप्रतिमाप्रतिष्ठानिमित्तं या शुद्धप्रवृत्तिः-निरवद्यक्रिया तस्याः शुद्धप्रवृत्तेः सकाशात् नियमेन-नियोगेन। इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ तथा 'पेच्छिस्स'मित्यादि, प्रेक्षिष्ये-द्रक्ष्यामि अत्र-जिनभवने अहमित्यात्मनिर्देशो वन्दन-

पेच्छिउस्सं इत्थमहं चंदणगाणामित्तमागए साहू। कयपुण्णे भगवंते गुणरयणणिही महासत्ते ॥ २६ ॥
पडिबुज्झिस्संति इहं दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं। अण्णेवि भव्वसत्ता काहिंति ततो परं धम्मं ॥२७॥
ता एयं मे वित्तं जमेत्थमुवओगमेति अणवरयं। इय चिंताऽपरिवडिया सासयवुड्ढी उ मोक्खफला ॥२८॥
जयणा य पयत्तेणं कायव्वा एत्थ सव्वजोगेसु। जयणा उ धम्मसारो जं भणिया वीयरागेहिं ॥२९॥

कनिमित्तं-चैत्यवन्दनार्थं आगतान्-आयातान् स्थानान्तरेभ्यः साधून्-मुनीन् कृतपुण्यान्-उपार्जितशुभकर्मणः भगवतः-परमेश्वरान् गुणरत्ननिधीन्-ज्ञानादिमाणिक्यनिधानानि महासत्त्वान्-सत्त्वाधिकान्। इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ तथा 'पडिबु'इत्यादि, प्रतिभोत्स्यन्ते-बोधिं लप्स्यन्ते इह जिनभवने दृष्ट्वा-आलोक्य जिनेन्द्रबिंबं-वीतरागप्रतिमां अकलंकं-शस्त्रादिकलंकरहितं अन्येअसत्तोऽपरे, अहं तु प्रतिबुद्ध एवेत्यपिशब्दार्थः, भव्यसत्त्वा-मुक्तियोग्यजीवाः करिष्यन्ति-विधास्यन्ति ततः परं-प्रतिबोधकालात्परतः धर्मं-कुशलानुष्ठानम्। इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ ततः किमित्याह—'ता'इत्यादि, यस्मादिह जिनभवने सति तद्बिंबस्थापनं साधुदर्शनं भव्यप्रतिबोधश्च भविष्यति तत्-तस्माद्धेतोः एतद्-इदमेव,अवधारणं च काकुपाठात्, मे-मदीयं वित्तं द्रव्यं, अन्यत्परमार्थतः परकीयमेव, यत् किंविधमित्याह-यदत्र-जिनभवने उपयोगं-विनियोगं एति-याति अनवरतं-सततं इत्येवंप्रकारा चिन्ता-विकल्पः अप्रतिपतिता-अविच्छिन्ना, किमित्याह-शाश्वतवृद्धिः-कुशलपरिणामवर्धन, भवतीति गम्यं, तुशब्द एवकारार्थः, उत्तरत्र संबन्धोऽस्य,सा च मोक्षफला-सिद्धिप्रयोजनैव। इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्तं स्वाशयवृद्धिद्वारं, अथ यतनाद्वारमाह—'जयणे'त्यादि, यतना च-जलगालनादिजीवरक्षणोपायविशेषलक्षणा चशब्दः स्वाशयवृद्ध्यपेक्षया समुच्चयार्थः प्रयत्नेन-

जयणा उ धम्मजणणी जयणा धम्मस्स पालणी चेव । तव्वुड्ढिकरी जयणा एगंतसुहावहा जयणा ॥३०॥

जयणाए वट्टमाणो जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं । सद्धाबोहासेवणभावेणाराहगो भणितो ॥ ३१ ॥

एसा य होइ णियमा तदहिगदोसविणिवारणी जेण । तेण णिवित्तिपहाणा विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥३२॥

अत्यादरेण कर्तव्या-विधेया अत्र-जिनभवनविधौ सर्वयोगेषु-समस्तव्यापारेषु दलानयनभूशोधनभित्तिचयनादिषु,कस्मादेवमित्याह-यतना तु-यथाशक्ति जीवरक्षैव धर्मसारो-धर्मोत्कर्षः यद्-यस्मात् भणितो वीतरागैः-अर्हद्भिः । इति गाथार्थः ॥२९॥ अथ यतनाया धर्मसारतामेव समर्थयन्नाह-'जयणा उ'इत्यादि,यतना तु-यथाशक्ति जन्तुरक्षणोपाय एव धर्मजननी-कुशलमाता,तथा यतनैव धर्मस्य पालनी,जनितस्य सतः पुत्रस्येवापायेभ्यो रक्षिका, चशब्दः समुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः तस्य च संबन्धः प्रागेव दर्शितः, तद्वृद्धिकरी-धर्मोपचयकरणशीला यतना,मातेव पुत्रस्य, किं बहुनोक्तेन ?, एकान्तेन सर्वथैव सुखावहा--शर्मप्रापिका एकान्तसुखावहा एकान्तसुखं वा-सिद्धिसुखं तदावहा यतना उक्तलक्षणा,इह च यतनाशब्दस्य पुनः पुनरुपादानं न दुष्टं,आदरकृतत्वात्, आह च-"वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निन्दन् । यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥१॥"इति गाथार्थः ॥३०॥ तथा-'जयणाई'त्यादि,यतनया करणभूतया वर्तमानो-व्याप्रियमाणो विधियोगेषु यतनायां वा वर्तमानः जीवो-जन्तुः सम्यक्त्वज्ञानचरणानां मोक्षपथानां क्रमेण श्रद्धाबोधासेवनानां-रुच्यवगमानुष्ठानानां यो भावः-सद्भावः स तथा तेन, यतनायाः श्रद्धाभावेन सम्यक्त्वस्य बोधभावेन ज्ञानस्य आसेवनभावेन चरणस्य आराधकः-साधकः भणितः-अभिहितः, जिनैरिति गम्यते। इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ नन्वस्याः कथञ्चिदारंभरूपत्वात्कथमनया वर्तमानस्य चरणाराधकत्वं ?,निवृत्तिरूपत्वाच्चरणस्येत्याशंक्याह-

सा इह परिणयजलदलविसुद्धिरूवा उ होइ णायव्वा । अण्णारंभणिवित्तीएँ अप्पणाऽहिट्ठणं चेवं ॥ ३३ ॥
एवं च होइ एसा पवित्तिरूवावि भावतो णवरं । अकुसलणिवित्तिरूवा अप्पबहुविसेसभावेणं ॥ ३४ ॥

'एसे'त्यादि, एषा च-इयं पुनर्यतना भवति-जायते नियमाद्-अवश्यंतया तदधिकदोषविनिवारिणी-तस्माद्-यतनागतारंभदोषादधिको-बहुतरो यो दोषः-आरंभान्तररूपस्तं विनिवारयतीति तदधिकदोषविनिवारिणी येन-यस्मात्कारणात् तेन-तस्मात्कारणात् निवृत्तिप्रधाना-आरंभान्तरनिवर्तनसारा विज्ञेया-ज्ञातव्या इति बुद्धिमद्भिः-पंडितैः एषा । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ तामेव स्वरूपेण दर्शयन्नाह—'सा'इत्यादि, सा पुनर्यतना इह-जिनभवनविधाने, अन्यत्र पुनरन्यादृश्यपि, परिणतं-प्रासुकं यज्जलं-पानीयं दलं च-दार्वादि तयोर्या विशुद्धिः-अत्रसवत्ता त्रसरहितत्वादिलक्षणा सैव रूपं-स्वभावो यस्याः सा परिणतजलदलविशुद्धिरूपा, तुशब्दः पुनरर्थः स च सा पुनरित्येवं संबंधित एव अवधारणार्थो वाऽयं तेन एवंविधैव नान्यरूपा भवति-वर्तते ज्ञातव्या-ज्ञेया । तथाऽन्यारंभनिवृत्त्या-कृष्याद्यारंभत्यागेन आत्मना-स्वयमेव अधिष्ठानं-जिनभवनारंभाणामध्यासनं एवं च-एषा यतना भवति ज्ञातव्येति प्रकृतं, जिनभवनारंभाणां हि स्वयमधिष्ठायकः प्रतिपन्नो यथोचितं जीवान् रक्षयन् कर्मकरांस्तदारंभेषु वर्तयति, निरधिष्ठायकास्तु ते यथाकथञ्चिदेषु प्रवर्तन्ते इत्यात्माधिष्ठायकत्वं यतना । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ 'निवृत्तिप्रधाना यतने'ति यदुक्तं तदेव समर्थयन्नाह—'एव'मित्यादि, एवं च-अनेन पुनः प्रकारेण परिणतजलाद्याश्रयणजिनभवनारंभाधिष्ठायकत्वलक्षणेन भवति-जायते एषा-यतना प्रवृत्तिरूपाऽपि सती, आस्तामप्रवृत्तिरूपा, भावतः-परमार्थेन, नवरं-केवलं अकुशलनिवृत्तिरूपा-सपापारंभोपरमणस्वभावा, ननु यतनायामपि अल्पीयसां पृथिव्याद्यारंभाणां विद्यमानत्वात् कथमकुशलारंभनिवृत्तिरूपाऽसावित्याह-'अप्पबहु-

एत्तो चिय णिद्दोसं सिप्पादिविहाणमो जिणिंदस्स। लेसेण सदोसंपि हु बहुदोसनिवारणत्तेण ॥ ३५ ॥
वरबोहिलाभओ सो सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं। एगंतपरहियरतो विसुद्धजोगो महासत्तो ॥ ३६ ॥
जं बहुगुणं पयाणं तं णाऊणं तहेव दंसेइ। ते रक्खंतस्स ततो जहोचितं कह भवे दोसो? ॥ ३७ ॥ युग्मम्।

विसेसभावेणं'ति इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनादल्पत्वबहुत्वलक्षणो यो विशेषो-परस्परभेदो जिनभवनविषयाणां यतनारंभाणां तदन्यारंभाणां च तयोर्यो भावः-सद्भावः स तथा तेनाल्पबहुविशेषभावेन, इदमुक्तं भवति-जिनभवनारंभाणामल्पदोषाणामाश्रयणेन तदन्येषां बहुदोषाणां त्यागादकुशलनिवृत्तिरूपा यतना भवतीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ ननु आदिदेवस्य सकलकलाव्यवहार-प्रवर्तनमयुक्तं भूतोपघातरूपत्वादित्येवं पूर्वपक्षं जिनभवनयतनाद्वारप्रसंगेन परिहरन्नाह—'एत्तो'इत्यादि, 'एत्तो च्चिय'त्ति यतोऽल्पबहुत्वविशेषभावेनाकुशलनिवृत्तिरूपा जिनायतनयतना भवति अत एव कारणात् निर्दोषं-निरवद्यं शिल्पादिविधानं-शिल्पकलाराजनीतिप्रभृतिपदार्थोपदर्शनं 'ओ' इति निपातः जिनेन्द्रस्य-नाभिनन्दनस्य, किंभूतं तदित्याह-लेशेन-मात्रया सदोषमपि-सावद्यमपि, निर्दोषमेवेत्यपिशब्दार्थः, हुशब्दोऽलङ्कृतौ, केन कारणेनेत्याह-बहुदोषनिवारणत्वेन-अन्योऽन्यहननधनहरणाद्यनेकासद्व्यवहारनिषेधकतया। इति गाथार्थः ॥३५॥ भगवतः शिल्पादिविधाने निर्दोषतामेव समर्थयन्नाह—'वरे'त्यादि, वरः-प्रधानोऽप्रतिपातित्वाद् बोधिलाभः-सम्यग्दर्शनावाप्तिर्यस्य स वरबोधिलाभको वरबोधिलाभाद्वा हेतोः स जिनः, किमित्याह-सर्वोत्तमपुण्यसंयुतः-अत्यन्तप्रकृष्टतीर्थकरनामादिप्रशस्तशुभकर्मसंयुक्तः तथा भगवान्-परमेश्वरः तथैकान्तपरहितरतः-सर्वथा परोपकारनिरतः तथा विशुद्धयोगो-निरवद्यमनोवाक्कायव्यापारः तथा महासत्त्वः-उत्तमसत्त्व इति ॥ ततः किमित्याह-'जं बहु'इत्यादि, यच्छिल्पादि बहुगु-

तत्थ पहाणो अंसो बहुदोसनिवारणाउ जगगुरुणो। नागादिरक्खणे जह कड्ढणदोसेवि सुहजोगो ॥ ३८ ॥
खड्डातडम्मि विसमे इट्ठसुयं पेच्छिऊण कीलंतं। तप्पच्चवायभीया तदाणणट्ठा गया जणणी ॥ ३९ ॥

णं-प्रधृ तोपकारं किंचिद्बहुगपि प्रजानां-लोकानां तच्छिल्पादिकं ज्ञात्वा-अवगम्य तथैव-यथालोकोपकारं दर्शयति-प्रकाशयति'ते'त्ति तान् प्रजाशब्दपर्यायान् लोकान् रक्षतो-बहुतरानर्थेभ्यः पालयतः ततः शिल्पादिप्रकाशनात् यथोचितं-औचित्येन, उचितं चात्र-स्यवेद्यशुभवेदनीयचारित्रमोहादिकर्मोदये वर्तमानस्य कलादिदर्शनत एव प्राणिसंरक्षणं, ततः निरतिप्रतिपत्तौ तु संयमः, ज्ञानोत्पत्तौ च तीर्थप्रवर्तनादि चेति, कथं?-केन प्रकारेण भवेत्-जायेत दोषो-दूषणं?, न कथञ्चिदित्यर्थः। इति गाथाद्वयार्थः ॥३६॥३७॥
ननु शिल्पादिविधानेऽप्यारम्भदोषो दृष्ट एवास्ति, अतः कथं तत्र न दोष इत्याशङ्क्याह—'तत्थे'त्यादि, तत्र शिल्पादिविधाने प्रधानः-प्रवरोऽपेक्षणीय इत्यर्थः अंशः-अवयवः, किंरूपो?-बहुदोषनिवारणाद्-अन्योऽन्यवधादिलक्षणप्रभूतदूषणनिषेधनेनैव जगद्गुरोः-भुवननायकस्य स्यात्, आरम्भदोषेऽपि भगवतः शुभ एव योग इति हृदयं। एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति-नागादिरक्षणे-सर्पादिभ्यः पुत्रादेरवने यथा-यद्वत् कर्षणं-पुत्रादेराकर्षणं तदेव तस्मिन् वा दोषो-दूषणं शरीरघर्षणादिः कर्षणादोषः तत्र कर्षणदोषेऽपि सति, आस्तां दोषाभावे, शुभयोगो-मात्रादेः शोभन एव व्यापारः। इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ नागादिरक्षणज्ञातमेवाह—'खड्डे'-त्यादि, गर्ततटे-श्वभ्रतटवां, किंविधे?-विषमे-निम्नोन्नतादिरूपे इष्टसुतं-वल्लभपुत्रं प्रेक्ष्य-दृष्ट्वा क्रीडन्तं-रममाणं तत्प्रत्यपायभीता-गर्तपातरूपपुत्रानर्थचकिता तदानयनार्थं-पुत्रानयनार्थं गता-प्रस्थिता जननी-माता इति ॥ 'दिट्ठो' इत्यादि, ततो दृष्टः-अवलोकितः तः [illegible] तया जनन्या नागो-भुजगः तं प्रति 'एन्तो'त्ति आयन्-आगच्छन् द्रुतस्तु-शीघ्रगतिरेव 'खड्डाए'त्ति गर्ताभिमुखं 'तो'त्ति

दिट्ठो य तीएँ णागो तं पति एंतो सुतो उ खड्डाए। तो कड्ढितो तगो तह पीडाइवि सुद्धभावाए ॥४०॥युग्मम्।
एयं च एत्थ जुत्तं इहराऽहिगदोसभावतोऽणत्थो। तप्परिहारेऽणत्थो अत्थो चिय तत्तओ णेओ ॥ ४१ ॥
एव निवित्तिपहाणा विण्णेया भावओ अहिंसेयं। जयणावओ उ विहिणा पूजादिगयावि एमेव ॥ ४२ ॥

ततो-नागदर्शनानन्तरं 'कड्ढिओ'त्ति कृष्टः-आकृष्टः तकः-पुत्रकः तथा पीडायामपि-आकर्षणजनितदेहसमुत्थवेदनायामपि संभवन्त्यां,पीडासंभवे चानाकर्पणीयतासूचनार्थोऽपिशब्दः,शुद्धभावया-उपकारकरणाध्यवसायोपेतया। इति गाथाद्वयार्थः ॥३८॥३९॥ ॥ ४० ॥ दृष्टान्तार्थस्यैव निरवद्यतां दर्शयन्नाह—'एय'मित्यादि, एतच्च एतत्पुनः पीडयाऽपि पुत्राकर्षणं अत्र जननीज्ञाते युक्तं-संगतं, इतरथा-पुत्रस्याकृष्यमाणस्य पीडा भविष्यतीत्यनाकर्षणे अधिकदोषभावतः-आकर्षणजन्यपीडापेक्षया समर्गलतरस्य सर्पभक्षणजन्यपीडालक्षणस्य दूषणस्य सद्भावात् अनर्थः-सुतमरणलक्षणोऽपायः, तस्यानर्थस्य सुतमरणलक्षणस्य परिहारो-वर्जनं तत्परिहारस्तत्र योऽनर्थो-घर्षणेन पीडोत्पत्तिलक्षणः सोऽर्थ एव-गुण एव तत्त्वतः-परमार्थतो, मरणलक्षणमहादोषरक्षणतः, ज्ञेयो-ज्ञातव्यः। अथवा दार्ष्टान्तिकमर्थमाश्रित्येयं गाथा व्याख्येया, तत्र 'एयं चे'ति भगवतः शिल्पादिविधानं, शेषं तथैव। इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ अथ यतनाद्वारं निगमयन्नाह—'एवे'त्यादि, एवं -उक्तेन प्रकारेणानन्तरोक्तदृष्टांतलक्षणेन निवृत्तिप्रधाना-बहुतरसत्त्वघातनिवर्तनसारा यतो विज्ञेया-ज्ञातव्या भावतः-परमार्थतः अहिंसा-हिंसानिवृत्तिरिति इयमिति-प्रक्रमाज्जिनभवनविषया प्रवृत्तिः, किं सर्वस्यैव?, नेत्याह-यतनावतस्तु-यतनावत एव, नान्यस्य, तथा विधिना-भूमिशुद्ध्यादिलक्षणेन,नान्यथा, अथ किं जिनभवनविषयप्रवृत्तिरेव बहुतरसत्त्वघातनिवृत्तिप्रधानत्वादहिंसेति ज्ञेया उतान्याऽपीत्याशंक्याह-पूजादिगताऽपि-जिनार्चनयात्रा-

णिप्फाइऊण एवं जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं । विहिकारियमह विहिणा पइट्ठवेज्जा लहुं चेव ॥ ४३ ॥
एयस्स फलं भणियं इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स। चित्तं सुहाणुबंधं णिव्वाणंतं जिणिंदेहिं ॥ ४४ ॥
जिणबिंबपइट्ठावणभावज्जियकम्मपरिणतिवसेणं । सुगतीइ पइट्ठावणमणहं सदि अप्पणो चेव ॥ ४५ ॥

प्रभृतिविषयाऽपि, न केवलं जिनभवनविषया, प्रवृत्तिरिति गम्यं, एवमेव-एवंप्रकारैवाहिंसैवेत्यर्थः, अथवा पूर्वार्धेन भगवतः शिल्पादिषु प्रवृत्तेरहिंसात्वमुक्तं, उत्तरार्धेन तु जिनभवनप्रवृत्तेः,पूजादीत्यादिग्रहणेन जिनभवनग्रहणात् इति गाथार्थः ॥४२॥ उक्तं यतनाद्वारं, तदुक्तौ चोक्तो जिनभवनकारणविधिः, अथ तदुत्तरविधिमाह—'णिप्फे'त्यादि, निष्पाद्य-निर्माप्य एवं-अनन्तरोक्तविधिना जिनभवनं प्रतीतं ततः सुन्दरं-शोभनं तत्र जिनभवने बिंबं-प्रतिमां प्रक्रमाज्जिनस्यैव विधिकारितं-शास्त्रनीतिविधापितं अथ-अनन्तरं विधिना-शास्त्रनीत्या प्रतिष्ठापयेत् लघु-शीघ्रमेव, यदुक्तं-"निष्पन्नस्यैवं खलु जिनबिंबस्योदिता प्रतिष्ठा तु। दशदिवसाभ्यन्तरतः (तच्चयनं स्फातिमद्भवति)॥१॥ "इति,चैवेत्यवधारणार्थः। इति गाथार्थः ॥४३॥ अथ जिनभवनकारणविधेः फलोपदर्शनार्थमाह-'एये'त्यादि,एतस्य-समस्तस्य जिनभवनविधानस्य फलं-प्रयोजनं भणितं-उक्तं इति-एवमुक्तनीत्या आज्ञाकारिणस्तु-आप्तोपदेशविधायिन एव श्राद्धस्य-श्रद्धावतः श्रावकस्येत्यर्थः चित्रं-विचित्रं देवमनुजजन्मसु तथाविधाभ्युदयरूपं शुभानुबन्धं-अविच्छिन्नकल्याणसंतानं निर्वाणान्तं-मुक्तिपर्यवसानं जिनेन्द्रैः-सर्वज्ञैः। इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ एतदेव विभागेनाह—'जिणे'त्यादि, जिनबिंबप्रतिष्ठापनं-अर्हत्प्रतिमास्थापनं तस्मिन् यो भावः-स्वाशयवृद्धिरूपः "सासयवुड्ढीवि इहं भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिण्णाए। तब्बिंबठावणत्थं सुद्धपवित्तीइ नियमेणं ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथाभिहितः तेन यदर्जितं-उपात्तं कर्म पुण्यानुबन्धि-

तत्थवि य साहुदंसणभावज्जियकम्मतो उ गुणरागो। काले य साहुदंसणमहक्कमेणं गुणकरं तु ॥ ४६ ॥
पडिबुज्झिस्संतऽन्ने भावज्जियकम्मओ य पडिवत्ती। भावचरणस्स जायति एगंतसुहावहा णियमा॥ ४७॥

पुण्यरूपं तस्य या परिणतिः-विपाकः तस्या यो वशः-सामर्थ्यं स तथा तेन जिनबिंबप्रतिष्ठापनभावार्जितकर्मपरिणतिवशेन, किमित्याह-सुगतौ-देवगत्यादौ प्रतिष्ठापनं-व्यवस्थापनं अनघं-अनवद्यं तत्कालीनदोषागामिदोषागोचरत्वात् असकृत्-सदा, कस्येत्याह-आत्मन एव-स्वजीवस्यैव भवति। इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ तथा—'तत्थे'त्यादि,तत्रापि च-स्वस्य सुगतिप्रतिष्ठानेऽपि च, पूर्वकाले गुणराग आसीदेवेत्यपिशब्दार्थः, साधुदर्शने-मुनिजनावलोकने यो भावः-अध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव "पेच्छिस्सं एत्थ अहं वंदणगनिमित्तमागए साहू। कयपुण्णे भगवंते गुणरयणनिही महासत्ते॥१॥" इति प्रागुक्तगाथोक्तः,तेन यदुपार्जितं कर्म-पुण्यरूपं तत्तथा तस्मात् साधुदर्शनभावार्जितकर्मतः तुशब्दः पुनरर्थः गुणरागो-गुणपक्षपातो भवति, स्वरूपेणैव, ततः काले च-अवसरे पुनः साधुदर्शनं-मुनिपुंगवावलोकनं तत एव जायते, किंभूतं?-यथाक्रमेण-यथापरिपाटि अथवा अथ-अनन्तरं क्रमेण-परिपाट्या गुणकरं तु-गुणकरणशीलमेव। इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ 'पडी'त्यादि, प्रतिभोत्स्यन्ते-बोधि लप्स्यन्ते अन्ये-जिनभवनविधायकापेक्षयाऽपरे इत्यादिरूपो यो भावः-अध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव "पडिबुज्झिस्संति इहं दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं। अन्नेवि भव्वसत्ता काहिंति तओ परं धम्मं॥२॥" इति प्रागुक्तगाथोक्तः,तस्मात्तदर्जितं कर्म-कुशलानुबन्धिपुण्यस्वरूपं तत्तथा तस्मात् प्रतिभोत्स्यन्तेऽन्येभावार्जितकर्मतः सकाशात् चशब्दः पुनरर्थः प्रतिपत्तिः-अभ्युपगमः भावचरणस्य-पारमार्थिकचारित्रस्य जायते-भवति एकान्तसुखावहा-मोक्षशर्मावहा, अव्यभिचारतो वा सुखावहा, नियमात्-अवश्यं-

अपरिवडियसुहचिंताभावज्जियकम्मपरिणतीए उ। गच्छति इमीइ अंतं ततो य आराहणं लहइ ॥ ४८॥
णिच्छयणया जमेसा चरणपडिवत्तिसमयतो पभिति। आमरणंतमजस्सं संजमपरिपालणं विहिणा ॥ ४९ ॥
आराहगो य जीवो सत्तट्ठभवेहिँ पावती णियमा। जंमादिदोसविरहा सासयसोक्खं तु णिव्वाणं ॥ ५० ॥

॥ जिणभवणकारणविही समत्ता ॥ ७॥

तया। इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥'अपरी'त्यादि, अप्रतिपतिता-स्थिरा या शुभचिन्ता-प्रशस्तानुचिन्तनं स्वाशयवृद्धिरूपा 'ता एयं मे वित्त जमेत्थमुवओगमेइ अणवरयं। इय चिंताऽपरिवडिया सामयबुद्धी उ मोक्खफला ॥२॥' इति प्रागुक्तगाथाऽभिहिता तल्लक्षणो यो भावः तेनार्जितं यत्कर्म-कुशलरूपं तस्य या परिणतिः सा तथा तस्याः अप्रतिपतितशुभचिन्ताभावार्जितकर्मपरिणतेः सकाशात् तुशब्दः पुनरर्थः गच्छति-याति अस्याः-चरणप्रतिपत्तेः अन्तं-अवसानं, अप्रतिपतितां पालयतीत्यर्थः, ततः-चरणप्रतिपत्त्यन्तगमनात् पुनः आराधना-चरणाराधकत्वं लभते-प्राप्नोति, विशुद्धचरणाधको भवतीत्यर्थः, अप्रतिपतितचरणस्यैव हि चरणाराधना भवति। इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ एतदेव दर्शयन्नाह—'णिच्छये'त्यादि, निश्चयनयात्-नयविशेषमतेन, व्यवहारनयात् मरणावसरचरणासेवनमात्रमाराधनेत्यभिप्रायेण निश्चयनयादित्युक्तं, यद्-यस्मात् एषा प्रागुक्ताराधना भवति, कुतः कथं [illegible]-चरणप्रतिपत्तिसमयतः-चारित्राभ्युपगमकालात् प्रभृति-तदादितः आमरणान्तं-मृत्युलक्षणावसानं यावत्, न पुनस्तदारात्, [illegible]-अनवरतं संयमपरिपालनं-अहिंसाद्याराधनं विधिना-आगमोक्तन्यायेन, अतस्तदन्ते आराधनां लभते इति युक्तमुक्तं। इति [illegible] ॥ ४९ ॥ यद्याराधनां लभते ततः किं स्यादित्याह—'आराहे'त्यादि, आराधकश्च-ज्ञानाद्याराधनावान् चशब्दः पुनरर्थः

जीवः-प्राणी सप्ताष्टभवैः-सप्तभिरष्टाभिर्वा जन्मभिरित्यर्थः, इदं च जघन्यामाराधनामाश्रित्योक्तं, अन्यथा तद्भव एव कश्चित् सिध्यतीति, एते च सप्ताष्टौ वा भवा आराधना(भव)युक्ता द्रष्टव्याः,इतरथा तु सप्तैव प्राप्नुवन्तीति,आराधकस्य मनुष्येष्वनुत्पादा-दिति,प्राप्नोति-लभते नियमाद्-अवश्यंतया, कुतः किंविधं किमित्याह-जन्मादिदोषविरहाद्-जातिजरामरणप्रभृतिदूषणवियो-गात्, एतच्च पदं शाश्वतसौख्यमित्यनेन प्राप्नोतीत्यनेन वा संबन्धनीयं, शाश्वतसौख्यं तु-नित्यसुखमेव, न तु स्वास्थ्यमात्रं, निर्वाणं-निर्वृतिं। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ ॥जिनभवनविधिप्रकरणं वृत्तितः समाप्तम् ॥ ७ ॥

॥ अथाष्टमपञ्चाशकवृत्तिः ॥

नमिऊण देवदेवं वीरं सम्मं समासओ वोच्छं। जिणबिंबपइट्ठाए विहिमागमलोयणीतीए ॥ १ ॥

जिणबिंबस्स पइट्ठा पायं काराविंयस्स जं तेण। तक्कारवणंमि विहिं पढमं चिय वण्णिमो ताव ॥ २ ॥

उक्तो जिनभवनविधिः,जिनभवनं च जिनबिम्बाध्यासितमेव भवतीति तद्बिम्बप्रतिष्ठाविधिं प्रतिपिपादयिषुर्मंगलादिप्रति-पादनायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा-प्रणम्य देवदेवं-पुरन्दरादिदेवानामाराध्यं वीरं-वर्धमानस्वामिनं सम्यग्-भावशुद्ध्या, वक्ष्य इत्येतत्क्रियाया वेदं विशेषणं, ततश्च सम्यग्-अवैपरीत्येन, समासतः-संक्षेपेण वक्ष्ये-अभिधास्ये जिनबिंबप्रतिष्ठायाः प्रतीतायाः विधिं-विधानं आगमलोकनीत्या-जिनप्रवचनन्यायेन लौकिकन्यायेन चेत्यर्थः,लोकग्रहणेन चेदं दर्शयति-लोकनीतिरपि क्वचि-ज्जिनमताविरुद्धाऽऽश्रयणीया, अत एव प्रासादादिलक्षणं तदुक्तमप्याभीयते। इति गाथार्थः ॥ १ ॥ जिनबिंबस्याकारितस्य प्रतिष्ठा

सोऊं णाऊण गुणे जीणाण जायाए सुद्धबुद्धीए। किच्चमिणं मणुयाणं जम्मफलं एत्तियं चेव एत्थ ॥ ३ ॥
गुणपगरिसो जिणा खलु तेसिं बिंबस्स दंसणंपि सुहं। कारावणेण तस्स उ अणुग्गहो अप्पणो परमो ॥४॥

न भवतीति तत्कारणविधिमभिधित्सुस्तत्प्रस्तावनायाह—'जिणे'त्यादि, जिनबिंबस्य-जिनप्रतिमायाः प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठापना प्रायः-प्रायेण, प्रायोग्रहणं चाकारितस्यापि स्वयंकृतस्य क्रीतस्य च प्रतिष्ठा भवतीति प्रतिपादनार्थं, यदिति-यस्माद्धेतोः तेन-तस्मात् 'तक्कारवणंमि'त्ति जिनबिंबविधापने विधिं-कल्पं प्रथममेव-पूर्वमेव प्रतिष्ठाभिधानात् वर्णयामो-भणामः तावदिति प्रक्रमार्थः। इति गाथार्थः ॥२॥ अथ बिंबकारणविधिमेवाभिधित्सुस्तत्प्रवर्तकशुद्धबुद्धिस्वरूपं तावद् गाथाचतुष्केणाह-'सोउ'मित्यादि, 'गुणे-त्यादि, 'मोक्खे'त्यादि 'तग्गुणे'त्यादि च, श्रुत्वा-गुरुणाऽभिधीयमानानाकर्ण्य तथा ज्ञात्वा-अवगम्य,कान् ?-गुणान्-रागादि-वैरिवारविदारणप्रवचनप्रवर्तनादीन्, केषां ?-जिनानां-अर्हतां जातायां-प्राप्तायां सत्यां,भूतायामित्यत्र पुनर्व्याख्याने एककर्तृ-कत्वाभावात् क्त्वाप्रत्ययस्यानुपपत्तिः स्यादिति प्राप्तायामिति व्याख्यातं, अथवा गुणगुणिनोर्बुद्धिजीवयोरभेदात् श्रवणज्ञानक्रिया-पेक्षया बुद्धिजननक्रियाया एककर्तृकत्वमेवेति ततो जातायां-उत्पन्नायां शुद्धबुद्धौ-निर्मलबोधे, किमित्याह-कृत्यं-विधेयं इदं जिनबिंबं मनुजानां-नृणां तथा जन्मफलं-जननसाध्यं एतावदेव, नाधिकं,अत्र-मनुष्यभवे ॥ ३ ॥ तथा गुणप्रकर्षो-गुणातिशयः-जिना एव-अर्हन्त एव, धर्मधर्मिणोरभेदाच्च गुणप्रकर्षो जिना इत्युक्तं, अन्यथा गुणप्रकर्षो जिनानामिति वक्तव्यं स्यादिति,खलुः-अवधारणे, अत एव तेषां जिनानां बिंबस्य-प्रतिमायाः दर्शनम्-अवलोकनमपि, आस्तां तद्वन्दनादि, सुखं शुभं वा वर्तते तद्धेतु-त्वात्। ततः किमित्याह—कारणेन-विधापनेन तस्य बिंबस्य तुशब्दः पुनरर्थः अनुग्रहः-उपकारो भवति आत्मनः-स्वकीयस्य

मोक्खपहसामियाणं मोक्खत्थं उज्जएण कुसलेणं । तग्गुणबहुमाणादिसु जइयव्व सव्वजत्तेणं ॥ ५ ॥
तग्गुणबहुमाणाओ तह सुहभावेण बज्झती णियमा । कम्मं सुहाणुबंधं तस्सुदया सव्वसिद्धित्ति ॥ ६ ॥
इय सुद्धबुद्धिजोगा काले संपूइऊण कत्तारं । विभवोचियमप्पेज्जा मोल्लं अणहस्स सुहभावो ॥ ७ ॥

परम-उत्कृष्टः ॥ ४॥ ततश्च मोक्षपथस्वामिकानां-सिद्धिमार्गप्रभूणां, तदुपदर्शकत्वाज्जिनानां, मोक्षार्थं-सिद्धिनिमित्तं उद्यतेन-प्रयत्नपरेण कुशलेन-निपुणेन स एव मोक्षो गुणः-फलं येषां बहुमानादीनां ते तद्गुणाः ते च ते बहुमानादयश्च । यद्वा ते च ते-असाधारणा गुणाश्च तद्गुणाः तेषु बहुमानादयः-प्रीतिपूजाप्रभृतयः तद्गुणबहुमानादयः अथवा ते च ते गुणा- बहुमानादयश्चेति समासोऽतस्तेषु, तेषां मोक्षपथस्वामिकानां गुणबहुमानादय इति तु न व्याख्यातं, तच्छब्दस्य गतार्थत्वात्, १ संस्पर्शनीयस्य साक्षादेवोक्तत्वात्, अथवा तदिति लुप्तषष्ठीबहुवचनान्तं, तेन तेषां जिनानामिति व्याख्येयमिति, यतितव्यं-प्रवृत्तिर्विधेया सर्वयत्नेन-समस्तादरेण ॥ ५ ॥ अथ कस्मादेवमित्याह-तद्गुणबहुमानात्-मोक्षपथस्वामिगुणपक्षपातात् तथा-तत्प्रकारेण मोक्षपथस्वामिगुणबहुमानोद्भवेन शुभभावेन-शोभनपरिणामेन बध्यत-उपादीयते नियमाद्-अवश्यंतया कर्म-अदृष्टं शुभानुबन्धं-कुशलानुबन्धि, ततश्च तस्य शुभानुबन्धिकर्मण उदयात्-विपाकात् सर्वसिद्धिः-समस्तेप्सितकार्यनिष्पत्तिर्भवति, इतिशब्दः शुद्धबुद्धिस्वरूपोक्तिसमाप्तिसूचनार्थः इति गाथाचतुष्कार्थः ॥ ३-४-५-६ ॥ अथ जिनबिंबकारणविधिमाह—'इये'त्यादि, इति शुद्धबुद्धियोगाद्-अनन्तरगाथाचतुष्कोक्तनिर्मलबोधसंबन्धात् काले तदुचितावसरे संपूज्य सन्मानयित्वा कर्तारं-जिनबिंबविधायकं सूत्रधारकमित्यर्थः

तारिसगस्साभावे तस्सेव हितत्थमुज्जुओ णवरं । णियमेज्ज बिंबमोल्लं जं उचियं कालमासज्ज ॥८॥
देवस्सपरीभोगो अणेगजम्मेसु दारुणविवागो । तंमि स होइ णिउत्तो पावो जो कारओ इहरा ॥९॥
जं जायइ परिणामे असुहं सव्वस्स तं न कायव्वं । सम्मं णिरूविऊणं गाढगिलाणस्स चाऽपत्थं ॥१०॥

विभवोचितं-स्वसमृद्ध्यनुरूपं अर्पयेत्-समर्पयेत् मूल्यं-वेतनं अनघस्य-निर्दोषस्य, अनौचित्येन द्रव्यविनाशकत्वात्, शुभभावः-उदारतया प्रवर्तमानप्रशस्ताध्यवसायः कारयिता । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ अनघशिल्पिनोऽसद्भावे यद्विधेयं तदाह—'तारी'त्यादि, तादृशकस्य-अनघस्येत्यर्थः कर्तुरिति प्रक्रमः अभावे-अप्राप्तौ तस्यैव कर्तुरेव हितार्थं-श्रेयोनिमित्तं, बिंबार्थकल्पितद्रव्यभक्षणतो यत्तस्य संसारगर्तपतनं तद्रक्षणद्वारेण, उद्यतः-प्रयतः नवरं-केवलं नियमयेत्-नियंत्रयेत् बिंबमूल्यं-प्रतिमावेतनं, यथेयता द्रव्येणेयद् बिंबं विधातव्यं भवता तथा भागशो मूल्यं च दास्यामीति, यदिति-मूल्यं उचितं-योग्यं प्रतिमापेक्षया कालं-अवसरं आश्रित्य(साद्य)-प्रतीत्य, यतः कस्मिंश्चित्काले लघावपि बिंबे मूल्यं प्रचुरं स्यात् कदाचिदल्पम् । इति गाथार्थः ॥८॥ यदि पुनरनघस्येवेतरस्यापि मूल्यमर्पयति ततः को दोषः स्यादित्यत आह—'देवे'त्यादि, देवस्वस्य-जिनबिंबनिर्मापणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य परीभोगो-भक्षणं देवस्वपरीभोगः, उपचारात्तद्धेतुकं कर्म देवस्वपरीभोग उक्तः, स चानेकजन्मसु-अनन्तभवेषु दारुणविपाको-नरकादिदुःखकारणत्वेन घोरोदयो भवति ततश्च तस्मिन्-देवस्वपरीभोगे स इति कारकः भवति-स्यात् नियुक्तो-व्यापारितः पापः-सदोषो यः कारुकः-शिल्पी इतरथा-अन्यथा बिंबमूल्यनियमनाभावे इत्यर्थः, न च परोपकारकरणप्रवणान्तःकरणानां सतां दारुणविपाके कर्मणि परव्यापारणं युक्तं । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ अथ देवस्वपरीभोगो दारुणविपाको

आणागारी आराहणेण तीए ण दोसवं होति । वत्थुविवज्जासम्मिवि छउमत्थो सुद्धपरिणामो ॥११॥
आणापविक्तिओ चिय सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा । तित्थगरे बहुमाणा तदभावाओ य णायव्वो ॥१२॥

यदि काहकस्य भविष्यति ततः किमस्माकमित्यभिप्रायवन्तं शिक्षयितुमाह—'ज'मित्यादि, यदनुष्ठानं जायते-संपद्यते परिणामे-आपत्तौ असुखं-असुखहेतुत्वादसौख्यमशुभं वा सर्वस्य-समस्तस्यात्मनः परस्य वा, न पुनरात्मन एव, सतां परोपकारकरणप्रवणान्तःकरणत्वात्, आह च-"जयन्तु ते सदा सन्तः, सात्त्वीयाः, सद्गुणान्विताः। ये कृतार्थाः स्वयं सन्तः, परार्थे विहितश्रमाः ॥१॥" तदित्यनुष्ठानं न कर्त्तव्यं-न विधेयं सम्यग्-अविपरीततया निरूप्यं-आलोच्यं, सम्यग्निरूपणाभावे हि परिणामस्य दुरपत्तरं स्यादिति, अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-गाढग्लानस्य-सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरस्य वाशब्द इवशब्दार्थः अपथ्यं-अयोग्यभोजनं, अपथ्यदानेन हि गाढग्लानो विनाशितो भवति। इति गाथार्थः॥ १०॥ ननु यद्यनवद्यकारुकस्याविशेषेण मूल्यार्पणे सदोषत्व (?) तन्नियमनेऽपि देवद्रव्यक्षतिः स्यात्तदा का वार्तेत्याशंक्याह—'आणे'त्यादि,आज्ञाकारी-आप्तोपदेशवर्ती यथोक्तजिनबिम्बविधिविधायीत्यर्थः,किमित्याह-आराधनेन-बिम्बमूल्यनियमनादिद्वारेण पालनया तस्या आज्ञायाः न-नैव दोषवान्-विपाकदारुणदोषपरिभोगप्रवर्तनलक्षणदूषणयुक्तः भवति-जायते,वस्तुनो-यथोक्तमूल्यार्पणविधानेन देवद्रव्यरक्षणलक्षस्य विपर्यासः-स्वभावान्तरापत्तिः वस्तुविपर्यासस्तस्मिन्नपि,देवद्रव्यस्य कारुकेण भक्षणेऽपीत्यर्थः, अविपर्यासे निर्दोष एवेत्यपिशब्दार्थः,छद्मस्थो-निरतिशयज्ञानः, अनेन च वस्तुविपर्यासस्य बीजमुक्तं, तस्यैव मोहसंभवात्, अथ कथममावाज्ञाकारी न दोषवानित्याह-यतः शुद्धपरिणामो-निरवद्यात्मपरिणामः कर्त्ता। इति गाथार्थः ॥११॥ अथ कथं वस्तुविपर्यासेऽप्याज्ञाकारिणः शुद्धपरिणामो भवतीत्यत आह-

समतिपवित्ती सव्वा आणाबज्झत्ति भवफला चेव । तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥१३॥
मूढा अणादिमोहा तहा तहा एत्थ संपयट्टंता । तं चेव य मण्णंता अवमण्णंता ण याणंति ॥१४॥

'आणे'त्यादि, आज्ञाप्रवृत्तित एव-आप्तोपदेशपरतंत्रप्रवर्तनादेव शुद्धो-विशुद्धः एष परिणामो विधिविधायको वा ज्ञेय इति योगः, न-नैव अन्यथा-अपरथा, आज्ञाया अपारतंत्र्यप्रवृत्तेरित्यर्थः, नियमाद्-अवश्यंतया शुद्धो ज्ञेयो भवतीति प्रकृतमेव । अथ कुत एतदपि इत्यमित्याह-तीर्थकरे-जिने बहुमानात्-पक्षपातात्, आज्ञाप्रवृत्तिकः शुद्धः, तदभावात्-तीर्थकरे बहुमानाभावात् अनाज्ञाप्रवृत्तिकस्त्वशुद्धः चशब्दः समुच्चयार्थः ज्ञातव्यो-ज्ञेय इति संबन्धितमेव । इति गाथार्थः ॥१२॥ अथ किमेवमाज्ञायाः प्राधान्य[illegible] इत्याह—'समती'त्यादि, स्वमतिप्रवृत्तिः-आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा सर्वा-समस्ता द्रव्यस्तवभावस्तवविषया आज्ञाबाह्या-[illegible] इति हेतोः भवफलैव-संसारनिबन्धनमेव, आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुत्व प्रमाणत्वादिति । ननु या तीर्थकरानुद्दे-[illegible] तीर्थकरोद्देशेनापि-जिनालंबनेनापि, आस्तां [illegible] यतो न तत्त्वतो-न परमार्थेन सा तीर्थकरोद्देशवती स्वमतिप्रवृत्तिः तस्मिन् [illegible] हि जिनमुद्दिश्य प्रवर्तत इत्यभिधीयते, नापरः, इति [illegible] ॥१३॥ [illegible] बहुपलम्भोपालंभमाह—'मूढे'त्यादि, मूढा-[illegible] अनादिर्मोहो येषां ते तथा तस्माद् तथा-तेन तेन प्रकारेणाज्ञोल्लंघनतो [illegible] 'तं चेव य'त्ति तमेव च-तीर्थकरं मन्यमानाः-तत्पूजादिकरणत

मोक्खत्थिणा तओ इह आणाए चेव सव्वजत्तेणं । सव्वत्थवि जइयव्वं संमंति कयं पसंगेण ॥१५॥
णिप्फण्णस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही एस । सुहजोएण पवेसो आयतणे ठाणठवणा य ॥१६॥
तेणेव खेत्तसुद्धी हत्थसयादिविसया णिओगेण । कायव्वो सक्कारो य गंधपुप्फादिएहिँ तहिं ॥१७॥

आराध्यतयाऽभ्युपगच्छन्तः अवमन्यमानाः–तमेव परिभवन्तः आज्ञोल्लंघनेन न जानन्ति–नावगच्छन्ति, अनादिमोहमूढत्वादिति हृदयं। इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नाह—'मोक्खे'त्यादि, मोक्षार्थिना–सिद्धिकामेन 'तओ'त्ति यतः स्वमतिप्रवृत्तिर्भवफला ततो हेतोः इह प्रक्रमे आज्ञयैव–आप्तोपदेशेनैव सर्वयत्नेन–सर्वादरेण सर्वत्रापि–समस्तेऽपि परलोकसाधनविधौ, आस्तामेकत्र, यतितव्यं–चेष्टितव्यं सम्यग्–भावशुद्धया, इतिशब्दः परिसमाप्तौ, कृतं–अलं प्रसंगेन–प्रसंगापन्नभणितेन । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ उक्तो जिनबिंबकारणविधिः, अथ तत्प्रतिष्ठाविधिमभिधातुमाह—'णिप्फे'त्यादि, निष्पन्नस्य च–सिद्धस्य पुनः सम्यक्–यथावत्, इदं पदं प्रतिष्ठापन इत्यनेन निष्पन्नस्येत्यनेन वा संबध्यते, तस्य जिनबिंबस्य प्रतिष्ठापने–संस्थापने विधिः–विधानं एष वक्ष्यमाणः। तमेवाह–शुभयोगेन–साधकचन्द्रनक्षत्रादिसंबन्धेन प्रशस्तमनःप्रभृतिव्यापारेण वा प्रवेशः–प्रवेशनं, बिंबस्य कर्तव्य इति शेषः, आयतने–भवने स्थानस्थापना च–उचितस्थानन्यासश्च बिंबस्यैव । इति गाथार्थः ॥१६॥ तथा—'तेणेवे'त्यादि, तेनैव–शुभयोगेन क्षेत्रशुद्धिः–भूमिशोधनं हस्तशतादिविषयो–गोचरो यस्याः शुद्धेः सा हस्तशतादिविषया, आदिशब्दाद् बहुतरविषयाऽल्पतरविषया वा, इयं च समंततो द्रष्टव्या, शोधनीयं च तत्रास्थिमांसाशुच्यादिद्रव्यमिति, नियोगेन–अवश्यंतया, कार्येति गम्यं। तथा कर्तव्यो–विधेयः सत्कारश्च–गन्धपुष्पादिभिः प्रतीतैः, आदिशब्दाद् धूपादिग्रहः तस्मिन् जिनभवने प्रतिष्ठानगरे च (वा)।

दिसिदेवयाण पूया सव्वेसिं तह य लोगपालाण। ओसरणकमेणऽण्णे सव्वेसिं चेव देवाणं ॥ १८ ॥
जम्हा जिणस्स पूया सव्वेसिं तेण अब्भुदयहेऊ। ता तस्स पइट्ठाए तेसिं पूयादि अविरुद्धं ॥१९॥
साहम्मिया य एए महिड्ढिया सम्मदिट्ठिणो जेण। एत्तो च्चिय उचियं खलु एतेसिं एत्थ पूयादी ॥२०॥
ततो सुहजोएणं सट्ठाणे मंगलेहिं उवणा उ। अहिगासणगुणिण्णं गंधोदगमातिणा एत्थ ॥२१॥

इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ 'दिसी'त्यादि, दिग्देवतानां इन्द्रादीनां पूजा-अर्चनं सर्वेषां समस्तानां तथेति समुच्चये लोकपालानां सोमयमवरुणकुबेराणां समवसृतानां पूर्वादिदिक्षु क्रमेण व्यवस्थितानां क्रमेणैव तु राजदण्डपालगदाहस्तादीनामिति समवसरणक्रमेण-समवसरणन्यासेन द्वितीयप्रकरणाभिहितेन, अन्ये अपरे पुनः सर्वेषां चैव समस्तानामेव देवानां-सुराणां, पूजा कार्येत्यनुवृत्तिरेव । इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ अथ दिग्देवतादीनां पूजादि किमर्थमित्याह—'जम्हा'इत्यादि, यद्-यस्माज्जिनस्य जिनबिम्बस्याभि-जिनपतिरित्यर्थः सर्वेषामेव समस्तानामपीन्द्रादिदेवानां अभ्युदयहेतुः-कल्याणनिमित्तं तत्-तस्मात् तस्यापि द्रव्यबिम्बस्वामिनः प्रतिष्ठायां तेषां दिग्देवतादीनां पूजादि पूजासत्कारप्रभृति क्रियमाणं अविरुद्धं-सङ्गतमेव । इति गाथार्थः ॥ १० ॥ 'साहम्मि'-त्यादि, साधर्मिकाः समानधार्मिकाः श्राद्धत्वात् तेषां एते दिग्देवतादयः, तथा महर्द्धिका-महैश्वर्याः, तथा सम्यग्दृ-ष्टयो धार्मिका द्रागतो भगवत्ताद-सम्यग्दृष्टयः-सम्यग्दर्शनवन्तः येन कारणेन 'एत्तोच्चिय'त्ति अत एव कारणात्-उचितं खलु युज्यमानमेवेति एतेषां दिग्देवतादीनां अत्र प्रतिष्ठावसरे पूजादि-पूजासत्कारप्रभृति । इति गाथार्थः ॥ २० ॥ 'तत्तो'त्ति ततो दिग्देवतादिपूजानन्तरं शुभयोगेन-प्रशस्तचन्द्रनक्षत्रलग्नादिसम्बन्धेन स्वस्थाने-अधिवासनोचितदेशे मंगलैः-

चत्तारि पुण्णकलसा पहाणमुद्दाविचित्तकुसुमजुया । सुहपुण्णपत्तचउतंतुगोच्छया होंति पासेसु ॥२२॥
मंगलदीवा य तहा घयगुलपुण्णा सुभिक्खुभक्खा य । जववारयवण्णयसत्थिगादि सव्वं महारंमं ॥२३॥

गेपविशेषैः चन्दनादिभिर्वा स्थापना तु-न्यासश्च बिंबस्य विधेयेति गम्यं, ततश्चाभिवासनमधिवासनं वा-शुद्धिविशेषापादनेन बिंबप्रतिष्ठायोग्यताकरणं प्रतिष्ठाकल्पप्रसिद्धं उचितेन-योग्येन गन्धोदकादिना-सद्गन्धद्रव्योन्मिश्रजलप्रभृतिना,आदिशब्दात्कपाटमृत्तिकादिपरिग्रहः, अत्र प्रतिष्ठायां । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ तथा—'चत्तारी'त्यादि,चत्वारः-चतुःसंख्याः पूर्णकलशा-घटा जलपरिपूर्णाः अखंडाश्च प्रधानमुद्रया-रूप्यसुवर्णरत्नस्वरूपया विचित्रकुसुमैश्च-नानाविधपुष्पैर्युता-युक्ता ये ते तथा, शुभपूर्णचत्रं(?) तन्तुकास्तृताः-पूर्णं-यत्रकुण्डिकापूरितं यत्पत्रं-तर्कुस्तस्य संबन्धि यच्चतुस्तन्तुकं-तन्तुकचतुष्टयं तत्तथा शुभं च तत् निरवद्यं पूर्णपत्रचतुस्तन्तुकं चेति समासः तेनास्तृताः-आच्छादिताः कंठदेशेषु ये ते तथा भवन्ति, विधेया इति शेषः, पार्श्वेषु-चतसृषु दिक्षु, पुरस्तात्प्रतिष्ठाप्यप्रतिमायाः । इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ किंचान्यत्—'मंगले'त्यादि,मंगलदीपा-मांगल्यप्रदीपाः चः समुच्चयार्थः तथेति-तेनैव प्रकारेण घृतगुडपूर्णा-घृतगुडसमन्विता भवन्ति तत्र, तथा शुभाः-प्रशस्ता इक्षव-इक्षुयष्टिखंडानि भक्ष्याणि च-मंडमादकादीनि येषु दीपेषु ते तथा, चः समुच्चये, अथवा स्वतंत्राण्येव शुभेक्षुभक्ष्याणि च भवन्ति, 'सुभेक्खुभक्खे'त्ति पाठान्तरं,तत्र शुभा इक्षवो गुडाश्च-कदल्यादयः,तथा यववारकाः-शरावादिरोपितयवांकुराः वर्णकः-चन्दनं श्रीखंडादि स्वस्तिकः प्रसिद्ध एव वर्णकस्य वा स्वस्तिका वर्णकस्वस्तिकास्ते आदिर्यस्य नन्द्यावर्तादिवस्तुजातस्य तत्तथा सर्वं-समस्तं महारम्यं-अतिरमणीयं भवति,तत्र विधेयमित्यन्वयः । इति गाथार्थः॥२३॥ मंगलप्रतिसरणानि-मंगलकंकणानि चित्राणि-विचित्राणि वृद्धिशुद्धियुक्तानि-ऋद्धिवृद्ध्यभिधानौ-

मंगलपडिसरणाइं चित्ताइं रिद्धिविद्धिजुत्ताइं । पढमदियहंमि चंदणविलेवणं चेव गंधड्ढं ॥२४॥
चउणारीओमिणणं णियमा अहिगासु णत्थि उ विरोहो । णेवत्थं च इमासिं जं पवरं तं इहं सेयं ॥२५॥
जं एयवइयरेणं सरीरसक्कारसंगयं चारु । कीरइ तयं असेसं पुण्णणिमित्तं मुणेयव्वं ॥ २६ ॥
तित्थगरे बहुमाणा आणाआराहणा कुसलजोगा । अणुबंधसुद्धिभावा रागादीणं अभावा य ॥२७॥

पधीसनाथानि प्रथमदिवसे-आद्यदिनेऽधिवासनादिन इत्यर्थः चन्दनविलेपनमेव च-मलयजानुलेपनमेव च गन्धाढ्यं-कर्पूरकस्तूरिका-
दिगन्धैः पूर्णं विधेयं । इति गाथार्थः ॥२४॥ 'चउ'इत्यादि, चतुःसंख्या नार्यः—स्त्रियश्चतुर्नार्यस्ताभिः मंगल्याभिः 'ओमिणणं'-
ति अवमानं-प्रोंखनकं लोकशास्त्रसिद्धं चतुर्नार्यवमानं भवति तत्र कर्तव्यं नियमाद्-अवश्यंतया, अधिकासु-चतसृभ्योऽर्गलतरासु
नास्ति तु-न भवत्येव विरोधः—शास्त्रबाधः, नेपथ्यं च-वेषः आसां अवमानकारिणीनां नारीणां यत्प्रवरं-यत्प्रधानं प्रशस्तं च
तदिहावमानप्रस्तावे श्रेयः-कल्याणभूतं समाश्रयणीयं च । इति गाथार्थः ॥२५॥ ननु प्रवरनेपथ्यस्य रागहेतुत्वात् कथं श्रेयस्त्वमि-
त्याह-'ज'मित्यादि, यत्प्रवरनेपथ्यादि एतद्व्यतिकरेण-जिनबिंबप्रतिष्ठासंबन्धेन शरीरसत्कारसंगतं-देहभूषानुगतं चारु-शोभनं क्रियते-
विधीयते धार्मिकजनेन तत्तदशेषं-सर्वं पुण्यनिमित्तं-शुभकर्मनिबन्धनं 'मुणेयव्वं'ति ज्ञेयं, सत्पक्षपातरूपत्वात्तत्परिणामस्येति, अतः श्रेय
एव तासां नेपथ्यविशेषः । इति गाथार्थः ॥२६॥ अथ कुतस्तत्पुण्यनिमित्तमित्याह—'तित्थगरे'इत्यादि, तीर्थंकरे-जिने बहुमा-
नात्-पक्षपातात् तथा आज्ञाराधनाद्-आप्तोपदेशानुपालनात् कुशलयोगात्-प्रशस्तव्यापारात्, शास्त्रोक्तत्वेन अनुबन्धशुद्धिभावात्-
मार्गेण कर्मक्षयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसद्भावात् रागादीनां-रागद्वेषप्रभृतीनामभावाद्-अविद्यमानत्वात्, रागाद्यभावश्चाज्ञा-

दिक्खियजिणोमिणणओ दाणाओ सत्तितो तहेयम्मि । वेहव्वं दारिद्दं च होंति ण कयाति नारीणं ॥२८॥
उक्कोसिया य पूजा पहाणदव्वेहिं एत्थ कायव्वा । ओसहिफलवत्थसुवण्णमुत्तरयणाइएहिं च ॥२९॥
चित्तबलिचित्तगंधेहिँ चित्तकुसुमेहिँ चित्तवासेहिं । चित्तेहिँ विऊहेहिं भावेहिं विहवसारेण ॥३०॥
एयमिह मूलमंगल एत्तो चिय उत्तरावि सक्कारा । ता एयम्मि पयत्तो कायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥३१॥

परतंत्रत्वादेव, चशब्दः समुच्चये, पुण्यनिमित्तं प्रवरनेपथ्यादि विज्ञेयमिति प्रकृतं । इति गाथार्थः ॥२७॥ ऐहलौकिकमेवावमानफलमाह-'दिक्खिये'त्यादि, दीक्षितजिनावमानतः-अधिवासितजिनप्रोंखनकाल्लोकप्रसिद्धात् तथा दानाद्-वित्तवितरणात् शक्तितः-शक्तिमाश्रित्य यथाशक्तीत्यर्थः तथा-तेन प्रकारेण प्रोंखणकोद्देशलक्षणेन एतस्मिन् भगवति विषयभूते वैधव्यं-मृतभर्तृकत्वं दारिद्र्यं च-दौर्गत्यं च भवति-जायते न कदाचित्-न जातुचित् नारीणां -स्त्रीणां प्रोंखणककारिणीनां । इति गाथार्थः ॥२८॥ अधिवासनगतं विध्यन्तरमाह—'उक्कोसि'इत्यादि, उत्कर्षिका-उत्कर्षवती चशब्दः पुनरर्थः पूजा-पूजनमर्हद्बिम्बस्य प्रधानद्रव्यैः-प्रवरपूजांगैश्चन्दनागरुकर्पूरपुष्पादिभिः अत्राधिवासनावसरे कर्तव्या-विधेया ओषधिफलवस्त्रसुवर्णमुक्तारत्नादिकैश्च प्रतीतैरेव नवरमोषध्यो-व्रीह्यादयः फलानि-नालिकेरदाडिमादीनि । इति गाथार्थः ॥२९॥ 'चित्ते'त्यादि, चित्रबलिचित्रगन्धैः पूजा कर्तव्येति प्रकृतं, तत्र चित्रा-नानाविधा बलय-उपहारा गन्धास्तु-कोष्ठपुटपाकादयः, चित्रकुसुमैः-विचित्रपुष्पैः चित्रवासैः-सुगन्धिद्रव्यचूर्णरूपैर्वस्त्रान्तरवासरूपभावैः चित्रैः-विविधैः 'विऊहेहिं'ति व्यूहै-रचनाविशेषैः भावैश्च-रचनागतैः प्रक्रीडितप्रमुदितालिंगितादिभिर्भक्तिसारैर्वा विभवसारेण-विभूत्युत्कर्षेण । इति गाथार्थः ॥ ३० ॥ अथ कस्मादेवमत्यादरः पूजायां विधीयत इत्याह—

चितिवंदण थुतिवुड्ढी उस्सग्गो साहु सासणसुराए । थयसरण पूय काले ठवणा मंगलपुव्वा उ ॥३२॥
पूया वंदणमुस्सग्ग पारणा भावथेज्जकरणं च । सिद्धाचलदीवसमुद्दमंगलाणं च पाढो उ ॥३३॥
जह सिद्धाण पतिट्ठा तिलोगचूडामणिम्मि सिद्धिपदे । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पतिट्ठत्ति ॥३४॥

'एये'त्यादि, एतदुत्कृष्टपूजादिकं इह जिनबिंबविषये मूलमंगलं-आदिकल्याणं, ततः किमित्याह-'एत्तो च्चिय'त्ति इत एव मूलमंगलात् उत्तरेऽपि-उत्तरकालभाविनोऽपि सत्कारा-अधिकृतबिंबपूजाविशेषा भवन्ति, निमित्तभूतत्वान्मूलमंगलस्य, 'ता' इति यस्मादेवं तत्-तस्मात् एतस्मिन्मूलमंगले उत्तरोत्तरसत्कारहेतौ प्रयत्न-उद्यमः कर्तव्यो-विधेयः बुद्धिमद्भिः-धीमद्भिरिति गाथार्थः ॥३१॥ पूजाद्यनन्तरं यत् कर्तव्यं तदाह-'चिती'त्यादि, चैत्यवन्दना प्रतीता कर्तव्या १ स्तुतिवृद्धिः पाठरूपा विधेया २ उत्सर्गः-कायोत्सर्गो विधेयः साधु यथा भवति, असंमूढतयेत्यर्थः, कस्या आराधनायेत्याह-शासनसुरायाः-प्रवचनदेवतायाः ३ स्तवस्मरणं-चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तनं कायोत्सर्गे कार्यं, अथवा चतुर्विंशतिस्तवः पठनीयः ४ स्मरणं चेष्टगुर्वादीनामिति ५ ततः पूजा-पूजनं विधेया जिनबिंबस्य प्रतिष्ठाकारस्य वा ६ स्तवसरणपूजापदयोश्चानुस्वाराश्रवणं ह्रस्वता च प्राकृतत्वादिति, ततः काले-लग्नस्याभिमतांशे स्थापना-प्रतिष्ठा जिनबिंबस्य मंगलपूर्वा तु-पंचनमस्कारपूर्वैव मंगलान्तरपूर्वा वा कर्तव्या ७ इति गाथार्थः ॥३२॥ 'पूये'त्यादि, ततः पूजा-पुष्पादिभिरर्चनं प्रतिष्ठितबिंबस्य विधेया ८ ततो वन्दनं-चैत्यवन्दनं विधेयं ९ तत उत्सर्गः-कायोत्सर्गो निरुपसर्गनिमित्तं विधेयः प्रतिष्ठादेवताया इत्यन्ये १० ततः पारणा-परिसमाप्तिः तस्यैव विधेया ११ भावस्थैर्यकरणं च-चित्तस्थिरतासंपादनं भावेन वा आशीर्वचनहेतुभूतेन प्रतिष्ठास्थैर्यकरण च विधेयं, अत एवाह-सिद्धाचलद्वीपसमुद्रमंगलानां च-सिद्धाद्युप-

एवं अचलादीसुवि मेरुप्पमुहेसु होति वत्तव्वं । एते मंगलसद्दा तम्मि सुहनिबंधणा दिट्ठा ॥३५॥
सोउं मंगलसद्दं सउणंमि जहा उ इट्ठसिद्धित्ति । एत्थंपि तहा संमं विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥३६॥

मोपेतमंगलगाथानां वक्ष्यमाणरूपाणां पाठः-अभिधानं विधेयः १२ तुशब्दो गाथापूरणार्थः । इति गाथार्थः ॥३३॥ सिद्धादिमंगलान्येवाह-'जहे'त्यादि, यथा--यद्वत् सिद्धानां-निर्वृतानां प्रतिष्ठा-अवस्थानं त्रिलोकचूडामणौ-त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे सिद्धिपदे-निर्वाणरूपे आस्पदे आचन्द्रसूर्यौ यावत् तथा-तद्वत् भवतु-अस्तु इयं अधिकृता सुप्रतिष्ठा-शोभनावस्थानं,इतिशब्दः परिसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ शेषा मंगलगाथा अतिदेशत आह—'एव'मित्यादि, एवं-अनेनैव सिद्धमंगलन्यायेन अचलादिषु-अचलद्वीपसमुद्रेष्वपि, न केवलं सिद्धविषय एव, किंभूतेष्वचलादिषु?-मेरुप्रमुखेषु-मेरुजंबूद्वीपलवणोदधिप्रभृतिषु भवति-जायते वक्तव्यं-भणनीयं, तथाविधगाथाभिधानद्वारेण, तथाहि-"जह मेरुस्स पइट्ठा जंबूदीवस्स मज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ १ ॥ जंबूदीवपइट्ठा जह सेसयदीवमज्झयारंमि । आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥२॥ जह लवणस्स पइट्ठा सव्वसमुद्दाण मज्झयारंमि। आचंदसूरियं तह होउ इमा सुप्पइट्ठत्ति ॥ ३ ॥" एवमन्या अपि मंगलगाथा न विरुद्धा इति । अथ कस्मादेताः पठ्यन्ते इत्यत्र कारणमाह-एतेऽनन्तरोक्ताः सिद्धादयो मंगलशब्दा-मांगल्यध्वनयः तस्मिन् जिनप्रतिष्ठावसरे शुभनिबंधनाः-शुभहेतवः दृष्टा-निश्चिताः समयज्ञैः इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ शुभनिबन्धनत्वमेवैतेषां समर्थयन्नाह—'सोउ'मित्यादि, श्रुत्वा-आकर्ण्य मंगलमित्येवंरूपो मंगलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिः शब्दो मंगलशब्दस्तं शकुने-शकुनविषये यथा तु-यद्वदेव इष्टसिद्धिः-अभिमतार्थनिष्पत्तिः, भवतीति गम्यं, इत्येतत् ज्ञायत इति शेषः, अत्रापि-प्रतिष्ठायामपि, न केवलं शकुनविषय एव, तथा-तद्व-

अण्णे उ पुण्णकलसादिठावणे उदहिमंगलादीणि । जंपंतऽण्णे सव्वत्थ भावतो जिणवरा चेव ॥३७॥
सत्तीए संघपूजा विसेसपूजाउ बहुगुणा एसा । जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो संघो ॥३८॥
गुणसमुदाओ संघो पवयण तित्थंति होंति एगट्ठा । तित्थगरोऽवि य एयं णमए गुरुभावतो चेव ॥३९॥

दिष्टसिद्धिः सम्यग्-यथावत् विज्ञेया-ज्ञातव्या बुद्धिमद्भिः-मतिमद्भिः। इति गाथार्थः ॥३६॥ इहाचार्यान्तरमतमाह—'अण्णे' इत्यादि, अन्ये तु-अपरे पुनः सूरयः पूर्णकलशादिस्थापने-पूर्णकलशमंगलदीपानां न्यासे उदधिमंगलादीनि-समुद्रज्वलनमंगलप्रभृतीनि जल्पन्ति-भणन्ति पठनीयतयेति, अन्ये-अपरे पुनः सर्वत्र-सर्वप्रयोजनेषु प्रतिष्ठागतेषु भावतः-परमार्थतः मंगलमिति गम्यं जिनवरा एव-जिनेन्द्रा एव, न मंगलान्तरं,अतस्तन्नामैव सर्वत्र ग्राहीतव्यं। इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ प्रतिष्ठानन्तरं यद्विधेयं तदाह—'सत्तीए'इत्यादि, शक्त्या-यथाशक्तीत्यर्थः संघपूजा-चतुर्वर्णश्रीश्रमणसंघाभ्यर्चनं विधेया, यस्माद्विशेषपूजातो-धर्माचार्यादितद्विशेषार्चनायाः सकाशात् बहुगुणा-महाफलेत्यर्थः एषा संघपूजा, एतदपि कुत इत्याह-यद्-यस्मात् एषोऽयं संघः श्रुते-सिद्धान्ते भणितः-अभिहितः तीर्थकरेभ्योऽनन्तरो द्वितीयस्थानवर्ती तीर्थकरानन्तरः,पूज्यत्वेनेति शेषः,अथवाऽविद्यमानमन्तरं-विशेषो यस्य सोऽनन्तरः तीर्थकराणामनन्तरस्तीर्थकरानन्तरः-तीर्थकरतुल्य इत्यर्थः, तेषामपि तस्य पूज्यत्वात्, अथवा तीर्थकरोऽनन्तरो यस्मात्स तथा, संघपूर्वकं हि तीर्थकरस्य तीर्थकरत्वं, संघ इति संबन्धितमेव। इति गाथार्थः॥ ३८॥ अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—'गुणे'त्यादि, गुणसमुदायः-अनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहः 'संघो'त्ति संघ उच्यते,तस्य च प्रवचनं तीर्थमिति चैतौ शब्दौ भवतो-वर्तेते एकार्थौ-अभिन्नार्थौ, यद्यपि प्रकृष्टं प्रशस्तं वा वचनं प्रवचनं-द्वादशांगी तथा तरन्ति येन भवोदधिमिति तीर्थं-द्वादशा-

तप्पुव्विया अरिहया पूजितपूया य विणयकम्मं च। कयकिच्चोवि जह कहं कहेति णमते तहा तित्थं ॥४०॥
एयम्मि पूजियम्मी णत्थि तयं जं ण पूजियं होइ। भुअणेवि पूयणिज्जं ण गुणट्ठाणं ततो अण्णं ॥ ४१ ॥
तप्पूयापरिणामो हंदि महाविसयमो मुणेयव्वो। तद्देसपूयणम्मिवि देवयपूयादिणाएण ॥४२॥

एवेत्र तथाऽप्याधाराधेययोरभेदविवक्षणात् प्रवचनं तीर्थं च संघ उच्यत इति, ततश्चानपेक्षितपुरुषादिभावतया गुणसमुदायरूपतायाः एवापेक्षणात्, तीर्थकरोऽपि च-जिनोऽपि च, आस्तामितरजनः, एतं-संघं नमति-वन्दते, धर्मकथारंभे "नमो तित्थस्सेति" भणनात्, कुत इत्याह-गुरुभावतः-'गुरुरयं गुणात्मकत्वात्' इत्येवंरूपो यो भावः-अध्यवसायः स गुरुभावस्तस्मात्, अथवा गुरुभावतो-गुरुत्वाद्गौरवार्हत्वात्, चेचेत्यवधारणार्थः। इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ अथ तीर्थकरनमनीयत्वं संघस्यागमेन दर्शयन्नाह-'तप्पुव्वी'त्यादि, तत्पूर्विका-तीर्थहेतुका, तीर्थं न-संघः,'अरिहय'त्ति अर्हत्ता-तीर्थकरत्वं, प्रवचनवात्सल्यादिलभ्यत्वात्तस्याः, तथा पूजितस्य मतः पूज्यैर्या संघस्य पूजा सा पूजितपूजा सा च प्रवर्तितां, पूजितपूजकत्वाल्लोकस्य, तथा विनयकर्म च-वैनयिककृत्यं च कृतज्ञताधर्मगर्भं कृतं भवतु, विनयमूलो धर्म इत्याविष्करणार्थं, इत्येवं कारणत्रयान्नमति तीर्थमिति योगः। अथ कृतकृत्यस्य किं तीर्थनमनेनेत्यत आह-कृतकृत्योऽपि-निष्ठितार्थोऽपि, आस्तामितरः, यथा-यद्वत् कथां-धर्मदेशनां कथयति-करोति नमति-प्रणमति तथा-तद्वत् तीर्थं-संघं, तीर्थकरनामकर्मोदयादौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥४०॥ तदेवं—'एयंमी'त्यादि, एतस्मिन् संघे पूजिते सति नास्ति-न विद्यते तकत् पूज्यं यन्न पूजितं-अर्चितं भवति, सर्वमेव पूजितं भवतीतिभावः, कुत एतदेवमित्याह-भुवनेऽपि-लोकेऽपि पूजनीयं-पूज्यं न-नैव गुणस्थानं-गुणास्पदं ततः संघात् अन्यद्-अपरमस्ति। इति गाथार्थः ॥४१॥

आसन्नसिद्धियाणं लिंगमिणं जिणवरेहिं पण्णत्तं । संघंमि चेव पूया सामण्णेणं गुणणिहिम्मि ॥४३॥
एसा उ महादाणं एस चिय होति भावजण्णोत्ति । एसा गिहत्थसारो एस चिय संपयामूलं ॥४४॥
एतीए फलं णेयं परमं णेव्वाणमेव णियमेण । सुरणरसुहाइं अणुसंगियाइं इह किसिपलाल व ॥४५॥

अथ संघैकदेशपूजैव कर्तुं शक्या,न संघपूजा,तस्य सकलसमयक्षेत्राश्रयत्वादित्याशंक्याह—'तप्पूये'त्यादि,तत्पूजापरिणामः–संघपूजनाध्यवसायः 'संघमहं पूजयामि'इत्येवंरूपः हंदीत्युपप्रदर्शने महाविषयो–बृहद्गोचरः,मकारः प्राकृतत्वात् ,'मुणेयव्वो'त्ति ज्ञातव्यः तद्देशपूजनेऽपि–संघैकदेशार्चनेऽपि,अपिशब्दः परोक्ताभ्युपगमसूचनार्थः,कथमेतत्सिद्धमित्याह–दैवतपूजादिज्ञातेन–देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणेन,यथा हि दैवतस्य राज्ञो वा मस्तकपादाद्येकदेशपूजनेऽपि तत्पूजापरिणामाद्दैवतादिः पूजितो भवति एवमेकदेशपूजनेऽपि संघः पूजितो भवति । इति गाथार्थः ॥४२॥ संघपूजामेव गाथात्रयेण स्तुवन्नाह—'आसन्ने'त्यादि,'एसे'त्यादि,'एती'त्यादि च, आसन्नसिद्धिकानां–समासन्नीभूतनिर्वृत्तीनां जीवानां लिंगं–चिह्नं इदमेतत् , जिनवरैः–तीर्थकृद्भिः प्रज्ञप्तं–उक्तं, यत् किमित्याह–संघे–चतुर्विधे साध्वादिरूपे चैवशब्दोऽवधारणार्थः स चोत्तरत्र संभंत्स्यते, पूजा–अर्चना, कथं ?–सामान्येनैव, न तु परिचयस्वाजन्यादिविशेषेण, विशेषापेक्षया हि गुणानामुपसर्जनभावो भवति, स्वाजन्यादिविशेषस्यैव च प्रधानता स्यादिति, गुणनिधौ–ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, गुणनिधानत्वादिति भाव इति । ४३॥ एषा तु–इयमेव संघपूजा महादानं–उत्तमवितरणं,एषैव च भवति–जायते भावयज्ञः–परमार्थयागः । इतिः समाप्तौ । एषा संघपूजा गृहस्थसारो–गृहिणां सार इव सारः–सर्वस्वं, ईप्सितार्थसाधकत्वात् गृहस्थधर्मसारो वा, एषैव च संपन्मूलं–श्रीकारणमिति ॥ ४४ ॥ एतस्याः संघपूजायाः फलं–साध्यं ज्ञेयं–ज्ञातव्यं परमं–प्रधानं

कयमेत्थ पसंगेणं उत्तरकालोचियं इहऽण्णंपि । अणुरूवं कायव्वं तित्थुण्णतिकारगं णियमा ॥४६॥
उचिओ जणोवयारो विसेसओ णवरि सयणवग्गम्मि । साहम्मियवग्गम्मि य एयं खलु परमवच्छल्लं ॥४७॥
अट्ठाहिया य महिमा सम्मं अणुबंधसाहिगा केई । अण्णे उ तिण्णि दियहे णिओगओ चेव कायव्वो ॥४८॥
तत्तो विसेसपूयापुव्वं विहिणा पडिस्सरोमुयणं । भूयबलिदीणदाणं एत्थंपि ससत्तिओ किंपि ॥४९॥

निर्वाणमेव–निर्वृतिरेव नियमेन–अवश्यंतया, सुरनरसुखानि प्रतीतानि आनुषंगिकाणि–प्रासंगिकानि, न परमाणीत्यर्थः, इह–संघपूजायां फलविचारे वा, किंवदित्याह–कृषौ–कर्षणे पलालं–बुसं कृषिपलालं तदिव–तद्वदिति गाथाद्वयार्थः ॥४५॥ संघपूजाप्रकरणमुपसंहरन्नाह–'कये'त्यादि, कृतं–अलं अत्र प्रतिष्ठाधिकारे प्रसंगेन–प्रसंगभणितेन पूजाविषयेण, उत्तरकालोचितं–प्रतिष्ठोत्तरसमयानुरूपं इह प्रतिष्ठापर्वणि अन्यदपि उक्तातिरिक्तमपि अमारिघोषणादि अनुरूपं–उचितं कर्तव्यं–विधेयं तीर्थोन्नतिकारकं–प्रवचनप्रभावनाकारि नियमाद्–अवश्यंतया। इति गाथार्थः॥४६॥ 'उची'त्यादि, उचितो–योग्यः जनोपचारो–लोकपूजा सामान्यतो विधेयः, विशेषतो–विशेषेण नवरं–केवलं स्वजनवर्गे–स्वकीयलोके प्रत्यासन्नतरत्वात्, साधर्मिकवर्गे च–स्वजनातिरिक्तसमानधार्मिकजने च धर्मबहुमानात्, विशेषत इति प्रकृतं, कस्मादेवमित्याह–एतत् खलु–एतदेव पाठान्तरेण एवं खलु–इत्थमेवेत्यर्थः प्रतिष्ठोद्देशकृतोपचाररूपं परमवात्सल्यं–प्रधानगौरवं च स्वजनसाधर्मिकाणां । इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥'अट्ठे'त्यादि, अष्टाह्निका–अष्टदैवसिकी चशब्दः समुच्चये महिमा–महोत्सवः, महिमाशब्दश्च स्त्रीलिंगोऽपि दृश्यते, सम्यग्–भावतः, सा ह्यनुबन्धसाधिका–पूजाऽविच्छेदगमिका भवतीति केचिदाचार्या वदन्ति, अन्ये तु–अपरे पुनराचार्याः त्रीन् दिवसान् यावत् महिमा नियोगत एव–नियमेनैव चैवशब्दोऽवधारणार्थः कर्तव्या–विधेया। इति गाथार्थः

तत्तो पडिदिणपूयाविहाणओ तह तहेह कायव्वं । विहिताणुट्ठाणं खलु भवविरहफलं जहा होति ॥५०॥

॥ पइट्ठाविही सम्मत्तो ॥ ८ ॥

॥४८॥ 'तत्तो'इत्यादि, ततो–महिमानन्तरं विशेषपूजापूर्वं–प्राक्तनदिनापेक्षया विशिष्टतरार्चनपुरःसरं विधिना शास्त्रोक्तेन सांप्रदायिकेन वा प्रतिसरोन्मोचनं–कंकणमोचनं विधेयं, तथा भूतबलिः–प्रेतोपहारः पत्रपुष्पफलाक्षताढ्यः सुरभिगन्धोदकोन्मिश्रः सिद्धान्नप्रक्षेपरूपः दीनदानं–कृपणेभ्योऽनुकंपावितरणं, ततः पदद्वयस्य समाहारद्वन्द्वः, अत्रापि–कंकणमोचने, न केवलं प्रतिष्ठानन्तरमेवेत्यपिशब्दार्थः,स्वशक्तितः–स्वकीयं चित्तवित्तसामार्थ्यमाश्रित्य किमपि–प्रतिष्ठावसरापेक्षया स्तोकं। इति गाथार्थः ॥४९॥ अथ प्रकरणार्थोपसंहारार्थमाह—'तत्तो'इत्यादि, ततः–कंकणोन्मोचनानन्तरं प्रतिदिनपूजाविधानतः–अनुदिवसार्चनकरणेन तथा तथा–तेन तेन प्रकारेण विचित्ररूपतयेत्यर्थः इह जिनबिंबे प्रतिष्ठिते सति कर्तव्यं–विधेयं विहितानुष्ठानं–पूजावंदनयागस्नानादि, खलुरवधारणे स चोत्तरत्र संभंत्स्यते,भवविरहफलमेव–संसारवियोगसाधकमेव यथेति–तथाशब्दस्य वीप्सायां प्रयुक्तत्वाद्यथाशब्दोऽपि वीप्सायामेव द्रष्टव्यः तेन यथा यथा–येन येन प्रकारेण भवति–जायत इत्युपदेशः। [इति गाथार्थः ॥ ५० ॥]

॥ प्रतिष्ठाप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥८॥

॥ अथ नवमपञ्चाशकवृत्तिः ॥ ९ ॥

नमिऊण वद्धमाणं सम्मं संखेवओ पवक्खामि । जिणजत्ताएँ विहाणं सिद्धिफलं सुत्तणीईए ॥१॥
दंसणमिह मोक्खंगं परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारो । णिस्संकादी भणितो पभावणंतो जिणिंदेहिं ॥२॥
पवरा पभावणा इह असेसभावंमि तीएँ सब्भावा । जिणजत्ता य तयंगं जं पवरं ता पयासोऽयं ॥३॥

उक्ता प्रतिष्ठा, तदनन्तरं च यात्रा वक्तव्या भवति "जिणभवणबिंबठावणजत्तापूयाइ सुत्तओ विहिणा" इति द्रव्यस्तवक्रमायातत्वात्, अतस्तद्विधिं विभणिषुर्मंगलादिप्रतिपादनायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा–प्रणम्य वर्धमानं–महावीरं सम्यग्–भावतः संक्षेपतः–समासेन प्रवक्ष्यामि–भणिष्यामि जिनयात्राया–अर्हदुत्सवस्य विधानं–विधिं सिद्धिफलं–मोक्षप्रयोजनं सूत्रनीत्या–आगमन्यायेन । इति गाथार्थः ॥ १ ॥ 'जिनयात्राविधिं प्रवक्ष्यामी'त्युक्तं, अथ तत्प्रस्तावनायैवाह—'दंसणे'त्यादि,दर्शनं–सम्यक्त्वं इह प्रवचने मोक्षांगं–सिद्धिकारणं परमं–प्रधानं, आदिकारणत्वात्तस्य, अनन्तरकारणतया तु परमं चारित्रमेव "सारो चरणस्स निव्वाणं" इति वचनादिति, एतस्य दर्शनस्य पुनः अष्टधा–अष्टाभिः प्रकारैराचारो–व्यवहारः, यः सम्यग्दर्शनिनामाचारः स दर्शनस्याचार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदात् , तमेवाह–संका–संशयस्तदभावो निःशंकं–निःशंकितत्वं तदादिर्यस्य स निःशंकादिः, भणितः–अभिहितः प्रभावनान्तो–जिनशासनोद्भावनावसानः जिनेन्द्रैः–तीर्थंकरैः,तथाहि–"निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य। उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणा अ ॥१॥" इति गाथार्थः ॥२॥ ततः किमत आह—'पवरे'त्यादि,प्रवरा–

जत्ता महूसवो खलु उद्दिस्स जिणे स कीरई जो उ। सो जिणजत्ता भण्णइ तीएँ विहाणं तु दाणाइ ॥४॥
दाणं १ तवोवहाणं २ सरीरसक्कारमो ३ जहासत्ति। उचितं च गीतवाइय ४ थुतिथोत्ता ५ पेच्छणादी ६ या ॥५॥
दाणं अणुकंपाए दीणाणाहाण सत्तिओ णेयं। तित्थंकरणातेणं साहूण य पत्तबुद्धीए ॥६॥

प्रधाना प्रभावना–जिनशासनोद्भावना इहाष्टप्रकारे सम्यग्दर्शनाचारे, कुत एवमित्याह–अशेषाणां–समस्तानां निःशंकितादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भावः–सत्ताऽशेषभावस्तस्मिन् सति तस्याः प्रभावनायाः सद्भावात्–संभवात्, निःशंकितादिगुणयुक्त एव हि प्रभावको भवतीति, ततोऽपि किमित्याह–जिनयात्रा च–जिनोद्देशमहः पुनः तदंगं–जिनप्रवचनप्रभावनाकारणं यद्–यस्माद्धेतोः प्रवरं–प्रधानं तत्–तस्माद्धेतोः प्रयामः–प्रयत्नोऽयमेवं वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषयः। इति गाथार्थः ॥३॥ अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यस्यां जिज्ञासायामाह—'जत्ते'त्यादि, यात्रा, केत्याह–महोत्सवः खलु–महामह एव, न तु देशान्तरगमनं, ततः किमत आह–उद्दिश्य–आश्रित्य जिनान्–अर्हतः स इति महोत्सवः 'जिणे उ' इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनांस्तु–जिनानेवेति व्याख्येयं क्रियते–विधीयते यस्तु–य एव स इत्यमावेव महोत्सवः जिनयात्रेति भण्यते–अभिधीयते, तस्या जिनयात्रायाः विधानं तु–कल्पः पुनः दानादि–विश्राणनप्रभृति, आदिशब्दात्तपःप्रभृतिग्रहः। इति गाथार्थः ॥४॥ एतदेवाह—'दाण'मित्यादि, दानं–वितरणं तथा तपउपधानं–तपःकर्म तथा शरीरसत्कारो–देहभूषा, मशब्दः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्ति–सामर्थ्यानतिक्रमेण, इदं च क्रियाविशेषणं प्रत्येकं दानादिषु संबध्यते, उचितं–योग्यं चशब्दः समुच्चये गीतं च–गेयं वादितं च–पटहादिनादितं गीतवादितं अनुस्वारलोपश्चात्र द्रष्टव्यः प्राकृतत्वात् तथा स्तुतिस्तोत्राणि–एकानेकश्लोकरूपाणि प्रेक्षणादि च–प्रेक्षणकप्रभृति च, आदिशब्दात् काव्यकथारथभ्रमणादिप-

एकासणाइ णियमा तवोवहाणंपि एत्थ कायव्वं । तत्तो भावविसुद्धी णियमा विहिसेवणा चेव ॥ ७ ॥
वत्थविलेवणमल्लादिएहिं विविहो सरीरसक्कारो । कायव्वो जहसत्तिं पवरो देविंदणाएण ॥८॥

रिग्रहः, जिनयात्राविधानं भवतीति प्रक्रमः । इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥५॥ अथ दानद्वारविवरणायाह—'दाण'मित्यादि, दानं—वितरणमन्नादे: अनुकंपया—दयया दीनानाथेभ्यः, तत्र दीनाः—क्षीणविभवत्वाद्दैन्यं प्राप्ता एव सानाथ्यकारिरहिता अनाथा अतस्तेभ्यः, शक्तितः—चित्तवित्तगतं सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः ज्ञेयं—ज्ञातव्यं । अथ दीनादीनामसंयतत्वात्तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगतं तद्दानमित्याशंक्याह—तीर्थंकरज्ञातेन—जिनोदाहरणेन, तथाहि—संगतं दीनादिदानं प्रभावनांगत्वात् जिनस्येव, अथवा तीर्थंकरन्यायेन निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थंकरप्रमाणतो वा, तथाहि—न दीनादिदानमविधेयं, जिनाचरितत्वात् , महाव्रतानुपालनवदिति । दीनादीनामनुकंपया तावद्दानं, अथ साधूनामपि किं तथैवेत्याशंकायामाह—साधूनां च—संयतेभ्यः पुनः पात्रबुद्ध्या—ज्ञानादिगुणरत्नभाजनमेते इति धिया भक्त्या । इति गाथार्थः ॥६॥ उक्तं दानद्वारं, अथ तपोद्वारमाह—'एक्के'त्यादि, एकाशनादि—एकभक्तप्रभृति, आदिशब्दाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, नियमात्—अवश्यंतया उपधीयतेऽनेनेत्युपधानं—चारित्रोपष्टंभनहेतुः तप एवोपधानं तपउपधानं तदपि, न केवलं दानमेव, अत्र जिनयात्रायां कर्तव्यं—विधेयं भवति, कस्मादिदं कर्तव्यमित्याह—ततः—तपउपधानात् भावविशुद्धिः—अध्यवसायनैर्मल्यं नियमात्—अवश्यंतया भवति,भावविशुद्धिरेव धर्मार्थिनामुपादेयेति, तथा विधिसेवना—जिनयात्रानीत्यनुपालना चैवेति समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥७॥ उक्तं तपोद्वारं,अथ शरीरसत्कारद्वारमाह—'वत्थे'त्यादि,वस्त्रविलेपनमाल्यादिभिः—वासोऽनुलेपनपुष्पप्रभृतिभिः,आदिशब्दादलंकारपरिग्रहः,विविधो-बहुविधः शरीरसत्कारो देहभूषा कर्तव्यो-विधेयः यथाशक्ति

उचियमिह गीयवाइयमुचियाण वयाइएहिं जं रम्मं । जिणगुणविसयं सद्धम्मबुद्धिजणगं अणुवहासं ॥९॥
थुइथोत्ता पुण उचिया गंभीरपयत्थविरइया जे उ । संवेगवुड्ढिजणगा समा य पाएण सव्वेसिं ॥१०॥
पेच्छणगावि णडादी धम्मियणाडयजुआ इहं उचिया । पत्थावो पुण णेओ इमेसिमारंभमादीओ ॥११॥

शक्त्यनतिक्रमेण प्रवरः-सर्वोत्तमः, कथं?-देवेन्द्रज्ञातेन-सुरराजोदाहरणेन, यथा हि भगवतामर्हतां जन्ममहादिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वादरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते तद्वदन्यैरप्यसौ विधेयः। इति गाथार्थः ॥ ८॥ उक्तः शरीरसत्कारः, अथोचितं गीताद्याह 'उ-ची'त्यादि, उचितं-योग्यं इह जिनयात्रायां गीतवादितं-गेयवाद्यं, किंविधमित्याह-उचितानां-योग्यानां स्वभूमिकापेक्षया वयआदिकैः-कालकृतावस्थाप्रभृतिभिः अथवा वयोवैलक्षण्यरूपसौभाग्यौदार्यैश्वर्यादिभिर्भावैः यद्रम्यं-रमणीयं जिनगुणविषयं-वीतरागत्वादितीर्थंकरगुणगोचरं, न राजादिगुणविषयं, तदपि सद्धर्मबुद्धिजनकं-सुन्दरधर्ममत्युत्पादकं तदप्यनुपहासं-अविद्यमानोपहासमनुपहास्यम्। इति गाथार्थः ॥ ९॥ स्तुतिस्तोत्रद्वाराभिधानायाह—'थुई'त्यादि, स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः उचितानि-योग्यानि, किंविधानीत्याह-गंभीरैः-अतुच्छत्वात्सूक्ष्मबुद्धिगम्यैः पदार्थैः-शब्दाभिधेयैर्विरचितानि-विहितानि गंभीरपदार्थविरचितानि यानि तु-यान्येव, तान्यपि संवेगवृद्धिजनकानि-मोक्षाभिलाषातिशयकारीणि समानि च-तुल्यानि च अविषमाणि वा सुबोधानीत्याह, प्रायेण-बाहुल्येन सर्वेषां-श्रोतॄणां, अतुल्यादिस्तोत्रादिपाठे हि कोलाहल एव भवति, न पुनस्तच्छ्रोतॄणां भावोत्कर्षः। इति गाथार्थः ॥ १०॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारं, अथ प्रेक्षणकादिद्वारमाह—'पेच्छे'त्यादि, प्रेक्षणकान्यपि-प्रेक्षाविषयः, अपिशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये, किंस्वरूपाणि?-'नडाइ'त्ति नटः-शैलूषः तत्प्रवर्तितं यत्प्रेक्षणं तन्नट एवोच्यते नटप्रेक्षणक-

आरंभे चिय दाणं दीणादीण मणतुट्ठिजणणत्थं । रण्णाऽमाघायकारणमणहं गुरुणा ससत्तीए ॥१२॥
विसयपवेसे रण्णो उ दंसणं उग्गहादिकहणा य । अणुजाणावण विहिणा तेणाणुण्णाएँ संवासो ॥१३॥

मित्यर्थः तदादियेषां प्रेक्षणकानां तानि नटादीनि, आदिशब्दात्तदितरपरिग्रहः, तानि चेह किंविधान्युचितानीत्याह–धार्मिकनाटकयुतानि–जिनजन्माभ्युदयभरतनिष्क्रमणादिधर्मसम्बद्धनाटकोपेतानि इह–जिनयात्रायां उचितानि–योग्यानि, भव्यश्रोतॄणां संवेगोत्पादकत्वात्, प्रस्तावः–अवसरः पुनःशब्दो विशेषणार्थः ज्ञेयो ज्ञातव्यः एषां प्रेक्षणकानां आरंभादिः–यात्रारंभादिः, आदिशब्दाद्यात्रामध्यादिः । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षणकानामारंभादिः प्रस्ताव उक्तः,अथ दानस्य कः प्रस्ताव इत्याशंकायामाह–'आर'मित्यादि, 'आरंभे चिय' यात्रारंभकाल एव दानं–वितरणं विधेयं भवति, किमर्थमित्याह–दीनादीनां–रंकप्रभृतीनां मनस्तुष्टिजननार्थं–चित्ततोषविधानाय। तथा राज्ञा–नृपेण मा–लक्ष्मीः, सा च द्वेधा–धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च अतस्तस्या घातो–हननं तस्याभावोऽमाघातः,अमारिरद्रव्यापहारश्चेत्यर्थः तस्य कारणं–विधापनममाघातकारणं अनघं–निर्दोषं,वधप्रवृत्तभोजनवृत्तिमात्रसंपादनेन, अन्यथा तद्वृत्त्युच्छेदापत्तेः, गुरुणा–प्रावचनिकेन स्वशक्त्या–स्वसामर्थ्येन । इति गाथार्थः ॥१२॥ प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह—'विसये'त्यादि, विषयप्रवेशे–मंडलप्रवेशने राज्ञो–नृपतेः तुशब्दः समुच्चयार्थः तेन तदभावे तन्मान्ययुवराजमहत्तमादेश्च दर्शनं–मीलकः कार्यं,दर्शने च सति किमागमनकारणमिति च तेन पृष्टेऽवग्रहस्य–'देविंद १ राय २ गिहवई ३ सागर ४ साहम्मि ५ उग्गहो चेव' इत्येवंविधस्य,आदिशब्दाद् 'राजरक्षितास्तपस्विनो भवन्ती' त्यादेश्च,यदाह–"क्षुद्रलोकाकुले लोके,धर्मं कुर्युः कथं हि ते । क्षान्तदान्ता अहंतारस्तांश्चेद्राजा न रक्षति ? ॥१॥" इति कथनं–प्ररूपणा अवग्रहादिकथना,चशब्दः समुच्चये, कार्येति शेषः । तत-

एसा पवयणणीती एव वसंताण णिज्जरा विउला। इहलोयम्मिवि दोसा ण होंति णियमा गुणा होंति ॥१४॥
दिठ्ठो पवयणगुरुणा राया अणुसासिओ य विहिणा उ। तं नत्थि जण्ण वियरइ कित्तियमिह आमघाउत्ति? ॥१५॥
एत्थमणुसासणविही भणिओ सामण्णगुणपसंसाए। गंभीराहरणेहिं उत्तीहि य भावसाराहिं॥१६॥

श्चानुज्ञापनं-मुत्कलनं कार्यमवग्रहस्य विधिना-आगमनीत्या ततस्तेन-राज्ञा राजसंगतेन वा अनुज्ञाते-मुत्कलितेऽवग्रहे संवासः-निवासः तद्देशे विधेयः। इति गाथार्थः ॥१३॥ कस्मादेवं विधीयत इत्याह—'एसे'त्यादि, एषाऽनन्तरोक्ता प्रवचननीतिः-आगमन्यायो, वर्तते, अथानया को गुण इत्याह-एवं-अनन्तरोक्तनीत्या वसतां तद्देशे निवसतां निर्जरा- कर्मक्षयः विपुला-बह्वी, अदत्तादान-व्रतस्य निरतिचारस्यानुपालनादाज्ञाऽऽराधनाच्च,न चैतावदेवात्र फलमित्याह-इहलोकेऽपि-अत्रापि जन्मनि, आस्तां परलोके, दोषाः-प्रत्यनीककृतोपद्रवलक्षणाः न भवन्ति-न जायन्ते नियमाद्-अवश्यंभावेन, गुणाः पुनः-राजपरिग्रहाल्लोके मान्यत्वादयः भवन्ति-जायन्ते, यदाह-"गन्तव्यं राजकुले द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः। यद्यपि न भवन्त्यर्था भवन्त्यनर्थप्रतीघाताः ॥ १ ॥"इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ ये गुणा भवन्ति तानेवाह—'दिठ्ठो'इत्यादि, दृष्टः-अवलोकितः प्रवचनगुरुणा-प्रधानाचार्येण राजा-नृपतिः अनुशासितः-अनुशिष्टश्च विधिना तु-प्रवचननीत्यैव तत्प्रकृत्यनुवर्तनादिलक्षणया, यदाह-"बालादिभावमेवं सम्यग् विज्ञाय देहिनां गुरुणा। सद्धर्मदेशनाऽपि हि कर्तव्या तदनुसारेण ॥ १ ॥" एवं चासौ प्रमुदितमनाः तद्वस्तु नास्ति-न विद्यते यन्न वितरति-न ददाति, सर्वमेव ददातीत्यर्थः। कियत्-किंपरिमाणं, अल्पमितिकृत्वा, ददात्येवेत्यर्थः इह-यात्रावसरे अमाघातः-प्राणिघातनिवारणं, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः। इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ 'अनुशासित' इत्युक्तं, अतस्तदनुशासनविधिं प्रस्तावयन्नाह—'एत्थे'-

सामण्णे मणुयत्ते धम्माउ णरीसरत्तण णेयं । इय मुणिऊणं सुंदर ! जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥१७॥
इड्ढीण मूलमेसो सव्वासिं जणमणोहराणंति । एसो य जाणवत्तं णेओ संसारजलहिम्मि ॥१८॥ युग्मम् ॥
जायइ य सुहो एसो उचियत्थापायणेण सव्वस्स । जत्ताएँ वीयरागाण विसयसारत्तओ पवरो ॥१९॥

त्यादि, अत्र राजविषये अनुशासनविधिः–अनुशास्तिविधानं भणित–उक्तः सूरिभिः, कथं ?–सामान्यगुणप्रशंसया–लोकलोकोत्तराविरुद्धविनयदाक्षिण्यसौजन्यादिगुणस्तुत्या तथा गंभीरोदाहरणैः–अतुच्छज्ञातैर्महापुरुषगतैः उक्तिमिश्र––भणितिमिश्र भावसाराभिः––भावगर्भाभिः, न तु तद्विकलाभिः इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ अनुशासनविधिमेवाह—'सामण्णे' इत्यादि,'इड्ढी'-त्यादि, 'जायई'त्यादि, सामान्ये––बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे––नरत्वे धर्मात्––कुशलकर्मणः नरेश्वरत्वं–नृपत्वं भवतीति ज्ञेयं–ज्ञातव्यं । इति––एतत् ज्ञात्वा–अवगम्य सुन्दर–नरप्रधान ! यत्न––उद्यमः अत्र धर्मे कर्तव्यो––विधेयो भवति । इति गाथार्थः ॥१७॥ ऋद्धीनां–संपदां मूलमिव मूलं–कारणं एष धर्मः सर्वासां–नरामरसंबन्धिनीनां जनमनोहराणां–लोकचेतोहारिणीनां, इतिशब्दो लोकप्रसिद्धस्य संपदां जनमनोहरत्वस्योपदर्शनार्थः,अनेन च सांसारिकफलसाधकत्वमस्योपदर्शितं । अथ निर्वाणफलसाधकत्वमस्याह–एष च–अयमेव यानपात्रं –बोहित्थ इव ज्ञेयो–ज्ञातव्यः संसारजलधौ–भवोदधौ तरीतव्ये । इति गाथार्थः ॥१८॥ कथं पुनरेष भवतीत्याह—जायते–संपद्यते चशब्दः पुनरर्थः शुभः–कुशलानुबन्धः शुभनिमित्तत्वात् एष धर्मः उचितार्थापादनेन–अनुरूपवस्तुसंपादनेन सर्वस्य–समस्तजनस्य । इहैव विशेषमाह–'जत्ताए' इत्यादि,कावा चेदमध्येयं, यात्रया–उत्सवेन पुनर्यात्रायां वा उचितार्थापादनेनेति प्रकृतं, केषां ?–वीतरागाणां–जिनानां, विषयसारत्वतः–प्रधानगोचरत्वात्, वीतरागा एव हि निखिल-

एतीएँ सव्वसत्ता सुहिया खु अहेसि तंमि कालंमि । एण्हिंपि आमघाएण कुणसु तं चेव एतेसिं ॥२०॥
तम्मि असंते राया दट्ठव्वो सावगेहिंवि कमेणं । कारेयव्वो य तहा दाणेणवि आमघाउत्ति॥२१॥
तेसिंपि घायगाणं दायव्वं सामपुव्वगं दाणं । तत्तियदिणाण उचियं कायव्वा देसणा य सुहा ॥२२॥

भुवनजनातिशायिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽनुपचरितो भवतीति,प्रवरः-प्रधानतरः शेषजनोचितार्थसंपादनोद्भवधर्मापेक्षया एष जायत इति प्रकृतं । इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ अधिकृतराजानुशासनविधौ यो भावस्तं प्रकटयन्नाह—'एती'त्यादि, एतया-वीतरागयात्रया एतस्यां वा सर्वसत्त्वाः-समस्तदेहिनः सुखिता एव-आनन्दवन्त एव खुशब्दोऽवधारणार्थः'अहेसि' त्ति अभूवन् तस्मिन् काले-तदा यदा जिनानां जन्माद्यभवत् , ततश्चेदानीमपि-अधुनाऽपि, यथाऽतीतकाल इत्यपिशब्दार्थः, 'आमघाएण' त्ति प्राकृतत्वात् अमाघातेन-अमारिप्रदानेन कुरुष्व-विधेहि त्वं महाराज! तदेव-सुखितत्वमेव एतेषां सर्वसत्त्वानां । इति गाथार्थः ॥२०॥ अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह—'तम्मी'त्यादि, तस्मिन् प्रवचनगुरौ असति-विद्यमाने, उपलक्षणत्वाद्राजदर्शनाद्यसमर्थे वा, राजा-नरपतिः द्रष्टव्यो-दर्शनीयः श्रावकैरपि-श्रमणोपासकैरपि,न तु न द्रष्टव्य इत्येतदर्थसंसूचनार्थोऽपिशब्दः,क्रमेण-नीत्या तद्राजकुलप्रसिद्धया, कारयितव्यो-विधापयितव्यो राज्ञा,चशब्दः समुच्चये,तथेति वाक्योपक्षेपमात्रार्थः तथा कारयितव्यश्चेत्येवं चास्य प्रयोग इति, नेच्छति चेद्राजा तं कारयितुं तदा दानेनापि-द्रव्यवितरणतोऽपि, न केवलं वचनेनेत्यपिशब्दार्थः 'आमघाउ'त्ति अमाघातः-प्राणिनाममारिः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थः। इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ किंचान्यत्—'तेसिं'मित्यादि, तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दार्थः घातकानां-प्राणिवधोपजीविनां मत्स्यबन्धादीनां दातव्यं-देयं सामपूर्वकं-प्रे-

तित्थस्स वण्णवाओ एवं लोगम्मि बोहिलाभो य। केसिंचि होइ परमो अण्णेसिं बीयलाभोत्ति ॥२३॥
जा चिय गुणपडिवत्ती सव्वण्णुमयम्मि होइ परिसुद्धा। स च्चिय जायति बीयं बोहीए तेणगाएणं॥२४॥
इयसामत्थाभावे दोहिवि वग्गेहिं पुव्वपुरिसाणं। इयसामत्थजुयाणं बहुमाणो होति कायव्वो ॥२५॥

मोत्पादकवचनपुरस्सरं दान-अन्नादिवितरणं तावद्दिनानां-यात्रापरिमाणदिवसानां उचितं-योग्यं, कर्तव्या-विधेया देशना च-धर्मदेशना च शुभा-अनवद्या, यथा-भवतामप्येव धर्मावाप्तिर्भविष्यतीत्यादिरूपेति, अनेन च परोपतापपरिहारो धर्मार्थिनां श्रेयानित्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ एवं क्रियमाणे को गुण इत्याह—'तित्थे'त्यादि,तीर्थस्य-जिनप्रवचनस्य वर्णवादः-श्लाघा एवं-अमुना प्रकारेण दानपूर्वकामाघातकारणलक्षणेन लोके-जने भवति, ततश्च किमित्याह-बोधिलाभः-सम्यग्दर्शनप्राप्तिः चशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च केषांचिल्लघुकर्मणां प्राणिनां भवति-जायते परमः-प्रधानोऽक्षेपेण मोक्षसाधकत्वात्, अन्येषां पुनः-अपरेषां पुनः बीजलाभः-सम्यग्दर्शनबीजस्य-जिनशासनपक्षपातरूपशुभाध्यवसायलक्षणस्य प्राप्तिः, इतिशब्दः समाप्तौ। इति गाथार्थः॥२३॥ कथं तीर्थवर्णवाद एव बोधिबीजं भवति ?, अत आह-'जे'त्यादि,चियशब्द एवकारार्थः स चापिशब्दार्थः,ततश्च याऽपि-काचिदल्पाऽपीत्यर्थः गुणप्रतिपत्तिः-गुणाभ्युपगतिः सर्वज्ञमते-जिनशासनविषये भवति-जायते परिशुद्धा-भावगर्भा सापि गुणप्रतिपत्तिः जायते-संपद्यते बीजं-हेतुः बोधेः-सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तेः,चौरोदाहरणेन। तच्च प्रागुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ यदि श्रावका अपि राजदर्शनामसमर्थास्तदा को विधिरित्याह—'इये'त्यादि, इति-उक्तरूपे राजदर्शनद्वारेणामाघातकारणे यत्सामर्थ्यं-बलं तस्य योऽभावः न तथा तस्मिन् द्वाभ्यामपि, आस्तामेकेन,वर्गाभ्यां-समुदायाभ्यां-प्रवचनगुरुश्रावकलक्षणाभ्यां पूर्वपुरुषाणां-अतीतमानवानां इति-

ते धण्णा सप्पुरिसा जे एवं एवमेव णिस्सेसं । पुव्विं करिंसु किच्चं जिणजत्ताए विहाणेणं ॥२६॥
अम्हे उ तह अधण्णा धण्णा उण एत्तिएण जं तेसिं । बहु मण्णामो चरियं सुहावहं धम्मपुरिसाणं ॥२७॥
इय बहुमाणा तेसिं गुणाणमणुमोयणा णिओगेणं । तत्तो तत्तुल्लं चिय होइ फलं आसयविसेसा ॥२८॥

तिसामर्थ्ययुताना-अमाघातकारणबलयुक्तानां बहुमानः-प्रीतिविशेषः भवति-वर्तते कर्तव्यः-विधेयः । इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ बहुमानमेव स्वरूपत आह—'ते'इत्यादि, 'अम्हे'इत्यादि,ते पूर्वपुरुषाः धन्याः-श्लाघ्याः सत्पुरुषा-महापुरुषाः वर्तन्ते ये एतद्-नन्तरोक्तं कृत्यमिति योगः एवमेव-उक्तन्यायेनैव निःशेषं-सर्वं पूर्वकाले'करिंसु'त्ति अकार्षुः कृत्यं-करणीयं दानपूर्वकामाघातलक्षणं जिनयात्रायां-जिनोत्सवे विधानेन-विधिना इति गाथार्थः ॥२६॥ वयं तु-वयं पुनः तथा-तेन प्रकारेण जिनयात्रादिगमयविधान-संपादनसामर्थ्याभावलक्षणेन अधन्या-अश्लाघ्याः, धन्याः पुनः इयता-एतावता यत्तेषां पूर्वपुरुषाणां बहु मन्यामहे-पक्षपा-तविषयीकुर्मः चरितं-चेष्टितं सुखावहं तु-सुखकारणं शुभावहं वा धर्मपुरुषाणां-धर्मप्रधाननराणां, वीरपुरुषाणामिति च पाठान्तर-मिति गाथार्थः ॥२७॥ एतद्बहुमानस्य फलमाह—'इये'त्यादि, इदानीं(ति-एवं) बहुमानाद्-अनन्तरोक्तपक्षपाताद्धेतोः तेषां पूर्व-पुरुषाणां सत्कानां गुणानां-धर्माचरणादीनां अनुमोदना-अनुमतिः नियोगेन-अवश्यंतया भवति, 'तत्तो'त्ति ततश्च-गुणानुमोद-नातः तत्तुल्यमेव-पूर्वपुरुषानुष्ठानसममेव भवति-जायते फलं-कर्मक्षयादिको गुणः, यदाह-'अप्पहियमायरंतो अणुमोयंतो य सुगइं लहइ । रहकारदाणअणुमोयगो मिगो जह य बलदेवो ॥१॥' अथ कथं विकलानुष्ठानरता सकलानुष्ठानवद्भिस्तुल्यं फलं भव-तीत्याह-आशयविशेषाद्-अध्यवसायभेदात्,अध्यवसाय एव हि परं कारणं शुभाशुभकर्मबन्धादि प्रति,यदाह-"परमरहस्समिसीणं

कयमेत्थ पसंगेण तवोवहाणादिणोऽवि णियसमए । अणुरूवं कायव्वो जिणाण कल्लाणदियहेसु ॥२९॥
पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाण होंति णियमेण । भुवणच्छेरयभूया कल्लाणफला य जीवाणं ॥३०॥
गब्भे जम्मे य तहा णिक्खमणे चेव णाणणेव्वाणे । भुवणगुरूण जिणाणं कल्लाणा होंति णायव्वा ॥३१॥ युग्मम् ॥
तेसु य दिणेसु धन्ना देविंदाई करिंति भत्तिणया । जिणजत्तादि विहाणा कल्लाणं अप्पणो चेव ॥३२॥

सम्मत्तगणिपिडगज्झरियसाराणं। परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ २८॥ 'आरंभे च्चिय दाण'-मित्यादि यदुक्तं तदुपसंहरन्नाह—'कये'त्यादि, कृतं-अलं अत्र दानामाघातप्रक्रमे प्रसंगेन-प्रसक्त्या तपउपधानादिका अपि-तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिका अपि भावाः, न केवलं दानमित्यपिशब्दार्थः, निजसमये-स्वकीयावसरे रूढिगम्ये अनुरूपं-औचित्येन कर्तव्या-विधेयाः, कदेत्याह-जिनानां-अर्हतां कल्याणदिवसेषु-पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिनेषु । इति गाथार्थः ॥ २९ ॥ कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह—'पंचे'त्यादि, 'गब्भे'त्यादि, पंचेति-पंचैव महाकल्याणानि-परमश्रेयांसि सर्वेषां-सकलकालनिखिलनरलोकभाविनां जिनानां-अर्हतां भवन्ति नियमेन-अवश्यंभावेन, तथावस्तुस्वभावत्वात्, भुवनाश्चर्यभूतानि-निखिलभुवनाद्भुतभूतानि त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात् तथा कल्याणफलानि च-निःश्रेयससाधनानि चः समुच्चये जीवानां-प्राणिनामिति ॥३०॥ गर्भे-गर्भाधाने जन्म-उत्पत्तौ चशब्दः समुच्चये तथेति वाक्योपक्षेपे निष्क्रमणे-अगारवासान्निर्गमे चैवेति शब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ उत्तरत्र संभंत्स्येते ज्ञाननिर्वाणे-समाहारद्वन्द्वत्वात् केवलज्ञाननिर्वृत्योरेव च, केषां गर्भादिष्वित्याह-भुवनगुरूणां-जगज्ज्येष्ठानां जिनानां-अर्हतां, किमित्याह-कल्याणानि-श्वःश्रेयसानि भवन्ति-वर्तन्ते ज्ञातव्यानि-ज्ञेयानि। इति गाथाद्वयार्थः ॥३१॥ ततश्च—

इय ते दिणा पसत्था ता सेसेहिंपि तेसु कायव्वं । जिणजत्तादि सहरिसं ते य इमे वद्धमाणस्स ॥३३॥

आसाढसुद्धछट्ठी चेत्ते तह सुद्धतेरसी चेव । मग्गसिरकिण्हदसमी वइसाहे सुद्धदसमी य ॥३४॥

कत्तियकिण्हे चरिमा गब्भाइदिणा जहक्कमं एते । हत्थुत्तरजोएणं चउरो तह सातिणा चरमो ॥३५॥

'तेसु'इत्यादि, 'तेसु य' त्ति तेषु पुनः दिनेषु-दिवसेषु येषु गर्भादयो बभूवुः धन्या-धर्मधनलब्धारः पुण्यभाज इत्यर्थः देवेन्द्रादयः-सुरेन्द्रप्रभृतयः कुर्वन्ति-विदधति भक्तिनता-बहुमाननम्राः, किमित्याह-जिनयात्रादि-अर्हदुत्सवपूजास्नात्रप्रभृति,कुत इत्याह-विधानात्-विधिना अथवा जिनयात्रादिविधानानि, किंभूतं जिनयात्रादीत्याह-कल्याणं-श्रेयसं, कस्येत्याह-आत्मनः-स्वस्य, चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां च, इति गाथार्थः ॥३२॥ यत एवं—'इये'त्यादि, इत्यतो हेतोः पूर्वोक्ताजीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणात् ते इति येषु जिनगर्भाधानादयो भवन्ति दिना-दिवसाः,दिनशब्दः पुंल्लिगोऽप्यस्ति,प्रशस्ताः-श्रेयांसः,ततः किमित्याह-'ता' इति यस्मादेवं तस्मात् शेषैरपि-देवेन्द्रादिव्यतिरिक्तैर्मनुष्यैरपि, न केवलमिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः, तेषु गर्भादिकल्याणकदिनेषु कर्तव्यं-विधेयं जिनयात्रादि-वीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं वस्तु सहर्षं-सप्रमोदं यथा भवति,कानि च तानि दिनानीत्यस्यां जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनां तेषां वक्तुमशक्यत्वाद्वर्तमानतीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य तानि विवक्षुराह-'ते य' त्ति तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि वक्ष्यमाणानि वर्धमानस्य-महावीरजिनस्य भवन्ति । इति गाथार्थः ॥३३॥ तान्येवाह 'आसाढे'त्यादि,'कत्तिये'त्यादि, आषाढशुद्धषष्ठी-आषाढमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठी तिथिरित्येकं दिनं,एवं चैत्रमासे,तथेति समुच्चये,शुद्धत्रयोदश्येवेति द्वितीय,चैवेत्यवधारणे,तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयं,वैशाखे शुद्धदशमीति चतुर्थं, चशब्दः समुच्चयार्थः ॥३४॥

अहिगयतित्थविहाया भगवं ति णिदंसिया इमे तस्स । सेसाणवि एवं चिय णियणियतित्थेसु विण्णेया ॥३६॥
तित्थगरे बहुमाणो अब्भासो तह य जीयकप्पस्स । देविंदादिअणुगिती गंभीरपरूवणा लोए ॥३७॥
वण्णो य पवयणस्सा इयजत्ताए जिणाण णियमेणं । मग्गणुसारिभावो जायइ एत्तो चिय विसुद्धो ॥३८॥

कार्तिककृष्णे चरमा-पंचदशीति पञ्चमं,एतानि किमित्याह-गर्भादिदिनानि-गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसाः यथाक्रमं-क्रमेणैव एतान्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलक्षिता वोत्तरा हस्तोत्तरा-उत्तराफाल्गुन्यः ताभिर्योगः--संबन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगः तेन करणभूतेन चत्वारि-आद्यानि दिनानि भवन्ति,तथेति समुच्चये, स्वातिनक्षत्रेण युक्तः 'चरमो' त्ति चरमकल्याणकदिन इति प्राकृतत्वात् । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३५ ॥ अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्यत्राह—'अहिगे'त्यादि, अधिकृततीर्थविधाता- वर्तमानप्रवचनकर्ता भगवान्महावीर इति हेतोः निदर्शितानि-उक्तानि इमानि कल्याणकदिनानि तस्य वर्धमानजिनस्य, अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह--शेषाणामपि-न वर्धमानस्यैव ऋषभादीनामपि वर्तमानावसर्पिणीभरतक्षेत्रापेक्षया एवमेव-इह तीर्थे वर्धमानस्येव निजनिजतीर्थेषु--स्वकीयस्वकीयप्रवचनावसरेषु विज्ञेयानि- ज्ञातव्यानि मुख्यवृत्त्या-विधेयतयेति, इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जंबूद्वीपभरतानामृषभादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरवतानां च, यान्येव चैतेषामस्यामवसर्पिण्यां तान्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपि । इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ अथ किमेवं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह—'तित्थे'त्यादि,तीर्थकरे-जिनविषये बहुमानः-पक्षपातः तदिदं दिनं यत्र भगवानजनीत्यादिविकल्पतः, कुतो भवतीति सर्वत्र गम्यं, इति यात्रयेत्यनेन योगः, तथेति वाक्योपक्षेपार्थोऽत्र द्रष्टव्यः,अभ्यासः-

तत्तो सयलसमीहियसिद्धी णियमेण अविकलं जं सो। कारणमिमीएँ भणिओ जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥३९॥
मग्गाणुसारिणो खलु तत्ताभिणिवेसओ सुभा चेव। होइ समत्ता चेट्ठा असुभावि य णिरणुबंधत्ति ॥४०॥

अभ्यसनं चशब्दः समुच्चये जीतकल्पस्य-पूर्वपुरुषाचरितलक्षणाचारस्य, तथा देवेन्द्राद्यनुकृतिः-देवाधिपदेवदानवप्रभृत्याचारानुकरणं, तथा 'गंभीरप्ररूपणा' गंभीरं-साभिप्रायमिदं यात्राविधानं न यादृच्छिकमित्यस्यार्थस्य प्रकाशना-प्ररूपणा गंभीरप्ररूपणा कृता भवतीति, तथा लोके-जनमध्ये वर्णः-प्रसिद्धिर्जायत इति योगः, चशब्दः समुच्चये, कस्य?-प्रवचनस्य जिनशासनस्य, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, इतियात्रया-अनन्तरोक्तविधानोत्सवेन, क्रियमाणयेति गम्यं, केषां?-जिनानां-वीतरागाणां नियमेन-नियोगेन 'एत्तो चिय' त्ति यत एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं भवत्यत एव हेतोर्मार्गानुसारिभावो-मोक्षपथानुकूलोऽध्यवसाय आगमानुसारी वा जायते-भवति असन्, किंभूतः?-विशुद्धः-अनवद्यः, सन् वा विशुद्धोऽसौ जायते, विशुध्यतीत्यर्थः। इति गाथाद्वयार्थः ॥३७-३८॥ यद्यसौ जायते ततः किमित्याह-'तत्तो' इत्यादि, ततो-विशुद्धमार्गानुसारिभावात् सकलसमीहितसिद्धिः-निखिलेप्सितार्थनिष्पत्तिः नियमेन-नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह-अविकलं-अवन्ध्यं यद्-यस्मात् कारणं-हेतुः सकलसमीहितसिद्धेः भणितः-अभिहितः जिनैः-अर्हद्भिः, जिनाश्च नामजिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-जितरागद्वेषैः-विगतासत्यवादकारणैरित्यर्थः। इति गाथार्थः ॥३९॥ अथ कथमसौ मार्गानुसारी भावः सकलसमीहितसिद्धेः कारणं भणित इति?, अत्रोच्यते, शुभचेष्टानिमित्तत्वेन, एतदेव दर्शयन्नाह—'मग्गो' त्यादि, मार्गानुसारिणो-मोक्षपथानुकूलभावस्य जीवस्य खलुर्वाक्यालंकारे शुभैव चेष्टेति संबन्धः, कुत एवमित्याह-तत्त्वाभिनिवेशतो-वस्तुस्वरूपनिर्णयातिशयात् शुभैव-प्रशस्तैव, नेतरा, चैवशब्दोऽवधारणार्थः, भवति-जायते समस्ता-

णो कम्मपारतंता वट्टइ तीए ण भावओ जम्हा । इय जत्ता इय बीयं एवंभूयस्स भावस्स ॥ ४१ ॥
ता रहणिक्खमणादिवि एते उ दिणे पडुच कायव्वं । जं एसो चिय विसओ पहाण मो तीएँ किरियाए ॥४२॥

निःशेषा चेष्टा-क्रिया । अशुभा किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशंकायामाह-अशुभापि च-अप्रशस्ताऽपि च चेष्टेति वर्तते अपिचेति समुच्चये भवति केवलं निरनुबन्धा-अनुबन्धरहिता, पुनः पुनरभाविनीत्यर्थः, इतिशब्दः समाप्ताविति गाथार्थः ॥४०॥ कुतो निरनुबन्धा सेत्याह—'सो'इत्यादि, स मार्गानुसारी जीवः कर्मपारतंत्र्यात्-चारित्रमोहनीयकर्मवशादेव वर्तते-प्रवर्तते तस्यामशुभचेष्टायां,न भावतो-न पुनर्भावेन-अन्तःकरणेन,तत्त्वाभिनिवेशादेव,यस्मात्कारणात्तस्मात् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राफलनिगमनायाह-इतियात्रा-अनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सवः इति-उक्तन्यायेन शुभचेष्टाहेतुलक्षणेन बीजं-कारणं एवंभूतस्य-अनन्तरोक्तस्य सफलसमीहितसिद्धिकारणस्य भावस्य-मार्गानुसारिपरिणामस्य पूर्वोक्तस्य । इति गाथार्थः ॥४१॥ उत्सवविशेषस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव विधेयतां दर्शयन्नाह—'ता'इत्यादि,तदिति-यस्मात्तीर्थकरबहुमानादयोऽनन्तराभिहितगुणाः कल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति तस्मात् रथस्य-जिनबिम्बाधिष्ठितस्य स्यन्दनस्य जिनगृहान्निष्क्रमणं-निर्गमो नगरपरिभ्रमार्थं रथनिष्क्रमणं तदाद्यपि-तत्प्रभृतिकमपि,आदिशब्दाच्छिबिकाचित्रपटनिष्क्रमणादिग्रहः,न केवलं यात्रेत्यपिशब्दार्थः,एते तु-एतान्येव कल्याणकरूपाणि दिनानि-दिवसान् प्रतीत्य-आश्रित्य कर्तव्यं-विधेयं भवति, कस्मादेवमित्याह-यद्-यस्मात्कारणात् एप एव-कल्याणकदिनलक्षणः विषयो-गोचरः प्रधानः-शोभनः मकारस्तु प्राकृतशैलीप्रभवः तस्याः-रथनिष्क्रामणादिकायाः क्रियायाः-चेष्टायाः, इदं चावधारणमनागमोक्तदिनव्यवच्छेदार्थमेव द्रष्टव्यं, आगमोक्तदिनानां तु आगमप्रामाण्यादेव प्रधानत्वात्, अभिधीयते चागमे-

विसयप्पगरिसभावे किरियामेत्तंपि बहुफलं होइ । सक्किरियावि हु ण तहा इयरम्मि अवीयरागिव्व ॥४३॥
लद्धूण दुल्लहं ता मणुयत्तं तहँ य पवयणं जइणं । उत्तमणिदंसणेसुं बहुमाणो होइ कायव्वो ॥४४॥
एसा उत्तमजत्ता उत्तमसुयवण्णिया सदि बुहेहिं । सेसा य उत्तमा खलु उत्तमरिद्धीएँ कायव्वा ॥४५॥

"संवच्छरचाउम्मासिएसु अट्ठाहियासु य तिहीसु । सव्वायरेण लग्गइ जिणवरपूयातवगुणेसु ॥१॥" तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टाह्निकाया इहैव विधेयतयोपदिष्टत्वात् । इति गाथार्थः ॥४२॥ ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यं?, बहुफलत्वादिति ब्रूमः, एतदेवाह—'विसये'त्यादि, विषयस्य-क्रियाविशेषगोचरस्य प्रकर्षभावः-उत्कृष्टता विषयप्रकर्षभावस्तस्मिन् क्रियामात्रमपि-अविशेषणक्रियापि, आस्तां विशिष्टा, बहुफलं-प्रभूतेष्टफलं भवति-जायते, एतस्यैव व्यतिरेकमाह-सत्क्रिया-विशिष्टचेष्टापि, आस्तां क्रियामात्रं हुशब्दोऽलंकृतौ न तथा—न तत्प्रकारा न बहुफला भवति इतरस्मिन्-विषयस्य प्रकर्षाभावे, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह-अवीतरागे इव-पुरुषमात्रवत्, यथा ह्यवीतरागे गुणोत्कर्षाभावेन विषयप्रकर्षाभावात् महत्यपि पूजादिका चेष्टा बहुफला न भवति तथा कल्याणकदिनेभ्योऽन्यत्र । इति गाथार्थः ॥४३॥ अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कुर्वन्नुपदेशमाह-'लद्धूणे'त्यादि, लब्ध्वा-प्राप्य दुर्लभं—असुलभं, 'ता'इति यस्मादिन्द्रादिभिः कृता बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात् कारणात् मनुजत्वं—नरत्वं तथाचेति समुच्चयार्थः प्रवचनं—शासनं जैनं-सर्वज्ञं, नरत्वजिनमतप्राप्तियुक्तस्यैव विशिष्टोपदेशयोग्यता तत्सफलताकरणे सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्याद्युक्तं, उत्तमनिदर्शनेषु—प्रधानमार्गप्रणेतृष्विन्द्रादिलक्षणेषु, तद्यथा—कल्याणकयात्रा विधेया देवप्रभुप्रभृतिप्रवर्तितेयं यत इति, बहुमानः—पक्षपातः भवति-जायते कर्तव्यो विधेयः, न तु मोहोपहतसत्त्वनिदर्शनेषु, यथाऽमुनाऽमुना वाऽस्मत्पितृपितामहादिनाऽन्येन वेदं विहितमिति विधेयमिति

इयराऽतऽबहुमाणोऽवण्णा य इमीएँ णिउणबुद्धीए। एयं विचिंतियव्वं गुणदोसविहावणं परमं ॥४६॥
जेट्ठंमि विज्जमाणे उचिए अणुजेट्ठपूयणमजुत्तं। लोगाहरणं च तहा पयडे भगवंतवयणम्मि ॥४७॥

गाथार्थः ॥४४॥ अधिकृतयात्रागतमेवोपदेशान्तरमाह—'एसे'त्यादि, एषाऽनन्तरोक्ता कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा-प्रधानयात्रा, तदन्यस्य का वार्तेत्याह-उत्तमश्रुतवर्णिता-प्रधानागमाभिहिता या सा शेषा च-कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि उत्तमा खलु-प्रधानैव, उत्तमश्रुतावर्णिता तु लोकरूढिकृताऽनुत्तमेति, तदथोत्तमत्वात् सकृत्-सदा बुधैः-विद्वद्भिः उत्तमर्ध्या-प्रधानविभवेन, न यथाकथञ्चित्, कर्तव्या-विधेया। इति गाथार्थः ॥४५॥ उक्तव्यतिरेके यदापद्यते तदाह—'इयरे'त्यादि, इतरथा-अन्यथा उत्तमर्ध्या तदकरणे अथवोत्तमयात्राया अकरणे तत्र-यात्राविशेषाभिधायके उत्तमश्रुते उत्तमनिदर्शनेषु वा बहुमानः-प्रीतिस्तद्बहुमानः तत्प्रतिषेधोऽतद्बहुमानः स भवति,तदुक्तयात्राविशेषस्याकरणात् ,तथाऽवज्ञा च-अवधीरणा च कृता भवति अस्यामुत्तमयात्रायामिति, निपुणबुद्ध्या-सूक्ष्मधिया एतदनन्तरोक्तमनर्थद्वयं विचिन्तयितव्यं-परिभावनीयं,यतो गुणदोषविभावनं-अर्थानर्थालोचनं सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं-प्रधानं, ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावात्। इति गाथार्थः ॥४६॥ उत्तमश्रुतोक्तयात्रावज्ञानेन लोकरूढियात्राकरणमयुक्तमिति दर्शयन्नाह—'जेट्ठंमी'त्यादि, ज्येष्ठे-वृद्धतरे पुत्राद्यपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति उचिते-निर्दोषत्वेन पूजायोग्ये अनुज्येष्ठस्य-लघोः पुत्रादेः पूजनं-सत्कारः अयुक्तं-असंगतं,यथेति शेषः,इति दृष्टान्तः,दार्ष्टान्तिकमाह-लोकाहरणं च-लोकोदाहरणमपि पित्राद्युद्देशेनामुष्मिन् वा मासादौ अमुनाऽमुना च क्रियते यात्राऽतस्तथैव सा नो विधेयेत्येवंलक्षणं तथा-तद्वदयुक्तमेवानुज्येष्ठपूजनवत् प्रकटे-स्पष्टे भगवद्वचने-जिनागमे सकलजगज्जनज्येष्ठे सति। इति गाथार्थः ॥४७॥ अयुक्तत्वमेव लोकोदाहरणस्य भावयन्नाह-

लोगो गुरुतरगो खलु एव संति भगवताोऽवि इट्ठाओ । मिच्छत्तमा य एए एसा आसायणा परमा ॥४८॥
इय अण्णत्थऽवि सम्मं णाउं गुरुलाघव विसेसेण । इट्ठे पयट्टियव्वं एसा खलु भगवतो आणा ॥४९॥
जत्ताविहाणमेयं णाऊण गुरुमुहाउ धीरेहिं । एवं चिय कायव्वं अविरहियं भत्तिमंतेहिं ॥५०॥ जत्ताविही सम्मत्तो९ ॥

'लोगो'इत्यादि, लोक एव-सामान्यजन एव गुरुतरको-गरीयान् खलुरवधारणे तस्य च दर्शित एव प्रयोगः, एवं-उक्तनीत्या भगवज्जनराज्ञायेऽपि लोकप्रमाणीकरणलक्षणे वस्तुनि सति भगवतोऽपि-सकलजगज्ज्येष्ठजिनादपि सकाशात् इष्टः-अभिमतः, इतिः समाप्तौ, ततः किमित्याह-मिथ्यात्वं-मिथ्यादृष्टित्वं ओकारो निपातः पूरणार्थः चशब्दः पुनरर्थः एतद्-भगवदपेक्षया लोकस्य गुरुत्वाभिगमनं, विपरीतबोधरूपत्वात्, तथा एषा-लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमनलक्षणा आशातना-सर्वज्ञावज्ञा परमा-प्रकृष्टा,अनन्तसंसारहेत्वर्थः, सर्वज्ञवचनमेव प्रधानतयाऽङ्गीकर्तव्यं, लोकस्तु तद्विरुद्धानुष्ठान एव । इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ अथ सर्वमतमुपदेशमाह-'इये'त्यादि,इति-एव कल्याणकयात्राव्यतिरिक्ते दानादावपि सम्यग्-अवैपरीत्येन ज्ञात्वा-विज्ञाय गुरुलाघव-सारेतरविभागं विशेषेण-परस्परापेक्षयाऽऽधिक्येन इष्टे-अभिमते वैयावृत्त्यादौ प्रवर्तितव्यं-यतितव्यं,यत एषा खलु-इयमेवानन्तरोक्ता भगवतो-जिनस्याज्ञा-आदेशः । इति गाथार्थः ॥४९॥ अथोपसंहरन्नाह-'जत्ते'त्यादि,यात्राविधानं-जिनोत्सवविधिः एतद्-अनन्तरोक्तं ज्ञात्वा-विज्ञाय गुरुमुखात्-सूरिवदनात् धीरैः-धीमद्भिः 'एवंचिय'त्ति एवमेव-उक्तविधिनैव कर्तव्यं-विधेयं अविरहितं-संततं भक्तिमद्भिः बहुमानवद्भिः । इति गाथार्थः ॥ ५० ॥

॥ यात्राविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥ ९॥

॥ अथ दशमपञ्चाशकम् ॥

नमिऊण महावीरं भव्वहियट्ठाएँ लेसओ किंपि । वोच्छं समणोवासगपडिमाणं सुत्तमग्गेणं ॥१॥
समणोवासगपडिमा एक्कारस जिणवरेहिं पण्णत्ता । दंसणपडिमादीया सुयकेवलिणा जतो भणियं ॥२॥
दंसणवयसामाइयपोसहपडिमाअबंभसच्चित्ते । आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जए समणभूए य ॥ ३ ॥

उक्तो यात्राविधिः,तदुक्तौ चोक्तो द्रव्यस्तवप्रपञ्चः,अथ श्रावकधर्माधिकारात् तदुचितभावस्तवविशेषमुपासकप्रतिमालक्षणमभिधित्सुर्मंगलाद्यभिधानायाह-'नमी'त्यादि,नत्वा-प्रणम्य महावीरं-वर्धमानजिनं भव्यानां-शुभजीवानां हितं-पथ्यं स एवार्थः-पदार्थः प्रयोजनं वा भव्यहितार्थस्तस्मै भव्यहितार्थाय-भव्योपकारायेति,अनेन च परोपकारस्य मुमुक्षूणामादेयतां दर्शयति,लेशतः-संक्षेपेण,अल्पग्रन्थेनापि कश्चित्समस्तमभिधेयमुच्यत इत्यत आह-किमपि-स्तोकमभिधेयजातं,न समस्तमपीत्यपव्यर्थः,वक्ष्ये-भणिष्यामि श्रमणोपासकप्रतिमानां-श्रावकाभिग्रहविशेषाणां संबंधि, न पुनर्भिक्षुप्रतिमानां, श्रावकधर्माधिकाराद् ,कथमित्याह-सूत्रमार्गेण-दशाश्रुतस्कन्धाभिधानागमपथेन,अनेन च श्रुतविशेषालंबनत्वात् प्रकरणस्यास्य प्रामाण्यमावेदितं । इति गाथार्थः ॥१॥ अथ कियत्यः किमादिकाश्च ता इत्यस्यामाशंकायामाह-'समे'त्यादि, श्रमणोपासकप्रतिमाः-श्रावकाभिग्रहविशेषाः एकादश संख्यया जिनवरैः-अर्हद्भिः प्रज्ञप्ता-उक्ताः दर्शनप्रतिमादिकाः-सम्यक्त्वाभिग्रहप्रभृतिकाः, एतदेव भद्रबाहुस्वामिवचनेन समर्थयन्निदमाह-श्रुतकेवलिना-परिपूर्णश्रुतधरेण भद्रबाहुस्वामिनेत्यर्थः यतो-यस्माद् भणितं-उक्तं । इति गाथार्थः ॥२॥ एतदेवाह-'दंसणे'त्यादि,दर्शनं च-

दंसणपडिमा णेया सम्मत्तजुयस्स जा इहं बोंदी । कुग्गहकलंकरहिया मिच्छत्तखओवसमभावा ॥४॥
मिच्छत्तं कुग्गहकारणंति खओवसममुवगए तम्मि । ण तओ कारणविगलत्तणेण सदि विसविगारो व्व ॥५॥

सम्यग्दर्शनं व्रतानि च-अनुव्रतादीनि सामायिकं च-सावद्येतरयोगवर्जनासेवनाभ्यासभावं पौषधं च-पर्वदिनानुष्ठेयमुपवासादि प्रतिमा-कायोत्सर्गः अब्रह्म च-अब्रह्मचर्यं सचित्तं-सचेतनद्रव्यमिति समाहारद्वन्द्वः ततस्तस्मिन् विषये, प्रतिमेति प्रकरणगम्यं, इह च दर्शनादिषु पंचसु विधिद्वारेण प्रतिमा, अब्रह्मसचित्तयोस्तु वर्जनद्वारेणेति । तथा आरंभश्च-स्वयं कृष्यादिकरणं प्रेषणं-परेषां कृष्यादिषु प्रवर्तनं उद्दिष्टं च-अधिकृतश्रावकमुद्दिश्य सचेतनं सदचेतनीकृतं पक्वं वा यो वर्जयति-परिहरतेऽसावारंभप्रेषोद्दिष्टवर्जकः, प्रतिमेति प्रकृतमेव, इह च प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदादेवमुपन्यासः, तथा श्रमणः-साधुः स इव यः (स) श्रमणभूतः भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात्, इहापि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदेनोपन्यासः चशब्दः समुच्चयार्थः, एतासां च दर्शनप्रतिमा व्रतप्रतिमेत्येवमादिरभिलापो द्रष्टव्यः । इति द्वारगाथासमासार्थः ॥३॥ अथ दर्शनप्रतिमास्वरूपनिरूपणायाह—'दंसणपडी'त्यादि, दर्शनस्येति उपचाराद्दर्शनवतो दर्शनप्रधाना वा प्रतिमा दर्शनप्रतिमा ज्ञेया-ज्ञातव्या, कीदृशीत्याह-सम्यक्त्वयुक्तस्य-सम्यग्दर्शनवतो जीवस्य या इह प्रतिमाविचारे बोंदी-तनुः, किंभूतेत्याह-कुग्रहः-तत्त्वं प्रति शास्त्रबाधितत्वेन कुत्सितोऽभिनिवेशः स एव कलंको-मालिन्यं तेन रहिता-वियुता या सा तथा, कुतः सैवंभूतेत्याह-मिथ्यात्वक्षयोपशमभावात्-दर्शनमोहनीयकर्मविगमविशेषसद्भावात् । इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ अनन्तरगाथापश्चार्धभावनार्थमाह—'मिच्छे'त्यादि, मिथ्यात्वं-दर्शनमोहनीयकर्मविशेषस्तदुक्तिं कुग्रहकारणं-असत्याभिनिवेशहेतुः इति हेतोः क्षयोपशमं-विगमविशेषं उपगते-प्राप्ते सति तस्मिन् मिथ्यात्वे न-नैव भवति तकः-स कुग्रहः, एतदपि कथमित्याह-कारणविकल-

१०॥

होइ अणाभोगजुओ ण विवज्जयवं तु एस धम्मम्मि । अत्थिक्कादिगुणजुतो सुहाणुबंधो णिरतियारो ॥६॥

रौन-हेतुवैकल्यात्, किंवदित्याह-मकृत्-सदा विषविकारवत्-कालकूटविकृतिरिव, यत्र यस्य कारणवैकल्यं तत्र तन्नास्ति, यथा देहे विषवैकल्यात् विषविकारो, मिथ्यात्वकर्मोदयरूपकारणवैकल्यं च कुग्रहस्य दर्शनप्रतिमायां अतो नास्त्यसौ । इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ अथ दर्शनप्रतिमाप्रतिपन्नः प्राणी किंरूपो भवतीत्यत्र जिज्ञासायामाह—'होई'त्यादि, भवति- जायते अनाभोगयुतो-मनागज्ञानयुक्तः कदाचित् ज्ञानावरणोदयविशेषात् धर्मे इति योगः, न तु-न पुनः विपर्ययवान्-विपरीतबोधयुक्तो भवति, मिथ्यात्वोदयाभावेनातत्त्वाभिनिवेशरहितत्वात्, तुशब्दो योजित एव, एष दर्शनप्रतिमायुतः प्राणी, केत्याह-धर्मे-श्रुतचारित्रलक्षणे, अनेनास्य दोषाभाव उक्तः, अथ गुणसद्भावमाह-आस्तिक्यादिगुणयुतः-आस्तिक्यानुकंपानिर्वेदसंवेगप्रशमगुणान्वितः, ग्रन्थान्तरे यथाप्राधान्यन्यायमाश्रित्य प्रशमादयोऽभिधीयन्ते, इह त्वास्तिक्यप्रभवत्वात् क्रमेणान्येषामेवमुपन्यासः,आस्तिक्यमेव चोररीकृत्य दर्शनप्रतिमोच्यते,तथाहि-"पढमं उवासगपडिमं पडिवण्णे समणोवासए सव्वधम्मरुई आविभवई,आहिय-... अत आस्तिक्यादिगुणयुत इत्युक्तं,तथा शुभस्य प्रशस्तपरिणामस्य तत्फलस्य वा अनुबन्धः-... ति शुभानुबन्धी,तथा निरतिचारः-शंकाकांक्षादिदर्शनातिक्रमरहित इति, तदेवमितो ग्रन्थाद्-... तमद्धावावधिकं प्रतिमेत्यवसीयते, उपासकदशासु पुनरानन्दादीनां प्रतिमाकारिश्रावकाणां प्रतिमैकादशकस्य प्रतिपत्तिर्वर्णिता तत्प्रमाणं च मार्धं वर्षपञ्चकमिति, ततोऽनुमीयते- दर्शनप्रतिप-... तदतिरेकश्चेह राजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जन यथावत्प्रमदर्शनाचारपालनादिभिः सभाव्यते, का-

वोंदी य एत्थ पडिमा विसिट्ठगुणजीवलोगओ भणिया। ताएरिसगुणजोगा सुहो उ सो खावणत्थत्ति ॥७॥
एवं वयमाईसुवि दट्ठव्वमिणंति णवरमेत्थ वया। घेप्पंतऽणुव्वया खलु थूलगपाणवहविरयादी ॥८॥

लमानं चास्यामेको मासः, यत एकादिकया एकोत्तरया वृद्ध्या एकादशसु प्रतिमासु यथोक्तं कालमानं भवति। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अथ दशाश्रुतस्कन्धादिषु प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहार्थो व्याख्यातः, इह पुनः कस्मात्तद्व्याख्यानत्यागेन शरीरार्थो व्याख्यात इत्याशंक्याह—'वोंदी'त्यादि, वोन्दिश्च–तनुः पुनः अत्र प्रकरणे, ग्रन्थान्तरे त्वभिग्रहः प्रतिमा, प्रतिमेतिशब्देन भणिता–उक्ता, किमर्थमिति चेद् उच्यते–विशिष्टगुणः–संसाराभिनन्दिसत्त्वापेक्षया मार्गाभिमुखादिः स चासौ जीवलोकश्च–सत्त्वलोको विशिष्टगुणजीवलोकस्तस्मात् सकाशात् शुभस्तु–प्रशस्त एव स दर्शनप्रतिमावान् इति ख्यापनार्थं–एतत्प्रतिपादनायेति, कुतः पुनः स शुभ इत्याह–'तयेदृशगुणयोगात्' तया वोन्द्या हेतुभूतया य ईदृशगुणयोगः–प्रागुक्तदर्शनप्रतिमागुणसंबन्धस्तस्मात्, तयेदृशगुणयोगादित्येतस्य च संस्कृतस्य स्थाने 'ताएरिसगुणजोगा' इति प्राकृतं न विरुद्धं, एवंविधप्रयोगाणामनेकशो दर्शनादिति, इदमुक्तं भवति–आस्तिक्यगुरुदेववैयावृत्त्यनियमादिभिर्गुणैर्गुणिलोकात् शुभतरः प्रतिमावान्, ते च कायक्रियारूपास्तदभिव्यंग्याश्च वर्तन्ते, ततस्तेषां तदभिव्यक्तेश्च वोन्दिहेतुकत्वात् वोन्दिवतः प्रतिमावतः प्राधान्यमिति ख्यापनाय वोन्दिः प्रतिमेत्युक्तमिति गाथार्थः॥७॥ एवं तावद्दर्शनप्रतिमाशब्दस्याभिधेयमभिधाय शेषप्रतिमासु तदतिदेशं व्रतप्रतिमास्वरूपं चाह—'एव'मित्यादि, एवं–अनेनैव प्रकारेण दर्शनप्रतिमोक्तेन व्रतादिष्वपि–व्रतसामायिकप्रभृतिषु सर्वप्रतिमासु, न केवलं दर्शनप्रतिमायामेव, द्रष्टव्यं–अवसेयं इदं प्रतिमाशब्दस्याभिधेयं, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। एवमतिदेशद्वारेण सामान्यतो व्रतादिप्रतिमा व्याख्याय विशेषव्याख्यानार्थमाह–

होइ अणाभोगजुओ ण विवज्जयवं तु एस धम्मम्मि । अत्थिक्कादिगुणजुतो सुहाणुबंधो णिरतियारो ॥६॥

त्वेन–हेतुवैकल्यात्, किंवदित्याह–सकृत्–सदा विषविकारवत्–कालकूटविकृतिरिव, यत्र यस्य कारणवैकल्यं तत्र तन्नास्ति, यथा
देहे विषवैकल्यात् विषविकारो, मिथ्यात्वकर्मोदयरूपकारणवैकल्यं च कुग्रहस्य दर्शनप्रतिमायां अतो नास्त्यसौ । इति गाथार्थः
॥ ५ ॥ अथ दर्शनप्रतिमाप्रतिपन्नः प्राणी किंरूपो भवतीत्यत्र जिज्ञासायामाह—'होई'त्यादि, भाति– जायते अनाभोगयुतो–
मनागज्ञानयुक्तः कदाचित् ज्ञानावरणोदयविशेषात् धर्मे इति योगः, न तु–न पुनः विपर्ययवान्–विपरीतबोधयुक्तो भवति, मिथ्या-
त्वोदयाभावेनातत्त्वाभिनिवेशरहितत्वात्, तुशब्दो योजित एव, एष दर्शनप्रतिमायुतः प्राणी, केत्याह–धर्मे–श्रुतचारित्रलक्षणे,
अनेनास्य दोषाभाव उक्तः, अथ गुणसद्भावमाह–आस्तिक्यादिगुणयुतः–आस्तिक्यानुकंपानिर्वेदसंवेगप्रशमगुणान्वितः, ग्रन्थान्तरे
यथाप्राधान्यन्यायमाश्रित्य प्रशमादयोऽभिधीयन्ते, इह त्वास्तिक्यप्रभवत्वात् क्रमेणान्येषामेवमुपन्यासः,आस्तिक्यमेव चोररीकृत्य
दशाश्रुतस्कन्धादौ दर्शनप्रतिमोच्यते,तथाहि–"पढमं उवासगपडिमं पडिवण्णे समणोवासए सव्वधम्मरुई आविभवई,आहिय-
दिट्ठी आहियपण्णे" इत्यादि तत्सूत्रं अत आस्तिक्यादिगुणयुत इत्युक्तं,तथा शुभस्य प्रशस्तपरिणामस्य तत्फलस्य वा अनुबन्धः–
अविच्छेदः शुभानुबन्धः सोऽस्यास्तीति शुभानुबन्धी,तथा निरतिचारः–शंकाकांक्षादिदर्शनातिक्रमरहित इति, तदेवमितो ग्रन्थाद्-
र्शनप्रतिपत्तिमात्रं निरतिचारसम्यक्त्वसद्भावावधिकं प्रतिमेत्यवसीयते, उपासकदशासु पुनरानन्दादीनां प्रतिमाकारिश्रावकाणां
पूर्वं प्रतिपन्नदर्शनव्रतानां प्रतिमैकादशकस्य प्रतिपत्तिर्वर्णिता तत्प्रमाणं च सार्धं वर्षपञ्चकमिति, ततोऽनुमीयते– दर्शनप्रतिप-
त्तिमात्रादतिरिक्तस्वभावा सा, तदतिरेकश्चेह राजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जनं यथावत्समग्रदर्शनाचारपालनादिभिः संभाव्यते, का-

वोंदी य एत्थ पडिमा विसिट्ठगुणजीवलोगओ भणिया। ताएरिसगुणजोगा सुहो उ सो खावणत्थत्ति ॥७॥
एवं वयमाईसुवि दट्ठव्वमिणंति णवरमेत्थ वया। घेप्पंतऽणुव्वया खलु थूलगपाणवहविरयादी ॥८॥

लमानं चास्यामेको मासः, यत एकादिकया एकोत्तरया वृद्ध्या एकादशसु प्रतिमासु यथोक्तं कालमानं भवति। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अथ दशाश्रुतस्कन्धादिषु प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहार्थो व्याख्यातः,इह पुनः कस्मात्तद्व्याख्यानत्यागेन शरीरार्थो व्याख्यात इत्याशंक्याह—'वोंदी'त्यादि,वोन्दिश्च-तनुः पुनः अत्र प्रकरणे, ग्रन्थान्तरे त्वभिग्रहः प्रतिमा, प्रतिमेतिशब्देन भणिता-उक्ता,किमर्थमिति चेद् उच्यते-विशिष्टगुणः-संसाराभिनन्दिसत्त्वापेक्षया मार्गाभिमुखादिः स चासौ जीवलोकश्च-सत्त्वलोको विशिष्टगुणजीवलोकस्तस्मात् सकाशात् शुभस्तु-प्रशस्त एव स दर्शनप्रतिमावान् इति ख्यापनार्थं-एतत्प्रतिपादनायेति,कुतः पुनः स शुभ इत्याह-'तयेदृशगुणयोगात्' तया वोन्द्या हेतुभूतया य ईदृशगुणयोगः-प्रागुक्तदर्शनप्रतिमागुणसंबन्धस्तस्मात् ,तयेदृशगुणयोगादित्येतस्य च संस्कृतस्य स्थाने 'ताएरिसगुणजोगा' इति प्राकृतं न विरुद्धं, एवंविधप्रयोगाणामनेकशो दर्शनादिति, इदमुक्तं भवति-आस्तिक्यगुरुदेववैयावृत्त्यनियमादिभिर्गुणैर्गुणिलोकात् शुभतरः प्रतिमावान्, ते च कायक्रियारूपास्तदभिव्यंग्याश्च वर्तन्ते, ततस्तेषां तदभिव्यक्तेश्च वोन्दिहेतुकत्वात् वोन्दितः प्रतिमावतः प्राधान्यमिति ख्यापनाय वोन्दिः प्रतिमेत्युक्तमिति गाथार्थः॥७॥ एवं तावद्दर्शनप्रतिमाशब्दस्याभिधेयमभिधाय शेषप्रतिमासु तदतिदेशं व्रतप्रतिमास्वरूपं चाह—'एव'मित्यादि, एवं-अनेनैव प्रकारेण दर्शनप्रतिमोक्तेन व्रतादिष्वपि-व्रतसामायिकप्रभृतिषु सर्वप्रतिमासु, न केवलं दर्शनप्रतिमायामेव, द्रष्टव्यं-अवसेयं इदं प्रतिमाशब्दस्याभिधेयं, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। एवमतिदेशद्वारेण सामान्यतो व्रतादिप्रतिमा व्याख्याय विशेषव्याख्यानार्थमाह—

सम्मत्तोवरि ते सेसकम्मुणो अवगए पुहुत्तम्मि । पलियाण होंति णियमा सुहायपरिणामरूवा उ ॥९॥
बंधादि असक्किरिया संतेसु इमेसु पहवइ ण पायं । अणुकंपधम्मसवणादिया उ पहवति विसेसेण ॥१०॥
सावज्जजोगपरिवज्जणादिरूवं तु होइ विण्णेयं । सामाइयमित्तरियं गिहिणो परमं गुणट्ठाणं ॥११॥

नवर-केवलं अत्र व्रतप्रतिमायां व्रतानि-अभिग्रहाः 'घेप्पंति'त्ति गृह्यन्ते-आद्रियन्ते अणुव्रतानि खलु-देशमूलगुणा एव, खलुरव-
धारणे, किंस्वरूपाणि तानीत्याह-स्थूलकप्राणवधविरत्यादीनि-असूक्ष्मसत्त्वहिंसाविरमणप्रभृतीनि, आदिशब्दात् स्थूलकमृषावाद-
विरत्यादिपरिग्रह । इति गाथार्थः ॥८॥ अथ तानि यदा भवन्ति यत्स्वरूपाणि चेत्येतद्दर्शनार्थमाह—'सम्मे'त्यादि, सम्यक्त्वो-
परि-सम्यक्त्वलाभकालस्योर्ध्वं ते इति-तान्यणुव्रतानि शेषकर्मणः,सम्यक्त्वलाभकाले यत् क्षपितं तदपेक्षया शेषस्यादेशः, न तु
सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्य मोहनीयादिकर्मस्थितिबन्धलक्षणस्य,अपगते-क्षीणे पृथक्त्वे-द्विप्रभृतिके नवान्ते संख्याविशेषे, केषा-
मित्याह-पल्यानां-पल्योपमानां भवन्ति-जायन्ते नियमाद्-अवश्यंतया,तथा शुभात्मपरिणामरूपाणि तु-प्रशस्तजीवाध्यवसाय-
स्वभावानि एव, क्षायोपशमिकत्वात्। इति गाथार्थः ॥९॥ तेषां शुभात्मपरिणामस्वरूपत्वादेव यत् स्यात्तदाह—'बंधे'त्यादि,बन्धा-
दिः-बन्धवधच्छविच्छेदप्रभृतिः असत्क्रिया-अशोभना चेष्टा प्रतिव्रतमतिचारपञ्चकरूपा सत्सु-विद्यमानेषु एषु अणुव्रतेषु प्रभवति-
जायते न च-नैव प्रायो-बाहुल्येन, प्रमादादिना कदाचित्स्यादपीतिप्रायोग्रहणं, अनुकंपाधर्मश्रवणादिका तु-जीवदयाधर्मशास्त्रा-
कर्णनप्रभृतिका पुनः क्रियेति प्रकृतं प्रभवति-जायते विशेषेण-सुतरां, दर्शनप्रतिमापेक्षया व्रतमात्रापेक्षया वेति। तदेवं व्रतप्रतिमा
निरतिचारपञ्चाणुव्रतपालनरूपा उपाशकदशाभिप्रायेण चार्थापत्तिलभ्येन मासद्वयमानेति, अतोऽन्यत्र व्रतमात्रमेव। इति गाथार्थः

सामाइयंमि उ कए समणो इव सावओ जतो भणितो । बहुसो विहाणमस्स य तम्हा एयं जहुत्तगुणं ॥१२॥
मणदुप्पणिहाणादि ण होंति एयम्मि भावओ संते । सति भावावट्ठियकारिया य सामण्णवीयंति ॥१३॥

॥ १० ॥ अथ सामायिकप्रतिमां विवक्षुः सामायिकशब्दार्थमाह—'सावे'त्यादि, सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपं-सपापव्यापारपरिहारनिरवद्ययोगासेवास्वभावं तुशब्दः पुनरर्थः भवति-स्यात् विज्ञेयं-अवसेयं सामायिक प्रागुक्तं इत्वरः-स्तोकः कालो यत्रास्ति तदित्वरिकं-मुहूर्तादिप्रमाणं गृहिणः-श्रावकस्य परमं-प्रधानं शेषगुणस्थानापेक्षया गुणस्थानं-देशचारित्रविशेषो गुणाश्रयो वेति गाथार्थः ॥ ११ ॥ परमगुणस्थानत्वमेवास्य समर्थयन्नाह—'सामे'त्यादि, सामायिके एव-समभावरूपे, न तु व्रतान्तरे तुशब्दोऽवधारणार्थः कृते-प्रतिपन्ने सति श्रमण इव-साधुतुल्यः सिद्धिसुखपरमसाधनभूतसमभावसाधर्म्यात् यतो-यस्मात्कारणात् भणितः-अभिहितः तथा बहुशः-अनेकशः विधानं च-आसेवनं च अस्य सामायिकस्य भणितं निर्युक्तिकृता,तथाहि-"सामाइयंमि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ १ ॥" तस्मात्कारणात एतत्सामायिकं यथोक्तगुणं-प्रागभिहितगुणं परमं गुणस्थानमित्यर्थः। इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ अत्र सामायिके सति यन्न भवति यच्च भवति तद्दर्शयन्नाह—'मणे'त्यादि, मनोदुष्प्रणिधानादीनि-मनोदुष्प्रणिधानवचनदुष्प्रणिधानकायदुष्प्रणिधानानि प्रथमप्रकरणोक्तरूपाणि न भवन्ति-न जायन्ते एतस्मिन् सामायिके भावतो-भावेन, न तु द्रव्यतः, सति-विद्यमाने, तथा स्मृतिभावः-सामायिकं प्रति कृताकृतादिविषयस्मरणसद्भावः तथाऽनवस्थितकारिता-अवस्थितसामायिककरणनिषेधरूपा, भवतीति प्रकृतं,चशब्दः समुच्चये, कस्मादेवमित्याह-श्रामण्यबीजं-श्रमणभावहेतुः इतिकृत्वा, यत् श्रमणभावस्य परमसामायिकरूपस्य बीज तत्कथं मनोदुष्प्रणिधानादियुक्तं भवति ?," कारणानुरूपत्वा-

पोसेइ कुसलधम्मे जं ताऽऽहारादिचागणुट्ठाणं । इह पोसहोत्ति भण्णति विहिणा जिणभासिएणेव ॥१४॥
आहारपोसहो खलु सरीरसकारपोसहे चेव । बंभव्वावारेसु य एयगया धम्मवुड्ढित्ति ॥१५॥
अप्पडिदुप्पडिलेहियसेज्जासंथारयाइ वज्जेति । सम्मं च अणणुपालणमाहारादीसु एयम्मि ॥१६॥

स्यातरार्थस्येति । यद्यप्येषा सामायिकप्रतिमा एतस्य प्रकरणस्य दशाश्रुतस्कन्धस्य चाभिप्रायेणानियतकालमाना तथाऽप्यावश्यकचूर्ण्यभिप्रायेणोपासकदशाभिप्रायेण च प्रतिदिनमुभयसन्ध्यं सामायिककरणतो मासत्रयमानोत्कर्षेण द्रष्टव्या, जघन्यतस्तु सर्वा अप्येकाहादिमाना इति, एतच्चान्ते वक्ष्यते । इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ उक्ता सामायिकप्रतिमा, अधुना पौषधप्रतिमावसरः, तत्र च पोषधमेव स्वरूपतो दर्शयन्नाह—'पोसे'त्यादि,पोषयति-पुष्णाति कुशलधर्मान्-शुभसमाचारान् प्राणातिपातविरमणादीन् यद्-यस्मात् तत्-तस्मात् आहारादित्यागानुष्ठानं-भोजनदेहसत्काराब्रह्मव्यापारपरिहारकरणं इह प्रक्रमे पोषध इत्येवं भण्यते-अभिधीयते, पोषं धत्ते पुष्णाति वा धर्मानिति निरुक्तात् , कथं यदाहारादित्यागानुष्ठानमित्याह-विधिना-विधानेन, न तु यथाकथञ्चित्, किंभूतेन ?-जिनभाषितेनैव-सर्वज्ञोक्तेनैव, न स्वमतिचर्चितेन, विधानं च प्रथमप्रकरण एवोक्तमिति न पुनर्भण्यते । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ अथ पोषधं तत्त्वतो निरूप्य भेदतस्तन्निरूपयन्नाह—'आहारे'त्यादि, आहारपोषधः प्रागुक्तस्वरूपः खलुर्वाक्यालंकारे शरीरसत्कारपोषधः पूर्वोक्तस्वरूप एव चैवशब्दः समुच्चयार्थः ब्रह्मव्यापारयोश्चेति-एतद्विषयश्च पोषधो भवति, ब्रह्मचर्यपोषधोऽव्यापारपोषधश्चेत्यर्थः, आहारादिपोषध इति कोऽर्थः ?, उच्यते, एतद्गता-आहारादित्यागसमाश्रिता धर्मवृद्धिः-धर्मपुष्टिः, पोषं धत्त इति व्युत्पादनात् । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥१५॥ इह यद्वर्जयत्यसौ तदाह—'अप्प-

सम्ममणुव्वयगुणवयसिक्खावयवं थिरो य णाणी य । अट्ठमिचउद्दसीसुं पडिमं ठाएगराईयं ॥१७॥
असिणाणवियडभोई मउलियडो दिवसबंभयारी य । रत्तिं परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥१८॥

डी'त्यादि, 'अप्पडि'त्ति पदावयवे पदसमुदायोपचारात् अप्पडिलेहियत्ति दृश्यं, नतश्चाप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकादि वर्जयति-परिहरति, तत्राप्रत्युपेक्षितं-अनिरीक्षितं दुष्प्रत्युपेक्षितं-दुर्निरीक्षितं शय्या-शयनं तदर्थः संस्तारकः-कंबल्यादिखंडं अथवा शय्या-वसतिः सर्वाङ्गीणशयनं वा संस्तारकश्च-ततो लघुतरः इति समाहारद्वन्द्वात् शय्यासंस्तारकं, आदिशब्दादप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारकमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिमप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रश्रवणभूमिं चेति, सम्यग्-यथागमं च अननुपालनं-अनाराधनं भोजनाद्यौत्सुक्यादिभिः आहारादिष्विति-सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वादाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारपोषधानां एतस्मिन्निति पोषधे वर्जयतीति प्रकृतमिति । तदेवमियं पोषधप्रतिमा ग्रन्थान्तराभिप्रायेणाष्टम्यादिपर्वसु संपूर्णपोषधानुपालनारूपोत्कर्षतश्चतुर्मासप्रमाणा भवति । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ अथ प्रतिमाप्रतिमास्वरूपमाह—'सम्ममे'त्यादि, सम्यमिति-सम्यक्त्वं अणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतपदानि प्रतीतानि यस्य सन्ति स तद्वान्, पूर्वोक्तप्रतिमाचतुष्कयुक्त इत्यर्थः, सोऽपि स्थिरः-अविचलसत्त्वः, इतरो हि तद्विराधको भवति, यतः सा प्रतिमा रात्रौ चतुष्पथादौ च विधीयते, तत्र चोपसर्गाः संभवन्तीति, ज्ञानी च-ज्ञाता प्रतिमाकल्पादेः, अज्ञानो हि सर्वत्राप्ययोग्यः, किं पुनरस्यामिति?, चशब्दौ समुच्चयार्थौ, अष्टमीचतुर्दश्योः प्रतीतयोः, उपलक्षणत्वादस्य पोषधदिवसेष्विति दृश्यं, प्रतिमां कायोत्सर्गं वा इति ठाइत्ति-अधितिष्ठति करोतीत्यर्थः, किंप्रमाणमित्याह-एका रात्रिः-परिमाणमस्या इत्येकरात्रिकी-सर्वरात्रिकी तां, यस्तस्य प्रतिमाप्रतिमा भवतीति शेषः । इति गाथार्थः

झायइ पडिमाएँ ठिओ तिलोगपुज्ज जिणे जियकसाए। णियदोसपच्चणीयं अण्णं वा पंच जा मासा ॥१९॥
पुव्वोइयगुणजुत्तो विसेसओ विजियमोहणिज्जो य। वज्जइ अबंभमेगंतओ उ राइंपि थिरचित्तो ॥२०॥

॥ १७॥ शेषदिनेषु यादृशोऽसौ भवति तद्दर्शयितुमाह—'असिणाणे'त्यादि, अस्नानः-अविद्यमानस्नानः विकटे-प्रकटे दिवसे न रात्रावितियावद् भोक्तुं शीलमस्येति विकटभोजी-चतुर्विधाहाररात्रिभोजनवर्जकः ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः, तथा मौलिकृतः-अबद्धकच्छः तथा दिवसे ब्रह्म चरतीत्येवंशीलो दिवसब्रह्मचारी चशब्दः समुच्चये तथा 'रत्ति'मिति विभक्तिपरिणामाद्रात्रौ-रजन्यां परिमाणकृतः-मैथुनासेवनं प्रति कृतयोषिद्भोगपरिमाणः, कदेत्याह-प्रतिमावर्जेषु-अपर्वस्वित्यर्थः दिवसेषु-दिनेषु। उक्तव्याख्यानसंवादिनी चेयं गाथा, यदुत-"असिणाणवियडभोई पगासभोइत्ति जं भणिय होइ। दिवसउ न रत्ति भुंजे मउलिकडो कच्छमविरोधे (नवि बंधे)॥ १॥" कच्छां नारोपतीत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥१८॥ अथ यत् कायोत्सर्गस्थितश्चिन्तयति तदाह-'झायई'त्यादि, ध्यायति-चिंतयति प्रतिमायां-कायोत्सर्गे स्थितः-अवस्थितः त्रिलोकपूज्यान्-भुवनत्रयार्चनीयान् जिनान्-अर्हतः जितकषायान्-निराकृतक्रोधादिभावान् तथा निजदोषप्रत्यनीकं-स्वकीयरागादिदूषणप्रतिपक्षं कामनिन्दादिकं अन्यद्-जिनापेक्षयाऽपरं वाशब्दो विकल्पार्थः,किंप्रमाणेयं पञ्चमी प्रतिमा स्यादित्याह-पञ्च यावन्मासान्, एषोत्कर्षेण भवति। इति गाथार्थः॥१९॥ उक्ता पञ्चमी, अथ षष्ठीमाह—'पुव्वोई'त्यादि, पूर्वोदितगुणयुक्तः प्रागुक्ता येऽस्नानविकटभोजनादयः सम्यक्त्वव्रतसामायिकपौषधप्रतिमाख्या वा गुणास्तैरन्वितः, पूर्वोदितगुणयुक्तत्वं च नास्यामेव, अपितु सर्वासु व्रतादिप्रतिमासु द्रष्टव्यं, दशादिषु तथोक्तत्वात्, तथा विशेषतो-विशेषेण पञ्चमप्रतिमापेक्षया विजितमोहनीयो-निराकृतकामोदयः, चशब्दः समुच्चये श्रावक इति गम्यते,

सिंगारकहाविरओइत्थीएँ समं रहम्मि णो ठाइ । चयइ य अतिप्पसंगं तहा विहूसं च उक्कोसं ॥ २१ ॥
एवं जा छम्मासा एसोऽहिगतो इहरहा दिट्ठं । जावज्जीवंपि इमं वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥ २२ ॥
सचित्तं आहारं वज्जइ असणादियं णिरवसेसं । असणे चाउलउंबिगचणगादी सव्वहा सम्मं ॥२३॥

किमित्याह-वर्जयति-परिहरति अब्रह्म-मैथुनं एकान्ततस्तु-सर्वथैव, 'राईपि'त्ति सर्वरजनीमपि, आस्तां सर्वदिनं, षष्ठप्रतिमास्थित इति शेषः, अयमेव च पञ्चम्याः षष्ठ्याश्च प्रतिमाया विशेष इति, स्थिरचित्तः-अप्रकंपमानमः सन्निति गाथार्थः ॥ २०॥ अथ स्थिरचित्ततोपायानाह-'सिंगारे'त्यादि, शृङ्गारकथाविरतः-कामकथानिवृत्तः तथा स्त्रिया-योषिता समं-सह रहसि-एकान्ते न तिष्ठति-नास्ते, रहःस्थानस्य चित्तविप्लुतिनिमित्तत्वात्, यतो लौकिका अप्याहुः-"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, नो विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥१॥" तथा त्यजति-वर्जयति च अतिप्रसंगं-अतिपरिचयं, स्त्रिया सममिति वर्तते, यतः-"वशीकुर्वन्ति ये लोकमृगान् दर्शनतन्तुना । संसर्गवागुराभिस्ते, स्त्रीव्याधाः किं न कुर्वते ? ॥१॥" तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः विभूषां-स्वशरीरसत्कारमलङ्काराङ्गरागादिभिः चः समुच्चये उत्कर्षा-उत्कृष्टां त्यजतीति वर्तते, उत्कर्षग्रहणाच्छरीरस्थितिमात्रानुगां करोत्यपि । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ इहैव कालमानमाह—'एव'मित्यादि, एवं-उक्तनीत्या शृङ्गारकथाविरमणादिलक्षणया 'जा' इति यावत् षण्मासान्-कालपरिमाणविशेषान् उत्कर्षतो वर्जयति, अब्रह्मेति वर्तते, एष श्रावकः अधिकृतस्तु-षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्न एव, अवधारणफलमाह-इतरथा-अन्यथा षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्नकादन्यत्रेत्यर्थः दृष्टं-अवलोकितं, किं तदित्याह-यावज्जीवमपि-आजन्मापि, आस्तां षण्मासान् यावत्, इदमब्रह्म वर्जयति-परिहरति इति, एतत् क्व दृष्टमित्याह-एतस्मिन् प्रत्यक्षे लोके-प्राकृतलोके । इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

पाणे आउक्कायं सचित्तरससंजुअं तहऽण्णंपि । पंचुंबरिकक्कडिगाइयं च तह खाइमे सव्वं ॥२४॥
दंतवणं तंबोलं हरेडगादी य साइमे सेसं । सेसपयसमाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्वं ॥२५॥
वज्जइ सयमारंभं सावज्जं कारवेइ पेसेहिं । पुव्वप्पओगओ चिय वित्तिणिमित्तं सिढिलभावो ॥२६॥

यत कुर्वाणस्य षष्ठी भवति तदुक्तं,अथ यत् कुर्वतः सप्तमी भवति तद्दर्शयन्नाह—'सचित्त'मित्यादि,सचित्तं-विद्यमानचैतन्यं आहारं-भोजनं वर्जयति-परिहरते अशनादिकं-अशनप्रभृतिकं चतुर्भेदं निरवशेषं-सर्वं, सप्तमप्रतिमास्थित इति शेषः, तत्राशने-आहारविशेषे विषयभूते तंदुलौबिकाचणकादि प्रतीतं, आदिशब्दात्तिलादिपरिग्रहः, कथं वर्जयतीत्याह-सर्वथा-अपक्वदुष्पक्वतुच्छौषध्यादिवर्जनत इत्यर्थः,सम्यग्-भावशुद्ध्या । इति गाथार्थः ॥२३॥ 'पाणे'इत्यादि,पाने-पानकाहारे अप्कायं-अप्रासुकोदकं सचित्तरससंयुक्तं-तत्कालपतितत्वेन सचेतनलवणादिरसोन्मिश्रं तथेति समुच्चये अन्यदपि--अप्कायादपरमपि कांजिकादिपानकाहारं वर्जयति, न केवलमप्कायमेवेति, तथा पञ्चानामुदुंबराणां उदुम्बरसमानधर्माणां समाहारः पंचोदुंबरी, सा च स्वरूपेण त्रसकायिकैश्च सचेतना भवतीति,पंचोडुम्बरी च कर्कटिकाश्च-चिर्भटिका आदिर्यस्य खादिमस्य तत्तथा,चः समुच्चये,तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः, स च गाथोत्तरार्धस्यादौ दृश्यः,खादिमे-आहारविशेषे विषयभूते सर्वं-समस्तं, सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतं । इति गाथार्थः ॥२४॥ 'दंते'त्यादि,दन्तपवनं-दशनकाष्ठं ताम्बूलं प्रतीतं हरितकयादि च-पथ्याप्रभृति च स्वादिमे-स्वादिमाहारविषये,अशेषं-सर्वं सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतं, किंभूतः सन्नित्याह-शेषपदसमायुक्तो-दर्शनादिगुणयुक्तः, कियन्तं कालं वर्जयतीत्याह-यावन्मासान्-कालविशेषान् सप्त उत्कृष्टतः विधिपूर्वकं-न्यायपुरस्सरं, न तु यदृच्छयेति गाथार्थः ॥२५॥ उक्ता सप्तमी प्रतिमा, अथ यथा वर्तमानस्या-

निग्घिणतेगंतेणं एवंवि हु होइ चेव परिचत्ता । एद्दहमेत्तोऽवि इमो वज्जिज्जंतो हियकरो उ ॥२७॥
भव्वसाणावीरियसंफासणभावतो णिओगेणं । पुव्वोइयगुणजुत्तो ता वज्जति अट्ठ जा मासा ॥२८॥

एमी भवति तथा दर्शयन्नाह—'वज्ज'इत्यादि, वर्जयति–परिहरति स्वयं–आत्मना स्वयंकरणत इत्यर्थः आरंभं–व्यापारं सावद्यं–सपापं कृष्यादिकमित्यर्थः, स्वयमिति वचनाद्यदापन्नं तदाह–कारयति–विधापयति प्रेष्यैः–आदेशकारिभिः,कथमित्याह–पूर्वप्रयोगत एव–प्रवृत्तव्यापारत एव, नापूर्वव्यापारनियोजनत इत्यर्थः, किमित्याह–वृत्तिनिमित्तं–जीविकार्थं, किंभूतः सन्नित्याह–शिथिलभावः–प्रेष्यप्रयोगतोऽप्यारंभेष्वतीव्रपरिणामः। इति गाथार्थः ॥२६॥ नन्वारंभेषु प्रेष्यप्रयोजने सति स्वयमप्रवर्तमानस्य को गुणः? जीवघातस्य तदवस्थत्वात् इत्याशंक्याह–'निग्घी'त्यादि, निर्घृणता–निर्दयता एकान्तेन–सर्वथैव स्वयमारंभाणां करणतः परैश्च कारणतो या स्यात् सा एवमपि–उक्तनीत्याऽपि स्वयं वर्जनमात्रलक्षणया, आस्तामुभयवर्जनतः हुशब्दोऽलङ्कारे,भवति चैव–स्यादेव परित्यक्ता–परिहृता, नन्वात्मारंभोऽल्प एकत्वादात्मनः, परतस्तु बहुतमः परेषां बहुत्वात्, ततश्च बहुतमारंभाश्रयणेनाल्पतरारंभवर्जनं कं गुणं पुष्णातीत्याशंक्याह–'एद्दहमेत्तोऽवि'त्ति इयन्मात्रोऽपि–स्वयंकरणमात्रत्वेनाल्पोऽपि, आस्तां बहुतमः, 'इमो'त्ति अयमारंभः वर्ज्यमानः–त्यज्यमानः हितकरस्तु–कल्याणकरण एव, महाव्याधेः स्तोकक्षयवत्। इति गाथार्थः ॥२७॥ कस्य कथमयं भवतीत्याह—'भव्वे'त्यादि, भव्यस्य–योग्यस्य सत्त्वविशेषस्य आज्ञा च–आप्तवचनं अष्टमप्रतिमायां स्वयमारंभो वर्जनीय इत्येवंरूपं च वीर्यं च–जीवसामर्थ्यं स्वयमारंभपरित्यागविषयं तयोः संस्पर्शनं–आराधनं तद्रूपो यो भावः–अध्यवसायस्तस्य वा यो भावः–सत्ता स तथा तस्मादाज्ञावीर्यसंस्पर्शनभावात् नियोगेन–नियमेन, हितकरो भवतीति पूर्वेण योगः। अथ किंविधः सन्

पेसेहिवि आरंभं सावज्जं कारवेइ णो गुरुयं । अत्थी संतुट्ठो वा एसो पुण होति विण्णेओ ॥२९॥

निक्खित्तभरा पायं पुत्तादिसु अहव सेसपरिवारे । थेवममत्तो य तहा सव्वत्थवि परिणओ नवरं ॥३०॥

लोगव्ववहारविरओ बहुसो संवेगभावियमई य । पुव्वोदियगुणजुत्तो णव मासा जाव विहिणा उ ॥३१॥

उद्दिट्ठकडं भत्तंपि वज्जती किमुय सेसमारंभं ? । सो होइ उ खुरमुंडो सिहलिं वा धारती कोई ॥३२॥

कियन्तं वा कालमष्टम्यां स्वयमारंभं वर्जयतीत्याह-पूर्वोदितगुणयुक्तः-प्रागुक्तदर्शनादिगुणान्वितः तावद्वर्जयति-परिहरति अष्टौ यावन्मासानुत्कृष्टतः। इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्ताऽष्टमी, अथ नवमीमाह—'पेसे'त्यादि, प्रेष्यैरपि-कर्मकरैरपि, आस्तां स्वयं, आरंभं-व्यापारं सावद्यं-सपापं कारयति-विधापयति नो-नैव गुरुकं-महान्तं कृष्यादिकमित्यर्थः,अनेनासनदापनादिव्यापाराणा-मतिलघूनामनिषेधमाह, इह च नवमप्रतिमायामित्येष शेषो दृश्यः, एतद्वर्जने च कीदृशः समर्थो भवतीत्याह-अर्थी-अर्थवान्, ईश्वर इत्यर्थः, संतुष्टो वा-अनीश्वरोऽप्यतिसंतोषवान् वाशब्दो विकल्पार्थः एष प्रेष्यारंभवर्जकः पुनःशब्दो विशेषणार्थः तेन यः कश्चिदपि भवति-स्यात् विज्ञेयो-ज्ञातव्यः। इति गाथार्थः ॥२९॥ 'निक्खित्ते'त्यादि, निक्षिप्तभरो-न्यस्तकुटुम्बादिकार्यभारः प्रायो-बाहुल्येन पुत्रादिषु-योग्यसुतभ्रातृप्रभृतिषु अथवेति विकल्पार्थः शेषपरिवारे-पुत्रादिव्यतिरिक्तपरिजने कर्मकरादौ तथेति वाक्या-न्तरत्वद्योतकोऽत्र द्रष्टव्यः स्तोकममत्वः-अल्पाभिष्वङ्गः चशब्दः समुच्चये तथेति योजितमेव सर्वत्रापि-सर्वस्मिन्नपि धनधान्या-दिपरिग्रहे, न तु क्वचिदेव, अयं चैवंभूत उत्तानबुद्धिरपि स्यादत आह-परिणतः-परिणतबुद्धिः नवरं-केवलम् । इति गाथार्थः॥३०॥ 'लोगे'त्यादि, लोकव्यवहारविरतो-लोकयात्रानिवृत्तः तथा बहुशः-अनेकशः संवेगभावितमतिश्च-मोक्षाभिलाषवासितबुद्धिः तथा

जं णिहियमत्थजायं पुट्ठो णियएहिं णवर सो तत्थ । जइ जाणइ तो साहे अह णवि तो बेइ णवि जाणे ॥३३॥
जतिपज्जुवासणपरो सुहुमपयत्थेसु णिच्चतल्लिच्छो । पुव्वोदियगुणजुत्तो दस मासा कालमासे (णे) णं ॥३४॥

पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिगुणान्वितः नव मासान् यावदुत्कर्षतः विधिना तु-आगमविधानेनैव इति गाथार्थः ॥३१॥ अथ दश-मीं प्रतिमामाह—'उद्दिट्ठे'त्यादि,उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृतं-विहितमुद्दिष्टकृतं-तदर्थं संस्कृतमित्यर्थः तद्भक्तमपि-भोजनमपि वर्जयति-परिहरति, किमुत ?-किं पुनः सुतरामित्यर्थः शेषं-दुष्परिहार्यभक्तारंभव्यतिरिक्तमारंभं-सावद्ययोगं, दशमप्रतिमायां वर्तमानः श्रावक इति शेषः 'सो होइ उ' त्ति स पुनर्दशमप्रतिमावर्ती भवति-स्यात् क्षुरमुंडः-क्षुरमुंडितशिराः 'सिहलि'त्ति शिखा तां वाशब्दो विकल्पार्थः धारयति-बिभर्ति कश्चित्-कोऽपि । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ 'ज'मित्यादि,यन्निहितं-यन्निक्षिप्तं भूम्यादौ अर्थ-जातं-द्रव्यप्रकारः तदिति शेषः पृष्टः-प्रश्नितः निजकैः-स्वकीयैः पुत्रादिभिः नवरं-केवलं स श्रावक इति शेषः तत्र दशमप्रतिमायां प्रश्ने वा यदि जानाति-स्मरति'तो' त्ति तदा साधयति- कथयति,अकथने वृत्तिच्छेदप्राप्तेः, अथ-यदि 'नवि'त्ति नैव जानातीति वर्तते'तो'त्ति तदा ब्रूते-वक्ति,किं तदित्याह-नवि-नैव जाने-स्मरामीति,नान्यत् किमपि तस्य गृहकृत्यं कर्तुं कल्पत इति भावः । इति गाथार्थः ॥३३॥ 'जती'त्यादि,यतिपर्युपासनापरः-साधुसेवापरायणः सूक्ष्मपदार्थेषु-निपुणमतिसमधिगम्यभावेषु जीवादिषु तेष्वेव लिप्सा-लब्धुमिच्छा यस्य स तल्लिप्सः-तल्लालसो नित्यं-नितान्तं तल्लिप्सो नित्यतल्लिप्सः, तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो-दर्शना-दिप्रतिमानवकान्वितः, कियन्तं कालं यावदित्याह दश मासान् यावत् कालमानेन--कालप्रमाणापेक्षयेत्यर्थः, कालमा-सेनेति क्वचित् दृश्यते, तत्र प्राकृतभाषापेक्षया मासशब्दस्य कालधान्यसुवर्णादिषु वृत्तिदर्शनात्क्षेपव्यवच्छेदार्थमुच्यते कालमासेन।

खुरमुंडो लोएण व रयहरणं उग्गहं च घेत्तूण। समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासंतो ॥३५॥
ममकारेऽवोच्छिण्णे वचति सण्णायपल्लि दट्ठुं जे। तत्थवि जहेव साहू गेण्हति फासुं तु आहारं ॥३६॥
पुव्वाउत्तं कप्पति पच्छाउत्तं तु ण खलु एयस्स। ओदणभिलिंगसूवादि सव्वमाहारजायं तु ॥३७॥

इति गाथार्थः ॥३४॥ उक्ता दशमी, अथैकादशीमाह—'खुरे'त्यादि, क्षुरेण-च्छुरेण मुंडो-मुंडितः क्षुरमुंडः लोचेन वा-हस्तलुञ्चनेन वा मुंडः सन् रजोहरणं-पादप्रोञ्छनं अवग्रहणं च पतद्ग्रहं च, उपलक्षणं चैतत्साधूपकरणस्य सर्वस्य, गृहीत्वा-आदाय श्रमणभूतः-साधुकल्पः सकलसाधुसमाचारासेवनात् विहरति-गृहान्निर्गत्य ग्रामादिषु विचरति साधुवत् धर्म-चारित्रधर्मं समितिगुप्त्यादिकं कायेन-देहेन, न मनोमात्रेण, स्पृशन्-पालयन् एकादश्यां प्रतिमायामिति शेषः। इति गाथार्थः ॥ ३५॥ 'ममे'त्यादि, ममेत्यस्य करणं ममकारस्तत्र अव्यवच्छिन्ने-अनपगते सति व्रजति-गच्छति, अनेन स्वजनदर्शनार्थित्वं कारणमुक्तं, संज्ञाता-ज्ञातयस्तेषां पल्ली-संनिवेशस्तां संज्ञातपल्लिं द्रष्टुं-दर्शनाय, संज्ञातानिति गम्यते,'जे' इतिपादपूरणे निपातः, तत्रापि-संज्ञातपल्लीयजनेऽपि, आस्तामन्यत्र, यथैव-यद्वदेव साधुः-संयतः तथैवेति शेषः गृह्णाति-आदत्ते प्रासुकं तु प्रगतासुकमेवाचेतनमेव उपलक्षणत्वात्तस्यैषणीयं चाहारं अशनादिकमिति, संज्ञातपल्लिग्रहणेन चेदं दर्शयति-प्रेमाव्यवच्छेदात्तत्र गमनेऽपि तस्य न दोषः, तथा ज्ञातयः स्नेहादनेषणीयं भक्तादि कुर्वन्ति आग्रहकरणेन च तद्ग्राहयितुमिच्छन्ति अनुवर्तनीयाश्च ते प्रायो भवन्तीति तद्ग्रहणं संभाव्यते तथापि तदसौ न गृह्णाति। इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ संज्ञातपल्लीगमन एव तस्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—'पुव्वे'-त्यादि, पूर्वं तदागमनकालात् प्रागायुक्तं-रन्धनस्थाल्यादौ प्रक्षिप्तं पूर्वायुक्तं स्वार्थमेव रावुधुमारब्धमित्यर्थः कल्पते-ग्रहणयोग्यं

एवं उक्कोसेणं एक्कारस मास जाव विहरेइ। एगाहादियरेणं एयं सव्वत्थ पाएणं ॥ ३८ ॥
भावेऊणऽत्ताणं उवेइ पव्वज्जमेव सो पच्छा। अहवा गिहत्थभावं उचियत्तं अप्पणो णाउं ॥३९॥

भवति, पश्चादायुक्तं तु-तदागमनकालादनन्तरमायुक्तं पुनः न खलु-नैव एतस्यैकादशप्रतिमास्थश्रावकस्य, कल्पत इति वर्तते, गृहस्थानामधिकृतश्रावकार्थमधिकृतरौदनादिकरणसंकल्पसंभवात्, किं तदित्याह-ओदनश्च-कूरं भिलिङ्गसूपश्च-मसूरादिद्विदलधान्यपाकविशेष आदिर्यस्य तत्तथा तत्सर्वमपि-निरवशेषमपि आहारजातं-अभ्यवहार्यसामान्यं, तुशब्दोऽपिशब्दार्थस्तस्य च प्रयोगो दर्शित एव। इति गाथार्थः ॥३७॥ अथैतस्याः कालमानमाह-'एव'मित्यादि, एवं-उक्तेन प्रकारेण क्षुरमुंडादिना उत्कृष्टेन एकादश मासान् यावत् विहरति-मासकल्पादिना विहारेण, एकाहादि-एकाहोरात्रप्रभृति, आदिशब्दात् द्व्यहत्र्यहादि यावद्विहरतीति प्रकृतं, इतरेण-जघन्येनेत्यर्थः। इह च पूर्वं प्रतिमासु जघन्यं कालमानं नोक्तमतस्तदतिदेशत आह-एवं अनेनैव प्रकारेण जघन्यमानमेकाहादीत्यर्थः, एतच्च मरणे वा प्रव्रजितत्वे वा सति संभवति, नान्यथा, सर्वत्र-सर्वप्रतिमासु प्रायेण-बाहुल्येन, प्रायोग्रहणादन्तर्मुहूर्तादिसद्भावो दर्शितः। इति गाथार्थः ॥३८॥ इह चोत्तरासु सप्तस्वावश्यकचूर्ण्यां प्रकरान्तरमपि दृश्यते, तथाहि-"राइभत्तपरिण्णाएत्ति पञ्चमी, सचित्ताहारपरिण्णाइत्ति षष्ठी, दिया बंभचारी राऊ परिमाणकडेत्ति सप्तमी, दियावि राओवि बंभयारी असिणाणए वोसट्ठकेसमंसुरोमनहेत्ति अष्टमी, सारंभपरिण्णाएत्ति नवमी, पेसारंभपरिण्णाएत्ति दशमी, उद्दिट्ठभत्तवज्जए समणभूएत्ति एकादशीति। तदेवं प्रतिमानुष्ठानमुपासकस्योक्तं, अथ तदनन्तरं यत्तस्य विधेयं स्यात्तदभिधित्सुराह—'भावे'इत्यादि, भावयित्वा-वासयित्वा प्रतिमानुष्ठानेन आत्मानं-स्वं उपैति-उपगच्छति प्रव्रज्यामेव-अनगारत्वमेव तदुचितमात्मानं ज्ञात्वेत्युत्सर्गः स इति श्रावकः

गहणं पव्वज्जाए जओ अजोगाण णियमतोऽणत्थो। तो तुलिऊणऽप्पाणं धीरा एयं पवज्जंति ॥ ४० ॥
तुलणा इमेण विहिणा एतीए हंदि नियमतो णेया। णो देसविरइकंडयपत्तीएँ विणा जमेसत्ति ॥४१॥
तीए य अविगलाए बज्झा चेट्ठा जहोदिया पायं। होति णवरं विसेसा कत्थति लक्खिज्जए ण तहा ॥४२॥

पश्चात्-प्रतिमानुष्ठानानन्तरं, अथवेति प्रकारान्तरद्योतनार्थः गृहस्थगारं-गृहित्वमेव, उपैतीति वर्तते, किं कृत्वेत्याह-उचितत्वं-योग्यतां गृहिभावस्यैव आत्मनः-स्वस्य ज्ञात्वा-अवगम्य। इति गाथार्थः ॥३९॥ अथ कस्मात्प्रतिमाभिर्भावयित्वैवात्मानमुपैति प्रव्रज्यामित्याशंक्याह—'गहण'मित्यादि, ग्रहणं-स्वीकरणं प्रव्रज्यायाः-श्रामण्यस्य यस्मादयोग्यानां-अनुचितानां नियमतः-अवश्यमेव अनर्थः-अपायः तस्मात्तुलयित्वा-भावनया परीक्ष्य, योग्यतां निश्चित्येत्यर्थः, आत्मानं-स्वं धीरा-धीमन्तः एतां प्रतिपद्यन्ते-अङ्गीकुर्वन्ति। इति गाथार्थः ॥ ४० ॥ 'तुलयित्वाऽऽत्मान'मित्युक्तं, अथ तुलनैव कथमित्यत आह—'तुले'त्यादि, तुलना-आत्मनो योग्यतापरीक्षा अनेन-अनन्तरोक्तेन विधिना-विधानेन प्रतिमानुष्ठानलक्षणेन एतस्याः प्रव्रज्यायाः हंदीत्युपप्रदर्शने नियमतो-नियोगेन ज्ञेया-अवसेया, अथ कस्मादेवमित्याह-नो-नैव देशविरतिः-अणुव्रतादिप्रतिपत्तिपरिणामस्तस्य कंडकानि-अध्यवसायस्थानानि तेषां या प्राप्तिः-लाभः सा तथा तया देशविरतिकंडकप्राप्त्या विना-तदभावे यद्-यस्मात्कारणात् एषा प्रव्रज्या भवति। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। प्रायिकं चैतत्, यतोऽसंख्याततमो भागः सिद्धानामप्राप्तदेशविरतिकोऽपि सिद्धत्वमुपगतोऽभिधीयते, यदाह-"भागेहिं असंखेज्जेहिं फासिया देसविरई उ" त्ति। तथा 'तुलनाऽनेन विधिने'त्यपि प्रायिकं, एतच्च स्वयमेवाग्रे दर्शयिष्यति। इति गाथार्थः ॥४१॥ एवं तुलनापूर्वकं प्रव्रज्यायां सत्यां यद्भवति तद्दर्शयितुमाह—'तीए'

भवणिव्वेयाउ जतो मोक्खे र...... ......उ- । सुद्धासयस्स एसा ओहेणवि वण्णिया समए ॥४३॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ ण होइ पावमणो। सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु ॥४४॥

इत्यादि, तस्यां-उक्ततुलनापुरस्सरप्रव्रज्यायां चशब्दः पुनरर्थः अविकलायां-परिपूर्णायां तद्योग्यतानिश्चयपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नत्वात् बाह्या-बहिर्वर्तिनी चेष्टा-प्रत्युपेक्षणादिमासाचार्यनुपालनारूपा यथोदिता-आगमोक्ता प्रायो-बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं चोक्तविपरीतकारिभिर्गुरुकर्मप्राणिभिर्व्यभिचारोऽभिहितार्थस्य मा भूदिति कृतमिति, भवति-स्यात्, ननु कदाचिद् ग्लानत्वादौ तथा प्रव्रज्यायामप्यसौ न दृश्यते इत्याशंक्याह-नवरं-केवलं भवत्यपि सामान्येन सा विशेषतो-विशेषेण कचिद्देशे काले पुरुषे वा पुष्टालंबनादाश्रितापवादे लक्ष्यते-निश्चीयते स्थूलदृष्टिभिः न-नैव तथा-तद्वद् यथा स्वस्थावस्थायां बाह्यचेष्टेति प्रकृतमिति, गर्दभिल्लराजगृहीतमातृवीचिमोचनार्थमुज्जयिन्यामानीतपण्णवतिसामन्तकटककालिकाचार्यश्चेहोदाहरणमिति गाथार्थः ॥४२॥ अथ कस्मादिह यथोक्तैव चेष्टा स्यादित्याह—'भवे'त्यादि, भवनिर्वेदात्-संसारविरागात् यतो-यस्मात्कारणात् तथा मोक्षे-निर्वाणे रागाद्-अभिलाषात्, किंभूतात्?-ज्ञानपूर्वात्-सम्यग्ज्ञानपुरस्सरात्, न तु मिथ्याज्ञानपूर्वकात्, शुद्धाशयस्य-निर्मलाध्यवसायस्य जीवस्य एषा प्रव्रज्या ओघेनापि-सामान्यतोऽपि सामायिकमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽपि, आस्तां विशेषतोऽप्रमत्तादिसामायिकप्रतिपत्तितः, वर्णिता-भणिता समये-सिद्धान्ते, अतः कथमस्यामयथोक्तार्था चेष्टा? । इति गाथार्थः ॥४३॥ येन वचनेन समये सा तथा वर्णिता तद्दर्शयन्नाह-'तो'इत्यादि, इह प्राकृतशैल्यपेक्षया श्रमणशब्दं व्युत्पादयति-'तो' इति ततः-तस्माद्धेतोः सह मनेन-चित्तेन वर्त्तत इति समणो, न चेह मनोमात्रास्तित्वं,विवक्षितशब्दस्य सामायिकविशेषप्रतिपादनार्थस्य व्युत्पत्तिनिमित्ततया विवक्षितं

ता कम्मखओवसमा जो एयपगारमंतरेणावि । जायति जहोइयगुणो तस्सवि एसा तहा णेया ॥४५॥
एत्तो चिय पुच्छादिसु हंदि विसुद्धस्स सति पयत्तेणं । दायव्वा गीतेणं भणियमिणं सव्वदंसीहिं ॥४६॥

सकलसंज्ञिसाधारणत्वाचस्येत्यतस्तद्विशेषणार्थमाह-यदीत्यभ्युपगमे शोभनं-धर्मध्यानादिप्रवृत्ततया मनः-चित्तं यस्य स सुमनाः, अनेन सद्गुणान्वितमनस्कत्वं विवक्षितशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तत्वेनोक्तं, अथ दोषरहितमनस्कतामाह-भावेन-आत्मपरिणामेन तत्त्वतो वा-निरुपचरितत्वेन चशब्दः समुच्चये यदीत्यभ्युपगमे न भवति-नैव स्यात् पापं-प्राणातिपातादिमत् सनिदानं वा मनो यस्य स पापमनाः, तथा स्वजने च-पुत्रादिके जने च-अन्यस्मिन् समः-तुल्यः प्रेमाप्रेमवर्जनेन,तथा समश्च-तुल्य एव मानापमानयोः-पूजेतरयोरिति, उत्तरार्धापेक्षया त्वेवं व्युत्पत्तिः-समः सन् सम्यग् वाऽणति-वर्तते योऽसौ निरुक्तविधिना समण इति स्याद् इत्येवं शुद्धाशयस्यैषा वर्णिता। इति गाथार्थः ॥ ४४॥ अथ कस्यापि प्रतिमानुष्ठानं विनाऽपि प्रव्रज्या यथोदितैव स्यादिति दर्शयन्नाह— 'ता कम्मे'त्यादि, 'ता' इति यस्माद्भवनिर्वेदादेः सकाशाद्विशुद्धाशयस्यैषा वर्णिता तस्मात्कारणात् क्षयोपशमात्-ज्ञानावरणादि-कर्मविगमविशेषात् कारणात् यः प्राणी एतत्प्रकारमन्तरेणापि-बालत्वादिकारणात् प्रतिमानुष्ठानव्यतिरेकेणापि, एतत्प्रकारेण तावज्जायत एवेत्यपिशब्दार्थः, जायते-संपद्यते यथोदितगुणः प्रव्रज्योचितगुणः तस्यापि प्राणिनः, न केवलं प्रतिमाकारिण एव, एषा प्रव्रज्या तथा-तद्वत् प्रतिमाकारिण इव ज्ञेया-अवसेया कर्मक्षयोपशमादेव। इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ प्रतिमाप्रतिपत्तिव्यतिरेकेणापि प्रव्रज्या जायत इत्येतस्यैव समर्थनार्थमाह—'एत्तो'इत्यादि, 'एत्तो चिय'त्ति यत एतत्प्रकारमन्तरेणापि उचितगुणस्य प्रव्रज्या प्रतिमाकर्तुरिव यथोक्ता भवति अत एव कारणात् पृच्छादिषु-पृच्छाकथनापरीक्षासु, तत्र पृच्छा-"को सि तुमं? कत्तो वा? पव्व

तह तम्मि तम्मि जोए सुत्तुवओगपरिसुद्धभावेण । दरदिण्णाएवि जओ पडिसेहो वण्णिओ एत्थ ॥४७।
पव्वाविओ सियत्ति य मुंडावेउमिनाइ जं भणियं । सव्वं च इमं सम्मं तप्परिणामे हवति पायं ॥४८॥

यति या किंनिमित्तंति" इत्यादिरूपा, कथना पुनः भवविरागिणोः प्रव्रज्यास्वरूपकथनं, यथा-"जइ चेव मोक्खफलया आणा आराहिया जिणिंदाणं । संसारदुक्खफलया तह चेव विराहिया होइ ॥१॥" ति, परीक्षा तु-पण्मासादिकालमाना विनयादिभिस्तद्योग्यतानिरूपणा, प्रोक्ष परेण कं शीलगुणदर्शने विशुद्धया-निर्दोषया मनसा सकृत्-सदा प्रयत्नेन-आदरेण दातव्या-देया, प्रव्रज्येति प्रकृतं, गीतेन-परैरपरैरपि परस्परापोषणादरीतार्थेन-गीतार्थेनेव, नान्येनेति, भणितं-उक्तं इदमेतत् सर्वदर्शिभिः-केवलिभिः । इति गाथार्थः॥४६।
पुनरपि सामान्यतोऽपि प्रव्रज्याग्रहणमस्तीति समर्थयन्नाह—'तहे'त्यादि, तथेति ज्ञापकान्तरसमुच्चयार्थः तस्मिंस्तस्मिन्-तत्र तत्र ...शुद्धभावे योगे-प्रव्रज्यादानव्यापारे विषयभूते, प्रतिषेधो वर्णित इति योगः, सूत्रोपयोगेन-आगमोपयुक्ततया परिशुद्धो-विशुद्धो भावः ... साधो यदा स तथा तेन गुरुणा, किमित्याह-दरदत्तायामपि-ईषद्वितीर्णायामपि दीयमानायामित्यर्थः, आस्ता-...मिति प्रकृतं, यतो-यस्मात्कारणात् प्रतिषेधो-निषेधोऽयोग्यानां वर्णितः-उक्तः अत्रेति-वक्ष्यमाणे प्रव्रज्याभिधानसूत्रे ... ज्ञायते 'प्रतिमानुष्ठानमन्तरेणापि प्रव्रज्याभिधानमस्ति'। इति गाथार्थः ॥४७॥ अथ कथं सूत्रे प्रव्राजनायां प्रति-... इत्याह—'पव्वये'त्यादि, प्रव्राजितः स्यादिति च मुंडापयितुमित्येवमादिर्यस्य सूत्रस्य तत्तथा तत् ... उक्तं कल्पभाष्ये तस्मात्प्रति योगं प्रव्रज्यायां निषेधो वर्णित इत्यवसीयते, तथेदं सूत्रम्-"पव्वाविओ सिय-... पव्वावणजोगो। ते चिय मुंडावेंते पुरिमपयऽनिवारिया दोसा ॥ १ ॥" तथा-मुंडाविओ सियत्ति य सिक्खावेउं

जुत्तो पुण एस कमो ओहेणं संपयं विसेसेणं । जम्हा असुहो कालो दुरणुचरो संजमो एत्थ ॥४९॥

अणायरणजोगो। ते च्चिय सिक्खावेंते पुरिमयऽनिवारिया दोसा ॥ १ ॥ एवं उट्ठावेउं,एवं भुंजावेउं,एवं संवासेउं", अयमर्थः-प्र-
व्राजितः-प्रव्राजयिष्यामस्त्वामित्येवमभ्युपगतो, रजोहरणादिसाधुवेपदानत इत्यन्ये, ततश्च प्रव्राजित इति च, एतदप्ययोग्यप्रव्राज-
नलक्षणमसंभाव्यं वस्तु स्याद्-भवेत् छद्मस्थतयाऽनाभोगवशात्-ततः किमुचितमित्याह-मुंडापयितुं-अग्रग्रहणतो लुञ्चयितुं अना-
चरणयोग्यः-अनासेवनार्हः,तथापि मुंडापयत्याचार्ये त एवाज्ञाभंगादयः पूर्वपदस्य प्रव्राजनस्य संबन्धिनो दोषा अनिवारिता भव-
न्तीति, एवमन्यगाथा अपि बोद्धव्या इति। अथ प्रस्तुतार्थं निगमयति-सर्वं च-समस्तं पुनः इदं पृच्छादिविशुद्धस्य प्रव्रज्यादानादिक-
मागमिकं वस्तु सम्यक्-समीचीनं भवति, अथवा सम्यक्त्वपरिणामो यथावत्प्रव्रज्यापरिणतौ सत्यां भवति-स्यात् प्रायो-बाहुल्येन,
प्रायोग्रहणं चाङ्गारमर्दकादिव्यभिचारपरिहारार्थमिति,ततः प्रतिमाकरणमन्तरेणापि प्रतिमाकर्तुरिव प्रव्रज्या स्यादिति हृदयमिति
गाथार्थः ॥ ४८ ॥ ननु यदि प्रतिमाकरणमन्तरेणापि प्रव्रज्या सम्यग् भवति तदा किं तेनेत्यत आह—'जुत्तो'इत्यादि, यद्यपि
प्रक्रमान्तरेणापि प्रव्रज्या स्यात्तथापि युक्तः-सङ्गतः पुनरिति विशेषणार्थः एषोऽनन्तरोक्तः प्रतिमानुष्ठानादिः क्रमः-प्रव्रज्याप्रति-
पत्तौ परिपाटिः,कथमित्याह-ओघेन-सामान्येन, न तु सर्वथैव,तं विनापि बहूनां प्रव्रज्याश्रवणात्, कालापेक्षया विशेषमाह-सां-
प्रतं-वर्तमानकाले विशेषेण-विशेषतो, युक्त एष क्रमः,कुत एतदेवमित्याह-यस्मात्कारणात् अत्र अशुभानुभावः कालो-दुष्षमालक्षणो
वर्तते, ततश्च दुरनुचरो-दुःखासेव्यः संयमः-संयतत्वं अत्र-अशुभकाले, अतः प्रव्रजितुकामेन प्रतिमाभ्यासो विधेय इति भावः ।
इति गाथार्थः ॥४९॥ तंत्रान्तरप्रसिद्ध्या प्रतिमापूर्वकत्वं प्रव्रज्याया योग्यत्वं समर्थयन्नाह—'तंत'मित्यादि, तंत्रान्तरेष्वपि-दर्श-

तंतंतरेसुवि इमो आसमभेओ पसिद्धओ चेव । ता इय इह जइयव्वं भवविरहं इच्छमाणेहिं ॥५०॥

॥ उवासगपडिमाविधी समत्ता ॥ १० ॥

नान्तरेष्वपि, आस्तां जिनप्रवचने, अयमनन्तरोक्तः आश्रमभेदो-भूमिकाविशेषो "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा" इत्यादिनोक्तस्वरूपः,'इओ' इति पाठान्तरं,तत्र इतः-अशुभकालदुरनुचरसंयमलक्षणाद्धेतुद्वयात् अथवा इतो-जैनप्रवचनात् तंत्रान्तरेष्विति, प्रसिद्धकश्चैव-सिद्ध एव, न तु साध्यः,यस्मादेवं तत्-तस्मात् इत्युक्तन्यायेन इह प्रतिमापूर्वकप्रव्रज्यायां यतितव्यं-यत्नो विधेयः भवविरहं-संसारवियोगं इच्छद्भिः-वाञ्छद्भिर्निखिलशासनप्रवरपारगतागमावलंबिभिः । इति गाथार्थः ॥५०॥

उपासकप्रतिमाप्रकरणविवरणं समाप्तमिति॥१०॥

॥ अथैकादशपञ्चाशकवृत्तिः ॥

नमिऊण वद्धमाणं मोक्खफलं परममंगलं सम्मं । वोच्छामि साहुधम्मं समासओ भावसारं तु ॥ १ ॥

चारित्तजुओ साहू तं दुविहं देससव्वभेएण । देसचरित्ते ण तओ इयरम्मि उ पंचहा तं च ॥ २ ॥

सामाइयत्थ पढमं छेओवट्ठावणं भवे बीयं । परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥३॥

उक्तः श्रावकधर्मः, अथ साधुधर्ममभिधित्सुर्मंगलादिप्रतिपादनायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा-प्रणम्य वर्धमानं-महावीरं,किंभूतं ?-मोक्षः फलमस्यादिति मोक्षफलोऽतस्तं,परममंगलहेतुत्वाच्च परममंगलं,सम्यग्-भावतः,अथवा साधुधर्मं वक्ष्यामीति योगः,

किंभूतं ?-मोक्षफलं-निर्वाणसाधकमानन्तर्येण, श्रावकधर्मो हि पारंपर्येणैव तत्फल इति, परमाणि मंगलानि-कल्याणानि आ मो-
क्षावाप्तेर्यस्मात्स परमंगलस्तं,अथवा परममंगलं-प्रधानमंगलस्वभावं, कथं वक्ष्यामीत्याह-सम्यग्-यथावत्तया, वक्ष्यामि-भणि-
ष्यामि,कमित्याह-साधुधर्मं-श्रमणसंबन्धिचारित्रधर्मं, न तु श्रावकधर्मं, तस्य प्रागेवोक्तत्वात्, कथमित्याह-समासतः-संक्षेपेण,
विस्तरेण तु तस्य पूर्वाचार्यैरेवाभिहितत्वात्, भावसारं च-ऐदंपर्यप्रधानमेव, वक्ष्यामीतिक्रियाविशेषणमिदं, साधुधर्मविशेषणं वा,
भावगार एव च साधुधर्मो भवति, श्रावकधर्मस्यैव द्रव्यस्तवरूपस्य द्रव्यसारत्वात्। इति गाथार्थः॥ १॥ 'साधुधर्मं वक्ष्यामी'-
त्युक्तं, तत्र साधुमेव तावन्निरूपयन्नाह—'चारित्ते'त्यादि, चारित्रयुक्तः-चरणयुक्तः साधुः-यतिर्भवति, नान्यः, तत् चारित्रं द्वि-
विधं-द्विप्रकारं देशसर्वभेदेन-देशचारित्रसर्वचारित्रविशेषात्, ततः किमित्याह-देशचारित्रे-देशविरतिरूपे श्रावकप्रायोग्ये सति न
तको-नासौ साधुर्भवति, किं तु ?, इतरस्मिंस्तु-इतरत्रैव सर्वचारित्रे-सर्वविरतिरूपे सति, साधुर्भवतीति प्रक्रमगम्यं,तच्च-तत्पुनः
सर्वचारित्रं पञ्चधा-पञ्चभिः प्रकारैर्भवति। इति गाथार्थः॥२॥ पञ्चविधत्वमेव तस्याह-'सामे'इत्यादि,'तत्तो'इत्यादि,समानां-रागा-
दिवैषम्यरहितानां ज्ञानादीनामायो-लाभः समायः स एव स्वार्थिकेकप्रत्ययोपादानात्सामायिकं-सकलसावद्ययोगविरतिरूपं, इदं
च निर्विशेषणं सत् सामायिकमित्युच्यते, छेदादिविशेषणैस्तु विशिष्यमाणमिदभेनार्थतः शब्दतश्च नानात्वं भजते, अत्रेति-एतेषु
पञ्चसु चारित्रेषु मध्ये प्रथमं-आद्यं,विशेषणाभावेन सामायिकशब्दस्य सामान्ये एवावस्थानात् प्राथम्यलाभात् सूत्रक्रमप्रामाण्याच, इदं
च द्विधा-इत्वरं यावत्कथिकं च,तत्र स्वल्पकालमित्वरं, तच्च भरतैरावतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थंकरारोपितमहाव्रतस्य शिक्षकस्य विज्ञेयं,
यावत्कथिकं तु यावज्जीविकं, तच्च मध्यमवैदेहिकतीर्थंकरतीर्थान्तर्गतसाधूनामवसेयं, तेषामुपस्थापनाया अभावादिति १। तथा

तत्तो य अहक्खायं खायं सव्वम्मि जीवलोगम्मि । जं चरिऊण सुविहिया वच्चंति अणुत्तरं मोक्खं ॥४॥ युग्मम्

छेदेन-पूर्वपर्यायनिरोधेनोपस्थापनं-आरोपणं महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनं भवेत्-स्यात् द्वितीयं, सामायिकानन्तरं तस्य भावात्, तच्च द्विधा-सातिचारमनतिचारं च, तत्रानतिचारं यदित्वरसामायिकस्य शिक्षकस्यारोप्यते तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा यथा पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पंचयामधर्मप्राप्ताविति, सातिचारं तु मूलगुणघातिनो यत्पुनरपि व्रतारोपणमिति २। तथा परिहरणं परिहारः-तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंस्तत् परिहारविशुद्धिकं, तदपि द्विविधं-निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकं च, तत्र निर्विशमानकास्तदासेवकाः तदव्यतिरेकात्तदपि चारित्रं निर्विशमानकमिति, आसेवितविवक्षितचारित्रकायास्तु निर्विष्टकायास्त एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानान्निर्विष्टकायिकाः तदव्यतिरेकाच्चारित्रमपि निर्विष्टकायिकमिति, एतच्च तृतीयमिति सामर्थ्याद्गम्यते, इह च नवको गणो भवति, तत्र चत्वारः परिहारिका भवन्ति, अपरे तु तद्वैयावृत्त्यकराश्चत्वार एवानुपरिहारिकाः, एकस्तु कल्पस्थितो वाचनाचार्यो, गुरुभूत इत्यर्थः, एष च निर्विशमानकानामयं परिहारः-परिहारियाण उ तवो जहण्ण मज्झो तहेव उक्कोसो। सीउण्ह-वासकाले भणिओ धीरेहिं पत्तेयं ॥ १ ॥ तत्थ जहण्णो गिम्हे चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झिमओ। अट्ठममिहमुक्कोसो एत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥ २ ॥ सिसिरे उ जहण्णाई छट्ठाई दसमचरिमगा होंति। वासासु अट्ठमाई बारसपज्जंतया नेया ॥३ ॥ पारणगे आयामं पचसु गह दोसऽभिग्गहो भिक्खे-आद्ययोरग्रह एव, पञ्चसु पुनर्ग्रहः, तत्राप्येकया भक्तमेकया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रह इत्यर्थः-" कप्पट्ठियाइ पइदिण करेंति एमेव आयामं ॥ ४ ॥ एव छम्मास तवं चरिउं परिहारिया अणुचरंति। अणुचरग परिहारियपयट्ठिए जाव छम्मासा ॥५॥ कप्पट्ठिओवि एवं छम्मास तवं करेइ सेसा उ। अणुपरिहारिगभावं वयंति कप्पट्ठि-

समभावो सामइयं तणकंचणसत्तुमित्तविसओत्ति । निरभिस्संगं चित्तं उचियपवित्तिप्पहाणं च ॥५॥

कप्पसमत्तीएँ तयं जिण-
यत्तं च ॥६॥ एवेसो अट्ठारसमासपमाणो उ वण्णिओ कप्पो । संखेवओ विसेसो सुत्ता एयस्स नायव्वो ॥७॥ कप्पसमत्तीएँ तयं जिण-
कप्पं वा उविंति गच्छं वा । पडिवज्जमाणगा पुण जिणस्सगामे पवज्जंति ॥८॥ तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे व नो उ अण्णस्स । एए-
सिं जं चरणं परिहारविसुद्धियं तं तु ॥९॥"३, तथा 'सुहुमं तह संपरायं च' इति, अत्र तथाशब्द आनन्तर्यार्थः गाथाभंगभयाच्च व्यवहितो-
ऽस्योपन्यासः अनुस्वारश्चेहालाक्षणिकः ततः सूक्ष्मसंपरायमिति भवति, संपरैति संसारमेभिरिति संपरायाः-कषायाः सूक्ष्माः-किट्टीकृत-
त्वेनात्यन्ताणवः संज्वलनलोभांशरूपा यत्र तत्सूक्ष्मसंपरायं, चतुर्थमिति गम्यं, तदपि द्विधा-विशुद्ध्यमानकं क्लिश्यमानकं च, तत्राद्यं क्ष
पकोपशमश्रेणिद्वयमारोहतो, द्वितीयं तूपशमश्रेणीतः प्रच्यवमानस्येति, चशब्दः समुच्चयार्थः ४। ततश्च-सूक्ष्मसंपरायादनन्तरं यथा-
येन प्रकारेणाकषायतया ख्यातं-उक्तं जिनैस्तथैव यत्तत् यथाख्यातं, पञ्चममिति गम्यं, ख्यातं-प्रसिद्धं सर्वस्मिन्-समस्ते जीवलोके-
प्राणिवर्गे तत्फलभूतसर्वज्ञत्वादिगुणगणोपेतपारगतप्रभृतीनां प्रवरपुरुषाणां प्रसिद्धत्वात्, एतदेव फलतः स्तुवन्नाह-यच्चारित्रं चरि-
त्वा-आसेव्य सुविहिताः-शोभनानुष्ठानाः साधवः व्रजन्ति-यान्ति, कालान्तरोपलक्षणत्वाच्च वर्तमानकालनिर्देशस्य वव्रजुर्व्रजिष्यन्ती-
त्यपि द्रष्टव्यं, अनुत्तरं-सर्वप्रधानं मोक्षं-निर्वाणमिति, इदं छद्मस्थवीतरागस्य केवलिनश्च स्यात्, तत्र च्छद्मस्थस्यौपशमिकस्य क्षपकस्य वा,
केवलिनस्तु सयोगस्यायोगस्य वा ५। इति गाथाद्वयार्थः ॥३-४॥ अत्र सामायिकविशेषा एव शेषभेदाः, ततस्तत्त्यागेन सामायिकस्यैव
स्वरूपं निरूपणायाह-'सम'त्यादि, समभावो-मध्यस्थाध्यवसायः सामायिकमुक्तनिर्वचनं भवति, किंविषयोऽसौ समभाव इत्याह-तृणका-
ञ्चने मतीते हेयोपादेये अजीवरूपे तदन्यहेयोपादेयाचेतनवस्तूपलक्षणभूते शत्रुमित्रे च प्रतीते एवाप्रीतिप्रीतिनिबन्धने सचेतने तद-

सति एयम्मि उ णियमा णाणं तह दंसणं च विण्णेयं । एएहिँ विणा एयं ण जातु केसिंचि सद्धेयं ॥६॥
गुरुपारतंत णाणं सद्दहणं एयसंगयं चेव । एत्तो उ चरित्तीणं मासतुसादीण णिद्दिट्ठं ॥७॥

न्यैवंभूतवस्तूपलक्षणभूते विषयो-गोचरो यस्यासौ तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषयः,इतिवाक्यार्थसमाप्तौ, किमुक्तं भवति ?-निरभिष्वङ्ग-रागद्वेषलक्षणाभिष्वङ्गवर्जितं चित्तं-मनः,सामायिकं भवतीति प्रकृतं, एवंविधमेव चित्तं सामायिकमिति मन्यमाना बाह्यां प्रवृत्तिमकिञ्चित्करीं केचित् कल्पयन्ति अतस्तच्छिक्षणार्थमाह-उचितप्रवृत्तिप्रधानं-सच्चेष्टासारं, निरभिष्वङ्गे हि चित्ते सति प्राय उचितैव प्रवृत्तिर्जायते, साभिष्वङ्गचित्तकार्यत्वाद्भावतोऽनुचितप्रवृत्तेः, इदं चोक्तमनेन-'वीतरागाणां परोपकारप्रवृत्तिर्न समभावं सामायिकं बाधते' इति, चशब्दः समुच्चयार्थः। इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ इदं च नैककमेव भवतीति दर्शयन्नाह—'सती'त्यादि, एवमिहाक्षरघटना-निरभिष्वङ्गादिविशेषणं चित्तं सामायिकं भवति,एतस्मिंस्तु-इह पुनः सामायिके सति-विद्यमाने नियमात्-नियोगेन ज्ञानं-सम्यग्बोधः तथेति समुच्चये दर्शनं च-सम्यक्त्वं चास्त्येव इति विज्ञेयं-ज्ञातव्यं, कुत एतदेवमित्याह-एताभ्यां विना-ज्ञानदर्शनाभ्यामृते एतत्सामायिकं न जातु- न कदाचित् केषाञ्चिदपि जीवानां श्रद्धेयं-श्रद्धातव्यं, न ह्यविज्ञायाश्रद्धाय वा निरभिष्वङ्गादिविशेषणं चेतो विधातुं शक्यमिति भावना। इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ यत एताभ्यां विना चरणं न श्रद्धेयं ततो विशिष्टश्रुतवर्जितानामपि चरणवतां कथंचिज्ज्ञानाद्यस्तीति दर्शयन्नाह—'गुरुपारे'त्यादि, गुरुपारतंत्र्यं-ज्ञानाधिकाचार्यायत्तत्वं यत्तज्ज्ञानं-बोधो, विशिष्टज्ञानाभावेऽपि गुरुपारतंत्र्यस्य ज्ञानफलसाधकत्वात्, यदाह-" यो निरनुबन्धदोषात् श्राद्धोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः। [illegible] प्रज्ञापनीयः सोऽपि ह्यन्धेव तत्फलतः॥ १ ॥ चक्षुष्मानेकः स्यादन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः। गन्तारौ गन्तव्यं प्राप्नुत एतौ

युगपदेव ॥ २ ॥" तथा श्रद्धानं च-सम्यग्दर्शनं च एतत्संगतं-गुरुपारतंत्र्यरूपज्ञानोचितं निर्दिष्टमिति संबन्धः, ज्ञानानुरूपत्वाच्छ्रद्धानस्य, चैवशब्दः समुच्चयार्थो योजितश्च, 'एत्तो उ'त्ति यतो ज्ञानदर्शनाभ्यां विना सामायिकं न केषांचिद्भवत्यत एव चारित्रिणां-चारित्रवतां मापतुपादीनां आगमप्रसिद्धातिजडसाधूनां निर्दिष्टं-उक्तं सर्वज्ञैरिति, अथवा ननु विशिष्टश्रुतविकलत्वेन ज्ञानादिना विनापि केषांश्चित्साधूनां चरणं श्रूयतेऽतः कथमुक्तमेताभ्यां विना चरणं न श्रद्धेयमित्याशंक्याह-'गुरु०'गाहा, 'गुरुपारतंत्र्यमेव ज्ञानं विशिष्टश्रुतवर्जितानां श्रद्धानं चैतत्संगतमेवे'ति, ततः किमित्याह-'एत्तो उ'त्ति यतो विशिष्टश्रुतवर्जितानामुक्तरूपे ज्ञानश्रद्धाने अत एव चारित्रिणां मापतुपादिसाधूनां निर्दिष्टं ज्ञानं दर्शनं चेति शेषः, अथवा इत एव तेषां चरणं निर्दिष्टं, न स्वतंत्रमेवेत्यतो न ताभ्यां विना चरणमिति। कथानकसंप्रदायश्चैवम्-बभूव कश्चिदाचार्यो, गुणरत्नमहानिधिः। श्रुतसच्चर्थिशिष्यालिसेव्यमानक्रमांबुजः॥ १॥ सूत्रार्थपाथसां दाने, महाम्भोद इवाश्रमः। संघादिकार्यभाराणां, निस्तारे धुर्यसन्निभः॥२॥ तस्यैवान्योऽभवद्भ्राता, विशिष्टश्रुतवर्जितः। स्वेच्छया स्थानिद्रादेः, कर्ता स्वार्थपरायणः ॥३॥ तत्र सूरिः क्वचित्कार्ये, श्रान्तः सन् मुग्धबुद्धिभिः। अज्ञातावसरैः शिष्यैर्व्याख्यानं कारितः किल ॥ ४ ॥ ततोऽसौ श्रान्तदेहत्वाद्, व्याख्यायामक्षमत्वतः। चित्तखेदं जगामाथ, चिन्तयामास चेदृशम् ॥ ५ ॥ धन्योऽयं पुण्यवानेष, मद्भ्राता निर्गुणो यतः। सुखमास्ते सुखं शेते, पारतंत्र्यविवर्जितः ॥६॥ वयं पुनरधन्या ये, स्वगुणैरेव वश्यताम्। परेषां प्रापिताः स्थातुं, सुखेन न लभामहे ॥ ७ ॥ एवं चिन्तयता तेन, निबद्धं कर्म सूरिणा। ज्ञानावरणमत्युग्रं, ज्ञानावज्ञानिमित्ततः ॥ ८ ॥ नालोचितं च तत्तेन, ततो मृत्वा दिवं गतः। ततोऽप्यसौ च्युतः क्वापि, सत्कुले जन्म लब्धवान् ॥९॥ कालेन साधुसंपर्काद्', बुद्धोऽसौ जिनशासने। सद्गुरूणां समीपेऽथ, प्रवव्राज विरागतः ॥१०॥ ततोऽसौ सूरिपादान्तेऽधीते सामायिकं श्रुतम्।

धम्मो पुण एयस्सिह संमाणुट्ठाणपालणारूवो। विहिपडिसेहजुयं तं आणासारं मुणेयव्वं ॥ ८ ॥
अगीयस्स इमं कह ? गुरुकुलवासाउ, कह तओ गीओ ? । गीयाणाकरणाओ, कहमेयं ? णाणतो चेव ॥९॥

उदीर्णं च तकत्तस्य, कर्म जन्मान्तरार्जितम् ॥ ११ ॥ तस्योदयान्न शक्नोति, ग्रहीतुं पदमप्यसौ । प्रयत्नकृतव्यविश्रामं, बहुमानयुतोऽपि सन् ॥ १२ ॥ ततः सूरिरशक्तं तं, पाठे ज्ञात्वा तपोधनम् । सामायिकश्रुतस्यार्थं,ते संक्षेपादपीपठत् ॥ १३ ॥ यथा मा रुष्य मा तुष्येत्येवमेव स भक्तितः । घोषयामास तत्रापि, विस्मृतिस्तस्य जायते ॥ १४ ॥ ततो महाप्रयत्नेन, संस्मृत्य किल किंचन । तत्रासौ घोषयामास, तुष्टो मापतुषेत्यलम् ॥ १५ ॥ ततस्तद्घोषणान्नित्यं, मापतुषेत्यभिख्यया । ख्यातिं नीतो महात्माऽसौ, बालिशैः क्रीडनापरैः ॥१६॥ अदोऽपि विस्मरत्येष, यदा मोहात्तदा तकम् । न्यस्तनिजमनाश्च,हसन्तो बालका जगुः ॥१७॥ अहो मापतुषः साधुरेष मौनेन तिष्ठति । एवमुक्तः स तैर्मेने, साधु भोः स्मारितं मम ॥ १८ ॥ ततोऽधीते तदेवासौ, मन्यमानोऽत्यनुग्रहम् । साधवस्तु तदा श्रुत्वा,प्रेरयन्ति स्म चादरात् ॥ १९ ॥ शिक्षयन्ति स्म तं साधो !, मा रुष्येत्यादि घोषय । ततः प्रमोदमापन्नो, घोषयामास तत्तथा ॥ २० ॥ एवं सामायिकस्यार्थेऽप्यशक्तो गुरुभक्तितः । ज्ञानकार्यमसौ लेभे, कालतः केवलश्रियम् ॥२१॥ इति गाथार्थः ॥७॥ उक्तः साधुः,अधुनाऽस्य धर्मोऽभिधीयते-'धम्मो' इत्यादि,एष तावत्साधुरुक्तः,धर्मः पुनः-दुर्गतिगमनधारणस्वभावः एतस्य साधोः इह साधुधर्मविचारे सम्यक्-समीचीनं यदनुष्ठानं-प्रत्युपेक्षादिक्रिया तस्य याऽनुपालना-आसेवा सम्यग् पायाऽनुष्ठानपालना सैव रूपं-स्वभावो यस्यासौ सम्यगनुष्ठानपालनारूपः,सम्यगनुष्ठानमेव किमुच्यते इत्याह-विधिप्रतिषेधयुक्तं-ध्यानादिहिंसाद्यासेवापरिहारान्वितं तत्सम्यगनुष्ठानं आज्ञासारं-आप्तवचनप्रधानं 'मुणेयव्वं' विज्ञेयं। इति गाथार्थः॥८॥'धर्मः सम्यगनुष्ठान-

चारित्तओ च्चिय दढं मग्गणुसारी इमो हवइ पायं। एत्तो हिते पवत्तति तह्णाणातो सदंधोव्व ॥१०॥

अंधोऽणंधो व्व सदा तस्साणाए तहेव लंघेइ। भीमंपि हु कंतारं भवकंतारं इय अगीतो ॥ ११ ॥

पालनारूप'इत्युक्त,अत्र च परवचनावकाशमादर्शयन्नाह-'अग्गो'इत्यादि,'अग्गीयस्से'ति पदेऽपि पदसमुदायोपचाराद् अगीतार्थस्य अनधीतागमस्य इदं सम्यगनुष्ठानं कथं?, न कथंचित् ,अगीतार्थत्वादेवेति,आचार्य आह-गुरुकुलवासात्-धर्माचार्यान्ते निवसनात्, अत्र पर एवाह-कथं?-केन प्रकारेण गुरुकुलवासादिदम्?,अत्राचार्य आह-तक्को गीतार्थः ततो वा-गुरुकुलवासात् गीतो-गीतार्थो यतः, कुत इति चेत्?,गीताज्ञाकरणाद्-आगमज्ञवचनात् ,गीतार्थस्य चेदं न दुष्करमित्यभिप्रायः, अथवा कथं ततो गुरुकुलवासाद्गीतः? इति परः,गीताज्ञाकरणादिति सूरिरिति,अत्र पर एवाह-कथं?-केन प्रकारेण एतद्-गीताज्ञाकरणं अस्य भवतीति गम्यं,आचार्य आह ज्ञानत एव-बोधविशेषादेव, न ह्यविज्ञानः सन् गुर्वाज्ञाकरणे प्रभुर्भवति। इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ एतदेव समर्थयन्नाह--'चारी'त्यादि, चारित्रत एव-चरणादेव दढं-अत्यर्थं मार्गानुसारी सिद्धिपथानुकूलवृत्तिः अयं चारित्री भवति-स्यात् ,चारित्रधर्मत्वान्मार्गानुसारित्वस्य, यदाह-"मग्गणुसारी सद्धो पण्णवणिज्जो कियावरो चेव। गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती॥१॥"प्रायो-बाहुल्येन,प्रायो-ग्रहणमनाभोगादमार्गानुसार्यप्ययं स्यादिति ख्यापनार्थं, ततः किमित्याह-इतः-एतस्मान्मार्गानुसारित्वात् हिते-श्रेयसि गुर्वाज्ञाकरणादौ प्रवर्तते-व्याप्रियते, नाहिते, अथ मार्गानुसारित्वादेव कथं हिते प्रवर्तते इत्याह-तथाज्ञानात्-तथाविधबोधात् ज्ञाताऽयं हितश्च मे गुरुरित्येवंविधान्मार्गानुसारिताजनितमतिमात्रादित्यर्थः, अथवोत्तरत्रेदं संबन्धनीयं. क इवेत्याह-सदन्धवत्-शोभनान्ध इव, शोभनत्वं चास्य सज्ञाक्षसहायनरवचनानुवर्तकत्वात् , यथा हि सदन्धः सहायानुवर्तनेनेप्सितस्थानप्राप्तिरूपे हिते प्रवर्तते तथैव

आणारुइणो चरणं आणाए च्चिय इमंति वयणाओ। एत्तोऽणाभोगम्मिवि पण्णवणिज्जो इमो होइ ॥ १२ ॥
एसा य परा आणा पयडा जं गुरुकुलं ण मोत्तव्वं। आयारपढमसुत्ते एत्तो च्चिय दंसियं एयं ॥१३॥

अगीतार्थचारित्र्यपि तथाज्ञानान्मार्गानुसारित्वेन गीतार्थाज्ञाकरणादौ हिते प्रवर्तते। इति गाथार्थः ॥१०॥ उक्तदृष्टान्तस्यैव भावनार्थमाह—'अंधो'इत्यादि, अन्धो-विचक्षुः अनन्ध इव-सचक्षुरिव लंघयतीति योगः सदा-सर्वदा,यदा यदा कान्तारमभिसरति तदा तदेत्यर्थः, तस्यानन्धस्याज्ञया-आदेशेन तथैव-सजाक्ष इव युगपदेवेति भावः, अथवाऽन्धोऽनन्ध इव सदा तस्याज्ञायां प्रवर्तमानस्तथैवानन्ध इव लंघयति-अतिक्रामति तत्पदानुसारी सन् भीममपि-श्वापदादिभी रौद्रमपि, भीमस्य लंघयितुमशक्यताभिधानार्थोऽपिशब्दः हुशब्दस्तु वाक्यालंकारार्थः कान्तारं-अरण्यं भवकान्तारं-संसारारण्यं इति-एवं अगीतः-अगीतार्थो गुर्वाज्ञया लंघयतीति ज्ञानफलावाप्तेरन्येषामपि, अतः सम्यगनुष्ठानमगीतार्थस्यापि स्यादिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ अथ कस्माद् 'आज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्म' इत्युक्तमित्याशंक्याह—'आणे'त्यादि, आज्ञारुचेः-आप्तोपदेशाभिलापयुक्तस्य न त्वन्यस्य चरणं-चारित्रं भवतीति गम्यं, कुत एतत् सिद्धमित्याह-'आणाए च्चिय'त्ति आज्ञयैव-आप्तोपदेशेनैव, नान्यथा, इदं चरणं भवति इति वचनाद्-आगमवाक्यात्,तथाहि-"आणाए च्चिय चरणं तब्भंगे जाण किं न भग्गंति। आणं च अइक्कंतो कस्साएसा कुणइ सेसं ?॥१॥" अथाज्ञारुचेरप्यनाभोगाच्चरणविघातो भविष्यतीत्याशंक्याह-'एत्तो'त्ति इतः-अस्मादाज्ञारुचित्वात् प्रज्ञापनीयो भवतीति योगः,अनाभोगेऽपि-अज्ञानेऽपि,अनाभोगजनितसदसत्प्रवृत्तिप्रवृत्तावपीत्यर्थः,अनाभोगस्तस्य प्रायो न संभवतीति ख्यापनार्थोऽपिशब्दः,प्रज्ञापनीयः-सुखं संबोध्यः अयमाज्ञारुचिः भवति-स्यात्, ततश्चाज्ञारुचित्वात्प्रज्ञापनीयत्वेनास्य चरणं भवतीत्याज्ञासारं तदुक्तमिति गा-

एयम्मि परिचत्ते आणा खलु भगवतो परिचत्ता। तीए य परिचागे दोण्हवि लोगाण चाउत्ति ॥१४॥
ता न चरणपरिणामे एयं असमंजसं इहं होति। आसण्णसिद्धियाणं जीवाण तहा य भणियमिणं ॥१५॥

थार्थः ॥१२॥'आज्ञारुचेश्चरण'मित्युक्तं,अत आज्ञाया एव स्वरूपविशेषणमाह-'एसाये'त्यादि१'एसा य परा आणा' इहैवमक्षरघटना-आज्ञा च-आप्तोपदेशः पुनः एषा वक्ष्यमाणा परा-प्रकृष्टा प्रकृष्टार्थसाधनोपायोपदर्शकत्वात् प्रकटा-प्रकाशा यत् गुरुकुलं-गुरुगृहं न मोक्तव्यं-न त्याज्यं विनेयेन। अथाधिकृताज्ञाप्रकृष्टत्वस्यार्थापत्तिसिद्धतां दर्शयन्नाह-आचारप्रथमसूत्रे-आचाराभिधानप्रथमाङ्गादिवाक्ये-"सुय मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं" इत्येवंरूपे श्रुतं मया आवसता गुरुकुले भगवतैवमाख्यातमिति व्याख्यातार्थं' एत्तो चिय'त्ति यत एव विवक्षिताज्ञा प्रकृष्टा इत एव दर्शितं-उक्तं एतत्-गुरुकुलामोचनं, यदि हीयमाज्ञा प्रकृष्टा नाभविष्यत्तदा सर्वसमाचाराणामादौ गुरुकुलामोचनं नावक्ष्यत्। इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ अथ गुरुकुलवासमोचने दोषोपदर्शनेन तदाज्ञाया एव प्रकृष्टत्वसमर्थनायाह-'एयंमी'त्यादि, एतस्मिन् गुरुकुले परित्यक्ते आज्ञा-उपदेशः खलुरवधारणार्थः प्रयोगश्चास्य दर्शयिष्यते भगवतो-जिनस्य परित्यक्तैव, तदत्यागरूपत्वात्तस्याः, ततः किमित्याह-तस्याश्च भगवदाज्ञायाः पुनः परित्यागे-विमोचने सति द्वयोरपि-उभयोरपि,आस्तामेकस्य,लोकयोः-भवयोरित्यर्थः त्यागो-भ्रंशो भवति,विशिष्टनियामकाभावेनोभयलोकविरुद्धप्रवृत्तेः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ यस्मादेवम्—'ता'इत्यादि, तत्-तस्माद्धेतोः न-नैव चरणपरिणामे-चारित्राध्यवसाये सति एतद्गुरुकुलमोचनादिकं असमञ्जसं-असाधु कर्म इह साधुधर्माधिकारे भवति-जायते, किं सर्वेषां न भवतीत्याशङ्कयाह-आसन्नसिद्धिकानां-अदूरवर्तिनिर्वृतीनां जीवानां-जन्तूनां, उक्तार्थसंवाद्यागमवचनप्रस्तावनार्थमाह-तथाचेत्यु-

णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥१६॥
तत्थ पुण संठिताणं आणाआराहणा ससत्तीए। अविगलमेयं जायति बज्झाभावेऽवि भावेणं ॥१७॥
कुलवहुणायादीया एत्तो च्चिय एत्थ दंसिया बहुगा। एत्थेव संठियाणं 'स्वंतादीणंपि सिद्धित्ति ॥१८॥

पप्रदर्शनार्थः भणितं-उक्तं आगमे इदं वक्ष्यमाणगाथासूत्रम्। इति गाथार्थः ॥१५॥ यदुक्तं तदेवाह—'णाणे'त्यादि, ज्ञानस्य-श्रुतज्ञानादेः भवति-स्यात् भागी-भाजनं गुरुकुले वसन्निति प्रकृतं,प्रत्यहं वाचनादिभावात्,तथा स्थिरतरकः-पूर्वप्रतिपन्नदर्शनोऽपि सन्नतिशयस्थिरो भवति दर्शने-सम्यक्त्वे अन्वहं स्वसमयपरसमयतत्त्वश्रवणात्,तथा चरित्रे-चरणे स्थिरतरो भवति, अनुवेलं धारणादिभावात्,चशब्दः समुच्चये,यत एवं ततो धन्या-धर्मधनं लब्धारः यावत्कथं-यावज्जीवं गुरुकुलवासं-गुरुगृहनिवसनं न मुञ्चन्ति-न त्यजन्ति। इति गाथार्थः ॥१६॥ तदेवं चरणपरिणामे सति गुरुकुलमोचनरूपमसमञ्जसं न भवतीति स्थापितं,अथ गुरुकुले तिष्ठतां यद्भवति तदाह-'तत्थे'त्यादि,तत्र गुरुकुले पुनःशब्दो विशेषणार्थः,तद्भावना चैवम्-चरणे सति गुरुकुलत्यागो न भवति,गुरुकुले पुनः संस्थितानां-तिष्ठतां पाठान्तरेण वसतां आज्ञाराधनाद्-आप्तोपदेशपालनात् स्वशक्त्या-निजसामर्थ्येन यथाशक्तीत्यर्थः अविकलं-परिपूर्णं एतच्चरणं जायते-संपद्यते,प्रागुक्तन्यायेन ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात्,ननु गुरुकुले वसतोऽपि कदाचित्तदविकलं न दृश्यत इत्याशंक्याह-बाह्याभावेऽपि-प्रत्युपेक्षणादिबाह्यसदनुष्ठानासद्भावेऽपि ग्लानाद्यवस्थासु अपिशब्दः परमताभ्यनुज्ञानार्थः, कथमित्याह—भावेन-परिणामेन सद्गुरूपदेशश्रवणसंजनितसंवेगेनेत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥ १७॥ गुरुकुलवासमेव पुरस्कुर्वन्नाह—'कुले'त्यादि, कुलवधूज्ञातादयः-कुलीनाङ्गनोदाहरणप्रभृतयः शिष्यं प्रत्युपदेशा इति गम्यते 'एत्तो च्चिय'त्ति यतो गुरुकुले वसतां निर्वाणनगरगमनयानोपमानमविकलं

खंती य मद्दवऽज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे । सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जतिधम्मो ॥१९॥
गुरुकुलवासच्चाए णेयाणं हंदि सुपरिसुद्धित्ति । सम्मं णिरूवियव्वं एयं सति णिउणबुद्धीए ॥२०॥

चरणमुपजायते इत एव-असादेव कारणादत्र गुरुकुलामोचने विषये दर्शिता-उक्ता आगमे बहुका-बहवः,तत्र कुलवधूज्ञातमेवम्-ता कुलवधुणाएणं कज्जे निब्भच्छिएहिवि कहिंचि । एयस्स पायमूलं आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥१॥" आदिशब्दात्कन्याज्ञातादिग्रहः, तथाहि-"जे माणिया सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति । ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो॥१॥" ननु साधुधर्मे प्रक्रान्ते क्षमादीनामेवोत्कर्षणं युक्तं, तद्रूपत्वात्तस्य, किं गुरुकुलवासोत्कर्षणेन ?, आश्रयमात्रत्वात्तस्येत्याशंक्याह-अत्रैव गुरुकुले,नान्यत्र, संस्थितानां-सम्यग्विनीततया स्थितानां सतां यतीनां क्षान्त्यादीनामपि-क्षमाप्रभृतीनामपि साधुधर्मतया संमतानां गुणानां,न केवलमैहलौकिकानामर्थानामित्यपिशब्दार्थः, सिद्धिः-निष्पत्तिः प्रकर्षवृत्तिर्वा भवति, इतिशब्दः प्राग्वत् । इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ क्षान्त्यादीनामेवोपदर्शनायाह-'खंती'त्यादि, क्षान्तिः-क्रोधनिग्रहः यतिधर्मो भवतीति योगः चशब्द उत्तरपदापेक्षया समुच्चयार्थः, मार्दवं-मृदुता मानविवेक इत्यर्थः आर्जवं-ऋजुता मायाविवेक इत्यर्थः मुक्तिः-लोभविवेकः तपः-अनशनादिकं संयमः-पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणः, एतानि च मार्दवादिपदानि लुप्तप्रथमैकवचनानि समाहारद्वन्द्वसमासवन्ति वा द्रष्टव्यानि, बोद्धव्यो-ज्ञेयः,तथा सत्यं प्रतीतं शौचं-भावतो निरुपलेपता अचौर्यमित्यन्ये आकिञ्चन्यं च-कनकादिरहितता ब्रह्म च-ब्रह्मचर्यं चशब्दाः समुच्चयार्थाः यतिधर्मः-साधुधर्मो बोद्धव्य इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ गुरुकुले वसतां क्षान्त्यादिसिद्धिर्भवति, तद्विपर्यये पुनर्यद्भवति तद्दर्शयन्नाह-'गुरु'इत्यादि, गुरुकुलवासत्यागे-गुरुगृहनिवासत्यजने सति न-नैव एतेषां क्षान्त्यादीनां श्रमण-

खंतादभावउ च्चिय णियमेण तस्स होति चाउत्ति। बंभं ण गुत्तिविगमा सेसाणिवि एव जोइज्जा ॥ २१ ॥
गुरुवेयावच्चेणं सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ। विउलं फलमिब्भस्स व विसोवगेणावि ववहारे ॥२२॥

धर्मतया मतानां इंदीत्युपप्रदर्शने सुपरिशुद्धिः-सुष्ठु विशुद्धिः भवति,इतिः माग्वत् ,सम्यग्-अविपर्यस्तया बुद्ध्या,न पुनर्गुरुकुले वसतामितरेतरस्नेहरोपविपादादीनां भावात् एपणायाश्च प्रायो बाधसंभवादपरिशुद्धिरेव क्षमादीनामित्येवं विपर्यस्तया, विपर्यस्तत्वं चास्या एकाकित्वे बहुतरदोषोक्तेः, यदाह-"एगस्स कओ धम्मो" इत्यादि, निरूपयितव्यं-आलोचनीयं एतत्क्षमादीनां परिशुद्धत्वं सकृत्-सदा निपुणबुद्ध्या-सूक्ष्मधिया। इति गाथार्थः ॥२०॥ न केवलं गुरुकुलवासत्यागिनः क्षमादीनामपरिशुद्धिः,तदभावोऽपि स्यादिति दर्शयन्नाह—'खंते'त्यादि,क्षान्त्याद्यभावत एव-क्षमाप्रभृतिसाधुधर्मविशेषाभावादेव कपायोदयादेवेति भावः नियमेन-सर्वथैव, यस्तु गुणयुक्तस्यापि पुष्टालंबनेन गुरुकुलत्यागो भवति असौ कथञ्चिदत्याग एवेत्येतदर्थख्यापनार्थं नियमग्रहणं, तस्य गुरुकुलस्य भवति-जायते त्यागः-त्यजनं स्मरणाद्यसहनात्, आह च-"जह सागरम्मि मीणा संखोभं सागरस्स असहंता। निंति तओ सुहकामी निग्गयमेत्ता विणस्संति ॥१॥ एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहिँ चोइया संता। निंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥ २ ॥" इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ,अनेन च गुरुकुलत्यागात् प्राक् केषाञ्चित्क्षमादीनामभाव उक्तः,अथान्येषां तदनन्तरं तमाह-ब्रह्म-ब्रह्मचर्यं न भवति,तत्त्यागे गुप्तिविगमात्-ब्रह्मगुप्त्यभावात्, यतिजनसहायता हि ब्रह्मचर्यगुप्तिर्वर्तते, यदाह-"काउमणोवि अकज्जं न तरइ काऊण बहुमज्झे" शेषेषु का वार्तेत्याह-शेषाण्यपि-ब्रह्मव्यतिरिक्तान्यपि तपःसंयमादीनि एवं-अनेनैव न्यायेन गुप्तिविगमलक्षणेन न भवन्तीत्येवं योजयेत्-संबन्धयेत्, असहायतायाः सामान्येन समस्तव्रतभंगहेतुत्वात्। इति

इहरा मदंतराया दोसोऽविहिणा य विविहजोगेसु। हंदि पयट्टंतस्सा तदण्णदिक्खावसाणेसु ॥ २३॥

इहरा मदंतराया दोसोऽविहिणा य विविहजोगेसु। हंदि पयदंतस्सा तदण्णदिक्खावसाणेसु ॥ २३॥ गाथार्थः ॥ २१ ॥ गुरुकुले वसतां गुणान्तरोपदर्शनायाह—'गुरु'इत्यादि, गुरुवैयावृत्त्येन—आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानता-प्रतिचरणादिलक्षणेन हेतुना मदनुष्ठाने—गुरुगते जिनप्रवचनार्थप्रकाशनगच्छपालनादौ सहकारिभावो—यः सहायकरणं स तथा तस्मात् मदनुष्ठानसहकारिभावतः, किमित्याह—विपुलं—महत् फलं—कर्मक्षयलक्षणं गुरुकुलवासिनो भवति, कस्मिन्निवेत्याह—इभ्य-स्येव—सुवर्णलक्षादिमानमहाधनपतेरिव सत्केन विंशोपकेनापि—तदीयद्रव्यविंशतितमभागेनापि, आस्तां सर्वेण, व्यवहारे—वाणिज्ये क्रियमाणे सति,तथाहि—लक्षपतिसंबन्धिना लक्षविंशतिभागेनापि,आस्तां सर्वेण सहस्रपंचकलक्षणेन वा,व्यवहरतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवति एवं गुरोर्वैयावृत्त्यमात्रमपि कुर्वन् महत् फलमामादयति, गुरुविषयवैयावृत्त्यमात्रस्यापि महत्त्वादिति, अन्ये त्वाहुः-इभ्यस्य गृहागतस्य विंशोपकेनापि व्यवहारे—सत्कारे। इति गाथार्थः ॥२२॥ गुरुकुलवासाभावे च यत्स्यात्तदाह—'इहरे'-त्यादि, इतरथा—गुरुकुलवासत्यागे सदा—सर्वदा अन्तरायात्—वैयावृत्त्यतपोज्ञानचरणविशुद्ध्यादीनां गुरुसंसर्गसाध्यगुणानां व्याघातादिप्राप्तेः सतां वा—शोभनाना वा गुणानामन्तरायः सदन्तरायस्तस्मात् दोषो—दूषणं भवति तस्य, तथाऽविधिना—यो यत्र मंत्रज्यादाने विधिस्तदभावेन,गुरोरनुपासनतः सर्वसंविग्नसामाचारीप्रावीण्याभावादन्यायेनेत्यर्थः,चशब्दः समुच्चयार्थः,विविधयोगेषु बहुविधव्यापारेषु हंदीत्युपप्रदर्शने प्रवर्तमानस्य-व्याप्रियमाणस्य गुरुकुलत्यागिनः,किंभूतेषु योगेष्वित्याह तस्माद्गुरुकुलत्यागिनोऽन्ये अपरे तदन्ये तेषां या दीक्षा—प्रव्राजनं साऽवसाने येषां सूत्रार्थग्रहणप्रत्युपेक्षणादिसामाचार्यनुपालनादीनां ते तथा तेषु तदन्यदीक्षावसानेषु, 'ज्ञानक्रियागुणेषु हि पूर्वं स्वयं निष्पद्यते,ततः पश्चाद्दीक्षादाने प्रवर्तेत'इतिकृत्वोक्तं 'तदन्यदीक्षावसानेष्वि'ति,दोषश्चात्रैहिकपारलौकिका-

गुरुगुणरहिओ उ गुरू न गुरू विहिचायमो उ तस्सिट्ठो। अण्णत्थ संकमेणं ण उ एगागित्तणेणंति ॥२४॥
जंपिय ण वा लभेज्जा एक्कोऽविचादि भासियं सुत्ते। एयं विसेसविसयं णायव्वं बुद्धिमंतेहिं ॥ २५ ॥
पावं अणायरंतो तत्थुत्तं ण य इमं अगीयस्स। अण्णाणी किं काहीचादिसुत्ताउ सिद्धमिणं ॥ २६ ॥

नर्थाशिः इति, अतः स्थितमेतत्-"एसा य परा आणा पयडा जं गुरुकुलं न मोत्तव्वं" इति गाथार्थः ॥२३॥ अथ यदुक्तं 'गुरुकुलं न मोक्तव्य'मिति, अत्र विषयविभागं दर्शयन्नाह—'गुरु'इत्यादि, गुरुगुणाः-सज्ज्ञानसदनुष्ठानविशेषास्तै रहितो-हीनो गुरुगुणरहितः तुशब्दः पुनरर्थः गुरुः-धर्माचार्यः न गुरुः-न धर्माचार्यो भवति, सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिव, ततश्च 'विहिचायमो उ' त्ति इह मकारोऽलाक्षणिकः ततश्च विधित्याग एव-आगमिकन्यायेन परिहार एव तस्य गुरोः इष्टः-अभिमतो जिनानां, स च न यथाकथञ्चिद्, अत एवाह-अन्यत्र गुरुकुलान्तरे संक्रमेण-प्रवेशेन, न पुनरेकाकित्वेन-एकाकिविहारितयेति, गुरुकुलान्तरसंक्रमणविधिश्च "संदिट्ठो संदिट्ठस्स चेवु उवसंपज्जई उ एमाई। चउभंगो एत्थं पुण पढमो भंगो हवइ सुद्धो ॥१॥" इत्यादिरागमप्रसिद्ध इति, सर्वथा गुरुरहितेन न भाव्यमिति भावः, यदाह-"एतणमणेसणं वा कह ते नाहिंति? जिणवरमयं वा?। कुरिणंमि य पायाला जे मुक्का पव्वइयमेत्ता ॥१॥" इतिशब्दः प्राग्वत्। इति गाथार्थः ॥२४॥ ननु यदि गुरुकुल एव वस्तव्यं तदा कथमुक्तं दशवैकालिके, यथा-"न या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा। एक्कोऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥" इति, एवं तदाशंक्याह-'जंपिये'त्यादि, यदपिच-यच्च 'न वा लभेत-एकोऽपि' इत्यादि-इत्येतत्पदद्वयं प्रागुक्तमेवोपलक्षणं, भाषितं-उक्तं सूत्रे दशवैकालिकाख्ये एतदितं सर्वं विशेषविषयं-विशिष्टपुरुषगोचरं. न पुरुषमात्रविषयं, ज्ञातव्यं-अवमेयं

जाओ य अजाओ य दुविहो कप्पो उ होइ णायव्वो। एक्केक्कोऽविय दुविहो समत्तकप्पो य असमत्तो ॥२७॥
गीयत्थ जायकप्पो अग्गीओ खलु भवे अजाओ उ। पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ॥ २८ ॥

बुद्धिमद्भिः-प्रवचनगर्मार्थवेदिभिः, यतो 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ उक्तसूत्रस्यैव विशेषविषयता-समर्थनार्थमाह—'पाव'मित्यादि,पापं- आगमनिषिद्धं कर्म अनाचरन्-विवर्जयन्निति विशेषणमेकविहारिणः तत्र दशकालिकसूत्रे उक्तं-अभिहितं,न च-न पुनः इदमेतत्पापवर्जनं अगीतस्य-अगीतार्थस्य भवति,कुतः सिद्धमिदमित्याशंक्याह-अज्ञानी किं करिष्यतीत्यादिश्रुताद्दशकालिकप्रसिद्धात्, तथाहि-"पढमं णाणं तओ दया,एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही ?,किंवा नाहीइ छेयपावगं ? ॥१॥" सिद्धं-प्रतीतं इदमगीतार्थस्य पापपरिवर्जनमिति, ततो विशेषविषयमेवैतदिति स्थितमिति गाथार्थः ॥२६॥ विशेषविषयत्वमेवास्य समर्थयन् गाथाचतुष्कमाह—'जाओ'इत्यादि, 'गीयत्थो'इत्यादि, 'उउ'इत्यादि, 'एत्तो'इत्यादि, च, तत्र जाता-निष्पन्नाः श्रुतसंपदुपेततया लब्धात्मलाभाः साधवस्तदव्यतिरेकात्कल्पोऽपि जात उच्यते, एतद्विपरीतः-पुनरजातः चशब्दौ समुच्चयार्थौ द्विविध एव-द्विधैव कल्पः-समाचारः तुशब्दोऽवधारणार्थो नियोजित एव भवति-स्यात् ज्ञातव्यो-बोद्धव्यः, एकैकः- प्रत्येकं अपिचेति पुनरर्थः द्विविधो-द्विधा, समाप्तकल्पः-परिपूर्णसमाचारः चशब्दः समुच्चयार्थो नियोक्ष्यते च असमाप्तश्च-अपरिपूर्णश्च,कल्प इति प्रक्रमगम्य इति ॥२९॥ जातादीनामेव लक्षणमुच्यते-गीतार्थसाधुसंबन्धित्वाद्गीतार्थो यो विहारः स जातकल्पोऽभिधीयते, अगीतः: खलु-अगीतार्थसाधुसंबन्धी पुनः भवेत्-स्यात् अजातस्तु-अजातकल्प एव, तथा 'पणगं'ति साधुपञ्चकं तदव्यतिरेकात् कल्पोऽपि समाप्तकल्पो नाम विहारो भवति 'ऋतुबद्ध' इत्यस्येह संबन्धात् अवर्षासु,तथा तदूनकः-पञ्च-

उउबद्धे वासासु उ सत्त समत्तो तदूणगो इयरो। असमत्ताजायाणं ओहेण ण किंचि आहव्वं ॥ २९ ॥
एत्तो पडिसेहाओ सामण्णणिसेहमोऽवगंतव्वो। एएसिँ अतोवि इमं विसेसविसयं मुणेयव्वं ॥ ३० ॥
एगागियस्स दोसा इत्थीसाणे तहेव पडिणीए। भिक्खविसोहिमहव्वय तम्हा सवितिज्जए गमणं ॥३१॥

कन्यूनो द्वित्रिचतुराणां साधूनामित्यर्थः भवति-स्यात् असमाप्तः-असमाप्तकल्प ऋतुबद्ध एवेति ॥२८॥ 'उउबद्धे' इति योजितमेव, वर्षासु तु-वर्षाकाले पुनः सप्त साधवः सप्तानामित्यर्थः समाप्तः- मासकल्पो भवति, तदूनकः-तेभ्यो न्यूनतराणामित्यर्थः इतरः-असमाप्तकल्पो वर्षास्वेव, यच्च वर्षासु सप्तानां विहारवर्णनं तत्किल वर्षासु तेषां ग्लानत्वादिसंभवे सहायस्यान्यत आगमनासंभवादल्पसहायता मा भूदितिहेतोरिति विहारप्ररूपणा, ततश्चासमाप्ताज :नां-असमाप्तकल्पाजातकल्पवतां साधूनां ओघेन-उत्सर्गेण न भवति-नास्ति आभाव्यं-क्षेत्रतद्गतशिष्यभक्तपानवस्त्रपात्रादिकमागमप्रसिद्धं, तत्रेयमाभाव्यव्यवस्था-"मासो वा चउरो वा खेत्तं साहम्मियाण आभवति। सोऽवि य पुव्वपविट्ठो तत्त (जात) समत्तो असोया य ॥१॥ जं इंदखेडखेत्तं राया वा जत्थ सिट्ठिणो जुत्तं। तं मोत्तुमन्नखेत्तं पंचकोसं जतीणेयं ॥२॥" इत्यादि ॥२९॥ अथ प्रकृतयोजनार्थमाह-'एत्तो'त्ति इतोऽनन्तरोक्तादसमाप्ताजातानामोघेन न भवत्याभाव्यमित्येवंलक्षणाद् प्रतिषेधात्-आभाव्यविषयाद्विशेषनिषेधात् सामान्येन-निर्विशेषतया निषेधो-निवारणा विहारस्य सामान्यनिषेधः मकारोऽलाक्षणिकः अवगन्तव्यः-अवसेयः, केषामित्याह-एतेषामसमाप्ताजातानां, ततश्च किमित्याह-अतोऽपि-यत एतेषां सामान्येन विहारो निषिध्यतेऽतोऽपि-एतस्मादपि, न केवलं पापवर्जनविशेषणादेव, 'इदं न या लभेज्जे' त्यादिसूत्रं विशेषविषयं-विशिष्टसाधुगोचरं ज्ञातव्यं-अवगन्तव्यं, न यथाकथञ्चित्। इति गाथाचतुष्टयार्थः ॥३०॥ इतश्चागमवचनादिदं विशेषविषयं मन्त-

गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ। एत्तो तइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥३२॥
ता गीयम्मि इमं खलु तदण्णलाभंतरायविसयं तु(ति)। सुत्तं अवगंतव्वं णिउणेहिं तंतजुत्तीए ॥३३॥

रूपमित्यत आह–'एगागी'त्यादि, 'गीयत्थो'इत्यादि च, 'एगागियस्से'ति एकाकिनः–असहायस्य विहरतः सतः दोसा–दूषणानि भवन्ति, तद्यथा–'इत्थीसाणे'त्ति स्त्रीशुनि,अयं च समाहारद्वन्द्वः, ततश्च स्त्रीविषये श्वविषये च,तत्र स्त्रीविषये "विहवा पउत्थवइया पयारमलहंति दट्ठुमेगागिं। दारपिहणे य गहणं इच्छमणिच्छे य दोसा उ ॥ १ ॥" तथा श्वा–कौलेयकः, तदोषश्च तेनैकस्य परिभवः, तथैवेति समुच्चयार्थः,प्रत्यनीके–साधुप्रद्विष्टविषये,स ह्येकाकिनमभिभवेत् ,'भिक्खविसोहिमहव्वय'त्ति इह सप्तमीबहुवचनदर्शनात् भिक्षाविशुद्धौ विषये दोषा महाव्रतेषु च,तत्र युगपद्गृहत्रयस्य भिक्षाग्रहणे एकस्योपयोगकरणेऽन्यगृहद्वये तत्करणेऽशक्यत्वात्तदशुद्धिः,तत एव च प्राणातिपातविरमणविराधना निमित्तप्रश्ने च निःशंकतया तद्भणने मृषावादः विप्रकीर्णद्रव्यदर्शने जिघृक्षादिभावाददत्तादानं स्त्रीमुखनिरीक्षणादौ मैथुनं तत्र स्नेहात्परिग्रह इति,यस्मादेतेऽसहायस्य दोषास्तस्मात् 'सविइज्जए'त्ति सद्वितीयस्य गमसमीपगोरभेदात् गमनं–भिक्षार्थमटनं,यदि च भिक्षाटनमपि मसहायस्यैव युक्तं तदा सुतरां विहारः ससहायस्यैव युज्यते,ससहायो हि सर्वानिवान् प्रायः परिहर्तुं प्रभुर्भवतीति ॥ ३१ ॥ गीतार्थसाधुसं।निधत्वाद्गीतार्थः चशब्दः समुच्चये भिन्नक्रमश्च विहारो–विचरणं एकक इति गम्यते, द्वितीयश्च–अन्यो विहारः गीतार्थमिश्राणां–बहुश्रुतसमन्वितानामगीतार्थानामपि साधूनां यः स गीतार्थमिश्रकः भणितः–उक्तो जिनैर्विधेयतया, इतः–आभ्यां द्वाभ्यां विहाराभ्यामन्यः तृतीयो विहारः–एकानेकागीतार्थमात्रुरूपः नानुज्ञातो–नानुमतो विधेयतया जिनवरैः–जिननायकैः, यतः–"सामण्णगजोगाणं वज्झो गिहिमज्झिसंथुओ होइ। दंसणणाणच-

जं जह सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियालणा णत्थि। किं कालियाणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ? ॥३४॥

रित्ताण मइलणं पावए एक्को ॥ १ ॥" इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३२ ॥ विशेषविषयत्वमेवास्य स्पष्टयन्नाह—'ता'इत्यादि, 'ता' इति यस्मादेतान्यागमवचनानि सामान्यसाधोरेकाकित्वनिषेधकानि सन्ति तस्मात् गीते–गीतार्थसाधुविषये इदं–'एगोवि पावाइं विवज्जयंतो' इत्येतत्सूत्रमवगन्तव्यमिति योगः, खलुरवधारणार्थः स च योक्ष्यते, अथ गीतार्थविषयं किमिदं साधुसामान्यत एव ?, नेत्याह–तस्माद्–गीतार्थसाधोरन्ये–अपरे ये गुणवत्साधवस्तेषां यो लाभः–प्राप्तिस्तत्र योऽन्तरायो–विघ्नः स एव विषयो–गोचरो यस्य तत्तथा, अवस्तदन्यलाभान्तरायविषयमेव, गीतार्थस्यापि साध्वन्तराप्राप्तावेकाकित्वानुज्ञानपरमिदमिति भावः, अन्यथा ससहायतैव युक्ता, यतोऽभिधीयते–"कालंमि संकिलिट्ठे छकायदयावरोऽवि संविग्गो। जयजोगीणमलंभे पणगऽन्नयरेण संवसइ ॥१॥" पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाभिधानानां पञ्चानां साधूनामेकतरेण सह वसतीत्यर्थः, इतिशब्दः प्राग्वत्, सूत्रं 'न या लभे'-इत्यादिसूत्ररूपमवगन्तव्यं–अवसेयं निपुणैः–सुबुद्धिभिः तंत्रयुक्त्या–आगमिकोपपत्त्योक्तरूपया। इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ अथ किं व्यक्तार्थे सूत्रे सति तद्विचारणया ?, तस्यैव प्रमाणत्वादित्याशंक्याह–'जं'मित्यादि, यद् एकाकिविहारादि वस्तु यथा–येन प्रकारेण गुणाधिकसहायालाभादिना सूत्रे–'न या लभेज्जा'इत्यादिरूपे भणितं–उक्तं तथैव–तेनैव प्रकारेण यदि चेत् तत् सूत्रोक्तं, किमुक्तं भवति ? विचारणा विषयविभागकल्पना नास्ति–न विधेया भवति तदा किं ?–केन हेतुना कालिकानुयोगः–उत्तराध्ययनादिकालिकश्रुतव्याख्यानं दृष्टः–अनुमतः दृष्टिप्रधानैः–सम्यग्दर्शनप्रवरैः श्रुतप्रधानैर्वा भद्रबाहुस्वामिभिरावश्यकादिग्रन्थदशकालिकनिर्युक्तिरूपानुयोगकारकैरिति, अनुयोगाद्धि तदर्थोऽवगम्यते, अनेकविधविषयत्वात्तस्य, आह च–"उस्सग्गसुयं किंची किंची अववाइयं भवे सुत्तं। तदुभय-

गुरुगुणरहिओऽवि इहं दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो । ण उ गुणमेत्तविहीणोत्ति चंडरुद्दो उदाहरणं ॥३५॥

सुत्तं किंची मुचस्स गमा मुणेज्जा ॥१॥" तथा-'सन्नाइसुत्त १ ससमय २ परसमयु ३ स्सग्गमेव अववाए ५ । हीणा ६ हिय ७ जिण ८ थेरे ९ अज्जा ११ काले १२ य नाणाई १३ । १॥" 'संज्ञा च परिभाषा चे'त्यादीनि पदं 'नाणाइ'त्ति ज्ञाननयादीनि । इति गाथार्थः ॥३४॥ अथ 'गुरुगुणरहितस्तु गुरुर्न गुरुरिति विधित्यागएव तस्येष्ट'इतिय दुक्तं तत्र विशेषाभिधानायाह-'गुरु'इत्यादि,गुरुगुणरहितोऽपि अपिशब्दोऽत्र पुनःशब्दार्थः ततश्च 'गुरुगुणरहितो गुरु र्गुरुर्न भवति'इत्यत्र गुरुगुणरहितः पुनः इह गुरुकुलवासप्रक्रमे स एव द्रष्टव्यो-ज्ञातव्यः मूलगुणवियुक्तो-महाव्रतरहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाविरहितो वा यः,न तु-न पुनः गुणमात्रविहीनो-मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरिक्तप्रतिरूपताविशिष्टोपशमादिगुणविकलः,इति हेतोः गुरुगु (मूलगु) णरहितो द्रष्टव्य इति प्रक्रमः,उपमदर्शनार्थो वा इति शब्दः,उक्तं चेहार्थे-"कालपरिहाणिदोसा एत्तो इक्काइगुणविहीणेणं । अण्णेणवि पव्वज्जा दायव्वा सीलवंतेण ॥ १ ॥" अत्रार्थे किं ज्ञापकमित्याह-चंडरुद्राः-चंडरुद्राभिधानाचार्यः उदाहरणं-ज्ञापकं,तत्प्रयोगश्चैवम्-गुणमात्रविहीनोऽपि गुरुरेव,मूलगुणयुक्तत्वात्,चंडरुद्राचार्यवत्,तथाहि-असौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां संविग्नगीतार्थशिष्याणाममोचनीयो विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत्,तत्कथानकं चैवं दृश्यते-चंडरुद्राभिधानोऽभूदाचार्योऽतिबहुश्रुतः । ज्ञानादिपञ्चधाऽऽचाररत्नरत्नाकरोपमः ॥१॥ असमाचारसंलोकसंज्वलत्कोपपावकः । संक्लेशपरिहाराय, गच्छपार्श्वे स्म तिष्ठति ॥२॥ विहरंश्च समायात, उज्जयिन्यां कदाऽप्यसौ । विविक्तोद्यानदेशे च, तस्थौ गच्छस्य सन्निधौ ॥ ३ ॥ अथ श्रीमत्सुतः कोऽपि, सुरूपो नवयौवनः । प्रधानवस्त्रमाल्यादिभूषितो मित्रचेष्टितः ॥ ४ ॥ विवाहानन्तरं कोऽप्यागतः साधुसन्निधौ । तन्मित्रैः केलिना प्रोक्तास्तं पुरस्कृत्य साधवः ॥ ५ ॥ अस्मत्सखममुं यूयं, हे भदन्ता !

विरागिणम् । निर्विण्णं भवकान्तारात्, प्राव्राजयत सत्वरम् ॥६॥ साधवस्तु तकान् ज्ञात्वा, चटुरीकरणोद्यतान् । ओपधं सूरिरेवैपामित्यालोच्य बभाषिरे ॥७॥ भो भद्रा! गुरवोऽस्माकं, कुर्वते कार्यमीदृशम् । वयं तु नो ततो यात, गुरूणामन्तिकं लघु ॥८॥ केलिनैव ततो गत्वा, गुरुमूचुस्तथैव ते । सूरिणा भणितं तर्हि, भस्मानयत सत्वरम् ॥ ९ ॥ येनास्य लुञ्चनं कुर्मो, वयस्यैस्तु ततो लघु । तदानीतं ततः सूरिः, पञ्चमंगलपूर्वकम् ॥ १० ॥ लुञ्चनं कर्तुमारेभे, तद्वयस्यास्तु लज्जिताः । चिन्तितं चेभ्यपुत्रेण, कथं यास्याम्यहं गृहम् ? ॥ ११ ॥ स्वयमाश्रितसाधुत्वः, संलुञ्चितशिरोमुखः । ततो विसृज्य मित्राणि, गुरुमेवमुवाच सः ॥ १२ ॥ भदन्त! परिहासोऽपि, मद्भाग्योऽजनि मेऽधुना । रंकत्वेनापि तुष्टस्य, सौराज्यं मे समागतम् ॥१३॥ ततः स्वजनराजाद्या, यावन्नायान्ति मत्कृते । तावदन्यत्र गच्छामो, नो चेद्बाधा भविष्यति ॥ १४॥ गुरुर्बभाषे यद्येवं, ततो मार्गं निरूपय । तथैव कृतवानेष, यूत्तौ गन्तुं ततस्तकौ ॥१५॥ आचार्यः पृष्ठतो याति, पुरतो याति शिष्यकः । रात्रौ वृद्धत्वतोऽपश्यन्, मार्गे प्रस्खलितो गुरुः॥१६॥ रे दुष्टशैक्ष! कीदृशो, मार्गः संवीक्षितस्त्वया? । इति ब्रुवाणो दंडेन, शीर्षे तं हतवान् क्रुधा ॥ १७ ॥ एवं स चंडरोपत्वाच्चलितः स्खलितः पथि। शिरस्यास्फोटयन् याति, तं शिष्यं क्षमिणां वरम् ॥१८॥ शिष्यस्तु भावयामास, मन्दभाग्योऽस्म्यहं यतः । महाभागो महात्माऽयं, महाकष्टे नियोजितः ॥१९॥ भगवानेष सौख्येन, स्वगच्छे निवसन् मया । अहो दशां महाकष्टां, प्रापितः पापिना मुधा ॥२०॥ एवं भावयतस्तस्य, प्रशस्तध्यानवह्निना । दग्धकर्मेन्धनत्वेन, केवलज्ञानमुद्गतम् ॥ २१ ॥ ततस्तं तद्बलेनासौ, सम्यग्नेतुं प्रवृत्तवान् । प्रभाते च स तं दृष्ट्वा, क्षरल्लोहितमस्तकम् ॥२२॥ आत्मानं निन्दति स्मैवमधन्योऽहमपुण्यवान् । यस्य मे सति रोपाग्निशमभेघे बहुश्रुते ।२३। परोपदेशदक्षत्वे, भद्रकाले च संयमे । न जातो गुणरत्नानां, प्रधानः क्षान्तिसद्गुणः ॥ २४ ॥ अयं तु शिष्यो धन्योऽत्र, गुणवानेष

जे इह होंति सुपुरिसा कयण्णुया ण खलु तेऽवमन्नंति। कल्लाणभायणत्तेण गुरुजणं उभयलोगहियं ॥३६॥
जे उ तह विवज्जत्था सम्मं गुरुलाघवं अयाणंता। सग्गाहा किरियरया पवयणखिंसावहा खुद्दा ॥३७॥

मत्तमः। यस्यायदीक्षितस्यापि, कोऽप्यपूर्वः क्षमागुणः ॥२५॥ एवं सद्भावनायोगाद्वीर्योल्लासादपूर्वतः। आचार्यश्चंडरुद्रोऽपि, संप्राप्तः केवलश्रियम् ॥ २६ ॥ इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ गुरुकुलामोचनमेव पुरस्कुर्वन्नाह—'जे'इत्यादि,ये केचन इह मनुजलोके भवन्ति-स्युः सुपुरुषा-उत्तमनराः, पुरुषग्रहणं च नारीणामुपलक्षणं, कृतज्ञतका-गुरुविहितोपकारज्ञाः न खलु-नैव ते उक्तस्वरूपाः अवमन्यते-अवज्ञयन्ति, केन हेतुनेत्याह-कल्याणभाजनत्वेन-ऐहिकाद्यभ्युदयपात्रत्वेन, कं किंविधमित्याह-गुरुजनं-धर्माचार्यं उभयलोकहितं-लोकद्वयेऽप्युपकारकमिति,उक्तं च-"निर्भाग्योऽपि जडोऽप्यनाकृतिरपि प्राज्ञोपहास्योऽपि हि, मूकोऽप्यमतिभोऽप्यमन्नपि जनानादेयवाक्योऽपि हि। पादास्पृश्यतमोऽपि सज्जनजनैर्नम्यः शिरोभिर्भवेत्, यत्पादद्वितयप्रसादनविधेस्तेभ्यो गुरुभ्यो नमः ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ अथ गुरुकुलमोचकान्निन्दयन्नाह—'जे उ'इत्यादि, 'पाय'मित्यादि च,ये तु-ये पुनः तथा-तस्मादुक्तप्रकारात् विपर्यस्ता-विपरीताः कुपुरुषा अकृतज्ञा अकल्याणभाजनत्वेन गुरुजनमवमन्यन्त इत्यर्थः ते न साधव इति योगः, कथं विपर्यस्ता इत्याह-सम्यग्-यथावत् गुरुलाघवं-सारासारताविभागं गुरुकुलवासैकाकिविहारयोरिति गम्यं अजानन्तः-अनवबुध्यमानाः, अयमभिप्रायः-यद्यपि ते गुरुकुलमनेकसाधुसंकीर्णतया संभवदनेषणापरस्परस्नेहरोषादिदोषतया बहुदोषं एकाकित्वं चैतद्दोषाभावादल्पदोषं कल्पयन्ति तथाप्येतन्न तेषां सम्यग्ज्ञानं, आगमबाधितत्वादस्य, आगमबाधा च प्रागुपदर्शितेति । तथा स्वग्राहात्-स्वकीयाभिनिवेशात् आगमापारतंत्र्यादित्यर्थः क्रियारता-भिक्षाशुद्धप्रतिकर्मताप्रान्तोपधिताऽऽतापनामासक्षपणाद्यनुष्ठान-

पायं अहिण्णगंठीतमा उ तह दुक्करंपि कुव्वंता । बज्झा व ण ते साहू धंखाहरणेण विण्णेया ॥३८॥

निरताः तथा प्रवचनखिंसात्वहाः-शासनापभ्राजनाहेतवः,अनागमिकत्वेनैकाकित्वेन च प्रवचनगुप्तिरक्षायामसमर्थत्वात्,तथा क्षुद्राः-तुच्छाः, आत्मनि बहुमानात् गुरुषु चावज्ञापरत्वात्,कृपणा वा तथाविधजनावर्जनपरत्वात्,क्रूरा वा शेषसाधुषु पूजाविच्छेदाभिप्रायत्वादिति ॥३७॥ तथा प्रायो-बाहुल्येन अभिन्नग्रन्थयः-सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शनाः,अयमभिप्रायः-मिथ्यादृष्टयोऽपि ये भिन्नग्रन्थयस्ते नैवंविधासमीक्षितकारिणो भवन्तीति, कथं तर्हि ते दुष्करतराणि तपांसि सेवन्त इत्याशंक्याह-तमसः-अज्ञानात् तथा-तत्प्रकारं मासक्षपणादि दुष्करमपि-प्रकृष्टमपि,आस्तामदुष्करं,कुर्वन्तो-विदधानाः बाह्या इव-कुतीर्थिका इव,न-नैव ते गुर्वाज्ञाकारिणः साधवः-संयताः विज्ञेया-ज्ञातव्याः जिनाज्ञोचीर्णत्वात्,इहैवार्थे दृष्टान्तमाह-ध्वांक्षोदाहरणेन-काकज्ञातेन, प्रयोगश्चात्रैवं-ये निर्गुणं वस्तु समाश्रिताः न ते स्वार्थभाजो दृष्टाः, यथा मृगतृष्णासरःश्रायिणः काकाः,आश्रिताश्च निर्गुणं गच्छबहिर्भागं गच्छत्यागिन इति,काकज्ञातं चैवम्-सुस्वादु शीतलं स्वच्छं,पद्मरेणुसुगन्धि च। धारयन्ती जलं वापी, काचिदासीन्मनोहरा ॥१॥ तस्यास्तटेऽगमन् काकास्तेषु चाल्पे पिपासिताः। अनिच्छन्तोऽपि पानीयं, नाश्रयन्ति स्म चैव ताम् ॥२॥ ततो दृष्ट्वा पुरोवर्तिमृगतृष्णासरांसि ते। तानि प्रति प्रयान्ति स्म, वापीं हित्वा जलार्थिनः ॥३॥ कश्चित्तु तानुवाचैवमेषा भो मृगतृष्णिका। यदि वोऽस्ति जलार्थित्वं, तदाश्रयत वापिकाम् ॥४॥ ततः केचित्तदाकर्ण्य, वापीमेव समाश्रिताः। भूयांसस्त्ववधीर्यैतन्मृगतृष्णां ययुः प्रति ॥५॥ ततो जलमनासाद्य,ते विनाशमुपागताः। वापीं समाश्रिता ये तु,बभूवुस्ते कृतार्थकाः ॥६॥ वापीतुल्योऽत्र विज्ञेयो,गुरुगच्छो गुणालयः। धर्मार्थिनस्तु काकाभाश्चारित्रं-जलसन्निभम् ॥७॥ मृगतृष्णासरस्तुल्या,गुरुगच्छाद्बहिःस्थितिः। तच्छिक्षादायको ज्ञेयो,गीतार्थस्तत्कृपापरः ॥८॥

तेसिं बहुमाणेणं उम्मग्गऽणुमोयणा अणिट्ठफला । तम्हा तित्थगराणाठिएसु जुत्तो त्थ बहुमाणो ॥३९॥
ते पुण समिया गुत्ता पियदढधम्मा जिइंदियकसाया । गंभीरा धीमंता पण्णवणिज्जा महासत्ता ॥४०॥

चारित्रापात्रतां प्राप्ताः, काकवत् केऽपि दुग्रहात् । गुरुगच्छबहिर्वासं, संश्रिता ये तपस्विनः ॥२॥ अल्पास्तु केऽपि सद्बोधाच्चारित्रे पात्रतां गताः । काका इवैव ये धन्या, गुरुगच्छमुपाश्रिताः ॥ १० ॥ इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ अथ गुरुकुलत्यागिन एव कष्टविहारकारित्वेन ये बहु मन्यन्ते तान् शिक्षयितुमाह—'तेसिं'मित्यादि, तेषां गुरुकुलत्यागिनां बहुमानेन-पक्षपातेन करणभूतेन उन्मार्गानुमोदना-अनागमिकाचारानुमतिः, किंफलेत्याह-अनिष्टफला-अनभिमतफला दुर्गतिप्रयोजनेत्यर्थः, आह च-"आणाएँ अवट्टंतं जो उववूहेइ मोहदोसेणं। सो आणा अणवच्छं मिच्छत्त विराहणं पावे ॥१॥" 'तम्ह'त्ति यस्मादेवं तस्मात्तीर्थकराज्ञास्थितेषु-गुरुकुलवासादिजिनादेशाश्रितेषु साधुषु युक्तः-संगतः अत्र विचारे बहुमानः-पक्षपातो, नेतरेषु । इति गाथार्थः ॥३९॥ अथ तीर्थकराज्ञास्थितानेव स्वरूपत आह—'ते'इत्यादि, ते तीर्थकराज्ञास्थिताः साधवः पुनरिति विशेषणार्थः समिताः समितिपञ्चकेन गुप्ता गुप्तित्रयेण प्रियः-प्रीतिस्थानं दृढश्च-स्थिरो विपत्स्वपि अविमोचनात् धर्मः-श्रुतचारित्रात्मको येषां ते प्रियदृढधर्माः जितेन्द्रियकषाया-न्यक्कृतकरणकोपादिभावाः गंभीरा-अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादिभावाः, गांभीर्यलक्षणं चेदम्-'यस्य प्रभावादाकाराः, क्रोधहर्षभयादिषु । भावेषु नोपलभ्यन्ते, तद्गांभीर्यमुदाहृतम् ॥ १ ॥" इति, धीमन्तो-बुद्धिमन्तः प्रज्ञापनीयाः-सुखावबोध्याः महासत्त्वा-भवैकुण्ड्यमापन्नाः, 'आपत्स्वकैकुण्ठ्य कामव्यवमानकरं च महत्त्व'मित्युक्तेः, इति गाथार्थः ॥४०॥ उत्सर्गापवादयोः-सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः विज्ञायका-विज्ञाः तथा सेवका-अनुष्ठानरताः, तपोऽस्य यथाशक्ति-शक्त्यनिगूहनेन भावविशुद्धिसमेताः-परि-

उस्सग्गववायाणं वियाणगा सेवगा जहासत्तिं । भावविसुद्धिसमेता आणारुतिणो य सम्मंति ॥४१॥
सव्वत्थ अपडिबद्धा मेत्तादिगुणण्णिया य णियमेण । सत्ताइसु होंति दढं इय आययमग्गतल्लिच्छा ॥४२॥
एवंविहा उ णेया सव्वणयमतेण समयणीतीए । भावेण भाविएहिं सइ चरणगुणट्ठिया साहू ॥४३॥

णामविशुद्धितान्विताः आज्ञारुचयः–आगमबहुमानिनः चशब्दः समुच्चये सम्यग्–अविपरीततया, न पुनः स्वाग्रहानुसारेण,इतिशब्दः समाप्ताविति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ 'सव्वे'इत्यादि, सर्वत्र द्रव्यक्षेत्रकालादौ अप्रतिबद्धाः–प्रतिबन्धरहिताः मैत्र्यादिगुणान्विता–मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यलक्षणगुणयुक्ताः चशब्दः समुच्चये नियमेन–नियोगेन,केषु विषये इत्याह–सत्त्वादिषु–यथासंख्यं सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेष्विति भवन्ति–स्युः दृढं–अत्यर्थं, इति–एवं सत्त्वादिषु मैत्र्यादिगुणान्विततया समितगुप्त्यादिना वा प्रकारेण, किमित्याह–आयतो–मोक्षोऽव्यवच्छेदात् तस्य मार्गो–ज्ञानादिस्तत्र लिप्सा–लालसा आयतमार्गतल्लिप्सा ये ते तीर्थकराज्ञास्थिता भवन्तीति प्रकृतं । इति गाथात्रयार्थः ॥ ४२ ॥ एते च क इत्याह—'एव'मित्यादि, एवंविधास्तु–प्रागुक्तसमितिगुप्त्यादिगुणान्विताः पुनः ज्ञेया–अवसेयाः साधव इति योगः, कथमित्याह–सर्वनयमतेन–द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकज्ञाननयक्रियानयनिश्चयव्यवहारलक्षणसमस्तनयादिसंमततया,यत उक्तं–"सव्वेसिंपि नयाणं बहुविह वत्तव्वयं निसामेत्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥"तथा समयनीत्या–सिद्धान्तन्यायेन आगमप्रामाण्येन चेत्यर्थः, अथवा सर्वनयमतेन या समयनीतिस्तया,कैर्ज्ञेया इत्याह–भावेन–शुभाध्यवसायेन भावितैः–वासितैः अथवा समयनीत्याः सत्केन भावेन–परमार्थेन भावितैः,सकृत्–सर्वकालं, न तु कदाचिदेव, चरणगुणस्थिताः–चारित्रलक्षणगुणेषु व्यवस्थिताः सन्तः साधवो–मोक्षसाधका मुनयः,अनेवंविधास्त्वसाधवः। इति गाथार्थः

णाणम्मि दंसणम्मि य सति णियमा चरणमेत्थ समयम्मि। परिसुद्धं विण्णेयं णयमयभेया जओ भणियं ॥४४॥
णिच्छयणयस्स चरणायविघाए णाणदंसणवहोऽवि। ववहारस्स उ चरणे हयम्मि भयणा उ सेसाणं ॥४५॥
जो जहवायं ण कुणति मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अण्णो ?। वड्ढेइ य मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥४६॥

॥४३॥ अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचरणगुणस्थिताः साधवो भवन्तीति वक्तव्ये कस्मादुक्तं चरणगुणस्थिता इत्याशङ्क्याह—'णाणंमी'-त्यादि, ज्ञाने-सद्बोधे दर्शने च-तत्त्वरुचौ सति-विद्यमाने नियमाद्-अवश्यंतया चरणं-चारित्रं परिशुद्धं-अनवद्यं भवतीति विज्ञेयं-अवसेयं, अतश्चरणगुणस्थितत्वोक्तौ ज्ञानदर्शनस्थितत्वमुक्तमेव निश्चीयते, ज्ञानदर्शनयोश्चरणानुगामित्वात्, अथ कुत एतत्तत्सिद्धमित्याशङ्क्याह-नयमतभेदात्-निश्चयव्यवहारलक्षणनयमतभेदमाश्रित्य, यतो-यस्माद् भणितं-उक्तं विवक्षितार्थसंवादकं वाक्यं, क भणितं तदित्याह-अत्र समये-इह सिद्धान्ते जिनप्रवचने इत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥४४॥ यदुक्तं तद्दर्शयन्नाह-'णिच्छये'त्यादि, निश्चयनयस्य-तत्त्ववादिनयस्य मतेनेति शेषः, किमित्याह-चरणात्मविघाते-चारित्रलक्षणस्वभावाभावे सति ज्ञानदर्शनवधोऽपि-सद्बोधसम्यक्त्वविघातोऽपि स्यात्, चरणात्मा पुनर्हत एवेत्यपिशब्दार्थः, विरतिरहितज्ञानादेर्निष्फलतया तन्मतेऽज्ञानादित्वादिति। व्यवहारस्य तु-लोकसंव्यवहारपरनयस्य पुनः मतेनेति शेषः चरणे-चारित्रे हते-विगते भजना तु-विकल्पनैव विघातः स्याद्वा न वेत्येवंरूपा शेषयोः-ज्ञानदर्शनयोः, स हि मन्यते-यद्यनन्तानुबन्ध्युदयाच्चरणवधो जातस्तदा तयोरपि वधः स्यात्, अनन्तानुबन्धिनां सम्यग्दर्शनस्य तद्द्वारेण सज्ज्ञानस्य च विघातकत्वात्, यदि पुनरप्रत्याख्यानकषायोदयात्तदा दर्शनज्ञानयोरव्याघात एव, तदुदयस्य दर्शनाबाधकत्वात्। इति गाथार्थः ॥४५॥ अथ प्रागुक्तमेव निश्चयनयमतं स्पष्टयन्नाह-'जो' इत्यादि, यः प्राणी यथावादं-आप्तवचनानतिक्रमेण न करोति-न विधत्ते चरणमिति शेषः मिथ्यादृष्टिः-विपर्यस्तरुचिः अत एव मिथ्याज्ञानी च ततः-तस्मादयथावादकारिणः हु

एवं च अहिनिवेसा चरणविघाए ण णाणमादीया । तप्पडिसिद्धासेवणमोहासद्दहणभावाइ ॥४७॥
अणभिनिवेसाओ पुण विवज्जया होंति तव्विघाओऽवि । तक्कज्जुवलंभाओ पच्छातावाइभावेण ॥४८॥

शब्दो वाक्यालंकारे कोऽन्यः? कोऽपरः,न कोऽपीत्यर्थः,स एव मिथ्यादृष्टिर्यथावादाननुष्ठायित्वेन दर्शनस्य विफलतयाऽसत्कल्पत्वादिति भावः, न केवलमसावात्मना मिथ्यादृष्टिः,किंतु वर्धयति च-वृद्धिं नयति च मिथ्यात्वं-विपर्यासं, कस्येत्याह-परस्य-आत्मनोऽन्यस्य,,किं कुर्वन्नित्याह-शङ्कां-संदेहं किमयमयथोक्तकारित्वादेवमनुचितमाचरति उताप्तोपदेश एवायमित्येवंरूपां जनयन्-विदधानः 'परस्यैवेति,अतः सुष्ठूक्तं-'निश्चयनयस्ये'त्यादि। इति गाथार्थः॥४६॥ अथ व्यवहारसंमतां ज्ञानादिनाशभजनां स्पष्टयन्नाह-'एव'मित्यादि,'अणभि इत्यादि,एवंच-एवमेव निश्चयनयमत इवेत्यर्थः अभिनिवेशाद्-अनन्तानुबन्ध्युदयजन्यात् पृथिव्याद्यारंभे न दोषः जीवत्वेन तेषा सिद्धेरित्यादिलक्षणात् चरणविघाते-चारित्राभावे सति न-नैव ज्ञानादयो-ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणा गुणा-भवन्ति,इह मकारोऽलाक्षणिकः,कैरित्याह-तत्र चरणे यत्प्रतिषिद्धं-विधेयतया निवारितं पृथिव्याद्यारंभादि तत्र यदासेवनं आसेवा मोहश्च-अज्ञानं अश्रद्धानं च-अरोचनं तानि तत्प्रतिषिद्धासेवनमोहाश्रद्धानि तेषां ये भावा-उत्पादाः सद्भावा वा ते तथातै रिति ॥४७।
अनभिनिवेशाद्-अतत्त्वेऽभिनिवेशाभावेनानाभोगादिनेत्यर्थः पुनःशब्दः पूर्वोक्तार्थापेक्षयोत्तरार्थस्य विशेषद्योतनार्थः विपर्ययाद्-बोधविपर्यासात्सकाशात् ।द्विघातेऽपि-चरणव्याघातेऽप्यकृत्यासेवनाजन्ये सति भवन्ति ज्ञानादय इति प्रकृतं, अथवाऽनभिनिवेशात् पुनः-अविपर्ययाद् बोधविपर्ययाभावाद्भवन्ति ज्ञानादयस्तद्विघातेऽपि न व्याहन्यन्ते, कुत एतत्सिद्धमित्याह-तत्कार्योपलंभात्-ज्ञानादिकार्योपलब्धेः, तत्कार्योपलंभ एव कथमित्याह-पश्चात्तापः-अनाभोगादेः प्रतिषिद्धाचरणेन चरणव्याघातादनन्तरं 'हा दुष्टं कृत'-मित्यादिलक्षणश्चित्तसंताप,आदिशब्दात्प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः संवेगश्च गृह्यते, ततश्चैषां यो भावो-भवनं एतद्रूपो वा यो भावः-परि-

तम्हा जहोइयगुणो आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्धो । पंकयणाताइजुओ विण्णेओ भावसाहुत्ति ॥४९॥
एसो पुण संविग्गो संवेगं सेसयाण जणयंतो । कुग्गहविरहेण लहुं पावइ मोक्खं सयासोक्खं ॥ ५० ॥
॥ साहुधम्मविही संमत्तो ॥ ११ ॥

णाम। स तथा तेन पश्चात्तापादिभावेन,पश्चात्तापादयो हि ज्ञानादिकार्यभूतास्ततस्ते कथं ज्ञानादीनामभावे भवेयुरितिः,एवं च सुष्ठूक्तं-'नाहारस्स उ'इत्यादि । इति गाथाद्वयार्थः ॥४८॥ यस्मात्कारणात् गुरुकुलवासो जिनाज्ञा तत्त्यागे च न गुणास्तस्मात्कारणात् यथोदितगुणो-गुरुकुलवासात्यागी समितिगुप्त्याद्यनन्तरोक्तगुणयुक्तो वा तथाऽऽलयशुद्ध्यादीनि-वसतिनिर्दोषताप्रभृतीनि यानि लिंगानि-सुविहितचिह्नानि तैः परिशुद्धो-निश्चितसुविहितभावो यः स आलयशुद्ध्यादिलिंगपरिशुद्धः,आलयशुद्ध्यादिलिङ्गानि चेमानि-"आलएण विहारेणं,ठाणाचंकमणेण य । सक्को सुविहिओ नाउं,भासावेणइएण य ॥१॥" तथा पंकजज्ञातादियुतः-पुष्करोदाहरणप्रभृतिज्ञातयुक्तः, तानि चेमानि-"पुक्खरपत्तंपिव निरुवलेवे,गयणमिव निरालंबणे,वाउव्व अपडिबद्धे,संखो इव निरंजणे" इत्यादिकानि औपपातिकशास्त्रप्रसिद्धानि,विज्ञेयो-ज्ञातव्यः भावसाधुः-परमार्थयतिः, न तु द्रव्यसाधुः, इतिशब्दः समाप्तौ,इह च भावसाधुभणनेन साधुधर्मोऽभिहितो द्रष्टव्यस्तद्व्यतिरेकात्तद्धर्मस्यैव विवक्षितत्वादिति गाथार्थः ॥४९॥ अथोक्तस्वरूपस्य साधोः प्रधानपुण्यार्थसिद्धिरूपं साधुधर्मपालनफलं प्रतिपादयन्नाह-'एसो'इत्यादि,एषोऽनन्तरोक्तगुणो भावसाधुः पुनःशब्दो विशेषणार्थः संविग्नो-मोक्षाभिलाषी संसारभीरुर्वा आत्मना तथा संवेगं-उक्तरूपं शेषकाणां-आत्मनोऽन्येषां जनयन्-उत्पादयन् सद्देशनया सच्चेष्टया च कुग्रहविरहेण-असदभिनिवेशविकलतया लघु-शीघ्रं प्राप्नोति-आसादयति मोक्षं-सकलकर्मनिबन्धनवियोगलक्षणं सदासौख्यं-शाश्वतसुखं,दुःखबीजस्य कर्मणोऽभावात् । इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ ॥ साधुधर्मविवरणं वृत्तितः समाप्तम् ॥ ११ ॥

॥ अथ द्वादशमपञ्चाशकवृत्तिः ॥ १२ ॥

नमिऊण महावीरं सामायारीं जतीण वोच्छामि । संखेवओ महत्थं दसविहमिच्छादिभेदेण ॥१॥

इच्छा१मिच्छा२तहक्कारो३,आवस्सिया४ य णिसीहिया५। आपुच्छणा६य पडिपुच्छा ७,छंदणा ८ य णिमंतणा९ ॥२॥

अनन्तरप्रकरणे साधोर्धर्म उक्तः,अधुना तु तत्सामाचारीं प्रतिपिपादयिषुर्मङ्गलाद्यभिधानार्थमाह—'नमी'त्यादि, नत्वा-प्रणम्य महावीरं-वर्धमानजिनं सम्यगाचारः समाचारस्तद्भावः सामाचार्यं तदेव सामाचारी तां यतीनां संबन्धिनीं, न तु श्रावकाणां, तस्या उक्तत्वात् , वक्ष्यामि-भणिष्यामि, कथं?-संक्षेपतः-समासेन सूत्रापेक्षया, अर्थापेक्षया तु महार्थां-प्रभूताभिधेयां महाप्रयोजनां वा,मोक्षप्रयोजनत्वात्तस्याः,सा च 'पडिलेहणं च पिंड'मित्यादिरूपा ओघसामाचार्यपि स्यादित्यत आह-दशविधां-दशप्रकारां, सा च 'पडिलेहणा पमज्जणे'त्यादिकाऽप्यस्तीत्यत आह-इच्छादिभेदेन-इच्छाकारादिभिर्यो भेदो-भिन्नता स तथा तेन। इति गाथार्थः ॥ १ ॥ तद्दशविधत्वमेव दर्शयन्नाह—'इच्छे'त्यादि, इच्छामिथ्यातथेत्येतेषां-श्रद्धार्थव्यलीकार्थावितथार्थानां शब्दानां कारः-करणं यथाविषयं प्रयोग इच्छामिथ्यातथाकारः, अथवा प्राकृते समुदायोपचारात् इच्छेति इच्छाकारः मिथ्येति च मिथ्यादुष्कृतं, तथाशब्देन च तथेतिरूपं पदमभिप्रेतं तेषां कारः-करणमिति समासः इति त्रयो भेदाः । तथा आवश्यकैः-अवश्यंकर्त्तव्यैर्ज्ञानाद्यर्थैर्योगैर्निर्वृत्ता तत्प्रयोजना वा या गोचरादिनिर्गमक्रिया सा आवश्यकी तत्संसूचिका वागपीति चतुर्थः। तथा निषेधेन-अवग्रहप्रवेशनिषेधेन निर्वृत्ता तत्प्रयोजना वा या शय्यादिप्रवेशक्रिया सा

उपसंपया य काले सामायारी भवे दसविहा उ। एएसिं तु पयाणं पत्तेयपरूवणा एसा ॥३॥
अब्भत्थणाइ करणे कारवणेणं तु दोण्हवी उचिए। इच्छकारो कत्थइ गुरुआणा पेव य ठितित्ति ॥४॥

नैषेधिकीति, तत्संज्ञिका वागपीति पञ्चमः। तथा आ-मर्यादया तथाविधविनयलक्षणया अभिविधिना वा-सर्वप्रयोजनाभिव्याप्तिलक्षणेन प्रच्छनं-गुरोः प्रश्नकरणमापृच्छनेति षष्ठः। चशब्दः समुच्चये। तथा तान् प्रति पुनरपि पृच्छा-प्राग्नियुक्तेन कार्यकरणकाले प्राग्निषिद्धेन वा पुनः प्रयोजनतः कर्तुकामेन गुरोः प्रच्छनं प्रतिपृच्छेति सप्तमः। तथा छन्दना च-प्राग्गृहीतस्याशनादेः गृहीत गृह्णीतेत्येवमुचितेभ्यो दानार्थमभ्युत्थानमित्यष्टमः। तथा निमंत्रणा-अहं भवदर्थमशनाद्यानयामीत्येवं भक्तितो भणनमिति नवमः ॥ २ ॥ 'उपसं'इत्यादि, तथा उपसंपत्तिः-उपसंपत् ज्ञानाद्यर्थं गुर्वन्तराश्रयणमिति दशमः चशब्दः समुच्चये काले-अवसरे, यथावसरमित्यर्थः, कालपदं चोपसंपदि संबध्यते सर्वपदेषु वा, सर्वमपि ह्यनुष्ठानं स्वावसरानपेतं फलवद्भवति, अथवा आवश्यके सामायिकाध्ययनस्योपोद्घातनिर्युक्तौ यत्कालद्वारं तत्रोपक्रमकालो द्विविध उक्तः,सामाचारीयथायुष्कभेदात् ,अतः काल इति सामाचार्युपक्रमकालक्षणे अभिधातव्ये सामाचारी उक्तनिर्वचना भवेत्-स्यात् दशविधा तु-दशप्रकारैव विवक्षितसामाचारी, न न्यूनाधिकभेदेनेति,अथैतेषामेव भेदानां विशेषप्ररूपणाप्रस्तावनार्थमाह-एतेषां-तु अमीषां पुनरनन्तरोक्तानामिच्छाकारादीनां पदानां-वर्णसमुदायात्मकानां प्रत्येकं-एकैकं प्रति पृथक् पृथगित्यर्थः या प्ररूपणा-स्वरूपविषयादिनिरूपणं सा तथा एषा-इयं वक्ष्यमाणा भवति ॥ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३ ॥ अथेच्छाकारस्य विषयोपदर्शनायाह—'अब्भे'त्यादि, अभ्यर्थनायां-परस्य प्रवर्तनायां' त्वं ममेदं कार्यं भवत्य वा कुर्वि'त्येवंरूपायां इच्छाकारमिति संबन्धः, तथा करणे च-विधाने च परप्रयोजनस्य 'अहं भवदीयमिदं प्रयो-

सइ सामत्थे एसो णो कायव्वो विणाऽहियं कज्जं। अब्भत्थिएणवि विहा एवं खु जइत्तणं सुद्धं ॥५॥

जनमिच्छाकारेण करोमी'त्येवं भणतः कारणेन तु–ग्लानादिप्रयोजनत एव, न तु यथाकथञ्चित्, तत्राभ्यर्थनापक्षेऽभिहितम्–"जइ होज्ज तस्स अनलो कज्जस्स वियाणई न वा एयं। गेलन्नाईहि व होज्जा वावडो कारणेहिं सो ॥१॥" कारणापेक्षया त्विदमुक्तम्–" अहवावि विणस्संतं अब्भत्थिन्तं च अन्न दट्ठूणं। अण्णो कोइ भणेज्जा तं साहुं निज्जरट्ठीओ ॥ १ ॥ अहयं तुब्भं एयं करेमि कज्जं तु इच्छकारेणं। " इति, 'दोण्हवि'त्ति द्वयोरप्यभ्यर्थककारकयोः उचिते–योग्ये 'करणे'त्ति क्वचिद्विषये, तत्राभ्यर्थनामाश्रित्य पात्रपरिकर्मणादिप्रयोजने गुरुवर्ज एवोचितः, करणापेक्षया तु शैक्षादिरुचित इति, किमित्याह–इच्छाकारः–इच्छाशब्दप्रयोगः यद्यस्ति करणेच्छा तदा त्वं कुर्वित्येवमर्थसूचकः, कार्यो भवतीति शेषः, कस्मादयं विधेय इत्याह–गुर्वाज्ञा–अभियोगपरिहारप्रधान आज्ञादेशः इति–कृत्वा इतिशब्दस्योत्तरस्येह संबन्धादेवं व्याख्यातं,चैवशब्दः समुच्चयार्थः, उत्तरत्र चायं संबन्धनीयः, तथा स्थितिश्चैव च–साधुजनमर्यादा चैव चेति–कृत्वा, इतिशब्दो हेत्वर्थो योजितश्चेति, वक्ष्यमाणार्थसूचकगाथार्थः ॥ ४ ॥ अथ यदुक्तं'अभ्यर्थनाया'मिति, तत्र विषयविभागदर्शनार्थमाह—'सई'त्यादि, सति–विद्यमाने सामर्थ्ये–बले चिकीर्षितप्रयोजनविषये एष प्रस्तुत इच्छाकारः नो कर्तव्यो–न विधेयः, स्वयमेव विवक्षितार्थसाधनसमर्थेन न तत्साधनार्थं परोऽभ्यर्थनीयः, अनिगूहितवीर्येण हि साधुना भाव्यमिति भावः, किं सर्वथा न कर्तव्य इत्याशंक्याह–विना–वर्जयित्वा अधिकं–विशिष्टतरं कार्यं–प्रयोजनं, इदमुक्तं भवति–चिकीर्षितप्रयोजनादेः वस्त्रपरिकर्मादेः सकाशाद्विशिष्टतरनिर्जराकारणभूतं पुरुषान्तरासाध्यं यद् ग्लानप्रतिचरणधर्मानुयोगादि तत्र चिकीर्षितकार्यसमर्थेनापीच्छाकारः प्रयोक्तव्यो, यथा 'इदं मदीयं वस्त्रसेवनादि इच्छाकारेण साधो! त्वं कुरु, ग्ला-

कारणदीवणयाइवि पडिवत्तीइऽविय एस कायव्वो । राइणियं वज्जेत्ता तगोचिए तम्मिवि तहेव ॥६॥

नप्रतिचरणादिकं पुनरहं करिष्यामी'ति, अन्यत्र पुनस्तं न करोतीति, अथाभ्यर्थितसाधुना यद्विधेयं तदाह–अभ्यर्थितेनापि साधु-ना-विवक्षितकार्यकरणायोक्तेनापि साधुना अपिशब्दः समुच्चयार्थः वृथा–व्यर्थो, नेच्छाकारः कार्य इति प्रकृतं, अभ्यर्थितार्थकरणात् सफल एव कार्य इति भावः, क एवं गुण इति चेदत आह–'एवं तु'त्ति एवमेव–अनेनैव प्रकारेण सामर्थ्ये सति अभ्यर्थनाविषयमिच्छाकारमकुर्वतोऽभ्यर्थितस्य नेच्छाकारं सफलयतः यतित्वं–साधुत्वं शुद्धं–अनवद्यं भवति, वीर्याचारानुपालनात् । इति गाथार्थः ॥५॥ 'अभ्यर्थितेनेच्छाकारो वृथा न कर्तव्य' इत्युक्तं, अथाशक्त्यादिकारणेनासौ वृथा कार्यः स्यात्तदा तत्कारणदीपना कार्या स्यात्, अन्यथा-करणे तु तदभ्युपगमः कार्यः, तत्र च कारणदीपनायां तदभ्युपगमे च यत्कर्तव्यं तद्दर्शयन्नाह–'कारणे'त्यादि, कारणदीपनायामपि-अभ्यर्थितकार्याकरणे हेतुप्रकाशनायामपि, न केवलमभ्यर्थनायामेव, भवदीयमिदं प्रयोजनं करोमीच्छाकारेण, केवलं न तावच्छक्नोमि, गुरुभिर्वा कार्यान्तरे नियुक्तः इत्यादिरूपायां, तथा प्रतिपत्तौ–अभ्युपगमे यथैवेदं भवतोक्तं तथैवेच्छाकारेण करोमीत्यादिरूपायां अपिचेति समुच्चय एव एष इतीच्छाकारः स्वकीयकरणश्रद्धासंसूचनपरः कर्तव्यो–विधेयः। अथ यदुक्तं 'उचिते क्वचि'दिति तदभिव्यञ्जयन्नाह–रत्नानि–ज्ञानादीनि वैश्वरतीति रात्निकस्तं वर्जयित्वा इच्छाकारः कार्यः, यतो गुरूणां न यत्किञ्चन कार्य-मादेशनीयं, पूज्यत्वादिति, किं सर्वथा नेत्याह–तकदुचिते–तद्योग्ये गुरुजनादेशार्हे प्रयोजने सति तस्मिन्नपि–रात्निकेऽपि, आस्तामन्यत्र, तथैव–तेनैव प्रकारेणेच्छाकारः प्रयोक्तव्य एवेत्यर्थः, उक्तं च–"राइणियं वज्जेत्ता इच्छाकारं करेज्ज सेसाणं । अम्हं एयं कज्जं तुब्भे उ करेह इच्छाए ॥ १ ॥ अहवा नाणाईणं अट्ठाए जइ करेज्ज किंचाणं। वेयावच्चं किंचिवि तत्थवि तेसिं भवे इच्छा

एवं आणाऽऽराहणजोगाओ आभिओगियक्खओत्ति । उच्चागोयणिबंधो सासणवण्णो य लोगम्मि ॥७॥
आणाबलाभिओगो णिग्गंथाणं ण कप्पती काउं । इच्छा पउंजियव्वा सेहे तह चेव राइणिए ॥८॥
जोग्गेऽवि अणाभोगा खलियम्मि खरंटणावि उचियत्ति । ईसिं पण्णवणिज्जे गाढाजोगे उ पडिसेहो ॥९॥

॥२॥" इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अथ यदुक्तं 'गुर्वाज्ञे'ति तदिच्छाकारफलाभिधानतो व्यञ्जयन्नाह—'एव'मित्यादि, एवमुक्तविषयेणेच्छाकारप्रयोगविधिना आज्ञाराधनयोगाद्—आप्तोपदेशपालनसंबन्धात् पराभियोगपरिहारपरमार्थात् अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकं—परतंत्रताफलं कर्म तस्य क्षयो—विनाश आभियोगिकक्षयो भवति, इतिशब्दः समाप्त्यर्थः स च गाथान्ते द्रष्टव्यः, तथोच्चैर्गोत्रनिबन्धो—लोकपूज्यतानिबन्धनोच्चैर्गोत्राभिधानकर्मबन्धनं भवति, परपरिभवपरिहारत इति गर्भः, तथा शासनवर्णश्च—जिनप्रवचनश्लाघा च लोके—गुणग्राहिजने जायते, अहो जैना निपुणार्थदर्शिनः अल्पीयसोऽपि परखेदस्य परिहारपरायणत्वादित्येवं बहुमानतः। इति गाथार्थः ॥७॥ अथ 'स्थिति'रिति यदुक्तं तद्व्यंजनायाह—'आणे'त्यादि, आज्ञापनमाज्ञा—भवतेदं कार्यमेव तदकुर्वतो बलात्कारणं बलाभियोगः ततश्चाज्ञया सह बलाभियोग आज्ञाबलाभियोगः आज्ञाबलयोरभियोगो—व्यापारणमिति समास इत्यन्ये स निर्ग्रन्थानां—साधूनां न कल्पते—न युज्यते कर्तुं—विधातुं,परपीडोत्पादकत्वाद् आत्मनश्चाभियोगिककर्मबन्धनहेतुत्वात्तस्येति, किं तु ?,इच्छा—इच्छाकारः प्रयोक्तव्या—प्रयोजनीया प्रयोजनीये सति,क विषय इत्याह—शैक्षे—शिष्यकेऽभिनवप्रव्रजिते प्रविव्रजिषौ वा तथा चैव—यथा शैक्षे तथैव रात्निके—गुणाधिके, इदमुक्तं भवति—शैक्षरत्नाधिकयोरिच्छाकारप्रयोगं प्रति न विशेषः, अन्यत्र प्रयोजनविशेषात्। इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ आज्ञाबलाभियोगो न कल्पत इत्येष तावदुत्सर्ग उक्तः, अपवादः पुनः आज्ञाबलाभियोगावपि

संजमजोगे अब्भुट्ठियस्स जं किंचि वितहमायरियं । मिच्छा एतंति वियाणिऊण तं दुक्कडं देयं ॥१०॥
सुद्धेणं भावेणं अपुणकरणसंगतेण तिव्वेणं । एवं तक्कम्मखओ एसो से अत्थणाणंमि ॥११॥

क्वचित्प्रयोक्तव्याविति, एतदेव दर्शयन्नाह—'जोग्गे'इत्यादि, योग्येऽपि–गुणित्वादर्हे, कल्याणस्य वा, अयोग्य एव किल खरंटनाया उचितो भवतीति सूचनार्थोऽपिशब्दः, अनाभोगाद्–अनुपयोगात्, योग्यो हि अनुपयोगादेव स्खलति, नाभिनिवेशात्, योग्यत्वहानेः, स्खलिते–साधुसमाचारात्प्रच्युते खरंटना–दुर्वाक्यैर्निर्भर्त्सना,आज्ञानलात्कारेण मार्गप्रवर्तनमित्यर्थः,संयतानां किल खरंटना नोचितेति संसूचनार्थोऽपिशब्दः इच्छाकारसमुच्चयार्थो वा,उचिता–संगता,तस्या असमाचारनिषेधार्थत्वात् इति शब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः, किंभूता खरंटनेत्याह–ईषद्–अल्पा, महत्यास्तस्याः प्रायः प्रद्वेषवैरादिदोषनिबन्धनत्वात् ,किंभूते योग्य इत्याह–प्रज्ञापनीये–प्रबोधनार्हे अथवा ईषत्प्रज्ञापनीये–मनाक् प्रज्ञापयितुं शक्ये, तदन्यत्र निषेधमाह, गाढायोग्ये तु–अत्यन्तायोग्ये पुनः प्रतिषेधो–निवारणा,खरंटनाया इति प्रकृतं,यतः–"उपदेशो हि मूर्खाणां,प्रकोपाय न शान्तये । पयःपानं भुजंगानां, केवल विषवर्धनम् ॥१॥"इति गाथार्थः ॥९॥ उक्तमिच्छाकारद्वारं, अथ मिथ्याकारद्वारनिरूपणायाह–'संजमे'त्यादि, संयमयोगे–चरणव्यापारे समितिगुप्त्यादौ अभ्युत्थितस्य–प्रवृत्तस्य सतः यत्किंचिद्–यत्किमपि सामान्यतोऽल्पमनल्पं चेत्यर्थः वितथं–अन्यथाभूतं संयमाननुकूलमित्यर्थः आचरितं–अनुष्ठानं आपन्नमिति शेषः,मिथ्या-संयमविपरीतं एतद्–इदं इति–एवं विज्ञाय–अवबुध्य तत् दुष्कृतं–मिथ्यादुष्कृत–यदिदं मिथ्या–मिथ्याचरितं मदीयं तत् दुष्कृतं मिथ्यादुष्कृतं–दुष्टानुष्ठानं पापमित्येवमर्थं,अथवा मिथ्या इदं दुष्कृतमित्येकार्थशब्दद्वयरूपं सदोषप्रतिपत्तिपूर्वकपश्चात्तापप्रकर्षप्रकाशनगर्भं वाक्यं देयं–प्रयोक्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १० ॥ 'मिथ्याद्-

मित्ति मिउमद्दवत्ते छत्ति उ दोसाण छादणे होति । मेत्ति य मेराएँ ठिओ दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥१२॥
कत्ति कडं मे पावं डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं । एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥१३।

ष्कृतं देय'मित्युक्तं तच्च केन करणभूतेनेत्याह-'सुद्धेण'मित्यादि,शुद्धेन-प्रशस्तेन भावेन-अध्यवसायेन संवेगेनेत्यर्थः अपुनःकरणसंगतेन-पुनरिदं मिथ्याचरणं न करिष्यामीत्येवं निश्चयान्वितेन तीव्रेण-प्रकर्षवता,यन्मात्रेणाध्यवसायेन मिथ्याचारः कृतस्ततोऽध्यवसायात्तीव्रतरेणैव शुभाध्यवसायेन मिथ्यादुष्कृतदानं तज्जनितकर्मविघातायालं भवतीत्यतस्तीव्रेणेत्युक्तं,मिथ्यादुष्कृतं देयमिति प्रकृतं, ततः को गुणो भवतीत्यत आह-एवं-उक्तप्रकारभावेन मिथ्यादुष्कृतदाने तत्कर्मक्षयो-मिथ्याचरणजनितकर्मविगमो भवति, स एव शुद्धस्तीव्रो भावः कथं स्यादित्याह-'एसो'त्ति' इह काकुपाठात् पुनःशब्दो लभ्यते ततश्चैष पुनः-अनन्तरोक्तस्तीव्रः शुद्धभावः 'से' तस्य मिथ्यादुष्कृतपदस्य मिथ्यामेदुष्कृतमितिपर्यायस्य अर्थज्ञाने-अभिधेयावबोधे सति भवति, नान्यथा । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ अथ तदर्थज्ञानाविर्भावनायैव 'मिच्छामिदुक्कडं' इत्येतत्प्राकृतपदमाश्रित्य पूर्वसूरिकृतां व्याख्यां दर्शयन्नाह—'मित्ति'इत्यादि, 'मि'त्ति' मि'इत्येतदक्षरं मृदुमार्दवत्वे भवतीति योगः, तत्र मृदोः कायतो विनयावनम्रस्य मार्दवस्य च-भावतो नम्रताधर्मवतो भावो मृदुमार्दवत्वं,अथवा मृदु मार्दवं यस्य स तथा तस्य भावो मृदुमार्दवत्वं तत्र,'छत्ति उ'छा इत्येतत्पुनरक्षरं दोषाणां-असंयमयोगलक्षणानां छादने-स्थगने,अपुनरासेवन इत्यर्थः,भवति-वर्तते,'मेत्ति य'मे इत्येतच्चाक्षरं 'मेराएँ'त्ति मर्यादायां चारित्ररूपायां स्थितो व्यवस्थितोऽहं अस्यार्थस्याभिधायकं,'दु'त्ति दु इत्येतदक्षरं जुगुप्से निन्दाम्यात्मानं-दुष्कृतकर्मकारिणमित्यस्यार्थे वर्तत इति,अयमर्थः मृदुमार्दवे दोषाच्छादने मर्यादायां च स्थितः सन्नहमात्मानं निन्दामीति ॥१२॥ तथा 'क'त्ति क इत्येतदक्षरं कृतं-विहितं मया,नान्ये-

कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स । संयमतवड्ढगस्स उ अविगप्पेणं तहक्कारो ॥१४॥
वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्तअट्ठकहणाए । अवितहमेयंति तहा अविगप्पेणं तहकारो ॥१५॥

न,पापं-वितथामेवनरूपं इत्यत्रार्थे स्वदोषप्रतिपत्तिरूपे वर्त्तने,'डत्ति य' ड इत्येतच्चाक्षरं डिये-लंघयामि तत् पापं उपशमेन करणभूतेन इत्यत्रार्थे वर्तने,एषोऽनन्तरोक्तः'मिच्छादुक्कड'त्ति प्राकृतशैल्या गाथानुलोम्याच्च मिथ्या मे दुष्कृतमित्यत्र पदे यान्यक्षराणि-वर्णास्तेषां योऽर्थः-अभिधेयः स तथा समासेन-संक्षेपेणेति,ननु कथं प्रत्येकमक्षराणामर्थवत्ता युक्ता?,पदवाक्ययोरेवार्थदर्शनात्, अत्रोच्यते,प्रत्येकमप्यक्षराणामर्थोऽस्ति, अन्यथा तत्समुदायेऽप्यभावप्रसंगात्, सिकतासु तैलवदिति, किंच-संकेताधीनः पदनामर्थो दृष्टः, स च यदि वर्णानामपि तथा स्यात्तदा न काचित्क्षतिरिति, दृश्यते च मननात् त्राणाच्च मंत्र इत्यादिषु। इति गाथाद्वयार्थः ॥१३॥ अथ तथाकारो यं प्रति युज्यते तद्दर्शनार्थमाह—'कप्पे'त्यादि,कल्पो-विधिः आचार इत्यर्थः अकल्पश्च-अविधिः अथवा कल्पो-जिनकल्पस्थविरकल्पादिः अकल्पस्तु-चरकादिदीक्षा अथवा कल्प्यं-ग्राह्यं अकल्प्यं-इतरत् ततः समाहारद्वन्द्वः कल्पाकल्पं कल्प्याकल्प्यं वा तत्र परिनिष्ठितस्य-ज्ञाननिष्ठां प्राप्तस्य, अनेन च ज्ञानसंपदुक्ता, तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि-महाव्रतानि तेषु पञ्चस्विति स्वरूपविशेषणं, यतो न तान्येकादीनि भवन्ति, यत्रापि चत्वारि तान्युच्यन्ते तत्रापि वस्तुतः पञ्चैवेति, स्थितस्य-आश्रितस्य, अनेन च मूलगुणसंपत्तिरुक्ता,तथा संयमः-प्रत्युपेक्षोपेक्षादि तपश्च-अनशनादि ताभ्यामाढ्यः-परिपूर्णः स एव संयमतपआढ्यकस्तस्य,अनेन चोत्तरगुणसंपत्तिरुक्ता,तुशब्दः एवकारार्थः,तस्य किमित्याह—अविकल्पेन-निर्विकल्पं तदीयवचनेऽवितथत्वात् शंकामकुर्वाणेनेत्यर्थः तथाकारो-यथा यूयं वदथ तथैवैतदित्यर्थसंसूचकस्तथेति शब्दप्रयोगः,कार्य इति गम्यमिति गाथार्थः ॥१४॥ अथ तथाकारस्यैव

कज्जेणं गच्छंतस्स गुरुणिओएण सुत्तणीईए। आवस्सियत्ति णेया सुद्धा अण्णत्थजोगाओ ॥१८॥
कज्जंपि णाणदंसणचरित्तजोगाण साहगं जं तु। जइणो सेसमकज्जं ण तत्थ आवस्सिया सुद्धा ॥१९॥

संविग्नो-भवभीरुगुरुः अनुपदेशं नञः कुत्सार्थत्वेन कुत्सितोपदेशं आगमबाधितार्थानुशासनं न ददाति-परस्मै न करोति, तद्दाने संविग्नत्वहानिप्रसंगात्, किंभूतः सन्नित्याह-दुर्भाषितं-अनागमिकार्थोपदेशं कटुविपाकं-दारुणफलं दुरन्तसंसारावहं, मरीचिभवे महावीरस्येव, जानानः-अवबुध्यमानः, को हि पश्यन्नेवात्मानं कूपे क्षिपतीति, यस्मादेवं ततस्तस्मिन्-संविग्ने कल्पाकल्पपरिनिष्ठितादिगुणे सद्गुरौ गीतार्थे संविग्नपाक्षिके च प्रज्ञापयति सति तथेति निर्विकल्पं, अतथाकारः-तथाकारस्याप्रयोगः तुशब्द एवकारार्थस्तस्य चैवं प्रयोगः-मिथ्यात्वमेव-असम्यग्दर्शनमेव, मिथ्यात्वहेतुकत्वात्तस्य, न हि मिथ्यात्वं विना निश्चितशुद्धप्ररूपकत्वेऽपि प्रज्ञापके तथाकारं न प्रयुंक्ते। इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ उक्तस्तथाकारः, अथावश्यकीं स्वरूपत आह—'कज्जेण'मित्यादि, कार्येण-ज्ञानादिप्रयोजनेन, अनेन निष्कारणगमननिषेध उक्तः, गच्छतो-वसतेर्निर्गच्छतः साधोः, किं स्वच्छन्देन?, नेत्याह-गुरुनियोगेन-गुर्वनुज्ञया, तत्रापि सूत्रनीत्या-आगमन्यायेन ईर्यासमित्यादिलक्षणेन, किमित्याह-आवश्यिकी-अवश्यकृत्यनिर्वृत्ता निर्गमक्रिया तत्सूचिका वाक् इति-एवमुक्तन्यायेन ज्ञेया-अवसेया, किंभूता?-शुद्धा-अनवद्या, कुत इत्याह-अन्वर्थयोगाद्-अनुगतशब्दार्थसंबन्धात्, अन्वर्थश्चोक्त एव, प्रकारान्तरेण पुनरशुद्धा। इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ 'कार्येण गच्छत' इत्युक्तं, किं पुनस्तदित्याह—'कज्जं'इत्यादि, इहापिशब्दः पुनरर्थः, ततश्चावश्यिकी कार्येण गच्छतो भवति, कार्यं पुनः ज्ञानदर्शनचारित्रयोगानां-ज्ञानादित्रयगतव्यापाराणां साधकं-हेतुभूतं भिक्षाटनादि यत् इह तदिति शेषो दृश्यः तुशब्दश्चैवकारार्थः ततश्च तदेव, नान्यत्, कस्येत्याह-

वइमेत्तं णिव्विसयं दोसाय मुसत्ति एव विण्णेयं । कुसलेहिं वयणाओ वइरेगेणं जओ भणियं ॥२०॥
आवस्सिया उ आवस्सिएहिं सव्वेहिं जुत्तजोगस्स । एयस्सेसो उचिओ इयरस्स ण चेव णत्थित्ति ॥२१॥

यतः-साधोः,शेषं-ज्ञानादिसाधनादन्यत् अकार्यं-अप्रयोजनं,मुमुक्षुत्वात्साधोरिति। किंचात इति?,आह-न-नैव तत्र ज्ञानाद्यसाधनप्रयोजने गच्छत इति गम्यते आवश्यिकी-पूर्वोक्तनिर्वचना शुद्धा-निर्दोषा, अन्वर्थाभावात्। इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ यद्यसौ न शुद्धा तर्हि किंविधा सेत्याह—'वई'त्यादि, वागेव-वचनमेव वाग्मात्रं,सा आवश्यिकीति प्रकृतं, वाङ्मात्रमित्यत्रावधारणार्थमात्रशब्दस्य व्यवच्छेद्यं यत्तदाह-निर्विषयं-निर्गोचरमनर्थः,किंफलं च तदित्याह-दोषाय-कर्मबन्धलक्षणदूषणार्थं, कस्मादेवमित्याह-मृषेति-अनृतमिति कृत्वा,प्रतीतं चानृतस्य दोषार्थकत्वमित्यनृतमिति,'एवे'ति इहानुस्वारस्याश्रवणं छन्दोवशात् , तत एवं-उक्तस्वरूपं विज्ञेयं-ज्ञातव्यं कुशलैः-निपुणैः, अन्येषां ज्ञानाशक्तत्वात्, वचनात्-आगमात् , विवक्षितवचनस्यैव प्रस्तावनार्थमाह-व्यतिरेकेण-मक्रमविपर्ययेण यतो-यस्मात् भणितम्-उक्तं सामायिकनिर्युक्तौ। इति गाथार्थः ॥२०॥ यदुक्तं तदाह-'आवे'त्यादि, आवश्यिकी तु प्रागुक्तनिर्वचना तुः पुनःशब्दार्थः आवश्यकैः-प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैः-समस्तैः युक्तयोगस्य-संयुतकायादिचेष्टस्य, शुद्धा भवतीति शेषः, तदिदं व्यतिरेकभणितं नैवंविधस्य, वाङ्मात्रत्वात्तस्या इति, कथमेवंविधस्येयं शुद्धा भवतीत्याह-एतस्य-आवश्यकयोगयुक्तस्य एष इति-पूर्वतमगाथोक्तोऽन्वर्थयोगः आवश्यिकीशब्दोचार इत्यन्ये उचितः-संगतो विद्यमानत्वात् ,उक्तव्यतिरेकमाह-'इयरस्स'त्ति इहोत्तरस्य पुनरर्थस्य चशब्दस्य संबन्धादितरस्य पुनः-अनावश्यकयोगयुक्तस्य नैव,उचित एष इति प्रकृतं,कुत इत्याह-नास्तीतिकृत्वा-अविद्यमानत्वाद् अन्वर्थाभावादित्यर्थः, अतस्तस्य वाङ्मात्रमेवासौ । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ उक्ताऽऽव-

एवोग्गहप्पवेसे णिसीहिया तह णिसिद्धजोगस्सं । एयस्सेसो उचिओ इयरस्स ण चेव नत्थित्ति ॥२२॥
गुरुदेवोग्गहभूमीएँ जत्तओ चेव होति परिभोगो । इट्ठफलसाहगो सइ अणिट्ठफलसाहगो इहरा ॥२३॥
एत्तो ओसरणादिसु दंसणमेत्ते गयादिओसरणं । सुव्वइ चेइयसिहराइएसु सुस्सावगाणंपि ॥२४॥

श्यिकी, सांप्रतं नैषेधिकीमाह—'एवो'इत्यादि, एवं-उक्तेनावश्यिकीन्यायेन ज्ञानादिकार्यलक्षणेन अवग्रहप्रवेशे-शय्यादिप्रवेशने नैषेधिकी सामाचारीविशेषो भवति, तथेत्यवग्रहप्रवेशापेक्षया विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः, तच्चेदं-निषिद्धयोगस्येति, अथवा तथा-आगमन्यायेन निषिद्धयोगस्य-निरुद्धासद्व्यापारस्य, कस्मादियमस्येत्याह-एतस्य निषिद्धयोगस्य एषः-नैषेधिकीशब्दस्यान्वर्थयोगो नैषेधिकीशब्दोच्चार इत्यन्ये उचितः-संगतः, विपर्ययमाह-इतरस्य-अनिषिद्धयोगस्य पुनः नैव, उचित एष इति प्रकृतं, चशब्दः पुनरर्थः, स च संबन्धित एव, कस्मान्नोचित इत्याह-नास्तीति-न विद्यतेऽन्वर्थ इति-कृत्वा । इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अथ कस्मादवग्रहप्रवेशे नैषेधिकी विधेयेत्यत आह—'गुरु'इत्यादि, गुरुदेवावग्रहभूम्या-आचार्यदेवाधिदेवाश्रयभुवः यत्नत एव-आशातनापरिहारप्रयत्नेनैव चैवशब्दोऽवधारणे भवति-वर्तते परिभोगः, स च किंभूत इत्याह-इष्टफलसाधकः-ईप्सितार्थनिष्पादकः कर्मक्षपहेतुरित्यर्थः सकृत्-सर्वदा,उक्तव्यतिरेकमाह-अनिष्टफलसाधकः-कर्मबन्धहेतुरित्यर्थः इतरथा-अन्यथाऽप्रयत्नत इत्यर्थः, गुरुदेवावग्रहभूमेः परिभोग इति प्रकृतं, तत्र गुर्ववग्रहस्वरूपमावश्यकेऽभिहितं, यथा-"आयप्पमाणमेत्तो चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो"त्ति,देवावग्रहस्तु न क्वापि ग्रन्थे दृष्टः,केवलं भण्यमानः श्रुतः, यथा-"सरथोग्गहो उ तिविहो उक्कोस जहण्ण मज्झिमो चेव । उक्कोसो सट्ठिहत्थो जहन्न नव सेस विचालो ॥१॥" इति गाथार्थः ॥२३॥ देवाद्यवग्रहभूमेरेव प्रयत्नपरिभोग्यतां समर्थयन्नाह—

जो होइ निसिद्धप्पा णिसीहिया तस्स भावतो होइ। अणिसिद्धस्स उ एसा वइमेत्तं चेव दट्ठव्वा ॥२५॥
आउच्छणा उ कज्जे गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा णियमा। एवं खु तयं सेयं जायति सति णिज्जराहेऊ ॥२६॥

'एत्तो'इत्यादि, 'एत्तो'त्ति यतो गुर्वाद्यवग्रहभूमेः प्रयत्नपरिभोग इष्टफलसाधको भवति इतः–अस्मात्कारणात् अवसरणादिषु–जिनसमवसरणप्रभृतिषु विषयभूतेषु तेषामित्यर्थः षष्ठ्यर्थत्वात्सप्तम्याः, आदिशब्दात्समवसरणसंबन्धिमहेन्द्रध्वजचामरतोरणादिपरिग्रहः, दर्शनमात्रे–दृष्टिमात्र एव सति गजाद्यपसरणं–गजाश्वशिबिकाप्रभृतिभ्यो देवावग्रहगमनप्रवहणेभ्योऽवतरणं–प्रयत्नविशेषलक्षणं श्रूयते–आकर्ण्यते प्रवचने तेषु तेष्वाख्यानकेषु,तथा चैत्यशिखरादिकेषु–जिनभवनशिखरकलशध्वजप्रभृतिषु एषामित्यर्थः, दर्शनमात्र इति वर्तते,सुश्रावकाणामपि–श्रमणोपासकविशेषाणामपि, समवसरणजिनभवनादिषु प्रवेष्टुकामानामिति गम्यते, सुसाधूनां पुनर्गुर्वाद्यवग्रहप्रवेशे प्रयत्नो विधेय इत्यर्थसंसूचनार्थोऽपिशब्दः, सुश्रावकग्रहणं चेतरेषामुक्तविधेरन्यथात्वसंभवोपदर्शनार्थमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ अथ यस्य नैषेधिकी भावतो भवति तमभिधित्सुराह—'जो'इत्यादि, यः प्राणी भवति–स्यात् निषिद्धो–निवारितः सावद्ययोगेभ्यः आत्मा–स्वभावो येन स निषिद्धात्मा नैषेधिकी उक्तनिर्वचना तस्य प्राणिनः भावतः–परमार्थतः भवति–स्यात् , अथोक्तविपर्ययमाह–अनिषिद्धस्य तु–अनिवृत्तस्य पुनः, सावद्यादिति गम्यते, एषा नैषेधिकी वाग्मात्रं–वागेव केवला निरर्थकेत्यर्थः भवति–स्यात् द्रष्टव्या–अवसेया। इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ उक्ता नैषेधिकी,अथापृच्छनामाह—'आउ'इत्यादि, आपृच्छायाः करणं आपृच्छना तुशब्दः पुनरर्थः तत आपृच्छना पुनः कार्ये–ज्ञानादिसाधने प्रयोजने सति,कार्येति शेषः,कस्येत्याह–गुरो–रत्नाधिकस्य तत्संमतस्य वा–गुरुबहुमतस्य वा स्थविरादेः वाशब्दो विकल्पार्थः नियमाद्–अवश्यंभावेन,अथ कस्मादेष वि-

सो विहिनाया तस्साहणंमि तज्जाणणा सुणायंति । सन्नाणा पडिवत्ती सुहभावो मंगलो तत्थ ॥२७॥
इट्ठपसिद्धऽणुबंधो धण्णो पावखयपुण्णबंधाओ । सुहगइगुरुलाभाओ एवं चिय सव्वसिद्धित्ति ॥२८॥

धेयेत्याह-'एव खु' एवमेव-गुर्वाद्यापृच्छापूर्वकमित्यर्थः तत् कार्यं श्रेयः-अतिशयेन प्रशस्य जायते-भवति-सकृत् सदा निर्जराहेतुः-कर्मक्षयकारणमितिकृत्वा । इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अथ कथमापृच्छाविषयभूत कार्यं श्रेयः स्यादित्यत्राह—'सो'इत्यादि, 'सो'त्ति य आपृच्छयते स गुरुर्गुर्वनुमतो वा विधिज्ञाता-चिकीर्षितकार्यस्य वस्त्रधावनादेर्विधानस्य वेदिता भवति, गीतार्थत्वात्, ततश्च तत्साधने 'अहमिदं कार्यं करोमि' इत्येवं विधिज्ञगुरुनिवेदने अथवा विधिप्रतिपादने सति, स हि पृच्छ्यमानो विधिज्ञत्वाच्चिकीर्षितकार्यविधिं साधयति यथा-'अच्छोडपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे' इत्यादि 'तज्जाणण'त्ति-विधिज्ञानं पृच्छकस्य भवति, ततश्च 'सुनायंति' 'अहो गुरुणा जिनेन वा सुष्ठु ज्ञातं-सकलसत्त्वानुपघातकत्वेन मुमुक्षोश्चोपग्राहकत्वेन निपुणमिदं दृष्टं नैवं दर्शनान्तरीयैरित्येवंविधात् स्वज्ञानात्-स्वगतसद्बोधात्सकाशात् प्रतिपत्तिः-गुरुरेव जिन एव वाऽऽप्त इत्येवंभूता रुचिर्भवति, सा च शुभभावः-प्रशस्तो व्यवसायो वर्तते,स च मंगलं-विघ्नविघातकं वस्तु तत्र कार्ये,प्रवर्तमानस्येति शेषः,अथवा स गुरुः विधिज्ञाता-उपायज्ञः तत्साधने-चिकीर्षितकार्यनिष्पादने,ततश्च तज्ज्ञानाद्-गुरोः सकाशाद्यज्ज्ञानं तस्मात् सुज्ञानं कार्यं भवति,सुज्ञानाच्च प्रतिपत्तिः-सम्यक्क्रियाया अभ्युपगमः, सा च शुभो भावः, शेषं तथैव । इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ ततश्च—'इट्ठे'त्यादि, इष्टप्रसिद्धेः-वाञ्छितप्रयोजनसिद्धेः योऽनुबन्धः-अविच्छेदः स तथा स भवति धन्यः-प्रशस्तः, कुत इत्याह-पापक्षयस्य पुण्यबन्धश्चेत्येकवद्भावोऽतस्तस्मात् तथा शुभगतिश्च-सुमानुषत्वलक्षणा गुरुश्च-धर्माचार्यस्तीर्थकरादिस्त-

इहरा विवज्जतो खलु इमस्स सव्वस्स होइ जं तेणं । बहुवेलाइकमेणं सव्वत्थाऽऽपुच्छणा भणिया ॥२९॥
पडिपुच्छणा उ कज्जे पुव्वणिउत्तस्स करणकालम्मि । कज्जंतरादिहेउं णिदिट्ठा समयकेऊहिं ॥३०॥

कज्जंतरं ण कज्जं तेणं कालंतरे व कज्जंति । अण्णो वा तं काहिति कयं व एमाइया हेऊ ॥३१॥

योगो लाभो–जन्मान्तरापेक्षया प्राप्तिः स तथा तस्मात्कारणात्'एवं चिय'त्ति एवमेव–इष्टप्रसिद्ध्यनुबन्धवदेव सर्वसिद्धिः–समस्तार्थनिष्पत्तिर्निष्ठितार्थकत्वं भवति इतिशब्दः समाप्ताविति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्तस्यैव विपर्ययदर्शनेनापृच्छाद्वारनिगमनार्थमाह–'इहरा'इत्यादि,इतरथा–गुरोरनापृच्छायां विपर्ययः खलु–विपर्यास एव अस्य पूर्वोक्तस्यापृच्छाजन्यगुणसंदोहस्य सर्वस्य–समस्तस्य भवति–जायते यद्–यस्मात् तेन–तस्मात्कारणात्,किमित्याह–बह्वीर्वेला–वारा अभीक्ष्णमित्यर्थः यत्कार्थमुन्मेषनिमेषोच्छ्वासादि विधीयते प्रतिवेलं च प्रष्टुं न शक्यते तद्बहुवेलेत्यभिधीयते तदादिर्यः क्रमो–व्यवस्था स बहुवेलादिक्रमोऽतस्तेन,आदिशब्दात् प्रष्टुं शक्यकार्यपरिग्रहः,सर्वत्र–सामान्यविशेषरूपे कार्ये आपृच्छना–आपृच्छा भणिता प्रवचने विधेयतयोक्ता,अयमभिप्रायः–यद्विशेषप्रयोजनं तत् प्रति साक्षादापृच्छां विदधति यच्च मुहुर्मुहुः कार्यतया प्रष्टुमशक्यं तद्बहुवेलासंदेशनत आपृच्छन्तीति गाथार्थः ॥२९॥ उक्ताऽऽपृच्छना,अथ प्रतिपृच्छामाह—'पडी'त्यादि, प्रतिपृच्छायाः करणं प्रतिपृच्छना पुनः तुशब्दः पुनरर्थः कार्ये–प्रयोजने पूर्वनियुक्तस्य–पूर्वकाले गुरुभिर्व्यापारितस्य सतः, निर्दिष्टेति योगः, कदेत्याह–करणकाले–विधानावसरे, कस्मादेतदेवमित्याह–कार्यान्तरं–प्रागुपदिष्टकार्यादन्यत्कार्यं तदादिर्यस्य तन्निरोधादेः स तथा स एव हेतुः–निमित्तं कार्यान्तरादिहेतुस्तस्मात्कार्यान्तरादिहेतोः द्वितीयायाः पञ्चम्यर्थत्वात् निर्दिष्टा–उपदिष्टा समयकेतुभिः–प्रकाशकतया प्रवचनचिह्नभूतैरिति गाथार्थः ॥३०॥

अहवावि पवित्तस्सा तिवारखलणाएँ विहिपओगेऽवि । पडिपुच्छणत्ति नेया तहिँ गमणं सउणवुद्धीए ॥३२॥
पुव्वणिसिद्धे अण्णे पडिपुच्छा किल उवट्ठिए कज्जे । एवंपि नत्थि दोसो उस्सग्गाईहिँ धम्मठिई ॥३३॥

कार्यान्तरादिहेतूनेव दर्शयन्नाह-'कज्ज'मित्यादि,'अहवावी'त्यादि,प्रतिपृच्छां कुर्वतः शिष्यस्य गुरुः कदाचित् कार्यान्तरं-प्रागादिष्ट-
कार्यादपरकार्यं,अथवा न कार्यं-नास्ति प्रयोजनं तेन यत्कार्यमादिष्टमासीत्,कालान्तरे वा-अवसरान्तरे वा,नाधुनैव कार्यं-विधेयं,वाश-
ब्दो विकल्पार्थः अन्यो वा-आदिष्टादपरः साधुः तत् प्रागादिष्टं कार्यं करिष्यति,कृतं वा-विहितं वा तदन्येनेति त्वमास्स्वेत्यादिशेत्,एव-
मादयः-एवंप्रभृतयो गुरुविकल्पाः,आदिशब्दादधिकृतकार्यस्यैव विशेषो गृह्यते,हेतवः-कारणानि,भवन्ति प्रतिपृच्छायाः करण इति शेषः
इति।गाथार्थः॥३१॥ अथवाऽपीति प्रतिपृच्छायां हेतोः प्रकारान्तरत्वसूचनार्थः,प्रवृत्तस्य-चिकीर्षितकार्यकरणाय गमने व्यापृतस्य सतः
साधोः त्रिवारस्खलनायां-त्रीन् वारान् यावत्तत्प्रतिहतौ सत्यां,दुर्निमित्तादिति गम्यं,विधिप्रयोगेऽपि-दुर्निमित्तप्रतिघातविधानकरणेऽ-
पि,दुर्निमित्तप्रतिघातविधिश्च प्रथमस्खलनायां अष्टोच्छ्वासप्रमाणः कायोत्सर्गो द्वितीयायां तु तद्द्विगुणः तृतीयायां संघाटकज्येष्ठकर-
णपश्चात्करणमित्यादिलक्षण इति,प्रतिपृच्छना-उक्तनिरुक्ता इति-एषा सामाचारी ज्ञेया-अवसेया विधेयतयेति शेषः, प्रतिपृच्छोत्त-
रकालं च 'तहिं'ति तत्र विवक्षितकार्यसिद्धिस्थाने गमनं-गतिः कार्यं शकुनवृद्ध्या-सन्निमित्तवर्धनेन,शुभशकुने सतीत्यर्थः । इति
गाथार्थः ॥३२॥ प्रतिपृच्छायामेव मतान्तरमाह—'पुव्वे'त्यादि,पूर्वनिषिद्धे-प्राक्कालनिवारिते गुरुणा क्वचिच्चिकीर्षितकार्ये विषय-
भूते अन्ये-अपरे सूरयः प्रतिपृच्छा कार्येत्याहुः किलेत्याप्तप्रवादसंसूचनार्थः,कदेत्याहुः ?-उपस्थिते-प्राप्तकरणावसरे कार्ये-पूर्वनि-
वारितप्रयोजने,प्राग्निवारितमपि कथञ्चिदनुजानीयादितिकृत्वा, ननु यत् पूर्वमनुचितत्वेन निषिद्धं तदेव पुनरनुजानतः कथं न

पुव्वगहिएण छंदण गुरुआणाए जहारिहं होति । असणादिणा उ एसा णेयेह विसेसविसउत्ति ॥३४॥
जो अत्तलद्धिओ खलु विसिट्ठखमगो व पारणाइत्तो । इहरा मंडलिभोगो जतीएँ तह एगभत्तं च ॥३५॥

दोषः ?, अनौचित्यस्य तादवस्थ्यादित्याशंक्याह-एवमपि-अनेनापि प्रकारेण निषिद्धस्यानुज्ञालक्षणेन नास्ति-न भवति दोषः-अनुचितानुज्ञालक्षणः,यत उत्सर्गादिभिः-उत्सर्गापवादाभ्यां, आदिशब्दः स्वगतभेदसंसूचक इति,बहुवचनं व्याख्यातं,धर्मस्थितिः-धर्मव्यवस्था,तथाहि-यदेवोत्सर्गतो निषिद्धं तदेव तत्कालोत्पन्नकारणान्तरापेक्षयाऽपवादतो विधेयं स्यात्,आह च-"उत्पद्यते हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति । कार्यं यस्यामकार्यं स्यात्, कर्मकार्यं तु वर्जयेत् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ उक्ता प्रतिपृच्छा, अथ च्छन्दनामाह—'पुव्वे'त्यादि, पूर्वगृहीतेन च्छन्दना-अवसरापेक्षया प्राक्कालोपात्तेन अशनादिनेति योगः या निमंत्रणा सेति गम्यं छन्दना भवतीति योगः,कथं ?-गुर्वाज्ञया-रत्नाधिकादेशेन,न स्वातंत्र्येण,तत्रापि यथार्ह-बालग्लानादितः योग्यानतिक्रमेण,यदाह-"इयरो संदिसहत्ति य पाहुण खमए गिलाण सेहे य । अहराइणियं सव्वे उचियचेणं निमंतेआ ॥१॥" 'इयरो'त्ति मंडल्यनुपजीवी 'चियत्तेणं'ति प्रीत्या-भवति-स्यात् अशनादिना-अशनपानकप्रभृतिना तुशब्दः पुनरर्थः,स च भिन्नक्रमः, ननु किं सर्वेषां साधूनामियं विधेयेत्याशंक्याह-एषा तु-इयं पुनः छन्दना ज्ञेया-ज्ञातव्या इह सामाचारीविषये विशेषविषया-साधुविशेषगोचरा,न तु सामान्यतः,इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ विशेषविषयतामेवास्या दर्शयन्नाह-'जो' इत्यादि,यः साधुः आत्मन एव स्वका लब्धिः-भक्तादिलाभो यस्यासावात्मलब्धिकः खलुरेवकारार्थः तस्य च य एवेत्येवं योगो द्रष्टव्यः विशिष्टक्षपको वा-अष्टमादितपस्वी वा सन् वाशब्दो विकल्पार्थः 'पारणाइत्तो' त्ति पारणकवान् भोक्ता, असहिष्णु-

नाणादुवग्गहे सति अहिगे गहणं इमस्सऽणुण्णायं । दोण्हवि इट्ठफलं तं अतिगंभीराण धीराण ॥३६॥
गहणेऽवि णिज्जरा खलु अग्गहणेऽवि य दुहावि बंधो य । भावो एत्थ णिमित्तं आणासुद्धो असुद्धो य ॥३७॥

त्यादिना मंडल्या बहिर्भोजनकारीति हृदयं,असौ छन्दनां करोति अन्येषामिति प्रक्रमः,यतीनां-साधूनां भवति,तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः,एकभक्तं च-एकाशनकं च, अतः पूर्वगृहीतभक्ताद्यभावाच्छन्दना नास्ति,चशब्दः समुच्चयार्थः। इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ अथात्मलब्धिकादिरात्मोपयोग्येव भक्तादि ग्रहीष्यतीत्यधिकस्य तस्याभावात् कथं छन्दनां करिष्यतीत्याशंक्याह —'नाणे'त्यादि, ज्ञानाद्युपग्रहे-साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टंभे सति-भवति अधिके-स्वपोषातिरिक्ते भक्तादौ विषये ग्रहणं-उपादानं,अधिकं ग्रहणमिति पाठान्तरं,अस्य सलब्धिकादेः अनुज्ञातं-अनुमतं जिनैः,कस्मादेवमित्याह-द्वयोरपि-च्छान्दकच्छन्दनीययोः साध्वोः इष्टं-वाञ्छितं फलं-साध्यं यस्य तदिष्टफलं तत्-छन्दनागतं भक्तस्य दानं ग्रहणं वा, किं सर्वत्र ?,नेत्याह-अतिगंभीरयोः-अतीवातुच्छाशययोः धीरयोः-आशंकावर्जितयोर्बुद्धिमतोर्वा,तत्र दायकस्य गंभीरता गुणोपष्टंभाभिप्रायात्कर्मनिर्जरार्थित्वात्कीर्तिप्रत्युपकारस्वाजन्याद्यनपेक्षत्वाच्च ग्रहीतुः पुनरयं कर्मक्षयभाग्भवतु मम च स्वाध्यायाद्यविच्छेदोऽस्तु इत्येवमभिप्रायात् , धीरता तु दातुः ममोदरापूर्तिर्भविष्यतीति भयत्यागात् ग्रहीतुः पुनः प्रतिरातङ्गं भविष्यतीत्याशंकाया अभावात्। इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ ननु यदसौ गृह्णाति तदेव दातुर्दानस्येष्टफलता ज्ञानाद्युपष्टंभनात्,नान्यदेत्याशंकायामाह-'गहे'त्यादि,ग्रहणेऽपि-छन्दकसाधूनां दीयमानस्य भक्तादेरादानेऽपि, आस्तां दाने, निर्जरा खलु-कर्मनिर्जरणमेव भवति,तथाऽग्रहणेऽपि च-अनादानेऽपि च अपिरेवेति समुच्चये निर्जरैव,दातुरिति प्रक्रमः,तथा द्विधापि-प्रकारद्वयेऽपि ग्रहणाग्रहणरूपे बन्धश्च-पुण्यकर्मबन्धश्च भवति चशब्दो निर्जरापेक्षया

सज्झायाद्धुव्वाओ गुरुकिचे सेसगे असंतम्मि। तं पुच्छिऊण कज्जे सेसाण णिमन्तणं कुज्जा ॥ ३८ ॥
दुलहं खलु मणुयत्तं जिणवयणं वीरियं च धम्मम्मि। एयं लद्धूण सया अपमाओ होइ कायव्वो ॥ ३९ ॥
दुग्गतरयणायररयणगहणतुल्लं जईण किचंति। आयतिफलमद्धुवसाहणं च णिउणं मुणेयव्वं ॥ ४० ॥

समुच्चयार्थः । अथ कस्मादेवमित्याह-भावः-आत्मपरिणामः अत्र निर्जरायां बन्धे च निमित्तं-कारणं, न ग्रहणाग्रहणमात्रं,अथ कथं भाव एव परस्परविरुद्धस्य कार्यद्वयस्य निमित्तं भवतीत्याह-आज्ञया-आप्तवचनेन शुद्धः-अनवद्यः, न स्वाभिप्रायतः,इत्याज्ञाशुद्धः, अशुद्धश्च-सदोषः आज्ञयैवागमाभिप्रायेणेत्यर्थः, क्रमेण निर्जराबन्धयोर्निमित्तमिति प्रक्रमः, उक्तं च-"परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझरियसाराणं। परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ १ ॥" तथा-"इच्छेज्ज न इच्छेज्ज व तहवि य पयओ निमंतए साहू। परिणामविसुद्धीए उ निज्जरा होअगहिएवि ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्ता च्छन्दना,अथ निमंत्रणामाह—'सज्झा'इत्यादि,'सज्झायादुव्वाउ'त्ति स्वाध्यायध्यानादिकरणपरिश्रान्तः सन् गुरुकृत्ये-रत्नाधिककार्ये विश्रामणावस्त्रपरिकर्मादौ शेषके-कृतावशेषे असति-अविद्यमाने, किमत आह-तं-गुरुं पृष्ट्वा-यदुताहं साधुनिमित्तं भक्ताद्यानयामीत्यापृच्छ्य कार्ये-भक्तपानकादिप्रयोजने तद्विषयमित्यर्थः शेषाणां-गुरुव्यतिरिक्तानां निमंत्रणं-आमंत्रणं भवदर्थं भक्ताद्यानयामीत्येवंलक्षणं कुर्यात्-विदध्यादिति गाथार्थः ॥३८॥ किमित्येवं ?,सदा व्यापृतेनैवासितव्यमिति,अत आह—'दुले'त्यादि, दुर्लभं खलु-दुष्प्रापमेव मनुजत्वं-मानुषत्वं तथा जिनवचनं-अर्हन्मतं वीर्यं च-उत्साहश्च धर्मे-चारित्रधर्मविषये चशब्दः पदत्रयेऽपि दुर्लभत्वसंबन्धनार्थः, किं चातः ?, एतन्मनुजत्वादित्रयं लब्ध्वा-प्राप्य सदा-सर्वत्र अप्रमादो-धर्मकार्येष्वनालस्यं भवति-स्यात् कर्तव्यो-विधेय इति,

इयरेसि अक्खित्ते गुरुपुच्छाए णिओगकरणंति। एवमिणं परिसुद्धं वेयावच्चे तु अकएऽवि ॥ ४१ ॥

अतः स्वाध्यायादिखिन्नेन निमंत्रणा कार्या । इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ 'दुग्गे'त्यादि, दुर्गतस्य-दरिद्रस्य रत्नाकरे-विचित्रमाणिक्योत्पत्तिस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहणं-माणिक्योपादानं तेन यत्तुल्यं सदृशमभिलाषोपरमामात्रसाधर्म्यात् दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यं, किं तदिति ?, आह-यतीनां-साधूनां कृत्यं-कर्तव्यं स्वाध्यायवैयावृत्त्यादि, यथा हि दुर्गतस्य रत्नाकरे गतस्य रत्नग्रहणे इच्छाया अविच्छेदो भवति एवं भवोदधिशरणमधिगतस्य वैयावृत्त्यादिषु साधुकृत्येष्वनवच्छिन्ना वाञ्छा स्यादिति दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यं यतिकृत्यमित्युक्तं, इतिशब्दप्रयोगं दर्शयिष्यामः । तथा आयतौ-आगामिकाले परभव इत्यर्थः फलं-साध्यमस्येत्यायतिफलं पाठान्तरेण आयतफलं-मोक्षफलं तथाऽध्रुवाणि-नश्वराणि साधनानि-मानुष्यक्षेत्रजात्यादीनि यस्य तदध्रुवसाधनं चशब्दः समुच्चयार्थः इति-एतत् निपुणं-सम्यक् 'मुणेयव्वं'ति ज्ञातव्यं, ज्ञातं च तदेव स्याद्यदा सततं तत्राप्रमादो विधीयते। इति गाथार्थः ॥ ४० ॥ 'गुरुमापृच्छय साधुनिमन्त्रणा कार्ये'त्युक्तं, अथ तमनापृच्छयैव प्रत्यासन्नतादिकारणात् साधवो निमंत्रितास्तदा को विधिरित्याह— 'इयरे'त्यादि, इतरेषामपि-गुर्वपेक्षया शेषसाधूनामपि आक्षिप्ते-उपन्यस्ते निमंत्रणे गुरुपृच्छाया-रत्नाधिकप्रश्नस्य नियोगकरणं-अवश्यंतया विधानं, युक्तमिति शेषः, इदमुक्तं भवति-यद्यपि शेषसाधुविषया निमंत्रणोपन्यस्ता तथापि न तद्वचनादेव प्रवर्तितव्यं, अपितु गुरुपृच्छाऽवश्यं विधेयेति, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, कस्मादेवमिति ?, आह-एवं-उक्तन्यायेन गुरुप्रश्नपूर्वकलक्षणेन इदं शेषसाधुनिमंत्रणं परिशुद्धमेव भवतीति गम्यं, 'सो विहिनाये'त्यादिपूर्वोक्तप्रामाण्यात्। ननु यदि पृष्टो गुरुर्वारयेत् लाभो वा न भवेत् तदा भक्तादेरसंपादनेन निमंत्रणस्य निष्फलत्वात्कथं परिशुद्धताऽस्येत्याह-वैयावृत्त्ये-भक्तादिदाने तुशब्द एवकारार्थो योजित

उवसंपया य तिविहा णाणे तह दंसणे चरित्ते य। दंसणणाणे तिविहा दुविहा य चरित्तमट्ठाए॥ ४२॥
वत्तणसंधणगहणे सुत्तत्थोभयगया उ एसत्ति। वेयावच्चे खमणे काले पुण आवकहियादी॥ ४३॥

एव अकृतेऽपि-अविहितेऽपि,आस्तां विहिते,भावतस्तस्य कृतत्वात्,गुर्वाज्ञाकरणस्यैव च महाफलत्वात्,गुरोरपि पुष्टालंबनतस्तन्निषेधनात्,न यथाकथञ्चित्,क्वचित् 'वेयावच्चं तु' इति पठ्यते,तत्र वैयावृत्यमेव तन्निमंत्रणमिति प्रक्रमः अकृतेऽपि वैयावृत्ये। इति गाथार्थः॥ ४१॥ उक्ता निमंत्रणा, अथोपसंपदमाह-'उवे'त्यादि, उपसंपद्-आत्मनिवेदनारूपा चशब्दः पुनरर्थः त्रिविधा-त्रिभिः प्रकारैः,भवतीति गम्यं, ज्ञाने-श्रुतज्ञाने विषयभूते तथेति समुच्चये दर्शने-सम्यक्त्वे चरित्रे-चरणे चशब्दः समुच्चये,तत्र 'दंसणनाणे'त्ति सम्यक्त्वज्ञानयोर्विषये त्रिविधा-त्रिप्रकारा द्विधा च-द्विप्रकारा पुनः चरित्रार्थाय-चारित्रप्रयोजनाय। इति गाथार्थः॥४२॥ एतद्विवरणायाह-'वत्ते'त्यादि, वर्तनं-परावर्तनं संधान-विस्मृतस्य पुनरनुसन्धानं ग्रहणं-उपादानमित्येषां समाहारद्वन्द्वोऽतस्तस्मिन् वर्तनसंधानग्रहणे विषयभूते, एतदर्थमित्यर्थः,एवं ज्ञानदर्शनविषयोपसंपत्त्रिविधा,किंगतेयमित्याह- सूत्रं-अर्थसूचकं वाक्यं अर्थः-तद्व्याख्यानं उभयं-एतदेव द्वयं एतानि गता-श्रिता सूत्रार्थोभयगता तुशब्द एवकारार्थः पुनरर्थो वा एषेत्युपसंपत्, इतिशब्दः समाप्तौ, एवमियं त्रिविधापि त्रिविधेति नवधा जाता, अनेन च 'दंसणनाणे तिविहे'ति विवृतं, इह च दर्शनविषयायामुपसंपदि दर्शनप्रभावकसम्मत्यादिग्रन्थापेक्षया सूत्रार्थतदुभयान्यवगन्तव्यानि, तथा वैयावृत्ये-भक्तादिदानरूपव्यापृतभावविषया क्षपणे-चतुर्थादिरूपक्षपणविषया चोपसंपदिति प्रकृतं, अनेन च-"दुविहा य चरित्तमट्ठाए'त्ति व्याख्यातं, काले पुनः-कालपरिमाणमाश्रित्य पुनरियं चरणोपसंपत् यावत्कथिकयादिः-यावत्कथिकी-यावज्जीविकी आदिशब्दादित्वरकालिका च भवतीति, एतदुक्तं

संदिट्ठो संदिट्ठस्स चोवसंपज्जई उ एमाई । चउभंगो एत्थं पुण पढमो भंगो हवइ सुद्धो ॥ ४४ ॥
अथिरस्स पुव्वगहियस्स वत्तणा जं इहं थिरीकरणं । तस्सेव पएसंतरणट्ठस्सऽणुबंधणा घडणा ॥४५॥
गहणं तप्पढमतया सुत्तादिसु णाणदंसणे चरणे । वेयावच्चे खमणे सीदणदोसादिणाऽण्णत्थ ॥४६॥

भवति-चारित्रार्थमाचार्याय कश्चिद्वैयावृत्त्यकरत्वं प्रतिपद्यते, स च कालतो यावत्कथिक इत्वरश्च भवतीति,एवं क्षपकत्वेऽपि,इति गाथार्थः ॥४३॥ अथोपसंपदि को विधिरिति?,अत आह—'संदी'त्यादि, सन्दिष्टो-गुरुणाऽभिहितः साधुः सन्दिष्टस्यैवाचार्यस्य-यथा त्वममुकस्योपसंपद्यस्वेत्येवमुद्दिष्टस्य गुरुणा उपसंपद्यते-आत्मनिवेदनं करोति तुशब्दः पूरणे 'एमाइ'त्ति चकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् एवमादिः-इतिप्रभृतिकः,किमिति?,आह-चतुष्प्रकारो भंगो-विकल्पश्चतुर्भंगः,चत्वारो भंगा भवन्तीत्यर्थः,तत्र प्रथमः स्रोक्त एव, आदिशब्दात् सन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्येति द्वितीयः असन्दिष्टः सन्दिष्टस्येति तृतीयः असन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्येति चतुर्थः, अथैतेषां कः शुद्ध इत्याह-'एत्थं'ति अत्र-एतेषु उक्तेषु चतुर्षु भंगेषु मध्ये,पुनरिति विशेषद्योतनार्थः, स चायं-प्रथमः-आद्यो भंगो-विकल्पः भवति-स्यात् शुद्धः-अनवद्यः, शेषास्तु यदि परमपवादतः। इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ सांप्रतं वर्तनादिपदानां स्वरूपोपदर्शनायाह—'अथी'त्यादि, अस्थिरस्य-अपरिचितस्य पूर्वगृहीतस्य-अधीतपूर्वस्य सूत्रादेः यत् स्थिरीकरणं सा इह प्रकरणे वर्तनेत्यभिधीयते, तथा तस्यैव पूर्वगृहीतस्य सूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य-क्वचिद्देशे विस्मृतस्य च या घटना साऽनुबन्धना-अनुसन्धावर्तनेत्युच्यते। इति गाथार्थः ॥४५॥ 'गहणं'इत्यादि, 'गहणं'ति ग्रहणं,किमुच्यते?-तस्यैव ग्रहणस्य प्रथमता-प्राथम्यं तत्प्रथमता तया, अपूर्वपाठत इत्यर्थः, सूत्रादिषु-सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात् सूत्रार्थतदुभयानां,यद्ग्रहणमिति शेषः, किंगतेषु सूत्रादिष्विति?,आह-

इत्तरियादिविभासा वेयावच्चम्मि तह य खवगेऽवि । अविगिट्ठविगिट्ठंमि य गणिणा गच्छस्स पुच्छाए ॥४७॥

'नाणदंसणे'त्ति ज्ञानदर्शनयोः, श्रुतज्ञानदर्शनशुद्धिहेतुग्रन्थसंबन्धिष्वित्यर्थः, एतावता 'वत्तणासंधणे'त्यादिगाथार्धं व्याख्यातं। अथ तस्या एवोत्तरार्धव्याख्यानायाह–चरणे–चरणविषये योपसंपत् वैयावृत्त्ये क्षपणे, एतदर्थेत्यर्थः,'सीयण'त्ति सीदनं–साधुसामाचार्यां प्रमत्तता तदेव दोषो–दूषणं स्वगच्छस्येति सीदनदोषस्तदादिना कारणेन, आदिशब्दात् स्वगच्छे वैयावृत्त्यकरक्षपकान्तरसद्भावपरिग्रहः, अन्यत्र–स्वगच्छादपरत्र गच्छान्तरे, सा भवतीति गम्यमिति गाथार्थः ॥४६॥ "काले पुण आवकहियाई" इत्येनमवयवं व्याचक्षाण आह—'इत्ते'त्यादि, इत्वरः–अल्पः कालः संवत्सरादिर्यस्यास्ति वैयावृत्त्यादावसावित्वरिकः तदादेः,आदिशब्दाद्यावत्कथिकादेश्च, विभाषा–विविधभाषा विविधभाषणं इत्वरिकादिविभाषा सा कार्या, केत्याह–वैयावृत्त्ये–वैयावृत्त्यार्थायां चरणोपसंपदि,तथा चेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः क्षपकेऽपि–क्षपणार्थायां चारित्रोपसंपदीत्यर्थः,इत्वरिकादिविभाषा कार्या,अपीति समुच्चयार्थः। तथा 'अविगिट्ठविगिट्ठंमि य'त्ति समाहारद्वन्द्वात् अविकृष्टे–अविकृष्टतपःकर्मकारिणि षष्ठान्ततपःकारिणीत्यर्थः विकृष्टेऽपि च–विकृष्टतपःकारिणि अष्टमादितपःसेविनीत्यर्थः,विभाषा कार्येति प्रकृतं,चशब्दः 'इत्वरिकादि' इत्येतत्पदापेक्षया समुच्चयार्थः। अथ केन कथं क्षपणोपसंपदंगीकार्येत्याह–गणिना–साधुसमुदायवता आचार्येणेत्यर्थः गच्छस्य–स्वकीयसाधुपरिवारस्य पृच्छया–प्रश्नपूर्वकमंगीकर्तव्या । इति गाथाक्षरार्थः,भावार्थस्त्वेवम्-इह चारित्रार्थं गच्छान्तरादागत्याचार्यस्य कश्चिद्वैयावृत्त्यकरत्वं प्रतिपद्यते,स च कालत इत्वरो वा यावत्कथिको वा भवेत्,आचार्यस्य च वैयावृत्त्यकरोऽस्ति वा नास्ति वा,तत्रायं विधिः–यदि नास्ति ततोऽसाविष्यत एव, अस्ति चेत्स इत्वर इतरो वा स्यात्, तत्र यद्यागन्तुको वास्तव्यश्च यावत्कथिकस्तदा तयोर्य एव लब्धिमान् स एव वैयावृत्त्यं कार्यते, इतर-

एवं सामायारी कहिया दसहा समासओ एसा। संयमतवड्ढगाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥४८॥

स्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते, अथ द्वावपि लब्धियुक्तौ तदा वास्तव्य एव तत्कार्यते, इतरस्तु उपाध्यायादिभ्यो दीयते, अथ नेच्छत्यसौ ततो वास्तव्य एव प्रतीतिपूर्वं तेभ्यो दीयते,आगन्तुकस्तु कार्यते,अथ वास्तव्योऽप्युपाध्यायादेर्नेच्छति तदाऽऽगन्तुको विसर्ज्यत एवेति, अथ वास्तव्यो यावत्कथिकः इतरस्त्वित्वरस्तदाऽप्येवमेव भेदाः कार्याः यावदागन्तुको विसर्ज्यते, नानात्वं तु वास्तव्य उपाध्यायादिर्वैयावृत्त्यमनिच्छन् विश्राम्यत इति, अथ वास्तव्य इत्वर आगन्तुकस्तु यावत्कथिकस्तदा वास्तव्योऽवधिकालं यावदुपाध्यायादिभ्यो दीयते इति, शेष तथैव, अथ द्वावपीत्वरौ तदाऽप्येक उपाध्यायादेः कार्यते, शेषं पूर्ववत्, अन्यतरो वाऽवधिकालं यावद्धार्यते, इत्येवं वैयावृत्त्योपसंपद्विभाषेति, क्षपणोपसंपद्विभाषा चैवं-चारित्रनिमित्तं कश्चिद्गच्छान्तरे क्षपणार्थमुपसंपद्यते, स च क्षपको द्विधा-इत्वरो यावत्कथिकश्च, यावत्कथिक उत्तरकालेऽनशनकर्ता, इत्वरस्तु द्विविधः-विकृष्टक्षपकोऽविकृष्टक्षपकश्च,तत्राविकृष्टक्षपक इतरश्चाचार्येण वक्तव्यः 'यदि त्वं पारणके ग्लानभूतो भवसि तदाऽलं तव क्षपणेन, वैयावृत्त्यादौ यतस्व' अन्ये त्वाहुः-विकृष्टक्षपकः पारणककाले ग्लानतामनुभवन्नपीष्यते, यस्तु मासादिक्षपको यावत्कथिको वा स इष्यत एव, तत्राप्याचार्येण तमाश्रयता गच्छः प्रष्टव्यः, तदपृच्छायामसामाचारी, यतस्ते सन्दिष्टास्तदुपधिप्रेक्षणादि न कुर्वन्ति, अथ पृष्टा ब्रुवते-'यथाऽस्माकमेकः क्षपकोऽस्त्येव, ततस्तस्य क्षपणसमाप्तावस्योचितं करिष्यामः' ततोऽसौ ध्रियते,अथ नेच्छंति ततस्त्यज्यते, अथ गच्छस्तमप्यनुमन्यते ततोऽसाविष्यत एव, तस्यैवमभ्युपगतस्योद्वर्तनादि कार्यं, यदि तु साधवस्तत्र प्रमाद्यन्ति तदाऽऽचार्येण प्रेरणीया इति, अलं प्रसंगेन। इति गाथार्थः ॥४७॥ उक्तोपसंपत्, अथैतामेव दशविधसामाचारीमुपसंहरन्नाह—'एवं'मित्यादि,एवं-

एयं सामायारीं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता। साहू खवेंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ॥४९॥
जे पुण एयविउत्ता सग्गहजुत्ता जणंमि विहरंति। तेर्सि तमणुट्ठाणं णो भवविरहं पसाहेइ॥५०॥ सामायारी समत्ता

उक्तनीत्या सामाचारी-संव्यवहारः कथिता-उक्ता दशधा-दशप्रकारा समासतः-संक्षेपेण एषा-अनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षा, केषां सत्का? केषां वा कथितेति?,आह-महर्षीणां-महामुनीनां,ते च स्वप्रवचनप्रसिद्ध्या शाक्यादयोऽपि स्युरित्यत आह-निर्ग्रन्थानां-सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्मुक्तानां,जैनानामित्यर्थः,ते च पार्श्वस्थादयोऽपि स्युरित्यत आह-संयमतपोभ्यां-चरणविशेषरूपाभ्यां आढ्याः-ईश्वराः संयमतपआढ्यास्त एव संयमतपआढ्यका अतस्तेषामिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ अस्या एव फलमाह—'एय'मित्यादि, एतां-अनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षां सामाचारीं-साधुसमाचाररूपां युञ्जानाः-प्रयुञ्जानाः चरणकरणयोः-महाव्रतादिपिंडविशुद्ध्यादिरूपयोरा-युक्ता-उपयुक्ता ये ते तथा मकारः प्राकृतप्रभवः साधवो-मुनयः क्षपयन्ति-निर्जरयन्ति कर्म-ज्ञानावरणादिकं अनेकभवसंचितं-भूरि-जन्मोपात्तं अत एवानन्तं-अपरिमितमिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ अथोक्तव्यतिरेकमाह—'जे'इत्यादि,सामाचारीं युञ्जानाः कर्म क्षपयन्त्येव, ये पुनः साधवः एतद्वियुक्ता-उक्तसामाचारीविप्रयुताः तथा स्वाग्रहयुक्ता-अशास्त्रीयानुष्ठानाभिनिवेशोपेताः जने-लोके विहरन्ति-विचरन्ति तेषां एतत्सामाचारीवियुक्तसाधूनां तत्-स्वाग्रहविषयभूतं अनुष्ठानं-क्रिया नो-नैव भवविरहं-संसारक्षयं प्रसाधयति-निष्पादयति, स्वमतिप्रवृत्तेर्भवफलत्वेनोक्तत्वात्॥ इति गाथार्थः ॥ ५० ॥

॥ इति सामाचारीप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥ १२ ॥

॥ अथ त्रयोदशपञ्चाशकवृत्ति॥ १३ ॥

नमिऊण महावीरं पिंडविहाणं समासओ वोच्छं । समणाणं पाउग्गं गुरूवएसाणुसारेणं ॥१॥
सुद्धो पिंडो विहिओ समणाणं संजमायहेउत्ति । सो पुण इह विण्णेओ उग्गमदोसादिरहितो जो ॥२॥
सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाएँ दोसा उ । दस एसणाइ दोसा बायालीसं इय हवंति ॥३॥

उक्ता सामाचारी,तस्यां निमंत्रणा, सा च पिंडविधिविशुद्धेनैव भक्तादिना कार्येति पिंडविशुद्धिविधिं प्रतिपिपादयिषुर्मंगलाद्यभिधानायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा-प्रणम्य महावीरं-वर्धमानजिनं पिंडविधानं-भक्तपानादिलक्षणं पिंडग्रहणविधिं समासतः-संक्षेपेण,न पुनर्विस्तरेण पिंडैषणाध्ययनादाविव,मन्दमेधसां समासभणनस्यैवोपयोगित्वात्, वक्ष्ये-भणिष्यामि,किंभूतमिति?, आह-श्रमणानां-साधूनां,न तु श्रावकाणां,प्रायोग्यं-उचितमासेवनामधिकृत्य,श्रावकाणां पुनः प्रायो ज्ञानश्रद्धानत एव तस्योचितत्वात्,कथमिति ?,आह-गुरवो-जिनादयस्तेषामुपदेश-आज्ञा तस्यानुसार-आनुरूप्यं गुरूपदेशानुसारोऽतस्तेन,न तु स्वमनीषयेति गाथार्थः ॥१॥'पिंडविधानं गुरूपदेशानुसारेण वक्ष्य'इत्युक्तं,स च पिंडः किंविधो विहितो गुरुभिः श्रमणानामिति ?, आह-'सुद्धो'इत्यादि,शुद्धो-निरवद्य एव पिंडो-भक्तादिरूपः विहितो-ग्राह्यतया निरूपितः,गुरुभिरिति गम्यं,श्रमणानां-साधूनां,कुत एतदेवमिति?,आह-संयमस्य-पृथिव्यादिसंरक्षणरूपस्यात्मनः-स्वशरीरस्य संयमरूपस्य वाऽऽत्मनः संयमायस्य वा-संयमलाभस्य हेतुः-निमित्तं संयमात्महेतुः संयमायहेतुर्वा इति-कृत्वा,शुद्धस्यैव लक्षणमाह-स पुनः शुद्धः इह पिंडाधिकारे विज्ञेयो-ज्ञातव्यः उद्गमदोषादिरहितो-वक्ष्यमाण-

तत्थुग्गमो पसूई पभवो एमादि होंति एगट्ठा । सो पिंडस्साहिगओ इह दोसा तस्सिमे होंति ॥४॥
आहाकम्मुद्देसिय पूतिकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए पाओयर-कीअ-पामिच्चे ॥५॥

लक्षणोद्गमोत्पादनैषणादूषणविकलः य इति पिंड इति गाथार्थः ॥२॥ उद्गमदोषादीनामेव परिमाणमाह—'सोले'त्यादि, षोडशोद्गमदोषा-आधाकर्मादयो वक्ष्यमाणस्वरूपाः,तथा षोडशोत्पादनायामपि-वक्ष्यमाणनिरुक्तायां तस्या वा दोषा-दूषणानि धात्र्यादयः तुशब्दोऽपिशब्दार्थः नियोजितश्चायं प्राक्,तथा दशैषणायां-वक्ष्यमाणनिरुक्तायां तस्या वा दोषा-दूषणानि शंकितादयः, सर्वमीलने यत् स्यात् तदाह-द्विचत्वारिंशद्दोषाः इति-एवमुक्तक्रमेण भवन्ति-जायन्ते । इति गाथार्थः ॥३॥ उद्गमैकार्थिककथनपूर्वकं तद्दोषप्रस्तावनामाह—'तत्थु'इत्यादि, तत्रेत्युद्गमोत्पादनैषणासु मध्ये उद्गमनमुद्गमः१प्रसवनं प्रसूतिः२प्रभवनं प्रभवः३ 'एमाइ'त्ति एवमादयः,आदिशब्दादुद्भवादिपरिग्रहः, भवन्ति-स्युः एकार्था-अनन्याभिधेयाः,शब्दा इति गम्यं,'सो'त्ति स चोद्गमः सचेतनाचेतनमिश्रद्विपदादिद्रव्यविषयत्वेन बहुविषयोऽपि सन् पिंडस्य-भैक्ष्यस्य अधिकृतः-प्रस्तुतः इह पिंडाधिकारे, दोषा-दूषणानि तस्य पिंडोद्गमस्य इमे वक्ष्यमाणाः भवन्ति-वर्तन्ते, ये हि साध्वर्थं पाकस्थापनप्रकाशनादयो भक्तादिवस्तुनो भक्तत्वस्थापितत्वप्रकटत्वादिरूपेण भवनलक्षणमुद्गमं दूषयन्ति ते उद्गमदोषा इति गाथार्थः ॥४॥ अथ तानेवाह—'आहे'त्यादि,'परी'त्यादि,आधानमाधा-प्रणिधानं तया साधुप्रणिधानेनेत्यर्थः कर्म-क्रिया पाकादिकेत्याधाकर्म इत्येक उद्गमदोषः,तद्योगाद्भक्ताद्यप्याधाकर्म। तथोद्देशनमुद्देशः-यावदर्थिकादिप्रणिधानमित्युद्गमदोषः तेनोद्देशेन निर्वृत्तं तत्प्रयोजनं वा औद्देशिकं,भक्तादि, इह दोषप्रक्रमेऽपि यद्दोषवतोऽभिधानं तत् दोषदोषवतोरभेदविवक्षणात् , एवं सर्वत्र, अनुस्वारस्य चाश्रवणमत्र प्राकृतवशात् । तथा पूति-अपवित्रं तस्य

परियट्टिए अभिहडे उब्भिण्णे मालोहडे इय । अच्छेज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥६॥
सचित्तं जमचित्तं साहूणऽट्ठाएँ कीरए जं च । अचित्तमेव पचति आहाकम्मं तयं भणियं ॥७॥

कर्म-पवित्रस्य सतोऽपवित्रभक्तादिमीलनेन करणं पूतिकर्म, तद्योगाद्भक्ताद्यपि पूतिकर्म, एकारान्तोऽत्र शब्दः प्रथमैकवचनान्तो द्वयः, चशब्दः समुच्चये। तथा मिश्रेण-गृहिसाध्वादिप्रणिधानलक्षणभावेन जातं-उत्पन्नं पाकादिभावमुपगतं मिश्रजातं अन्नाद्येव, चशब्दस्तथैव। तथा स्थाप्यते-साधुदानाय कञ्चित्कालं यावन्निधीयत इति स्थापना स्थापनाधर्मयोगाद्वा स्थापना भक्ताद्येव। तथा 'प्र' इति विवक्षितकालात् प्रथमतः'आ' इति साध्वागमनलक्षणमर्यादया च भृता-धारिता यका भिक्षा सा स्वार्थिकप्रत्ययोपादानात् प्राभृतिका अथवा प्राभृतं-कौशलिकं तदेवोपचारसाधर्म्याधिका भिक्षा सा प्राभृतिकेति, चः समुच्चये तस्य च दीर्घता छन्दोऽर्था। तथा प्रादुःशब्दः प्रकाशार्थः तस्य करणं प्रादुष्कारः तद्विशेषितं भक्ताद्यपि स एव, इह ह्रस्वता छन्दोऽर्था। तथा क्रीयते स्म-अर्थदानेन गृह्यते स्मेति क्रीतं-भक्तादि। तथाऽपमित्यं-पुनः दास्याम्येतत्तवेत्यभिधाय यद् गृहीतं तदपमित्यकं-उच्छिन्नं भक्ताद्येव, 'पामिचं' इति च निर्देशः प्राकृतत्वात् , इह च पदत्रये समाहारद्वन्द्वः, लुप्तप्रथमैकवचनं वा आद्यं पदद्वयमिति। तथा परिवर्तितं-कृतपरावर्तं। तथा अभि-साध्वभिमुखं हृतं-आनीतं स्थानान्तरात् अभिहृतमभ्याहृतमित्यर्थः। तथा उद्भिन्नं-उद्भेदनं कुशूलादेः तद्योगाद्भक्ताद्यप्युद्भिन्नं। तथा मालात्-मञ्चात् प्रासादोपरितनभागाद्वा अपहृतं-आनीतं साधवे दानायेति मालापहृतं इतिरुपप्रदर्शने चा समुच्चये अयमप्युद्गमदोष इत्यर्थः। तथा आच्छिद्यते-पुत्रादेः सकाशात् यत् साधुदानार्थं तदाच्छेद्यं,तथा न निसृष्टं-सर्वस्वामिभिर्नानुज्ञातं साधुदानाय तदनिसृष्टं। तथा आधिक्येनावपूरणमध्यवपूरः स एवाऽध्यवपूरकस्तद्योगाद्भक्ताद्यप्यध्यवपूरकः,चः समुच्चये,षोडश उद्गमदोषा

उद्देसिय साहुमाई उमचए भिक्खवियरणं जं च । उव्वरियं मीसेउं तविउं उद्देसियं तं तु ॥८॥

भवन्ति। इति गाथाद्वयपदसंस्कारः॥६॥ अथैतद्विवरणायाह–'सची'त्यादि,सचित्तं-विद्यमानचैतन्यं सत् फलबीजादि यदचित्तं-अचेतनं साधूनामर्थाय हेतवे क्रियते विधीयते तथा यत् चशब्दो लक्षणान्तरसमुच्चयार्थः अचित्तमेव–अचेतनमपि सत् तंडुलादि पच्यते-राध्यते साधूनामर्थायेति प्रकृतं आधाकर्म–उक्तनिर्वचनं तकत्–तत् भणितं-उक्तं जिनादिभिः,यद्यपि सचित्तस्य पृथिव्यादेरचित्तीकरणेन यत् क्रियते गृहवस्त्रादि तदपि आधाकर्मोच्यते तथापीह तन्नोक्तं, पिंडस्यैवाधिकृतत्वात् । इति गाथार्थः ॥७॥ 'उद्दे'इत्यादि, उद्दिश्य-वचनेनोच्चार्य साध्वादीन्-निर्ग्रन्थशाक्यादीन् अत्ययात्यये-दुर्भिक्षापगमे, उपलक्षणमात्रमेतत् तेन कालान्तरेऽपि, भिक्षावितरणं-प्राभृतिकादानं क्रियते यत् तदौद्देशिकमिति संबन्धः, इदं पुनरुद्देशमात्रविशेषितत्वेनोद्दिष्टौद्देशिकमुच्यते, इह च यद्यपि भिक्षावितरणमौद्देशिकमित्युक्तं तथापि भिक्षातद्वितरणयोरभेदात् भिक्षाऽप्यौद्देशिकमुच्यते,एवमुत्तरभेदद्वयेऽपीति, उद्देशने च गृहस्थस्येयं भक्रिया–"जीयामु किंइऽवि ओमे नियमं भिक्खावि ता कइवि देमो । हंदि हु नत्थि अदिन्नं भुंजइ अकयं न य फलेइ ॥१॥"–'जियामो'त्ति जीविताः स्मः 'नियमं'ति नित्यं 'कइ'त्ति पंचषाः,"सा उ अविसेसिए च्चिय नियंमि भत्तंमि तंदुले छुहइ । पासंडीण गिहीण व जो एही तस्स भिक्खट्ठा ॥१॥–'सा उ'त्ति गृहस्थिका'अविसेसिए च्चिय'त्ति एते स्वस्मै एते चार्थिभ्य इत्येवमविशिष्येति-,एतावतैव चास्य मिश्राद्भेदः,इह च रिक्षितभिक्षासु दत्तासूद्धृतासु वा शेषं कल्पत इति,एतच्च पिंडनिर्युक्त्यां ओघौद्देशिकमुक्तं,उद्दिष्टौद्देशिकं पुनरेवं–"महईइ संखडीए उव्वरियं कूरवंजणाईयं। पउरं दट्ठूण गिही भणइ इमं देह पुन्नट्ठा ॥१॥"एतस्य चाकल्प्यता साध्वाद्यर्थतया व्यवस्थापिते तत्र जीवघातसंभवात् ,न चेदमेवं स्यात्तदानीं "तोहोइ सिरिखीराइठावणे"त्यादिल-

कम्मावयवसमेयं संभाविज्जति जयं तु तं पूयं । पढमं चिय गिहिसंजयमीसोवक्खडाइ मीसं तु ॥९॥
साहोहासियखीराइठावणं ठवण साहुणऽट्ठाए । सुहुमेयरमुस्सक्कणमवसक्कणमो य पाहुडिया ॥१०॥

क्षपरत्वात्तस्या इति, आचार्येण चास्य स्थापनायाश्च न महान् विशेष इति विवक्षया ओघौद्देशिकमुद्दिष्टौद्देशिकतयाऽधीतमिति, तथा
यच्चोद्धरितं-प्रकरणोपयुक्तावशिष्टमोदनादि मिश्रयित्वा-संयोज्य दध्यादिना व्यञ्जनेन तस्यैव वितरणं क्रियते तदौद्देशिकं,
केवलं पर्यायान्तरेण कृतं सद्दीयत इतिकृत्वा कृतौद्देशिकमिदमुच्यत इति, तथा यच्चेत्यनुवर्तते,'तविउं'ति अग्नौ तापयित्वा मोद-
कचूर्णादि गुडादिना मोदकबन्धनादितो यत्तस्यैव वितरणं क्रियते तदौद्देशिकं,केवलं 'अचित्तमेव पचइ' इत्येतल्लक्षणेनाधाकर्मणो-
देशतो युक्तमितिकृत्वा कर्मौद्देशिकमिदमुच्यत इति, एवंभूतं च विशेषं विहाय सामान्येनोपसंहरन्नाह-औद्देशिकं तदिति,तुशब्दः
स्वगतभेदोपसंग्रहार्थः,भेदाश्चैवं-उद्दिष्टौद्देशिककृतौद्देशिकानि प्रत्येक चतुर्विधानि, ।ह च-"उद्देसियं समुद्देसियं च आएसियं
समाएसं । एवं कडे य कम्मे एक्केके चउव्विहो भेओ ॥१॥ जावंतियमुद्देसं पासंडीणं भवे समुद्देसं । समणाणं आएसं निग्गंथाणं
समाएसं ॥२॥" इति गाथार्थः ॥८॥ 'कम्मे'त्यादि,कर्मेत्याधाकर्म,उपलक्षणं चैतत् तेनाधाकर्मादिकोद्गमकोटी गृह्यते,सा चेयं-'आ-
हाकम्मुद्देसिय चरिमतियं पूइ मीसजाए य । बायरपाहुडियाविय अज्झोयरए य चरिमदुए ॥१॥' अतः कर्मावयवममेतं-उद्ग
मकाद्यंशसमन्वितं संभाव्यते-संभवतीत्येवमवसीयते यकत्तु-यत्पुनः भक्तादि तत् पूति भवतीति, तच्चोपकरणपूति भक्तपानपूति
चेति द्विधा, तत्रोपकरणपूति यदाधाकर्मादिना चुल्लीस्थालीदर्व्यादिना संपृक्तं, इतरत्तु प्रतीतमिति, तथा प्रथमत एव-आदित
एवारभ्य गृहिसंयतयोर्मिश्रं-साधारणमुपसंस्कृतं-साधित यत्तत्तथा तदादिर्यस्य तद्गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतादि, आदिशब्दाद्गृहिया-

णीयदुवारन्धयारे गवक्खकरणाइ पाउकरणं तु । दव्वाइएहिं किणणं साहूणद्वाएँ कीयं तु ॥११॥
पामिच्चं जं साहूणऽट्ठा उच्छिंदिउं दियावेइ । पल्लट्टिउं च गोरवमाई परियट्टियं भणियं ॥१२॥

वदर्थिकमिश्रगृहिशखंडिमिश्रग्रहः, मिश्रं तु–मिश्रजातं पुनः। इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ 'साहो' इत्यादि, साध्ववभाषितं–संयतेन याचितं यत् क्षीरादि–दुग्धदधिप्रभृति तस्य स्थापनं–धरणं साध्ववभाषितक्षीरादिस्थापनं सा स्थापना नामोद्गमदोषः, किमर्थं स्थापनमिति ?, आह–साधूनां–संयतानामर्थाय–निमित्तमिति। तथा सूक्ष्मेतरं–अल्पं बादरं च यदुत्ष्वष्कणं–उत्सर्पणमवष्वष्कणं–अवसर्पणं साध्वर्थायेति प्रकृतं 'ओ' इति निपातः चः समुच्चये सा प्राभृतिकोच्यते, तत्र सूक्ष्ममुत्सर्पणमवसर्पणं च सूक्ष्मप्राभृतिका, यथा काचित् सूत्रं कर्तयन्ती दारकेण भोजनं याचिता सती ब्रूते–'साधावागते दास्यामीति' एवं दारकदानस्योत्सर्पणतः, तथा साध्वर्थायोत्थिता 'पुत्रक! तवापि ददामि' इत्येवं भणनात् तस्यैवावसर्पणतः, तथा बादरमुत्सर्पणमवसर्पणं च बादरा सा तथा, साधुदानार्थं पुत्रविवाहादिकस्योत्सर्पणतोऽवसर्पणतश्च। इति गाथार्थः ॥१०॥ 'णीये'त्यादि, नीचद्वारान्धकारं–निम्नमुखं सद्यदन्धकारोपेतत्वात्तथा तत्र नीचद्वारान्धकारे, उपलक्षणत्वादस्य प्रकारान्तरेणाप्यन्धकारवति गृह इति गम्यं, यद्गवाक्षकरणादि–वातायनरचनप्रभृतिकं, साधवो हि भिक्षामचक्षुर्विषये न गृह्णन्तीति तेषां भिक्षाग्रहणाय प्रकाशार्थं, आदिशब्दाद्दीपमणिधरणादिपरिग्रहः, प्रादुष्करणं तु–प्रादुष्करणं पुनस्तदुच्यते, इदं च द्विविधं–प्रकटकरणप्रकाशकरणभेदात्, तत्राद्यं गवाक्षादिना द्वितीयं तु दीपादिनेति। तथा द्रव्यादिभिः–द्रव्यभावैः 'किणणं'ति क्रयणं साधूनां–यतीनां अर्थाय–प्रयोजनाय यत्तत् क्रीतं तु–पुनरुच्यते, क्रयणक्रीतयोरभेदात्, इदं च स्वपरद्रव्यस्वपरभावभेदाच्चतुर्धा, तत्र स्वद्रव्यं निर्माल्यगन्धगुटिकादि परद्रव्यं च प्रतीतं स्वकीय-

सग्गामपरग्गामा जमाणिउं आहडं तु तं होइ । छगणाइणोवलित्तं उब्भिदिय जं तमुब्भिण्णं ॥१३॥
मालोहडं तु भणियं जं मालादीहि देति घेत्तूणं । अच्छेज्जं चाच्छिदिय जं सामी भिच्चमादीणं ॥१४॥

मावो धर्मकथादिः परभावश्च स एव अन्येन साधुभक्तेन मंखादिना प्रयुज्यमान इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ 'पामी'त्यादि, अपमित्यकं तद्यत्साधूनां–संयतानां अर्थात्–निमित्तात् उच्छिद्य–अन्यत उद्यतकं गृहीत्वा 'दियावेइ'त्ति ददातीति, तथा 'पल्लट्टिउं'ति परिवर्त्य–स्वकीयकोद्रवौदनादिसमर्पणेन परकीयशाल्योदनादि गृहीत्वा चः समुच्चये 'गोरवमाइ'त्ति साधूनां गौरवं, विधातुमिति शेषः, आदिशब्दात् स्वस्य लाघवं परिहर्तुं, यद्ददातीत्यनुवर्तते तत्, परिवर्तितं नाम भणितं–उक्तं जिनैः। इति गाथार्थः ॥१२॥ 'सग्गे'त्यादि, स्वग्रामपरग्रामादिति समाहारद्वन्द्वः उपलक्षणत्वाच्चास्य स्वदेशपाटकगृहादिपरिग्रहः यदशनादि आनीय–साधुस्थानं प्राप्य, ददातीत्यनुवर्तते, 'आहडं तु तं होइ'त्ति तत्पुनराहृतं–अभ्याहृतं भवति–स्यादिति, तथा छगणादिना–गोमयमृत्तिकाप्रभृतिनोपलिप्तं, कोष्ठकादीति गम्यते, कपाटपिहितादेश्चेदमुपलक्षणं, उद्भिद्य–उद्घाट्य, यद्भक्तादि, ददातीति वर्तते, तद्भक्तादि उद्भिन्नमित्युच्यते, कोष्ठिकाद्युद्भिन्नभाजनसंबन्धात्। इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ 'मालो'इत्यादि, मालापहृतं दोषविशेषः तुः पुनरर्थः भणितं–उक्तमाप्तैस्तत् यद्भक्तादि 'मालादिभ्यः' मालो–मञ्चो गृहोपरिभागो वा, आदिशब्दात् सीककनागदन्तकादीनामूर्ध्वगतानां गर्तादीनामधोगतानां कुशूलकुंभ्यादीनामुभयाश्रितव्यापाराणां करेण कष्टप्राप्यानां च तिर्यगाश्रितानां परिग्रहः, ददाति–प्रयच्छति गृहीत्वा–आदायेति । तथा आच्छेद्यं च–आच्छेद्याख्यः पुनर्दोषः आच्छिद्य–अपहृत्य यद्भक्तादि स्वामी–प्रभुः भृत्यादीनां–कर्मकरादीनां सत्कं ददाति तदिति, इदं च नायकनृपचौरभेदात्त्रिविधमिति गाथार्थः ॥ १४ ॥ 'अणिसी'त्यादि, अनिसृष्टं–अनिसृष्टसंज्ञो दोषो

अणिसिट्ठं सामण्णं गोट्ठिगभत्तावि ददउ एगस्स। सट्ठा मूलद्दहणे अज्झोयर होइ पक्खेवो ॥१५॥
कम्मुद्देसियचरमतिय पूइयं मीस चरमपाहुडिया। अज्झोयर अविसोही विसोहिकोडी भवे सेसा ॥१६॥
उप्पायण संपायण णिव्वत्तणमो य होंति एगट्ठा। आहारस्सिह पगया तीए दोसा इमे होंती ॥१७॥

भवति सामान्यं–अनेकस्वामिसाधारणं गोष्ठिकभक्तादि–समुदायभोजनादि,आदिशब्दात् श्रेणिभक्तादिग्रहः, ददतो–यच्छतः एकस्य गोष्ठिकादेः शेषैरननुज्ञातस्येति। तथा स्वार्थं–आत्मार्थं गृहिनिमित्तमित्यर्थः मूलाद्ग्रहणे प्रसिद्धे कृते सति प्रक्षेपः–स्थाल्यां साध्वाद्यर्थमधिककणक्षेपणं अध्यवपूरकः–अध्यवपूरकाख्यो दोषो भवतीति गाथार्थः ॥ १५ ॥ अत्र विशोध्यविशोधिकोटिभेदमाह—'कम्मु'इत्यादि, कर्मेति–आधाकर्म तथौद्देशिकचरमत्रिकमिति–औद्देशिकं द्वादशविधं उद्दिष्टकृतकर्माख्योद्देशिकानां प्रत्येकं चतुर्भेदत्वात् तत्र कर्मौद्देशिकस्य मोदकचौरीपुनर्मोदककरणादेर्यच्चरमत्रिकं पाखंडिश्रमणनिर्ग्रन्थविषयं समुद्देशिकौद्देशिकसमादेशिकाभिधानं तथा पूतिकं–भक्तपानपूत्यभिधानं तथा मिश्रजातमुक्तलक्षणं तथा चरमप्राभृतिका–बादरप्राभृतिका तथाऽध्यवपूरक उक्तलक्षण एव अविशोधिरिति–अविशोधिकोटी अविद्यमाना विशोधिः–शुद्धता भक्तादेर्यत्र सा तथा सा चासौ कोटी च–उद्गमदोषविभागः अविशोधिकोटी, अस्यां ह्युद्धृतायामपि शेषभक्तस्य शुद्धिर्नास्ति, पात्रस्यापि करीषनिच्छोटनं कल्पत्रयकरणं च विनेति। विशोधिभवाना कोटी विशोधिकोटी, तस्यां ह्युद्धृतायां शेषं भक्तादि शुद्धमेव स्यादिति, भवेत्–स्यात् शेषा–उद्दिष्टौद्देशिकादिरूपा। इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ उक्ता उद्गमदोषाः, सांप्रतमुत्पादनैकार्थिकशब्दकथनपूर्वकं तद्दोषप्रस्तावनामाह–'उप्पे'त्यादि, उत्पादनं–उत्पादना,एवं संपादना निर्वर्तना च,इह च पदत्रयेऽपि ह्रस्वता मोकारश्च निपातः प्राकृतत्वात् चशब्दः समुच्चये,भवन्ति–स्युः एकार्था–

धाती दूति णिमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य। कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एते ॥ १८ ॥
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य। उप्पायणयाएँ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥ १९ ॥

अनन्याभिधेयाः, सर्वेषामेव एषामुत्पादनाबोधकत्वात्, एते शब्दा इति गम्यं, सा च सचेतनाचेतनद्रव्यादिविषयत्वेनानेकविधेत्यत उच्यते–आहारस्य– अशनादेः, उपलक्षणत्वादस्य वस्त्रपात्रादिपरिग्रहः,इह पिंडाधिकारे प्रकृता–प्रस्तुता, तद्दोषाधिकारात् 'तीए'त्ति तस्याः पुनरुत्पादनायाः–गृहस्थात्सकाशात् साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनरूपायाः दोषा–दूषणानि इमे इति–वक्ष्यमाणतया मत्यक्षासन्ना भवन्ति–स्युः। इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ तानेव नामतो दर्शयन्नाह—'धाती'त्यादि, 'पुव्विं'मित्यादि, धयन्ति–पिबन्ति तामिति धात्री, सा च रूढ्या क्षीरमज्जनमंडनक्रीडनांकभेदात् पंचधा, इह च दोषशब्दसामानाधिकरण्याद्धात्रीतिनिर्देशेऽपि धात्रीत्वकरणमिति द्रष्टव्यं पदे पदसमुदायोपचारात्, एवमन्यत्रापि, तथा दूती–परस्परस्य संदिष्टार्थाभिधायिका स्त्री, निमित्तमिति–निमित्तकरणं अतीतवर्तमानानागतार्थसंसूचनं तथा आजीवनं–जातिकुलगणकर्मशिल्पानां गृहस्थसमानानामभिधानत उपजीवनमाजीवः, तथा वनीपक इति–वनीपकत्वकरणं तत्र वनीं–दायकाभिमतजनप्रशंसोपायतो लब्धार्थरूपां पाति–पालयतीति वनीपः, स एव वनीपकः,चिकित्सा–रोगप्रतीकारः चशब्दः समुच्चये, क्रोधः–कोपः, मानो–गर्वः, माया–वञ्चना, लोभश्च–लुब्धता,भवन्ति–स्युः दशैतेऽनन्तरोक्ताः, उत्पादनादोषा इति योगः ॥ १८ ॥ तथा पूर्वं–दानात्प्राक् पश्चाच्च संस्तवो–दातुः श्लाघा पूर्वपश्चात्संस्तवः, तथा विद्या–देवताधिष्ठितः ससाधनो वाऽक्षरानुपूर्वीविशेषः, इह च विद्येत्युपादानेऽपि विद्याप्रयोग इति द्रष्टव्यं, एवं मंत्रादिपदत्रयेऽपि, नवरं मंत्रो–देवाधिष्ठितोऽसाधनो वाऽक्षररचनाविशेषः चूर्णः–पादलेपादियोग्य आकाशगमनादिफलो द्रव्यचूर्णः योगस्तु–

धाइत्तणं करेती पिंडट्ठाए तहेव दूतित्तं। तीयादिणिमित्तं वा कहेइ जचाइ वाऽऽजीवे ॥ २० ॥
जो जस्स कोइ भत्तो वणेइ तं तप्पसंसणेणेव। आहारट्ठा कुणति व मूढो सुहुमेयरतिगिच्छं ॥ २१ ॥

वशीकरणादिफलो द्रव्यसंयोगः चशब्दो समुच्चयार्था उत्पादनाया दोषाः-पिंडोपार्जनस्य दूषणानि एते पञ्चदश, षोडशश्च-षोडशः पुनः मूलं-अष्टमप्रायश्चित्तं तत्प्राप्तिनिबन्धनं कर्म-व्यापारो गर्भपातादि मूलानां वा-वनस्पत्यवयवविशेषाणां कर्म मूलकर्म, चशब्दः पुनरर्थः तत्प्रयोगश्च दर्शित एव इति गाथाद्वयसमासार्थः ॥ १२ ॥ अथैतानेव गाथाचतुष्केन विवृण्वन्नाह—'धाई'त्यादि, 'जो' इत्यादि, 'कोहे'इत्यादि, 'अती'त्यादि, 'अन्ने'त्यादि, धात्रीत्वमुक्तलक्षणं बालकमधिकृत्य करोति-विदधाति कश्चित् साधुः-भासः पिंडार्थाय-भक्तादिहेतोः तथा-तथैव पिंडार्थमेव दूतीत्वमुक्तलक्षणं करोति, एतयोश्च करणं उत्पादनादोष इति, तथाऽ-तीतादिनिमित्तं वा-भूतभाविवर्तमानलाभालाभाद्यर्थजातं कथयति-आचष्टे जात्यादि वा जातिकुलगणकर्मशिल्पादिकं आजीवेद्-उपजीवति यः, तस्य तत्कथनमुपजीवनं चोत्पादनादोष इति ॥ २० ॥ यो भिक्षुः श्रमणकादिर्यस्य शाक्यादेः कश्चित्-कोऽपि भक्तो-भक्तिमान् वनति-संभजते तं भिक्षुःश्रमणकादिकं तत्प्रशंसनेनैव-शाक्यादिश्लाघयैव, यत्तस्य वनीपकत्वकरणं दोष इति। आहारार्थं-अशनादिहेतोः करोति वा-विधत्ते वा मूढः-चारित्रमोहवान् सूक्ष्मेतरचिकित्सां-अल्पानल्पां रोगप्रतिक्रियां, तत्र सूक्ष्मा वैद्यसूचनादिरूपा इतरा तु प्रतीतैव, चिकित्साकरणं चोत्पादनादोष इति ॥ २१ ॥ क्रोधफलसंभावनात् साधुरमुमनर्थं करोतीत्येवंरूपकोपकार्योत्प्रेक्षणात् प्रत्युत्पन्नः-संपन्नो यः स तथा भवति-स्यात् क्रोधाद्युत्पादितः पिंडः क्रोधपिंडः विवक्षितक्षपकपिंडरिव, इह च पिंडशब्दस्य प्रधानत्वेऽपि क्रोधः प्रधानः उत्पादनादोषाणां प्रस्तुतत्वात् तस्यैव च दोषत्वात्, तुशब्द

कोहप्फलसंभावणपउपण्णो होइ कोहपिंडो उ। गिहिणो कुणइऽहिमाणं मायाएँ दवावए तह य ॥ २२ ॥
अतिलोभा परियडती आहारट्ठाएँ संथवं दुविहं। कुणइ पउंजइ विज्जं मंतं चुण्णं च जोगं च ॥ २३ ॥
अन्नमिह कोउगाइ व पिंडत्थं कुणइ मूलकम्मं तु। साहुसमुत्था एते भणिया उप्पायणादोसा ॥ २४ ॥

एवकारार्थः, तथा गृहिणो-दायकस्य करोति-उत्पादयति अभिमानं-अहंकारं 'अहमनेन याचितस्ततोऽस्मै स्वकीयमदित्सुं परिवारादिकं तिरस्कृत्यापि दातव्यमस्य' इत्येवंरूपं दायकपरिवारस्य वाऽवश्यं नास्मानिर्देयमस्य इत्येवंरूपं स्वयमप्यवश्यं मया ग्राह्यमित्येवं वाऽभिमानवान् यः साधुस्तस्य मानपिंडो भवति, सेवतिकामाक्षोरिव, तथेत्ययं समुच्चयार्थोऽत्र दृश्यः, मायया-वेषपरावर्तादिना प्रतारणेन दापयति-आत्मने भक्तादिदानाय परं प्रयोजयति यस्तस्य मायापिंडो भवति, आपाढभूतिचेल्लकस्येवेति ॥ २२ ॥ अतिलोभाद्-अतिलंपटतया पर्यटति-भिक्षाकुलेषु भ्रमति आहारार्थं-पिंडहेतोः यस्तस्य लोभपिंडः, सिंहकेसरकयतेरिव। तथा संस्तवं-श्लाघां परिचयं वा द्विविधं-द्विप्रकारं पूर्वपश्चाद्भेदेन करोति-विधत्ते आहारार्थमेव, तत्र श्लाघापेक्षया पूर्वसंस्तवो दानात् पूर्वं दातुर्गुणस्तुतिः पश्चात्संस्तवस्तु ततः पश्चात्, परिचयापेक्षया तु पूर्वसंस्तवो मातापितृपक्षसंबन्धदर्शनं पश्चात्संस्तवस्तु श्वशुरपक्षसंबन्धोपदर्शनं, तत्करणं च दोष इति, तथा प्रयुंक्ते-व्यापारयति विद्यां-उक्तरूपां, एवं मंत्रं चूर्णं च योगं चेति प्रतीतं, एतत्प्रयोगाश्च दोषा इति ॥ २३ ॥ अन्यद्-अपरं न विद्यादिकमेव केवलमिह प्रक्रमे 'अन्नमह'त्ति पाठान्तरं तत्राथान्यत्-अथापरमित्यर्थः कौतुकादि-सौभाग्यनिमित्तं मंगलमूलिकास्नपनादि, आदिशब्दाद्गर्भपातनादि, वाशब्दो विकल्पार्थः, पिंडार्थं-आहारार्थं करोति-विधत्ते यत्, किमिति ?, आह-मूलकर्म-उक्तनिर्वचनमुच्यते, तुशब्दः पूरणे, तत् कुर्वतश्च मूलकर्मकरणमुत्पा-

एसण गवेसणऽण्णेसणा य गहणं च होंति एगट्ठा। आहारस्सिह पगया तीइ य दोसा इमे होंति ॥२५॥
संकिय मक्खिय णिक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे। अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस हवंति॥२६॥
कम्मादि संकति तयं मक्खियमुदगादिणा उ जं जुत्तं। णिक्खित्तं सजियादो पिहियं तु फलादिणा ठइयं॥२७॥

दनादोषो भवतीति। एतन्निगमनायेदं पश्चार्ध-साधुसमुत्था-यतिप्रभवाः एतेऽनन्तराः भणिता-उक्ताः उत्पादनादोषा इति प्रतीत-मिति गाथापञ्चकार्थः ॥ २४ ॥ उक्ता उत्पादनादोषाः, अथैषणैकार्थशब्दकथनपुरस्सरं तद्दोषप्रस्तावनामाह—'एसे'त्यादि, एषणं-एषणा एवं गवेषणा अन्वेषणा च ग्रहणं चेति भवन्ति-स्युः एकार्था-अनन्याभिधेयाः एते शब्दा एषणामात्राभिधायकत्वात्, सा चानेकविषयाऽत्र उच्यते-आहारस्य-भक्तादेः, न तु द्विपदादेः, इह-एषणादोषप्रस्तावे प्रकृता-प्रस्तुता, तस्याश्चैषणायाः पुनः दोषा-दूषणानि इमे-एते वक्ष्यमाणा भवन्ति। इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ अथ तानेव नामतो दर्शयन्नाह—'संकी'त्यादि, शंकितं-संभाविताधाकर्मादिदोषं भक्तादि, इह च प्रथमैकवचनान्तता सर्वत्र दृश्या, तथा दोषवतो निर्देशोऽपि दोषदोषवतोरभेदात् शंकारूप एषणादोष उक्तोऽवसेयः, तस्यैव विवक्षितत्वात्, एवं सर्वत्र, म्रक्षितं-आरूक्षितं निक्षिप्तं न्यस्तं पिहितं-स्थगितं संहृतं अन्यत्र क्षिप्तं दायको-दाता उन्मिश्रं-मिश्रीकृतं अपरिणतं-सचेतनं लिप्तं-खरंटितं छर्दितं-परिशाटिमत् इत्येवमेते एषणादोषाः-पिंडग्रहणदूषणानि दश भवन्ति-स्युः। इति गाथासमासार्थः ॥२६॥ एतद्विवरणं गाथात्रयेणाह—'कम्मे'त्यादि, 'मक्खे'त्यादि, 'अपे'त्यादि च, कर्मादि-आधाकर्मप्रभृति शंकते-संभावयति यदित्यस्य सर्वत्र संबन्धः ततश्च यद्भक्तादि 'तयं'ति तकत् शंकितमुच्यते अथवा 'तयं'ति यत्र यं दोषं शंकते तत् गृह्णन् तकमेव दोषमापद्यत इत्यर्थः, अनेन शंकिताभिधेय एषणादोष उक्तः, तथा यत्पुनर्मंड-

मत्तगगयं अजोग्गं पुढवादिसु छोढु देइ साहरियं। दायग बालादीया अजोग्ग बीयादिउम्मीसं ॥ २८ ॥
अपरिणयं दव्वं चिय भावो वा दोण्ह दाण एगस्स। लित्तं वसादिणा छड्डियं तु परिसाडणावंतं ॥ २९ ॥
एयदोसविसुद्धो जतीण पिंडो जिणेहिऽणुण्णाओ। सेसकिरियाठियाणं एसो पुण तत्तओ णेओ ॥ ३० ॥

कादि उदकादिना-जलमृत्तिकादिना मचेतनेन तुशब्दः पुनरर्थः योजितश्च युक्तं-आरूपित तदिति सर्वत्र संबध्यते ततश्च तन्म्रक्षितमुच्यते, तथा निक्षिप्तं तद्यत् सजीवादौ-सचित्तमिश्रयोरित्यर्थः न्यस्तमिति शेषः, तथा 'पिहियं तु' पिहितं पुनः तद्यत् फलादिना-फलपुष्पप्रभृतिना सजीवादिना स्थगितमिति ॥ २७ ॥ यन्मात्रकगतं-मात्रगतं भाजनस्थितमित्यर्थः अयोग्यं-दानानुचितं तुपादि पृथिव्यादिषु-जीवकायेषु क्षिप्त्वा-प्रक्षिप्य ददाति-वितरति तत्संहृतमुच्यते, तथा दायका-दातारो बालादिका-अव्यक्तप्रभृतिकाः,ते चामी-"अव्वत्त मत्त थेरे पंडे मत्ते य खित्तचित्ते य। दित्ते जक्खाइट्ठे करचरणछिन्न नियले य॥१॥"इत्यादयः,अयोग्या साधोर्देयग्रहणं प्रत्यनुचिताः, अयं च दायकदोष उक्तः, तथा बीजाद्युन्मिश्रं-बीजकंदहरितादिभिर्यदुन्मिश्रं तदुन्मिश्रमुच्यते इत्यर्थः ॥२८॥ अपरिणतं, किम्?,उच्यते-द्रव्यमेव-दातव्यं वस्त्र वा प्रासुकमिति भावः-अप्रासुकमपि भावः वेत्यथवा अपरिणतः-अनभिमुखः, क विषय इति?,आह-दाने-दानविषये द्वयोः स्वामिनोर्मध्ये एकस्य-अन्यतरस्य एतमपरिणतमुच्यते इति,इह च भावापरिणतस्यानिसृष्टस्य च दायकसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेष इति, लिप्तं वसादिना गर्हितद्रव्येण यत्तल्लिप्तमुच्यते,छर्दितं तु-छर्दितं पुनः,किमिति?,आह-परिशाटनावत्-भूमौ परिगलदवयवं यद् देयं तत्। इति गाथाक्षरार्थः॥२९॥उक्तदोषविशुद्धस्यैव पिंडस्य ग्राह्यता तद्विशुद्धौ विशेषं च दर्शयन्नाह-'एये'त्यादि, एतद्दोषविशुद्धः-उक्तस्वरूपद्विचत्वारिंशद्दूषणरहितः यतीनां-साधूनां पिंडो-भक्तादिः जिनैः-

संपत्तेइच्चाइसु सुत्तेसु णिदंसियं इमं पायं। जतिणो य एस पिंडो ण य अन्नह हंदि एयं तु ॥ २१ ॥

आप्तैः अनुज्ञातः–अनुमतः,ग्राह्यतयेति शेषः, 'एसो पुण'त्ति एष पुनः–विशुद्धपिंडः पुनः तत्त्वतः–परमार्थवृत्त्या शेषक्रियास्थितानां–पिंडविशुद्ध्यपेक्षया शेषक्रिया–प्रत्युपेक्षणास्वाध्यायादिका तस्यां ये स्थिता–आश्रितास्ते तथा तेषां, न तु तद्विकलानां, उक्तदोषपरिहारमात्रादेव, मूलाभावे उत्तरस्याकिञ्चित्करत्वादिति भावः, ज्ञेयो–ज्ञातव्यः। इति गाथार्थः ॥ २० ॥ एतदेवागमेन समर्थयन्नाह—'संपे'त्यादि, 'संपत्ते' इत्यनेनादिपदेन "संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ। इमेण कमजोगेणं, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥" इत्येतत्सूत्रमुक्तं, अत इत्यादिषु–एतत्प्रभृतिषु पिंडैषणाध्ययनगतवाक्येषु, आदिशब्दात् "पुरओ जुगमायाए" इत्यादिसूत्रग्रहः, निदर्शितं–उक्तं, जिनादिभिरुक्तं शेषक्रियास्थितानामेव पिंडस्य शुद्धत्वं, यतः 'संपत्ते'त्ति सम्यक् प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनासूत्रार्थपौरुषीकरणक्रमेण यः प्राप्तो भिक्षाकालस्तत्र भक्तपानं गवेषयेदिति व्याख्यातं, पिंडविशुद्ध्यर्थं चैतदिति, तथा 'पुरतो युगमात्रया दृष्ट्या चरे'दित्याद्यपीर्यासमितिमतो भिक्षाशुद्धिरिति दर्शनार्थमुक्तमिति,कथं निदर्शितमिदमिति ?,आह-प्रायः-प्राचुर्येण प्रभूतसूत्रेष्वित्यर्थः, अथ भवत्वेवंविधो विशुद्धः, किंत्वशुद्धोऽप्यसौ यतेर्ग्राह्योऽस्त्विति,अत्राह–यतेश्च–साधोः पुनः'एस'त्ति एष एव–विशुद्ध एव, अवधारणं च काकुपाठलभ्यं, पिंडो–भैक्षं निदर्शितः, यतो न च–नैव अन्यथा–अशुद्धपिंडग्रहणतः हंदीत्युपप्रदर्शने एतत्तु–यतित्वमेव भवतीति, यदाह–'पिंडं असोहयंतो अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि। चारित्तम्मि असंते सव्वा दिक्खा निरत्थिय ॥१॥ त्ति' अथवा यतेरेवैष पिंडो भवति, न–नैवान्यथा–यतेरन्यत्र एतत्तु–पिंडस्य पिंडत्वमेव स्यात् ज्ञानादिगुणसमुदायरूपभावपिंडहेतुभूतस्यैव प्रधानपिंडत्वात्, अत एव च यतिभिक्षाया एव पिंडत्वेन रूढत्वात्। इति गाथार्थः ॥२१॥ 'दोषविशुद्धः पिंडो यतेरनुज्ञात'

दोसपरिण्णाणंपि हु एत्थं उवओगसुद्धिमाईहिं। जायति तिविहणिमित्तं तत्थ तिहा वण्णियं जेण ॥ ३२ ॥
भिक्खासद्दोऽवेवं अणियतलाभविसउत्ति एमादी। सव्वं चिय उववन्नं किरियावंतमि उ जतिम्मि ॥३३॥
अण्णे भणंति समणादत्थं उद्देसियादि संचाए। भिक्खाए अणडणं चिय विसेसओ सिद्धगेहेसु ॥ ३४ ॥

इत्युक्तं, तत्परिज्ञानं च कथं छद्मस्थस्य स्यादिति?, अत्राह–'दोसे'त्यादि, दोषपरिज्ञानमपि–गृहस्थकृतदूषणावगमः पुनः हुशब्दो वाक्यालङ्कारे अत्र पिंडविषये उपयोगो–भिक्षाकाले तदनुज्ञानार्थः कायोत्सर्गः साधुप्रसिद्धः तस्य शुद्धिः–निर्दोषता तदादिभिः कारणैः, आदिशब्दाद्दर्शनप्रश्नादिभिः, जायते–स्यात्, आह च–'रसगइपविसण पासण भिय अमिय उवक्खडे तया गहणं' तथा 'उग्गमं से य पुच्छिज्जा, कस्सऽट्ठा? केण वा कडं?। सोउ निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहेज्ज संजए ॥१॥" अथ कस्मादेवमिति?, अत आह–त्रिविधनिमित्तं त्रिप्रकारं परोक्षार्थज्ञानकरणं कायिकवाचनिकमानसिकभेदात् तत्रागमे त्रिधा–त्रिप्रकारं अतीतानागतवर्तमानभेदेन वर्णितं–उक्तमागमे येन कारणेन तेन कारणेनोपयोगशुद्ध्यादिभिर्दोषज्ञानं जायते। इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ 'यतेरेव यथार्थः पिंडशब्दो गतो'त्युक्तं, अथ भिक्षाशब्दोऽप्येवमेवेति दर्शयन्नाह—'भिक्खे'त्यादि, भिक्षाशब्दोऽपि–भिक्षेति ध्वनिरपि एवमिति–पिंडशब्द इव विशेषविषय इत्यर्थः, विशेषविषयत्वमेवाह–अनियतलाभविषयः–अप्रतिनियतभक्तादिप्राप्तिगोचरः, यतो गुणवद्यतेरेवानियतो लाभः स्यात्, इतिरुपप्रदर्शने, एवमादि–एवंप्रभृतिकं 'सव्वं चिय'त्ति' संपत्ते भिक्खकालंमि' इत्यादिषु सूत्रेषु यो भिक्षाशब्दोऽनियतलाभार्थो व्याख्यातः, आदिशब्दाच्चान्यदप्येवंप्रायमुक्तं, तत्सर्वमेव–समस्तमेव उपपन्नं–युक्तं, क्वेत्याह–क्रियावति–शुभाशुभक्रियायुक्त एव यतौ–साधौ, तदन्यत्र ह्यनियतलाभादेरर्थस्यानवश्यंभावित्वात्। इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ यदुक्तं 'एतद्दोषवि-

धम्मट्ठा आरंभो सिट्ठगिहत्थाण जमिह सव्वोऽवि। सिद्धोत्ति सेसभोयणवयणाओ तंतणीतीए ॥ ३५ ॥
तम्हा विसेसओ चिय अकयातिगुणा जईण भिक्खत्ति। एयमिह जुत्तिजुत्तं संभवभावेण ण तु अन्नं ॥३६॥
भण्णति विभिण्णविसयं देयं अहिगिच एत्थ विण्णेओ। उद्देसिगादिचाओ ण सोऽवि आरंभविसओ उ ॥३७॥

शुद्धः पिंडो यतीनामनुज्ञात' इति, अस्यासंभवं परमतेन दर्शयितुमाह—'अण्णे'इत्यादि, अन्ये-अपरे भणन्ति-आहुः श्रमणाद्यर्थं-श्रमणसाधुपाखंडियाचदर्थिकनिमित्तं, यत्कृतमिति शेषः,उद्देशिकादि-प्रागुक्तस्वरूपमशनादि, आदिशब्दान्मिश्रजातादिग्रहः, तस्येति शेषः, संत्यागे-परिहारेऽभ्युपगम्यमाने,किमिति?,आह-भिक्षायै-समुदानार्थं अनटनमेव-भिक्षाकुलेष्वभ्रमणमेव,भवतां प्राप्नोतीति शेषः, विशेषतो-विशेषेण पुनः शिष्टगेहेषु-विशिष्टकुलेषु। इति गाथार्थः ॥३४॥ कुत एतदेवमिति?, आह-'धम्मे'त्यादि, धर्मार्थं-पुण्यार्थं आरंभः-आहारपाकविषयो व्यापारः शिष्टगृहस्थानां-स्मृत्याद्यनुसारिगृहिणां यद्-यस्मात् इहार्यदेशे सर्वोऽपि-समस्तोऽपि, न तु कश्चिदेव, सिद्धः-प्रतिष्ठितः, इतिशब्दः समाप्तौ। अथ कुतोऽसौ सिद्ध इति?,अत आह-तंत्रनीत्या-शास्त्रन्यायेन, तंत्रनीतिसिद्धतैव कुत इति?, आह-शेषभोजनवचनात् 'गुरुदत्तशेषं भुञ्जीत' इति स्मृतिभणनात्। इति गाथार्थः ॥३५॥ पूर्वपक्षं निगमयन्नाह—'तम्हे'त्यादि, यस्माच्छ्रमणाद्यर्थः शिष्टगेहेषु पाकारंभः तस्मात् कारणात् विशेषत एव-एतस्मै साधवे इदं देयमित्यादिलक्षणप्रकारेण अकृतादिगुणा-स्वयमकृताकारितासंकल्पितत्वगुणा यतीनां-साधूनां भिक्षा-पिंडः, इतिरुपप्रदर्शने, एतदिदं वस्तु इह पिंडविचारे युक्तियुक्तं-उपपत्तिसंगतं,केन हेतुनेति?,आह-संभवभावेन-उक्तलक्षणेन भिक्षायाः संभवसद्भावात् ,न तु-न पुनः अन्यद्-अपरं सामान्यतोऽसंकल्पितादिगुणा भिक्षेति युक्तियुक्तं संभवाभावेन। इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ अत्रो-

संभवइ य एसोऽवि हु केसिंची सूयगादिभावेऽवि। अविसेसुवलंभाओ तत्थवि तह लाभसिद्धीओ ॥३८॥

तत्राह—'भणती'त्यादि, भण्यते-अभिधीयतेऽत्र समाधिः विभिन्नः-स्वभोज्यान्नविषयात् व्यतिरिक्तो विषयो-गोचरः श्रमणादिर्यत्र देये *तद्विभिन्नविषयं 'इहैतावत्कुटुम्बाद्यर्थं, एतावच्च श्रमणाद्यर्थं'* इत्येवंकल्पनया यत्संस्कृतमित्यर्थः देयं-दातव्यमशनादि अधिकृत्य-आश्रित्य अत्र पिंडविचारे विज्ञेयो-ज्ञातव्यः उद्देशिकादित्यागः-उद्देशिकमिश्रजातप्रभृतिपरिहारः, न तु-न पुनः स्वोचितो-गृहस्थापेक्षयाऽऽत्मयोग्य आरंभः-पाकव्यापारो विषयो-गोचरो यस्य त्यागस्य स स्वोचितारंभविषयः, स्वार्थे पाके क्रियमाणे 'इतः श्रमणादिभ्योऽपि दास्यते' इत्येवंविकल्पितस्य न त्याग इति भावः, तुशब्दः पुनरर्थः, स च पूर्वं योजित एवेति, इहार्थे श्लोकौ-'विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि। संकल्पनं क्रियाकाले, तद् दुष्टं विषयोऽनयोः ॥ १ ॥ (पुण्यार्थयावदर्थिकार्थयोरित्यर्थः) स्वोचिते तु यदारंभे, तथा संकल्पनं क्वचित्। न दुष्टं शुभभावत्वात्तच्छुद्धापरयोगवत् ॥ २ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३७॥ न च स्वोचितारंभो न संभवत्येवेति वाच्यं, यत आह—'संभवे'त्यादि, संभवति च-संभाव्यते पुनः एषोऽपि स्वोचितारंभोऽपि, *न केवलं धर्मार्थमेवारंभः, केषाञ्चित् शिष्टानां गेहेषु,* कुत इति?, आह-सूतकादिभावेऽपि-जातसूतकप्रभृतिकदाननिषेधहेतुसद्भावेऽपि, आस्तां सूतकाद्यभावे, अविशेषस्य-निर्विशेषस्य पाकारंभस्य-यावतः सूतकाद्यभावे सूतकादावपि तावत एव उपलंभो-दर्शनमविशेषोपलंभस्तस्मात्, अयमभिप्रायः-यदि हि धर्मार्थमेव सर्वशिष्टानामारंभोऽभविष्यत्तदा दानानवसरेऽसौ नाभविष्यद् अल्पतरो वाऽभविष्यत्, न चैवं केषाञ्चिद्गृहेषूपलभ्यते, अतः संभवति स्वोचितारंभोऽपीति। अथ संभवतु स्वोचितारंभः, न तु तत्र लाभः संभवति इति चेत्, नैवं, कुत इति?, आह-तत्रापि स्वोचितारंभेऽपि, आस्तां धर्मार्थारंभे, तथा-तेन प्रकारेणो-

एवंविहेसु पायं धम्मट्ठा णेव होइ आरंभो। गिहिसु परिणाममेत्तं संतंपि य णेव दुट्ठंति ॥ ३९ ॥
तहकिरियाऽभावाओ सद्धामेत्ताउ कुसलजोगाओ। असुहकिरियादिरहिगं तं हंदुचितं तयण्णं व ॥ ४० ॥

चित्यलक्षणेन लाभसिद्धेः-संविभागाचारेः दृष्टत्वादिति, दृश्यन्ते हि स्वार्थोपकल्पितादपि ग्रासादिकं यतये यच्छन्तः। इति गाथार्थः॥ ॥ ३८ ॥ तदेवं 'तम्हा विसेसउचिय' इत्यादि पूर्वपक्षगाथोक्तं दूषणमनन्तरगाथाद्वयेन परिहृत्य 'धम्मट्ठा आरंभो' इत्यादिगाथोक्तमर्थं परिहरन्नाह—'एव'मित्यादि, एवंविधेषु-उक्तप्रकारेषु अतिनैपुण्याभावेन सूतकादिभावे तदभावे च निर्विशेषतयोपलभ्यमानपाकारंभेष्वित्यर्थः गृहिष्विति योगः प्रायो-बाहुल्येन धर्मार्थ-श्रमणादिदानप्रभवपुण्यनिमित्तं नैव भवति-स्यात् आरंभः-पाकप्रवृत्तिः गृहिषु-शिष्टगृहस्थेषु, ननु दानपरिणामाभाव एवं शिष्टानां प्राप्त इत्याह-परिणामः-तदेवास्माकमन्नादि भूयात् यत्साधुषु संविभज्यत इत्येवंरूपः पाककालेऽध्यवसायः स एव साधुदानार्थाधिकपाकक्रियाविकलः परिणाममात्रं तत्पुनः सदपि-विद्यमानमपि, आस्तामविद्यमानं, चशब्दः पुनरर्थः स च योजित एव, नैव दुष्टं-न साधुग्राह्यपिंडदूषकं, पिंडदोषे तस्यानधिकृतत्वात्, इतिशब्दः समाप्तौ। इति गाथार्थः ॥३९॥ 'दानपरिणाममात्रं न दुष्ट'मित्युक्तं, अथ तस्यैवादुष्टतासाधनार्थमाह—'तहे'त्यादि, तथाक्रियाऽभावात्-तथाविधायाः श्रमणाद्यर्थारंभरूपाया असत्क्रियाया अभावात्, तदुचितमिति योगः, तथाविधक्रियारहितमपि श्रद्धाविकलमनुचितमेव स्यादिति, अत आह-'सद्धामेत्ताउ'त्ति अन्तर्भूतभावप्रत्ययं चेदं, तत्र श्रद्धा—रुचिः सैव सामान्यभावे श्रद्धामात्रं तद्भावस्तत्त्वं तस्मात् श्रद्धामात्रत्वादधिकृतदानपरिणामस्य, तथा श्रद्धामात्रमपि यत् कुशलं तदेवोचितं स्यादिति, अत आह-'कुसलजोगाउ'त्ति इदमप्यन्तर्भूतभावप्रत्ययमेवेति, अतः कुशलयोगत्वात्-प्रशस्तमनोव्यापारत्वादस्य, इति त्रयो हेतवः। अथ प्रति-

न खलु परिणाममेत्तं पदाणकाले असक्रियारहियं। गिहिणो तणयं तु जइं दूसइ आणाएँ पडिबद्धं ॥ ४१ ॥
सिट्ठावि य केइ इहं विसेसओ धम्मसत्थकुसलमती। इय न कुणंतिवि अणडणमेवं भिक्खाएँ वतिमेत्तं॥४२॥

ग्रामाह-'तं इंदुचियं'ति तदधिकृतं पाककाले गृहिणां दानपरिणाममात्रं इंदीत्युपप्रदर्शने उचितं-संगतं, न दुष्टमित्यर्थः, कथंभूतं? किमिवेति?,आह-अशुभक्रियादिरहितं-अप्रशस्तकायचेष्टाप्रभृतिविकलं, आदिशब्दादश्रद्धादुष्टमनोयोगविकलतापरिग्रहः,तस्मात् पाकालीनदानपरिणाममात्राद् अन्यद्-अपरं तदन्यत्-साधुवन्दनप्रणिधानादि तद्वदिति दृष्टान्तः,यथा हि साधुवन्दनादि दानावसरकृतं पिंडदूषणं न भवति एवमिदमपि दानाध्यवसानमिति गाथार्थः ॥४०॥ अन्तरोक्तमेवार्थं सविशेषमाह-'ने'त्यादि, न खलु-नैव परिणाममात्रं-यतये दास्यामीति संकल्परूपं कर्तृभूतं, क किंविधं तदिति?,आह-प्रदानकाले-साधुदानावसरे असत्क्रियारहितं-म्रक्षितपिहितादिद्वारेण जीवोपमर्दरूपाप्रशस्तव्यापाररहितं गृहिणो-गृहस्थस्य दायकस्येत्यर्थः 'तणयं'ति सत्कं तुशब्दः पूरणार्थः यतिं कर्मतापन्नं दूषयति-दूषणवन्तं करोति,किंभूतं यतिमिति?, आह-आज्ञायां-आप्तवचने प्रतिबद्धं-व्यवस्थितं,अन्यथाविधं दूषयत्यपि, आज्ञाया एव दोषव्यपोहकत्वात्। इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ अथ यदुक्तं 'शिष्टगेहेषु भिक्षाया अनटनमेव प्राप्तं, तेष्वारंभस्य धर्मार्थत्वादिति' तत्परिहरन्नाह—'सिट्ठे'त्यादि,शिष्टा अपि-विशिष्टजना अपि, आसतामशिष्टाः, केचित्, न तु सर्व एव, अनत्यर्थधर्मार्थिनोऽपरिकलितवितव्यया वेति भावः,इय न कुणंतीति योगः, इह लोके विशेषतो-विशेषेण पुनः धर्मशास्त्रकुशलमतयः-धर्माभिधायिग्रन्थनिपुणबुद्धयः 'संथरणंमि असुद्धं दोण्हऽवि गेण्हंतदेंतयाणऽहियं। आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥'' इत्येवंविधबोधवन्त इत्यर्थः, इति-एवं धर्मार्थमारंभं न कुर्वन्त्यपि-न विदधति, अपिशब्दः संभावने, 'एवं'ति एवं स्थिते वस्तुनि अनटनं-अभ्रमणं भि-

दुक्करयं अह एयं, जइधम्मो   रो चिय पसिद्धं। किं पुण ? एस पयत्तो, मोक्खफलत्तेण एयस्स ॥ ४३ ॥
भोगंमि कम्मवावारदारतोऽवित्थ दोसपडिसेहो। णेओ आणाजोएण कम्मुणो चित्तयाए य ॥ ४४ ॥

क्षायै-समुदानार्थं शिष्टगेहेषु प्राप्तमिति यदुक्तं परेण तत् 'वइमेत्तं'ति वाङ्मात्रं-वचनमेव अर्थशून्यं, तत्साधकयुक्तेरनैकान्तिकत्वात्। इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ एवं निराकृतपक्षस्य परस्य वचनावकाशमाशंक्य परिहरन्नाह-'दुक्के'त्यादि, दुष्करमेव दुष्करकं-कष्टसाध्यं अथेति-एवं चेन्मन्यसे एतत् असंकल्पितादिभिक्षाग्रहणमिति, सत्यं, किं तु यतिधर्मः-सर्वः साध्वाचारः दुष्कर एव-कष्टक्रिय एव इति प्रसिद्धं-ख्याते 'तरियव्वो य समुद्दो बाहुहिँ भीमो महल्लकल्लोलो। नीसायवालुयाए चावेयव्वो सया कवलो ॥१॥" इत्यादिवचनात्, ततः का भिक्षाग्रहणं प्रति विशेषचिन्तेति?, यदि दुष्करस्तदा किमनेनेति चेदिति?, आह-किं पुनः एषः-अन्तरोक्तः प्रयत्नो-विशुद्धपिंडग्रहणोद्यमो यतिभिर्विधीयते?,मोक्षः फलमस्येति मोक्षफलस्तद्भावस्तत्त्वं तेन मोक्षफलत्वेन एतस्य यतिधर्मस्य,न हि मोक्षलक्षणं महाफलं महाप्रयत्नमन्तरेण साधयितुं शक्यत इति भावना। इति गाथार्थः ॥४३॥ नन्वेतावानशुद्धपरिहारप्रयत्नो न युक्तो, यतः कर्मपारतंत्र्येण तद्भोगेऽपि साधोर्न दोषः, कर्मण एव तत्रापराधादिति कर्मवादिमतमाशंक्याह-'भोगंमी'त्यादि, भोगे-भोजने,अशुद्धान्नस्येति गम्यते,कथमिति?, आह-कर्मव्यापारद्वारतोऽपि-अज्ञानादिजनकज्ञानावरणादिलक्षणकर्मसामर्थ्यद्वारेणापि अत्र भोजकसाधौ दोषप्रतिषेधो-निर्दोषता ज्ञेयः-अवसेयः आज्ञायोगेनैव-आप्तवचनसंबन्धेनैव, न तु कर्मप्रवर्तितत्वेनेति, इह चावधारणं काकुपाठात्प्रतीयते,भवति चाज्ञायोगे दोषनिषेधः, यदाह-'ओहो सुओवउत्तो सुयनाणी जइवि गिण्हइ असुद्धं। तं केवलीवि भुंजइ अपमाण सुयं भवे इहरा ॥ १ ॥" 'ओहो'त्ति ओघतः-तथा कर्मणो-भोगप्रवर्तकस्य चित्रतया-विचित्रत्वेन, तद्धि कर्म

इहरा ण हिंसगस्सऽवि दोसो पिसियादिभोत्तु कम्माओ। जं तस्सिद्धिपसंगो एयं लोगागमविरुद्धं॥ ४५ ॥
ता तद्दसंकप्पो च्चिय एत्थं दुट्ठोत्ति इच्छियव्वमिणं। तदभावपरिण्णाणं उवओगादीहिँ उ जतीण ॥४६॥
गिहिमाइभयपदत्ता उग्गमउप्पायणेसणादोसा। एए तु मंडलीए णेया संजोयणाईया ॥ ४७ ॥

कुशलानुबन्धीतरच, तत्र यत्कुशलानुबंधि ततो भोगप्रवृत्तावपि परिणामविशेषाद्दोषनिषेध इति, चशब्दः समुच्चयार्थः। इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ कर्मतः प्रवृत्तौ दोषाभावाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गदर्शनायाह—'इहरे'त्यादि,इतरथा-अन्यथाऽन्ययोगमन्तरेणैव कर्मबलापातत्वेनैव दोषनिषेधाभ्युपगम इत्यर्थः,किं स्यादिति?, आह-न-नैव हिंसकस्यापि-जीवहन्तुरपि, आस्तामहिंसकस्य, दोषो-दूषणं कर्मबन्धलक्षणं स्यात्,किंभूतस्येति?,आह-पिशितादिभोक्तुः-मांसमद्यप्रभृतिकाभक्ष्यभोजकस्य अथवा पिशितादि भोक्तुं हिंसकस्य, अनेन चाज्ञायुक्तस्य निर्दोषत्वमेवेत्युक्तं, आह च-'जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥१॥" त्ति,कुत एतदेवमिति?, आह-कर्मतः-ज्ञानावरणचारित्रमोहादिकर्मसामर्थ्यात् हिंसाभ्युपगमे यद्-यस्मात् कारणात् तत्सिद्धिप्रसंगः-हिंसायां पिशितादिभोजने च दोषनिषेधप्रतिष्ठाप्रसक्तिः, भवतु हिंसादिप्रसंगः को दोष इति?, आह-एतद्-हिंसामांसभक्षणादि लोकागमविरुद्धं-विशिष्टजनसिद्धान्तव्यवहाराभ्यां बाधितं, तथाहि-न नास्तिका हिंसादिकं प्रायः समनुमन्यंते। इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ एवं प्रासंगिकमभिधाय प्रकृतं निगमयन्नाह—'ते'त्यादि, 'ता' इति यस्मात्स्वार्थारंभोऽपि संभवति तस्मात्कारणात् तथासंकल्प एव-पाककाले इदं साधूनामेतावच्चास्माकमन्नमित्यादिरूपाभिप्राय एव अत्र पिंडविषये दुष्टो-दोषवान् साधुपरिहारविषयः इतिरुपप्रदर्शने एष्टव्यं-मन्तव्यं इदमेतद्वस्तु, अथ कथं गृहिसत्कैवंविधसंकल्पमात्रपरिज्ञानं तत्परिहारार्थिनां

संयोजणा पमाणे इंगाले धूम कारणे चेव। उवगरण भत्तपाणे सबाहिरब्भंतरा पढमा ॥ ४८ ॥
बत्तीस कवल माणं रागद्दोसेहिं धूमइंगालं। वेयावच्चादीया कारणमविहिंमि अइयारो ॥ ४९ ॥

छद्मस्थसाधूनां भवतीति, आह तदभावपरिज्ञानं तु-उक्तलक्षणसंकल्पाभावज्ञानं पुनः उपयोगादिभिः-उपयोगकाले निमित्तशुद्ध्यादिभिर्भवति, आदिशब्दात्प्रश्नादिग्रहः, तुशब्दः पुनरर्थः स च प्रागेव योजितः, यतीनां-साधूनां। इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ उद्गमादयो दोषा यत्प्रभवास्तद्दर्शयन्नाह—'गिही'त्यादि, गृहिसाधूभयप्रभवा-दायकयतितदुभयसमुत्थाः क्रमेण उद्गमोत्पादनैषणादोषा उक्तलक्षणा भवन्ति, एतेषां च तत्प्रभवत्वं पूर्वोक्तव्याख्यानानुसारेणावगन्तव्यं, एते तु-एते पुनः वक्ष्यमाणाः मंडल्या-भोजनमंडल्या ज्ञेया-ज्ञातव्याः संयोजनादिकाः-संयोजनाप्रभृतयः। इति गाथार्थः ॥४७॥ तानेवाह—'संयोजे'त्यादि, संयोजना-भक्तादेर्गुणान्तरोत्पादनाय यत् द्रव्यान्तरमीलनं, प्रमाणं-कवलादिभिर्भोजनपरिमाणं, तच्च भोजनदोषो भवति अतिक्रम्यमाणं, तथा चारित्रेन्धनस्यांगारस्येव करणमिति विग्रहे "कारिते-पुंसि संज्ञायां गः (घः) प्रायेण" (३ ३-११८ पा)" इति घे च कृते अङ्गार इति चारित्रेन्धनदहनमित्यर्थः, तथा चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणमिति विग्रहे कारिते घे मतुब्लोपे च धूम इति, चारित्रेन्धनस्य धूमायमानतेत्यर्थः, तथा कारणं-भोजने हेतुः, एतस्य च दोषत्वमनाश्रीयमाणत्वात्, चेवेति समुच्चयार्थः, एवमेते पञ्च भवन्ति, तत्रोपकरणे-वस्त्रादौ भक्तपाने च-आहारे विषयभूते भवति, सा च सह बाह्ययाऽभ्यन्तरा भवति प्रथमेति-मंडलीदोषाणां मध्ये आद्या, आदावेवोपन्यस्तत्वात्, संयोजनेत्यर्थः, तत्र बहिरुपकरणसंयोजना उपकरणं गवेषयत एव साधोश्चोलपट्टकप्राप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरकल्पं याचयित्वा परिभुञ्जानस्य भवति, अन्तरुपकरणसंयोजना वसतावागत्य तथैव परिभुञ्जानस्य, बहिर्भक्तपानसंयो-

— ... त्या-
...चारित्रांशरूपाणि तत्कारणानि वा समासतः-संक्षेपेण वक्ष्ये-भणिष्यामि, केषां संव-
...नां सुविहितानां-सदनुष्ठानानां गुरूपदेशानुसारेण-जिनादिवचनानुवृत्त्या। इति गाथार्थः ॥१॥
'सीलंगे'त्यादि, शीलांगानां-चारित्रांशानां सहस्राणि अष्टादश अत्र श्रमणधर्मे प्रवचने वा
तावत्परिमाण... भवन्ति स्युः नियमेन-अवश्यंतया, न न्यूनान्यधिकानि वेति भावः, कथमिति ?, आह-भावेन-परिणामेन, बहिर्वृत्त्या तु कल्प्यप्रतिपे-
... यायां न्यूनान्यपि स्युरिति भावः, केषामिति ?, आह-श्रमणानां-यतीनां, न तु श्रावकाणां, सर्वविरतावेव तेषामुक्तसंख्यावतां संभवा-
त्, अथवा भावेन श्रमणानां, न तु द्रव्यश्रमणानां, तेषामपि किंविधानामिति ?, आह-अखण्डचारित्रयुक्तानां-सकलचरणोपेतानां, न तु
दर्पप्रतिषेवया खंडितचरणांशानां, नन्वखंडचरणा एव सर्वविरता भवन्ति, तत्खंडनेऽसर्वविरतत्वप्रसंगात्, तथा "पडिवज्ज अह

एयं णाऊणं जो सव्वं चिय सुत्तमाणतो कुणति। काउं संजमकायं सो भवविरहं लहुं लहति ॥ ५० ॥

॥ पिंडविधी समत्ता ॥ १३ ॥

जना भिक्षाभ्रटतो दुग्धदध्यादिलाभे गुडादि प्रक्षेपयतः, अन्तर्भक्तपानसंयोजना पुनः पात्रे मुखे च स्यात्, तत्र पात्रे मंडकगुड-
घृतादि संयोज्य भक्षयतः, एतान्येव मुखप्रक्षेपेण संयोजयतो मुखसंयोजना। इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ अथ प्रमाणादिलक्षणमाह-
'बत्ती'त्यादि,द्वात्रिंशत्संख्याः'कवल'त्ति प्रथमाबहुवचनान्तत्वात् कवला-ग्रासाः मानं-प्रमाणं भोजनस्य,कवलाश्च कुक्कुट्यण्डकमा-
नाः,इदं च पुरुषापेक्षया प्रमाणं स्त्र्यपेक्षया त्वष्टाविंशतिः,यदाह-'बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। पुरिसस्स महि-
लियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥ १ ॥" अथवोदरभागापेक्षं प्रमाणं, यदाह—'अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वाउपवियारणट्ठा छब्भायं ऊणयं कुज्जा ॥१॥" तथा रागद्वेषाभ्यां-प्रेमाप्रेमाभ्यामाहारविषयाभ्यां 'धूमइंगाल'त्ति समाहारद्वन्द्वात्
यथाऽऽसत्तिन्यायाच्च द्वेषाद्धूमो रागादङ्गारो भवति,चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकरणमङ्गारकरणं चेति,तथा वैयावृत्त्यादयः-आचार्या-
दिप्रतिपत्तिकरणप्रभृतयः षट् पदार्थाः,आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद्वेदनादय इति द्रष्टव्यं,यदाह-'वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजम-
ट्ठाए। तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥१॥" किमिति ?,आह-कारणं-हेतुः भोजनस्य,एतानि विना न भोक्तव्यमित्यर्थः,
अथ प्रमाणकारणयोः कथं दोषतेति चेदत आह-अविधौ-अतिक्रमे अतिचारो-दोषः स्यात्। इति गाथार्थः ॥४९॥ अथ पिंडप्रक-
रणमुपसंहरन् पिंडविशुद्धिफलमाह—'एय'मित्यादि, एतत् पूर्वोक्तं पिंडविधानं ज्ञात्वा-अवगम्य यः कोऽपि साधुः सर्वमेव-निःशे
षमेव सप्तचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन सूत्रमानतः-आप्तवचनं प्रमाणीकृत्य करोति-विधत्ते, अनेन मोक्षार्थिनः सर्वविद्वचनैकशरणतां दर्श-

यति,कृत्वा–विधाय संयमप्रधानः कायः–शरीरं संयमस्य वा कायो–राशिः संयमकायस्तं स साधुः भवविरहं–संसारविच्छेदं लघु–
शीघ्रं लभते–प्राप्नोति, भवविरहोपायत्वेन संयमकायस्य सर्वविदा दृष्टत्वादिति गाथार्थः ॥ ५० ॥

इति पिंडविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥ १३ ॥

॥ अथ चतुर्दशपञ्चाशकवृत्तिः ॥ १४ ॥

नमिऊण वद्धमाणं सीलंगाइं समासओ वोच्छं। समणाण सुविहियाणं गुरूवएसाणुसारेणं ॥ १ ॥

सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस एत्थ होंति णियमेणं। भावेणं समणाणं अखंडचारित्तजुत्ताणं ॥ २ ॥

अनन्तरं पिंडविशुद्धिरुक्ता, सा च शीलांगमेव स्यादिति शीलांगप्रकरणमारिप्सुर्मङ्गलादिप्रतिपादनायाह—'णमी'त्या-
दि,नत्वा–प्रणम्य वर्धमानं–महावीरं शीलांगानि–चारित्रांशरूपाणि तत्कारणानि वा समासतः–संक्षेपेण वक्ष्ये–भणिष्यामि,केषां संब-
न्धीनि तानीति ?,आह–श्रमणानां-यतीनां सुविहितानां–सदनुष्ठानानां गुरूपदेशानुसारेण-जिनादिवचनानुवृत्त्या। इति गाथार्थः ॥१॥
शीलांगानां तावत् परिमाणमाह—'सीलंगे'त्यादि, शीलांगानां–चारित्रांशानां सहस्राणि अष्टादश अत्र श्रमणधर्मे प्रवचने वा
भवन्ति स्युः नियमेन–अवश्यंतया,न न्यूनान्यधिकानि वेति भावः,कथमिति ?, आह–भावेन–परिणामेन,बहिर्वृत्त्या तु कल्प्यप्रतिषे-
वायां न्यूनान्यपि स्युरिति भावः,केषामिति ?,आह–श्रमणानां–यतीनां,न तु श्रावकाणां,सर्वविरतावेव तेषामुक्तसंख्यावतां संभवा-
त्,अथवा भावेन श्रमणानां,न तु द्रव्यश्रमणानां,तेषामपि किंविधानामिति ?,आह–अखण्डचारित्रयुक्तानां-सकलचरणोपेतानां,न तु
दर्पप्रतिषेवया खंडितचरणांशानां, नन्वखंडचरणा एव सर्वविरता भवन्ति, तत्खंडनेऽसर्वविरतत्वप्रसंगात्, तथा "पडिवज्ज अह-

जोए करणे सण्णा इंदियभूमादिसमणधम्मे य। सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स णिप्फत्ती ॥ ३ ॥
करणादि तिण्णि जोगा मणमादीणि उ हवंति करणाइं। आहारादी सण्णा चउ सोयाइंदिया पंच ॥ ४ ॥
भोमादी णव जीवा अजीवकाओ उ समणधम्मो उ। खंतादि दसपगारो एव ठिए भावणा एसा ॥ ५ ॥

कमइ पंच" इत्यागमप्रामाण्यात् सर्वविरतः पञ्चापि महाव्रतानि प्रतिपद्यते, अतिक्रामति च पञ्चाप्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतेर्देशखंडनमिति ?, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, किं तु प्रतिपत्त्यपेक्षं सर्वविरतत्वं, परिपालनापेक्षया त्वन्यथाऽपि संज्वलनकषायोदयात्स्यात्, अत एवोक्तं-"सव्वेऽवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति" इति, अतिचारा हि चरणे देशखंडनारूपा एवेति, तथैकव्रतातिक्रमेण सर्वातिक्रम इति यदुक्तं तदपि वैवक्षिकं, विवक्षा चेयम्-'छेयस्स जाव दाणं ताव अइकमइ नेव एगंपि। एगं अइक्कमंतो अइक्कमे पंच मूलेणं ॥ १ ॥" एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफलं स्यात्, अन्यथा मूलाद्येव तत् स्यात्, व्यवहारनयतश्चातिचारसंभवः, निश्चयतस्तु सर्वविरतताया भंग एव। इत्यलं प्रसंगेन। इति गाथार्थः ॥ २ ॥ कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादश सहस्राणि भवन्तीति?, आह-'जोए' इत्यादि, योगे-व्यापारे विषयभूते करणे-योगस्यैव साधकतमे संज्ञादीनि चत्वारि पदानि द्वन्द्वैकत्ववन्ति तत्र संज्ञासु-चेतनाविशेषभूतासु इन्द्रियेषु-अक्षेषु, भूम्यादिषु-पृथिव्यादिजीवकायेष्वजीवकाये च, श्रमणधर्मे च-क्षांत्यादौ शीलांगसहस्राणां प्रस्तुतानां अष्टादश परिमाणमस्य वृन्दस्येत्यष्टादशकं तस्य निष्पत्तिः-सिद्धिर्भवति। इति गाथार्थः ॥३॥ योगादीनेव व्याख्यातुमाह-'करणे' त्यादि, 'करणाइं' ति सूत्रत्वात् करणादयः-करणकारणानुमतयः त्रयो योगा भवन्ति, तथा मनआदीनि तु-मनोवचनकायरूपाणि पुनः भवन्ति-स्युः करणानि त्रीण्येव, तथा आहारादयः-आहारभयमैथुनपरिग्रहविषया वेदनी-

ण करंति मणेणाहारसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण। सोइंदियसंवुडो पुढविकायआरंभ खंतिजुओ ॥ ६ ॥
इय मद्दवादिजोगा पुढविकाए भवंति दस भेया। आउक्कायादीसुवि इय एते पिंडियं तु सयं ॥ ७ ॥

यभय (वेद) मोहलोभकषायोदयसपाद्या व्यवसायविशेषरूपाः 'चउ'त्ति चतस्रः संज्ञा भवन्ति, तथा श्रोत्रादीनि-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानि इन्द्रियाणि पञ्च भवन्ति इति ॥ ४॥ तथा भूम्यादयः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रिया नव जीवा-जीवकायाः अजीवकायस्तु-अजीवराशिः पुनर्दशमो यः परिहार्यतयोक्तः, स च महाधनानि वस्त्रपात्राणि विकटहिरण्यादीनि च, तथा पुस्तकानि तूलाद्यप्रत्युपेक्षितानि प्रावारादिदुष्प्रत्युपेक्षितानि कोद्रवादितृणानि अजादिचर्माणि चागमप्रसिद्धानीति, तथा श्रमणधर्मस्तु-यतिधर्मः पुनः क्षान्त्यादिः-क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिंचन्यब्रह्मचर्यरूपो दशप्रकारो-दशविध इति, 'एव'त्ति एवं उक्तन्यायेन स्थिते-औत्तराधर्येण पट्टकादौ व्यवस्थिते त्रित्रिचतुष्पञ्चदश दशमंख्ये मूलपदकलापे भावना-भंगकप्रकाशना एषा-अनन्तरवक्ष्यमाणलक्षणा। इति गाथाद्वयार्थः ॥५॥ तमेवाह-'णो'त्यादि, न करोतीति करणलक्षणः प्रथमयोग उपात्तः, मनसेति प्रथमकरणं, 'आहारसन्नाविप्पजढगो उ'त्ति आहारसंज्ञाविप्रहीणः, अनेन च प्रथमसंज्ञा, तथा नियमेन-अवश्यतया श्रोत्रेन्द्रियसंवृतो-निरुद्धरागादिमच्छ्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियं, एवंविधः सन् किं न करोतीति ?, आह-पृथ्वीकायारंभं-पृथ्वीजीवहिंसां, अनेन च प्रथमजीवस्थानं, क्षान्तियुतः-क्षान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमश्रमणधर्मभेद इति, तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्भावितमिति गाथार्थः ॥६॥ अथ शेषाणि तान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह—'इये'त्यादि, 'सोइ'मित्यादि, 'एग'मित्यादि, इति-अनेनैव पूर्वोक्ताभिलापेन मार्दवादियोगात्-मार्दवार्जवादिपदसंयोगेन पृथिवीकाये-पृथ्वीकायमाश्रित्य पृथ्वीकायसमारंभमित्यभिलापेनेत्यर्थः

सोइंदिएण एयं सेसेहिवि जं इमं तओ पंच। आहारसण्णजोगा इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥ ८ ॥
एयं मणेण वइमादिएसु एयंति छस्सहस्साइं। ण करइ सेसेहिंपि य एए सव्वेऽवि अट्ठारा ॥ ९ ॥
एत्थ इमं विण्णेयं अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं। एक्कंपि सुपरिसुद्धं सीलंगं सेससब्भावे ॥ १० ॥

भवन्ति-स्युः दश भेदा-दश शीलविकल्पाः,अप्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु,अपिशब्दो दशेत्यस्येह संबन्धनार्थः,इति-अनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः 'पिंडियं तु'त्ति प्राकृतत्वात् पिंडिताः पुनः सन्तः अथवा पिंडितं-पिंडमाश्रित्य शतं-शतसंख्याः स्युरिति ॥ ७ ॥ श्रोत्रेन्द्रियेणैतच्छतं लब्धं, शेषैरपि चक्षुरिन्द्रियादिभिः यद्-यस्मात् इदं शतं प्रत्येकं लभ्यते ततो मीलितानि पंच शतानि स्युः, एतानि चाहारसंज्ञायोगाल्लब्धानीति, एवं शेषाभिस्तिसृभिः पञ्च पञ्च शतानि स्युः, एवं च सर्वमीलने सहस्रद्वयं स्यादिति ॥ ८ ॥ एतत्सहस्रद्वितयं मनसा लब्धं,'वइमाइएसु'त्ति वाक्काययोः-वचनकाययोः प्रत्येकमेतत्-सहस्रद्वयं इति-एवं षट् सहस्राणि न करोतीत्यत्र करणपदे स्युः, शेषयोरपि च-कारणानुमत्योरित्यर्थः षट् षट् सहस्राणि स्युः,एतेऽनन्तरोक्ताः सर्वेऽपि शीलभेदाः पिंडिताः सन्तः 'अट्ठार'त्ति प्राकृतत्वादष्टादश सहस्राणि भवन्तीति गाथात्रयार्थः ॥ ९ ॥ नन्वेकयोगे एवाष्टादश सहस्राणि स्युः, यदा तु द्व्यादिसंयोगजन्या इह क्षिप्यन्ते तदा बहुतराः स्युः, तथाहि-एकद्व्यादिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः, एवं करणेषु, संज्ञासु पञ्चदश, इन्द्रियेषु एकत्रिंशदधिकं सहस्रं, एवं क्षमादिष्वपीति, एषां च राशीनां परस्पराभ्यासे द्वे कोटीसहस्रे त्रीणि को-टीशतानि चतुरशीतिः कोटीनां एकपञ्चाशल्लक्षाणि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते पञ्चषष्टिश्चेति २३८४५१६३२६५, ततः किमष्टा-दशैव सहस्राण्युक्तानि ?, उच्यते, यदि श्रावकधर्मवदन्यतरभंगकेन सर्वविरतिप्रतिपत्तिः स्यात्तदा युज्येतैतद्गणनं, न चैवं, एकत-

एक्को वाऽऽयपएसोऽसंखेयपएससंगओ जह तु। एतंपि तहा णेयं सतत्तचाओ इहरहा उ ॥ ११ ॥

रस्यापि शीलाङ्गविकल्पस्य शेषसद्भाव एव भावात्, अन्यथा सर्वविरतिरेव न स्यादिति, एतदेवाह-'एत्थे'त्यादि, अत्र-एषु शीलाङ्गेषु इदं वक्ष्यमाणं विज्ञेयं-ज्ञातव्यं 'अइदंपज्ज'ति इदं परं-प्रधानमत्रेतीदंपरं तद्भाव ऐदंपर्यं-तत्त्वं, तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, तद्भावना चैवम्-शीलांगसहस्राण्यष्टादश भवन्ति, ऐदंपर्यं पुनरेषिनदं ज्ञेयं बुद्धिमद्भिः-बुधैः, किं तदिति?, आह-एकमपि, अपिशब्दाद्बहून्यपि, सुपरिशुद्धं-निरतिचारं शीलांगं-चरणांशः शेषसद्भावे-तदन्यशीलांगसत्तायामेव, तदेवं समुदितान्येवैतानि भवन्तीति न श्रावकादिसंयोगभंगकोपादानं, अपितु सर्वपदान्त्यभंगस्येयमष्टादशसहस्रांशतोक्ता, यथा त्रिविधंत्रिविधेनेत्यस्य नवांशतेति, इह च सुपरिशुद्धमिति विशेषणाद्व्यवहारनयमतेनापरिशुद्धानि पालनायामन्यतरस्याभावेऽपि स्युरिति दर्शितं, एवं हि संज्वलनोदयश्चरितार्थो भवति, चरणैकदेशभंगहेतुत्वात्तस्य, अत एव यो मन्यते 'लवणं भक्षयामी'ति तेन (मुनिना) "मनसा न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसनेन्द्रियसंवृतः पृथ्वीकायसमारंभं मुक्तिसंपन्न" इत्येतदेकं तद्भमं, तद्भगे च प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तेन शुद्धिः स्यात्, अन्यथा पूर्वेणैव स्यात्। इति गाथार्थः ॥१०॥ अनन्तरगाथार्थं समर्थयन्नाह—'एक्को वे'त्यादि, एकोऽपि, आस्तामनेकः, आत्मप्रदेशो-जीवांशः असंख्येयप्रदेशसंगत एव-संख्यातीतांशसमन्वित एव भवति, तस्य तथास्वभावत्वात्, यथा-यद्वत्, तुशब्द एवकारार्थः नभ्रयोगश्च दर्शित एव, एतदपि शीलांगमपि तथा-तद्वत् शेषशीलांगसमन्वितमेव ज्ञेयं-ज्ञातव्यं, शेषानपेक्षत्वे तस्य को दोष इति?, आह-स्वतत्त्वत्यागः-सर्वविरतिलक्षणशीलांगहानिः स्यात् इतरथा तु-एकतायां पुनरित्यर्थः, समुदितानि चैतानि सर्वविरतिशीलांगानि पालयन्ते, अन्यथा पुनः सर्वविरतिशीलांगतां त्यजन्तीति भावना। इति गाथार्थः ॥११॥ इदमेव समर्थयन्नाह-'जम्हे'-

जम्हा समग्गमेयंपि सव्वसावज्जजोगविरई उ। तत्तेणेगसरूवं ण खंडरूवत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥
एयं च एत्थ एवं विरतीभावं पडुच्च दट्ठव्वं। न उ बज्झंपि पवित्तिं जं सा भावं विणावि भवे ॥ १३ ॥
जह उस्सग्गंमि ठिओ खित्तो उदयंमि केणति तवस्सी। तव्वहपवत्तकायो अचलियभावोऽपवत्तो तु ॥१४॥

त्यादि, यस्मात्कारणात् समग्रं-परिपूर्णमेव सर्वदेशिकमित्यर्थः एतदपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः सन्नात्मा स्यात्, सर्वसावद्ययोगविरतिः-समस्तपापव्यापारनिवृत्तिर्भवति, तत्स्वभावमेवेत्यर्थः तुशब्द एवकारार्थो योजितश्च, तथा च तत्त्वेन-सर्वनिवृत्तिरूपत्वेन हेतुना एकस्वरूपं अष्टादशसहस्रांशमेव,अन्यथा सर्वविरतित्वायोगात्, न खंडरूपत्वं-एकाद्यंशवैकल्यं उपैति-उपयातीति, प्रयोगोऽत्र-यद्यदपेक्षया स्वतत्त्वं लभते तत्कन्यूनतायां तन्न भवति, यथा प्रदेशहीन आत्मा, यथा वा शतमेकाद्यभावे, लभते च सर्वस्वांशापेक्षया सर्वविरतिः स्वतत्त्वं, अत एकादिशीलांगविकलोऽसौ न भवतीति गाथार्थः ॥ १२ ॥ उक्तार्थ एव विशेषाभिधानायाह-'एय'मित्यादि, एतच्च-एतत्पुनः शीलं अत्र शीलांगप्रक्रमे एवं-अखंडरूपं विरतिभावं-सावद्ययोगविरमणपरिणामं प्रतीत्य-आश्रित्य द्रष्टव्यं-ज्ञेयं, न तु-न पुनः बाह्यामपि-कायवाक्संबन्धिनीमपि अपिशब्दः समुच्चये प्रवृत्तिं-चेष्टां, कुत एतदेवमिति?,आह-यद्-यस्मात् बाह्या प्रवृत्तिः भावं-अध्यवसायं विना-अन्तरेणापि अपिशब्दाद्भावेन सहापि भवेत्-स्यादिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ एतदेव दर्शयन्नाह—'जहे'त्यादि, यथेत्युपमादर्शने उत्सर्गे-कायोत्सर्गे स्थितो-व्यवस्थितः क्षिप्तः-प्रक्षिप्तः उदके-नद्यादिजले केनचित् प्रत्यनीकेन तपस्वी-साधुः कश्चित् ,तद्वधप्रवृत्तकायोऽपि-उदकहिंसाव्यापृतदेहोऽपि, आस्तामन्यः, अचलितस्वभावः-सामायिकादप्रचलिताध्यवसायः सन् अप्रवृत्तस्तु-उदकवधे तत्त्वतोऽव्यापृत एव, यदाह-'आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति

एवं चिय मज्झत्थो आणाओ कत्थई पयट्टंतो। सेहगिलाणादट्ठा अपवत्तो चेव णायव्वो ॥ १५ ॥
आणापरतंतो सो सा पुण सव्वण्णुवयणओ चेव। एगंतहिया वेज्जगणातेणं सव्वजीवाणं ॥ १६ ॥
भावं विणावि एवं होति पवत्ती ण बाहते एसा। सव्वत्थ अणभिसंगा विरतीभावं सुसाहुस्स ॥ १७॥

निच्छओ एसो। जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥१॥" इति गाथार्थः ॥१४॥ एवं तावत् 'परवशस्य बाह्या चेष्टा न हिंसाहेतु'रित्युक्तं,अथ स्ववशस्यापि तामाह,अथवा पूर्वगाथायां दृष्टान्त उक्तः,अथ दार्ष्टान्तिकमाह-'एव'मित्यादि, 'एवं चिय'त्ति एवमेव-उदकक्षिप्त इव मध्यस्थः-सामायिकस्थः सन् साधुः आज्ञातः-आप्तवचनात् "सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा। मुचइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई ॥१॥" इत्येवंरूपात् क्वचिदपि द्रव्यहिंसादौ प्रवर्तमानो-व्याप्रियमाणः, किमर्थमिति ?,आह शैक्षग्लानाद्यर्थं शिक्षकरोगिप्रभृतिहेतोः,आदिशब्दादाचार्यादिपरिग्रहः,अप्रवृत्त एव-तत्त्वतोऽव्यापृत एव,सामायिकाव्यवच्छित्तेः,यदाह-"सालंबणो पडंतोऽवि अप्पयं दुग्गमेऽवि धारेई। इय सालंबणसेवी धारेइ जई असढभावं ॥१॥" इति गाथार्थः ॥१५॥ अथ कथमाज्ञया प्रवर्तमानोऽप्रवृत्त इवेति ?,अत्राह-'आणे'त्यादि,आज्ञापरतंत्रः-आप्तवचनाधीनः स प्रस्तुतसाधुः, सा पुनः-आज्ञा पुनः सर्वज्ञवचनत्वादेव-आप्तप्रणीतत्वादेव,इह भावप्रत्ययो लुप्तो द्रष्टव्यः,एकान्तहिता-सर्वथोपकारिणी वैद्यकज्ञातेन-आयुर्वेदोदाहरणेन सर्वजीवानां-विवक्षया समस्ताङ्गिनां,यथा हि वैद्यकशास्त्रं नैकस्य कस्यचिदेवातुरस्य स्वस्थस्य वा वैद्यस्य तत्पुत्रस्य तदन्यस्य वोपकारकं, एवमाज्ञापि न केषांचिदेवोपकारिणी। इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ एवं प्रासंगिकमभिधाय बाह्या प्रवृत्तिर्भावं विनाऽपि भवेदित्येतत्प्रकृतमनुसंदधान आह-'भाव'मित्यादि. भावं विनापि-अविरतिरूपमध्यवसायमन्तरेणापि, आस्तां भावेन,

उस्सुत्ता पुण बाहति समतिवियप्पसुद्धावि णियमेणं। गीतणिसिद्धपवज्जणरूवा णवरं णिरणुबंधा ॥१८॥
इयरा उ अभिणिवेसा इयरा ण य मूलछिज्जविरहेण। होएसा एत्तो च्चिय पुव्वायरिया इमं चाहु ॥१९॥

एवं-उक्तन्यायेनाज्ञापारतन्त्र्यलक्षणेन भवति-स्यात् प्रवृत्तिः-व्यापारो द्रव्यहिंसादौ न बाधते-न पुनः पीडयति विरतिभावमिति योगः एषा द्रव्यहिंसादिप्रवृत्तिः,किंभूता ?-सर्वत्र-समस्ते द्रव्यक्षेत्रादौ अनभिष्वंगा-निष्प्रतिबन्धा अथवा सर्वार्थेष्वनभिष्वंगः-सर्वार्थानभिष्वंगस्तस्मात् हेतोः,किं न बाधत इति ?, आह-विरतिभावं-सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामं सुसाधोः-सन्मुनेः। इति गाथार्थः ॥१७॥ उक्तार्थस्यैव व्यतिरेकमाह-'उस्सुत्ते'त्यादि,उत्सूत्रा-सूत्रातिक्रान्ता प्रवृत्तिरिति वर्तते पुनःशब्दः पूर्वोक्तार्थतोऽधिकृतार्थस्य विशेषद्योतकः बाधते-पीडयति विरतिभावमिति वर्तते,उत्सूत्रत्वादेव,किंभूता सेति ?,आह-स्वमतिविकल्पेन-निजबुद्धयुत्प्रेक्षणेन शुद्धा-निर्दोषा स्वमतिविकल्पशुद्धा साऽपि सती, आस्तामशुद्धा, नियमेन-अवश्यंतया, इयं चोत्सूत्रप्रवृत्तिर्द्विविधा-प्रज्ञापनाया योग्याऽयोग्या वा, तत्र प्रज्ञापनार्हामधिकृत्याह-गीतेन-गीतार्थेन साध्वन्तरेण निषिद्धस्य-यथोत्सूत्रमेतदपि अतस्त्वं मा कृथा इत्येवं निवारितस्य प्रतिपादनं-एवमेतदिति अभ्युपगमो रूपं-स्वभावः साधोर्यस्यां सा तथा सा,नवरं-केवलं निरनुबन्धा-व्यवच्छेदवती स्यात् अशुभकर्मानुबन्धरहिता वा,निरभिनिवेशत्वेन गीतार्थवचनप्रतिपत्तौ सूत्रानुसारिप्रवृत्तिसंभवात्। इति गाथार्थः ॥१८॥ अथेतरा किंफलेति ?,आह-'इयरे'त्यादि,इतरा तु-गीतार्थनिषिद्धाप्रतिपादनरूपा पुनः अप्रज्ञापनाविषयभूतेत्यर्थः उत्सूत्रप्रवृत्तिरिति प्रक्रमः अभिनिवेशाद्-असद्ग्रहाद्धेतोः इतरा-सानुबन्धा अव्यवच्छेदवती अशुभकर्मानुबन्धवती वा स्यात् , गीतार्थनिषिद्धस्याप्रतिपत्तितः शास्त्रीयप्रवृत्त्यसंभवात् ,तथा न च-नैव मूलेन-अष्टमप्रायश्चित्तेन छिद्यते यत्तन्मूलच्छेद्यं-चारित्रोपघातकमतिचारजातं तद्विरहेण-

गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसओ भणितो। एत्तो तइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥२०॥
गीयस्स ण उस्सुत्ता तज्जुत्तस्सेयरस्सवि तहेव। णियमेण चरणवं जं ण जाउ आणं विलंघेइ ॥ २१ ॥
ण य तज्जुत्तो अण्णं ण णिवारइ जोग्गयं मुणेऊणं। एवं दोण्हवि चरणं परिसुद्धं अण्णहा णेव ॥ २२ ॥

चारित्राभावमन्तरेणेत्यर्थः भवति–जायते एषा गीतार्थवारिताप्रतिपत्तिरूपोत्सूत्रप्रवृत्तिरिति, 'एत्तो चिय'त्ति यत एवोत्सूत्रा प्रवृ-त्तिर्बाधते विरतिभावमत एव तन्निषेधार्थं पूर्वाचार्याः–श्रीमद्रबाहुस्वामिमिश्राः इदं वक्ष्यमाणं वस्तु चशब्दात्पूर्वोक्तं च आहुः–ब्रुवते स्म। इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ यदाहुस्तदेवाह—'गीये'त्यादि, गीतार्थाः–बहुश्रुताः साधवस्तेषां सत्को गीतार्थ एव एकः चशब्दो भिन्नक्रमः विहारो–विहरणं, द्वितीयश्च गीतार्थैर्मिश्राः–संवलिता येऽगीतार्थास्ते गीतार्थमिश्रास्तेषां सत्को गीतार्थमिश्रः स एव गीतार्थमिश्रकः विहार इति वर्तते भणितः–उक्तः जिनवरैरिति योगः, 'एत्तो'त्ति अतो–विहारद्वयात्तृतीयः केवलागीतार्थ-विहारलक्षणो विहारो–यतिवर्तनं नानुज्ञातो–नानुमतः जिनवरैः–जिनेन्द्रैरिति गाथार्थः ॥ २०॥ अथ प्रकृतार्थोपयोगितामेवद्गाथाया दर्शयन्नाह—'गीयस्से'त्यादि, गीतस्य–गीतार्थस्य यतेः नोत्सूत्रा–आज्ञाननुपातिनी प्रवृत्तिरिति प्रकृतं, तद्युक्तस्य–गीतार्थयुक्तस्य इतरस्यापि–अगीतार्थस्यापि, आस्तां गीतार्थस्य, तथैवेति उत्सूत्रा प्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थः, अथ कस्माद्गीतार्थस्योत्सूत्राऽसौ न भवतीत्याह-नियमेन–अवश्यंतया चरणवान्–चारित्री यद्–यस्मात् न जातु–न कदाचित् आज्ञां–आप्तवचनं विलंघयति–अतिक्रामतीति गाथार्थः ॥२१॥ अथ किं गीतार्थयुक्तस्यागीतार्थस्यापि उत्सूत्रप्रवृत्तिर्न भवतीति?, आह—'ण ये'त्यादि, न च–नैव तद्युक्तः आज्ञा-युक्तः चरणवानिति प्रक्रमः अन्यं–अगीतार्थं न निवारयति–न निषेधयति उत्सूत्रमाचरन्तं योग्यतां–निवारणोचितत्वं निवारणी-

ता एव विरतिभावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो। णियमेणं अट्ठारससीलंगसहस्सरूवो उ ॥ २३ ॥
ऊणत्तं ण कयाइवि इमाण संखं इमं तु अहिकिच्च। जं एयधरा सुत्ते णिद्दिट्ठा वंदणिज्जा उ ॥ २४ ॥
ता संसारविरत्तो अणंतमरणादिरूवमेयं तु। णाउं एयविउत्तं मोक्खं च गुरूवएसेणं ॥ २५ ॥

यस्य 'सुणेऊण'त्ति श्रुत्वा, न ह्ययोग्यायोपदेशं ददति सन्तः, अपायसंभवात्, एवं-उक्तन्यायेन निवारणातत्प्रतिपत्तिलक्षणेन अथवाऽऽज्ञानुल्लंघननिवारितप्रतिपत्तिरूपेण द्वयोरपि-गीतार्थागीतार्थयोः चरणं-चारित्रं परिशुद्धं-निर्दोषं भवति, अन्यथा-प्रकारान्तरेणानिवारणातत्प्रतिपत्तिलक्षणेन अथवाऽगीतार्थतयाऽऽज्ञोल्लंघनेन गीतार्थायुक्ततया निवारणाभावलक्षणेन च, नैव-न भवत्येव द्वयो-रपि, इति गीतार्थगीतार्थयुक्तयोरेव विहारोऽनुज्ञात इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अथ प्रकृतं निगमयन्नाह—'ते'त्यादि, तत्-तस्मात् एवं-उक्तन्यायेन आज्ञापरतंत्रस्य याऽसौ प्रवृत्तिर्विरतिं न बाधत इत्येवंलक्षणेन एवशब्दस्य चानुस्वाराश्रवणं गाथानुलोम्यात् विरति-भावः-सर्वविरतिपरिणामः संपूर्णः-समग्रः अत्र व्यतिकरे भवति-स्यात् ज्ञातव्यो-ज्ञेयः नियमेन-अवश्यंतया, किंभूत इति?, आह-अ-ष्टादशशीलांगसहस्ररूपस्तु एतत्परिमाण एव, सर्वपापविरतेः एकत्वादिति गाथार्थः॥२३॥ अथैषामन्यूनतामागमेन समर्थयन्नाह—'ऊणे'त्यादि, ऊनत्वं-एकादिभिर्हीनत्वं न कदाचिदपि-न जातुचित् एषां शीलानां संख्यां-परिमाणं इमां-एनां पुनः अष्टाद-शसहस्रलक्षणां अधिकृत्य-आश्रित्य, कुत एतदिति?, आह-यद्-यस्मात् एतद्धरास्तु-अष्टादशशीलांगसहस्रधारिण एव सूत्रे-प्रतिक्रम-णाख्ये निर्दिष्टा-उक्ताः वन्दनीयाः-प्रणम्याः, नान्ये, "अट्ठारससीलंगसहस्सधारा" इत्यादिवचनप्रामाण्यात्, तुशब्द एवकारार्थः प्राग् योजितश्च। इति गाथार्थः ॥२४॥ यस्मादेवं तस्मादेतन्महानेव कश्चित्कर्तुमलं, न तु यः कश्चिदित्येतद्गाथापञ्चकेनाह—'ते'-

परमगुरुणो य अणहे आणाएँ गुणे तहेव दोसे य। मोक्खट्ठी पडिवज्जिय भावेण इमं विसुद्धेणं ॥२६॥

विहिताणुट्ठाणपरो सत्तऽणुरूवमियरंपि संधेंतो। अण्णत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्मदोसेवि ॥२७॥

सव्वत्थ णिरभिसंगो आणामेत्तंमि सव्वहा जुत्तो। एगग्गमणो धणियं तम्मि तहाऽमूढलक्खो य॥२८॥

त्यादि, 'परमे'त्यादि, 'विही'त्यादि, 'सव्वे'त्यादि, 'तहे'त्यादि, च, यतो दुष्करमेतच्छीलं तत्-तस्मात् संसारविरक्तो-भवान्निर्विण्णः सन्, एतच्छक्नोति कर्तुमिति योगः, कथं विरक्त इति ?, आह-अनन्तमरणादिरूपं-अपर्यवसानमृतिप्रभृतिस्वभावं, आदिशब्दाज्जन्मजरादिग्रहः, 'एतं तु' संसारमेव ज्ञात्वा-अवगम्य तथा एतद्वियुक्तं-मरणादिवियुतं मोक्षं च-निर्वाणं चशब्दो ज्ञात्वेत्येतस्येह संबन्धार्थः, कथं ज्ञात्वेति ?, आह-गुरूपदेशेन-आज्ञानुसारेणेति ॥२५॥ तथा परमगुरोः-जिनस्य चः समुच्चये आज्ञाया-उपदेशस्य, आराधनायामिति गम्यं, अनघान्-निरवद्यान् गुणान्-उपकारान् तथैव-तेनैव प्रकारेण विराधनालक्षणेन दोषांश्च-अपकारान् ज्ञात्वेति प्रकृतं ततश्च मोक्षार्थी-निर्वाणार्थी सन् प्रतिपद्य-अभ्युपगम्य भावेन-भावतः इदं शीलं विशुद्धेन-इहलोकाद्याशंसाविरहितेनेति ॥२६॥ ततः किमिति ?, आह-विहितानुष्ठानपरः-आगमोक्तक्रियानिष्ठः, कथमिति ?, आह-शक्त्यनुरूपं-यथाशक्तीत्यर्थः, तथा इतरदपि-शक्त्यननुरूपमपि अपिः समुच्चये संधयन्-भावप्रतिपत्तितः संदधानः, तथा अन्यत्र-विहितानुष्ठानादपरत्राविहितानुष्ठान इत्यर्थः अनुपयोगात्-शक्तेरनुपयोजनादव्यापारणादित्यर्थः, किमिति ?, आह-क्षपयन्-निर्जरयन् कर्मदोषानपि-गुणप्रतिबन्धककर्मविपाकानपि अपिः समुच्चयार्थ इति ॥२७॥ तथा सर्वत्र-समस्ते द्रव्यादिवस्तुनि निरभिष्वङ्गः-अप्रतिबद्धः आज्ञामात्रे-आप्तवचने एव सर्वथा-सर्वैः प्रकारैः युक्त-उद्यतः, एकाग्रं-अनन्यालंबनं मनो यस्यासावेकाग्रमनाः 'धणियं'ति अत्यर्थं, क्वेति ?, आह-तस्मिन्नाज्ञा-

तह तटलत्तिधारगणायगओ राहवेहगगओ वा । एयं चएइ काउं ण उ अण्णो खुद्दसत्तोत्ति ॥२९॥

मात्रे, तथाऽमूढः-मुनिर्णयो लक्षो-वेधविशेषो यस्य सोऽमूढलक्षः आज्ञायामेव सत्प्रतिपत्तितः चशब्दः समुच्चय इति ॥२८॥ तथेति समुच्चये तैलपात्रीधारकस्य तद्रूपं वा यत् उदाहरणं तद्गतः-प्राप्तः अपायावगमजनिताप्रमत्ततातिरेकसाधर्म्यादिः स तथा, गाथायाः प्रसिद्धाया वेधो यत्र ज्ञाते तद्राधावेधकं तद्गत-प्राप्तस्तेन यः स तथा नाशङ्को विकल्पार्थः, ज्ञाते तु वक्ष्यामः, एतच्छीलं 'चएइ'त्ति शक्नोति कर्तुं-पालयितुं,न तदन्यो-न पुनरपरः,कुत एतदिति ?,आह-क्षुद्रसत्त्वः-अधमप्राणी अल्पाध्यवसानविशेष इति-कृत्वा । इति गाथापञ्चकार्थः ॥२९॥ ज्ञाते पुनरेवम्-बभूव नगरे क्वापि, कोऽपि भूपालपुंगवः । श्रमणोपासकग्रामग्रामणीः करुणापरः ॥१॥ परिवारो निजस्तेन, नागरोऽपि बहुर्जनः । जनितो जिनधर्मस्थः, स्थायिभावो दयादिषु ॥२॥ किं तु श्रेष्ठिसुतः कोऽपि,कथञ्चिन्नोपशान्तवान् । कुग्रहग्राहसंग्रस्तमानसो भावितवांश्च सः ॥३॥ हिंसाऽपि धर्म एव स्याद्,दुःखिनां दुःखमोचनात् । प्रापणाच्च सुखश्रीणां, कर्तुं शक्या च सा यतः ॥४॥ नैव युक्ता ततः कर्तुं, नो दानादि यतस्तकत् । अर्थाधीनं स च प्रायो, दुर्लभो दुर्गपस्तथा ॥५॥ अप्रमादपरं जैनं, शासनं तु निरर्थकम् । अशक्यं ह्यप्रमत्तत्वं, कर्तुमित्यप्यमन्यत ॥६॥ श्रेष्ठिपुत्रस्य तस्यासत्प्रमादविदूषिणः । पार्थिवो बोधनार्थाय, चकारोपायमीदृशम् ॥७॥ यक्षाभिधानकं छात्रं, कुशलं जिनशासने । प्रेषयामास तद्गेहे, हस्ते दत्त्वा वरं मणिम् ॥८॥ राजशिक्षानुसारेण, तेनोक्तं श्रेष्ठिनन्दन ! । यथा देशान्तरीयोऽहमत्यर्थं राजवल्लभः ॥९॥ नृपस्य मित्रबोधस्य, बोधनार्थं समुद्यतः । तुल्यबोधावहं त्वं च, नान्योऽत्र नगरेऽस्ति नौ ॥१०॥ इत्यादिविविधालापान्, कुर्वता प्रतिवासरम् । छात्रेण श्रेष्ठिपुत्रस्य, प्रेमोत्पादितमात्मनि ॥ ११ ॥ ततो विश्रम्भितस्यैवं, वणिक्सूनोरपश्यतः । तेन

च्छात्रेण तद्रत्नं, न्यस्तं तद्रत्नभाजने ॥१२॥ सुन्यस्तं तत्र तत् कृत्वा, गत्वा च नृपसन्निधौ । यक्षच्छात्रो यथायुक्तं,वृत्तान्तं तं न्यवेदयत् ॥१३॥ नृपोऽप्याज्ञापयल्लोके, महतोद्दामडिंडिमम् । यथा भो मुद्रिकारत्नं, भ्रष्टं नष्टं च भूपतेः ॥१४॥ ततोऽर्पयतु येनासमित्येवमपि घोषिते । यदा नासं तकद्राज्ञा, तदाऽऽहूतः पुरीजनः ॥१५॥ उक्ताश्च तेन भोः पौरा !,मदीयाध्यक्षसंयुताः । गवेषयत तत् सम्यक्, प्रतिगेहमिह द्रुतम् ॥१६॥ क्रमेण वेक्षमाणैस्तैस्तद्रत्नमवलोकितम् । तस्यैव श्रेष्ठिपुत्रस्य,गेहे माणिक्यभाजने ॥१७॥ ततो राजापकारीति, गृहीतो दण्डपाशिकैः । आघातं नेतुमारब्धोऽवमायासौ वणिक्सुतः ॥ १८ ॥ अवादीत्तानसौ दोषशुद्धिमत्र करोम्यहम् । तेऽप्यूचुर्नास्ति ते शुद्धिर्वधादन्या दुरात्मनः ॥१९॥ अथोवाच स तानेवमनवद्योऽपि यद्यहम् । हन्ये तथापि राजानं, तावद्विज्ञपयाम्यहो ॥२०॥ ततः सोऽभ्यर्थयामास,यक्षच्छात्रं यथा मयि । विज्ञापय नृपं मित्र !,यथाऽसौ देव ! दंड्यताम् ॥२१॥ दुष्करेणापि दंडेन, हित्वा शारीरनिग्रहम् । इति ब्रुवाणं तं यक्षः, साकूतः प्रोक्तवानिदम् ॥२२॥ किं देहनिग्रहादन्यं, सोढुं शक्तोऽपि निग्रहम् ? । बाढं शक्तोऽसि तेनोक्तं, ततो यक्षो व्यचिन्तयत् ॥२३॥ दुष्करस्यापि कार्यस्य, करणेऽस्य मनः क्षमम् । ज्ञात्वा चैवं नृपस्तेन, विज्ञप्तोऽसौ यथोदितम् ॥२४॥ राज्ञाऽप्युक्तं यथा तेन, पात्री तैलातिपूरिता । भ्रमयित्वा पुरे कृत्स्ने, आनेतव्याऽस्मदन्तिके ॥२५॥ यद्येकोऽपि ततो बिन्दुः, पतेद्भूम्यां ततो वधः । कार्यस्तस्य ततो यक्षो, नृपादेशं न्यवेदयत् ॥२६॥ श्रेष्ठिपुत्रोऽपि राज्ञोक्तमभ्युपागच्छदादृतः । कृच्छ्राण्यपि हि कुर्वन्ति, जीवितव्याय देहिनः ॥२७॥ ततस्तस्य नृपस्तैलपूर्णपात्रप्रधारिणः । निर्गच्छतो निजाद्गेहादुत्त्रासाय सुभटैर्भृशम् ॥२८॥ उत्रासं कारयामास, प्रेक्षाश्चातिमनोहराः । प्रनटन्नाटिकोपेताः, कामहारादिदीपिकाः ॥२९॥ ततोऽसौ मानसक्षोभसंपादनपटीयसि । सत्यपि प्रौढविघ्नौघे, जीविताशावशीकृतः ॥३०॥ अप्रमादविशेषेण, तैल-

पार्श्वं वणिक्सुतः । अश्रुबिन्दुस्तो राज्ञो, निनाय चरणान्तिके ॥३१॥ ततश्चैवं महाकष्टे, कृते तेन नराधिपः । प्रेरयामास तं श्रेष्ठिसूनुं सूनृतभाषया ॥३२॥ त्वयैकमृत्युभीतेन, यथेदक्षाऽतिदुष्करा । सौम्याप्रमत्तताऽकारि, तथाऽन्ये लघुकर्मकाः ॥३३॥ अनन्तमरणत्रस्तास्ता सेवन्ते विशेषतः । अशक्यपरिहारोऽतः, प्रमाद इति ते वृथा ॥३४॥ युग्मं । हिंसा युक्तेति ते बुद्धिर्याऽसावपि न संगता । अन्यथा त्वं कथं भीतो, वधात् कष्टं प्रपन्नवान् ? ॥३५॥ श्रुत्वैवं स वणिक्सूनुरनुशास्ति महीपतेः । प्रपेदे भावतो जैनं, शासनं पापनाशनम् ॥३६॥ इति ॥१॥ आसीदिन्द्रपुरं नाम, नगरं गुरुकं गुणैः । तत्राभवच्छ्रियामिन्द्र, इन्द्रदत्तो महीपतिः ॥१॥ प्रीतिपात्रकलत्राणां, तस्य द्वाविंशतिः सुताः । बभूवुर्भूमिपालस्य, प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभाः ॥ २ ॥ अन्या भार्याऽभवत्तस्य, भूपस्यामात्यपुत्रिका । सा च तेन परं दृष्टा, पाणिग्राहं प्रकुर्वता ॥ ३ ॥ अथान्यदा कदाचित् सा, ऋतुस्नाताऽवलोकिता । राज्ञा पृष्टाश्च पार्श्वस्था, यथैषा कस्य ? का च भोः ? ॥४॥ त ऊचुर्देव ! देवी ते, ततो राजा तया सह । रात्रिमेकामुवासाथ, तस्या गर्भोऽभवत्तदा ॥५॥ सा च पूर्वममात्येन, भणिताऽऽसीद्यदा तव । गर्भो भूतो भवेद्भद्रे !, तदा त्वं मे निवेदयेः ॥ ६ ॥ ततः सा गर्भसंभूतिं, राजसंवासवासरम् । मुहूर्तं राजजल्पं च, पितुः सर्वं न्यवेदयत् ॥७॥ सत्यंकाराय तत् सर्वं, व्यलिखत् सोऽपि पत्रके । सम्यक् तां पालयामास, काले चाजनि दारकः ॥८॥ तद्दिने दासरूपाणि, जज्ञुश्चत्वारि तद्गृहे । अग्निकः पर्वतकश्च, बहुली सागरस्तथा ॥९॥ सुरेन्द्रदत्त इत्येषा, राजसूनोः कृताऽभिधा । कलासूरेरसौ पार्श्वे, कलाः काले गृहीतवान् ॥ १०॥ गृह्णतश्च कलास्तस्य, चक्रिरे तान्युपद्रवान् । न चासौ भाविभद्रत्वान्नृपसूनुर्व्यजीगणत् ॥११॥ ते च द्वाविंशतिः पुत्रा, आश्रमाणाः कलाः किल । निघ्नन्ति स्म कलाचार्यं, गालीस्तस्य तथा ददुः ॥१२॥सूरिणा ताडितास्ते तु, स्वमातृभ्यो न्यवेदयन् । तं च ताः कुपिताः शापै-

श्चक्रुरुद्वेगभाजनम् ॥१३॥ एव (ते) द्वाविंशतिरज्ञानाः,सूरिणा समुपेक्षिताः । इतश्च मथुरानाथश्चासीत् पर्वतको नृपः ॥१४॥ तत्सुता निर्वृतिर्नाम, यौवनोन्मदसुन्दरा । वरार्थं तेन साऽवाचि, भर्तारं वृणु वाञ्छितम् ॥१५॥ सा पुनस्तमनुज्ञाप्याचलदिन्द्रपुरं प्रति । राजपुत्रा यतस्तत्र, भूयांसः सन्ति सद्गुणाः ॥१६॥ ततः सेन्द्रपुरं प्रापदाप्तलोकसमन्विता । तुष्टेन चेन्द्रदत्तेन, राज्ञाऽकारि पुरे महः ॥१७॥ निर्वृत्या भणितं राज्ञो, राधावेधं करिष्यति । यः कुमारः स मे भर्ता, भविष्यत्यपरो न तु ॥ १८ ॥ तदाकर्ण्य नृपो रङ्गं, कारयामास तत्र च । एकत्राक्षेऽष्ट चक्राणि, तत्पुरः पुत्रिकां तथा ॥१९॥ सा च चक्षुषि बाणेन, भेत्तव्याऽधोविवर्तिना । ततः सैन्ययुतो राजा, रङ्गे तस्थौ सपुत्रकः ॥२०॥ निर्वृतिश्चैकदेशेऽस्य, स्थिताऽलङ्कृतविग्रहा । यथास्वं च निविष्टेषु, सामन्तनागरादिषु ॥२१॥ आदिष्टो ज्येष्ठपुत्रोऽथ, राज्ञा श्रीमालिनामकः । भित्त्वा राधां गृहाणेमां, कन्यां राज्यं च पुत्रक ! ॥ २२ ॥ ततः सोऽशिक्षितत्वेन, साध्वसोत्कंपिविग्रहः । शशाक नैव तां भेत्तुमेवं ते शेषका अपि ॥ २३ ॥ ततो राजा स्वपुत्राणां, मूर्खतां वीक्ष्य तत्क्षणात् । शुशोच हस्तविन्यस्तगण्डो भून्यस्तदृष्टिकः ॥२४॥ ततोऽमात्यस्तमापृच्छत् , किं देव ! दैन्यवान् भवान् । सोऽवोचदुःसुतैरेतैरहं भो धर्षितो जने ॥२५॥ ततोऽमात्योऽवदद्भूपं, यथाऽन्योऽपि च ते सुतः । विद्यते सोऽपि देवेन, राधावेधे नियुज्यताम् ॥२६॥ राजाऽवोचत् कुतो मेऽन्यः, सुतोऽमात्योऽप्यवोचत । मत्सुताऽस्ति ततः पत्रं,दर्शयामास तस्य तत् ॥२७॥ संजातप्रत्ययो राजा, संतुष्टस्तं वभाण च । आनयामात्य ! मत्पुत्रं, तस्य तं सोऽप्यदर्शयत् ॥२८॥ आलिंग्य मूर्ध्नि चाघ्राय, तं बभाषे सुतोत्तमम् । कन्यां गृहाण राज्यं च, भित्त्वा राधां महाद्भुताम् ॥२९॥ यदादिशति तातस्तत् , करोमीत्यभिधाय सः । धनुर्वेदोपदेशेन, राधा भेत्तुमुपस्थितः ॥३०॥ तान्यस्य चेटरूपाणि, ते च द्वाविंशतिः सुताः । उत्खातासी नरौ द्वौ च, नाना चक्रुरुपद्रवान्

एत्तो चिय णिद्दिट्ठं पुव्वायरिएहिँ भावसाहुत्ति । हंदि पमाणठियट्ठो तं च पमाणं इमं होइ ॥३०॥

सत्थुत्तगुणो साहू ण सेस इइ णे पइण्ण इह हेऊ । अगुणत्ता इह णेओ दिट्ठंतो पुण सुवण्णं व ॥३१॥

विसघाइ १ रसायण २ मंगलत्थ ३ विणए ४ पयाहिणावत्ते ५ । गरुए ६ अडज्झ ७ कुत्थे ८ अट्ठ सुवण्णे गुणा होंति ॥३२॥

॥३१॥ कलानायोंऽप्यशोचत्तं, न चेद्राधां विभेत्स्यसि । तदैतौ ते शिरो वत्स!,छेत्स्यतो दारुणौ नरौ ॥३२॥ ततोऽमात्यपकर्यैतान्, लब्धलक्षोऽप्रमादवान् । चक्राणामन्तरं ज्ञात्वा, राधां झगिति विद्धवान् ॥ ३३ ॥ ततश्चास्फालितं तूर्यं, साधुकारः कृतो जनैः । राजादिस्तोषितो लोक,ऊढा कन्या च तेन सा ॥३४॥ इति ॥२॥ अत्रैवोपनयमाह—'एत्तो'इत्यादि,यतो दुर्धरं शीलमत एव कारणात् निर्दिष्ट-उक्तः पूर्वाचार्यैः-भद्रबाहुस्वामिप्रभृतिभिः भावसाधुः इति-एष शब्दः हंदीत्युपप्रदर्शने प्रमाणेन-अनुमानलक्षणेन स्थितोऽर्थो-वाच्यो यस्य स तथा, नान्यथा, तच्च-तत्पुनः प्रमाणं-अनुमानाख्यं भावसाधुत्वव्यवस्थापकं इदं वक्ष्यमाणं भवति-स्यात् । इति गाथार्थः ॥३०॥ तदेवाह—'सत्थुत्ते'त्यादि, शास्त्रोक्तगुणो-ग्रन्थोदितधर्मकः साधुर्भवति,न शेषः-शास्त्रोक्तगुणवर्जितो द्रव्यसाधुरित्यर्थः इति-एषा 'णे' इति नः-अस्माकं प्रतिज्ञा-पक्षः, इहेति-न शेष इत्यत्र पक्षे हेतुः-साधकः अगुणत्वात्-तद्गुणरहितत्वात् इति-एषः ज्ञेयः-अवसेयः, दृष्टान्तः पुनः-ज्ञातं तु सुवर्णवत्-काञ्चनमिवेति, व्यतिरेकदृष्टान्तश्चायं, एवं चास्य प्रयोगः-द्रव्यसाधुर्न पारमार्थिकसाधुर्भवति, तद्गुणविकलत्वात्, यत् पारमार्थिकं वस्तु तत् स्वगुणविकलं न भवति, यथा पारमार्थिकसुवर्णं, तद्गुणविकलश्च द्रव्यसाधुः, अतो न पारमार्थिकसाधुरिति, इह च द्रव्यसाधोरसाधुत्वसाधनेन शास्त्रोक्तगुणः साधुरिति सामर्थ्यात् प्रसाधितमिति गाथार्थः ॥३१॥ अथ सुवर्णगुणानाह—'विसे'त्यादि, विषघाति-गरलदोषहननशीलं सुवर्णं

इय मोहविसं घायइ सिवोवएसा रसायणं होति। गुणओ य मंगलट्ठं कुणति विणीओ य जोग्गोत्ति ॥३३॥
मग्गणुसारि पयाहिण गंभीरो गरुयओ तहा होइ। कोहग्गिणा अडज्झो अकुत्थ सइ सीलभावेणं ॥३४॥
एवं दिट्ठंतगुणा सज्झंमिवि एत्थ होंति णायव्वा। ण हि साहम्माभावे पायं जं होइ दिट्ठंतो ॥३५॥

भवति, रसायनमङ्गलार्थविनीतं कर्मधारयपदं, तत्र रसायनं-वयस्तंभनं मंगलार्थ-मङ्गलप्रयोजनं विनीतमिव विनीतं कटककेयूरादिष्वविशेषैः परिणमनात्, तथा प्रदक्षिणावर्त-अग्नितापनेन प्रदक्षिणावृत्ति,तथा गुरुकं-अलघु सारत्वात्, अदाह्याकुत्स्यमिति कर्मधारयपदं, तत्रादाह्यं-अग्नेरदहनीयं सारत्वादेव अकुत्स्यं-अकुत्सनीयं, अकुथितगन्धत्वात्, एवमष्टौ सुवर्णे-हेमनि गुणा-असाधारणधर्माः भवन्ति-स्युः। इति गाथार्थः ॥३२॥ एतत्समानतयाऽथ साधुगुणानाह—'इये'त्यादि, 'मग्गे'त्यादि, इति-एवं सुवर्णवदित्यर्थः मोहविषं-विवेकचैतन्यापहारि घातयति-नाशयति केषांचित् साधुरिति प्रक्रमः,कुत इति?,आह शिवोपदेशात्-मोक्षसाधनप्ररूपणात्, तथा स एव च रसायनमिव रसायनं भवति-जायते, शिवोपदेशादेवाजरामरत्वहेतुत्वात्, तथा गुणतश्च-स्वगुणमाहात्म्येन च मङ्गलार्थं-मङ्गलप्रयोजनं दुरितोपशममित्यर्थः करोति-विधत्ते, विनीतश्च प्रकृत्यैव भवत्यसौ योग्य इति-कृत्वा-॥३३॥ 'मग्गणुसारिपयाहिण'त्ति सूचनात्सूत्रमिति न्यायान्मार्गानुसारित्वं सर्वत्र यत् साधोस्तत् प्रदक्षिणावर्तित्वमुच्यते,गंभीरः-अतुच्छचेताः गुरुककः-गुरुक इत्यर्थः तथेति समुच्चये भवति-स्यात्,तथा क्रोधाग्निना अदाह्यो भवति, अग्निना सुवर्णवत्, तथाऽकुत्स्यः सकृत्-सदा शीलभावेन-शीललक्षणसौगन्ध्यसद्भावेन। इति गाथाद्वयार्थः ॥३४॥ प्रकृतयोजनायाह—'एव'मित्यादि, एवं-अनेनोनोक्तन्यायेन दृष्टान्तगुणाः-सुवर्णलक्षणाधिकृतज्ञातासाधारणधर्मा विषघातित्वादयः साध्येऽपि-पारमार्थिकसाधुलक्षणे,

चउकारणपरिसुद्धं कसच्छेयताव तालणाए य। जं तं विसघातिरसायणादिगुणसंजुयं होइ ॥३६॥
इयरम्मि कसाईया विसिट्ठलेसा तहेगसारत्तं। अवगारिणि अणुकंपा वसणे अइणिच्चलं चित्तं ॥३७॥
तं कसिगगुणोवेयं होइ सुवण्णं ण सेसयं जुत्ती। णवि णाम रूवमेत्तेण एवमगुणो भवति साहू ॥३८॥

आस्तां दृष्टान्ते,अत्र प्रस्तुते भवन्ति-स्युः ज्ञातव्या-ज्ञेयाः,कस्मादेवमिति?,आह-न-नैव हिशब्दो भावनासूचनार्थः साधर्म्याभावे-सादृश्यासद्भावे एकान्तेनैव, प्रायो-बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च वैधर्म्यदृष्टान्तस्यापि संभवदर्शनार्थं, यद्-यस्मात्कारणात् भवति दृष्टान्तः। इति गाथार्थः ॥३५॥ 'चउ'इत्यादि,अथ कीदृशं सुवर्णं यथोदितगुणं भवतीति?,अत्राह—चतुष्कारणपरिशुद्धं-निर्णयहेतुचतुष्कनिर्णीतदोषाभावं यदिति योगः, इह च कषादिपदसापेक्षत्वेऽपि समासो रूढेः, कारणचतुष्टयमेवाह-'कसच्छेयताव'त्ति इह तृतीयाबहुवचनलोपात् कषच्छेदतापैः प्रसिद्धैः ताडनया च-कुट्टनया च यदिति-यदेवंभूतं तत् सुवर्णं विषघातिरसायनादिगुणसंयुतं-विषघाताद्यसाधारणगुणाष्टकोपेतं भवति-स्यात्,न तु कपरीक्षाहीनमिति गाथार्थः ॥३६॥ पारमार्थिकसाधावप्येतत् समीकुर्वन्नाह-'इयरे'त्यादि, इतरस्मिन् साधौ कषादयः-कषच्छेदतापताडनापरिशुद्धयः,तद्भेदात्, क्रमेणैताः यदुत विशिष्टलेश्या-तेजोलेश्यादिका, कषशुद्धिर्निर्मलत्वसाधर्म्यात्, तथेति समुच्चये एक एव शुद्धभावः सदनुष्ठानं वा सारः-प्रधानो यस्य सः एकेन वा सारः-प्रधानो यः स एकसारस्तद्भाव एकरूपत्वं-न कदाचिदपि रूपान्तरमिति च्छेदशुद्धिः, साधर्म्यं प्रतीतमेव, तथाऽपकारिणि-प्रत्यनीकेऽनुकंपा-कृपा, दूरतो द्वेषः, इति तापशुद्धिः, विकाराभावसाधर्म्यात्, तथा व्यसने-रोगाद्यापादितापदि अतिनिश्चलं-अतीव निष्प्रकंपं चित्तं-मनः इति ताडनाशुद्धिः, व्यसनउपगताडनायामधिकृतस्वरूपसाधर्म्यात्। इति गाथार्थः ॥३७॥ 'चतुष्का-

जुत्तीसुवण्णगं पुण सुवण्णवण्णं तु जदिवि कीरेज्जा। ण हु होति तं सुवण्णं सेसेहिँ गुणेहऽसंतेहिं ॥३९॥
जे इह सुत्ते भणिया साहुगुणा तेहिँ होइ सो साहू। वण्णेणं जच्चसुवण्णगव्व संते गुणणिहिम्मि ॥४०॥
जो साहू गुणरहिओ भिक्खं हिंडेति ण होति सो साहू। वण्णेणं जुत्तिसुवण्णगव्वऽसंते गुणणिहिम्मि ॥४१

रणपरिशुद्धं विषघातादिगुणयुतं भवती'त्युक्तं,तच्चैवंविधं किं स्यादिति?,आह-'तं'इत्यादि,तत् सुवर्णं कृत्स्नगुणोपेतं-पूर्वोक्ताशेषगुणान्वितं सत् भवति-स्यात् सुवर्णं-पारमार्थिकं हेम, न शेषकं-न पुनरन्यत् गुणविकलमित्यर्थः,कुत इति?,आह-युक्तिः-युक्तिसुतदितिकृत्वा,अथ दार्ष्टान्तिकयोजनायाह-नापि-नैव नामेति संभावनायां अलङ्कारे वा रूपमात्रेण-साध्वाकारेणैव अथवा नाममात्रेण रूपमात्रेण चेत्यर्थः एवं-युक्तिसुवर्णवत् अगुणः-अभिहितसाधुगुणरहितः भवति-स्यात् साधुः-पारमार्थिकयतिः। इति गाथा ॥३८॥ 'स्वगुणोपेतं सुवर्णं भवती'त्युक्तं, अथ युक्तिसुवर्णस्य का वार्तेति?,आह—'जुत्ती'त्यादि,युक्त्या-द्रव्यसंयोगेन यदसुवसत् सुवर्णाकारं स्यात् तद्युक्तिसुवर्णं तत् पुनः सुवर्णवर्णं-पीतच्छायमेव यद्यपीत्यभ्युपगमे क्रियेत-विधीयेत कथंचित् तथापि हु-नैव भवति-स्यात् तद्युक्तिसुवर्णं सुवर्णं-हेम शेषैः-वर्णव्यतिरिक्तैः गुणैः-विषघातादिभिः असद्भिरिति गाथार्थः ॥३९ प्रकृतं दार्ष्टान्तिकमर्थमधिकृत्याह—'जे'इत्यादि, ये केचन इहाप्तप्रणीते सूत्रे-शास्त्रे शीलाङ्गप्रतिपादके भणिता-उक्ता आसाधुगुणादयः तैर्गुणैर्युक्तो भवति-स्यात् स पारमार्थिकः साधुः-यतिः, किंवदिति?,आह-वर्णेन-च्छायया युक्तं जात्यसुवर्णकवतात्त्विकहेमेव, सति-विद्यमाने गुणनिधौ-विषघातादिगुणराशौ। इति गाथार्थः ॥ ४० ॥ उक्तविपर्ययमाह—'जो'इत्यादि, साधुः-यतिः गुणरहितो-मुनिगुणहीनः सन् भिक्षां-समुदानं हिंडते-गवेषयति न भवति-न स्यात् स साधुः-तात्त्विकयतिः मिः

उद्दिट्ठकडं भुंजति छक्कायपमद्दणो घरं कुणति। पच्चक्खं च जलगते जो पियइ कह णु सो साहू ? ॥४२॥
अन्ने उ कसादीया किल एते एत्थ होंति णायव्वा। एताहिँ परिक्खाहिं साहुपरिक्खेह कायव्वा ॥४३॥
तम्हा जे इह सुत्ते साहुगुणा तेहिँ होइ सो साहू। अच्चंतसुपरिसुद्धेहिँ मोक्खसिद्धित्तिकाऊणं ॥४४॥

हिंडनमात्रादेव, किंवदिति ?, आह–वर्णेन–पीतत्वेन युक्तिसुवर्णकवत् कृत्रिमकनकमिव असति–अविद्यमाने गुणनिधौ–विषघातित्वादिगुणराशौ। इति गाथार्थः ॥४१॥ 'यः साधुर्गुणरहित' इत्युक्तं, अथ तमेव दर्शयन्नाह—'उद्दी'त्यादि, उद्दिश्योद्देशः–साध्वपेक्षं तेन कृतमुद्दिष्टकृतं–आधाकर्मादि तद् भुंक्ते–भक्षयति आकुट्टिकया तथा षट्कायप्रमर्दनः–पृथिव्याद्यारंभकः सन् गृहं–गेहं करोति–विदधाति देवादिव्याजेन तथा प्रत्यक्षं च–साक्षादेवाविध्वस्तानित्यर्थः जलगतान्–तोयाश्रितान् प्राणिनोऽप्कायिकानित्यर्थः यः पुमान् पिबति–उपजीवति आकुट्टिकयैव, कथं ?–न कथंचित्, नु इति वितर्के, स इत्यसौ साधुः–तात्त्विकयतिः ?। इति गाथार्थः ॥४२॥ इहैव मतान्तरमाह—'अन्ने'इत्यादि, अन्ये तु–अपरे पुनराचार्या एवमाहुः कषादयः प्रागुक्ताः किलेत्याप्तप्रवादसूचनार्थः एते–एतद्गाथोक्ता उद्दिष्टकृतभोक्तृत्वादयः अत्र साध्वधिकारे भवन्ति–स्युः ज्ञातव्याः यथाक्रमं, किमुक्तं भवति ?–एताभिरनन्तरोक्तपरीक्षाभिः–साधुपरीक्षणविधिभिः भावसाराभिः साधुपरीक्षा–यतिविवेचनं इह साधुपरीक्षाप्रक्रमे कर्तव्या–कार्या। इति गाथार्थः ॥४३॥ साधनवाक्यं निगमयन्नाह–'तम्हे'त्यादि, यस्मादगुणत्वात्साधुर्न भवति तस्मात्कारणात् ये केचन इहाप्तप्रणीते सूत्रे–आगमे साधुगुणा–यतिगुणाः उक्ता इति गम्यते तैर्गुणैः, न गुणमात्रैः, भवति–स्यात् स पारमार्थिकः साधुः–मोक्षं साधयतीति निरुक्तार्थयुक्तः, नान्यादृश इति, कथमेतदिति ?, आह–अत्यन्तसुपरिशुद्धैः–अतिनिर्मलतरैः गुणैरिति प्रक्रमः मोक्षसिद्धिः–निर्वृत्यवाप्तिर्भ-

अलमेत्थ पसंगेणं सीलंगाइं हवंति एमेव । भावसमणाण सम्मं अखंडचारित्तजुत्ताणं ॥४५॥

इय सीलंगजुया खलु दुक्खंतकरा जिणेहिँ पण्णत्ता । भावपहाणा साहू ण तु अण्णे दव्वलिंगधरा ॥४६॥

संपुण्णावि हि किरिया भावेण विणा ण होति किरियत्ति । णियफलविगलत्तणओ गेवेज्जुववायणाएणं ॥४७॥

वति इतिकृत्वा । गाथार्थः ॥५४॥ अथ प्रकृतयोजनायाह—'अले'त्यादि,अलं–पर्याप्तं अत्र शीलाङ्गव्यतिकरे प्रसंगेन–प्रासंगिकभणनेन प्रमाणोपन्यासादिना शीलाङ्गानि उक्तस्वरूपाणि भवन्ति–स्युः एवमेव–उक्तन्यायेन समग्रतयेत्यर्थः,केषामिति ?,आह–भावश्रमणानां–तात्त्विकयतीनां सम्यक्–यथावत् अखंडचारित्रयुक्तानां–सकलचरणवतामिति गाथार्थः ॥४५॥ अथ शीलाङ्गधारिणस्तदितरे वाऽऽयत्यां यादृशाः स्युस्तदाह—'इये'त्यादि, इति–एवमुक्तनीत्या समग्रत्वेनेत्यर्थः शीलाङ्गयुताः खलु–चरणांशयुक्ता एव साधव इति योगः 'दुःखान्तकारका' दुःखस्य–असुखस्य तद्धेतुभूतस्य भवस्य कर्मणो वा अन्तकरा–विनाशकारिणः जिनैः–आप्तैः प्रज्ञप्ता–उक्ताः भावप्रधानाः–शुभाध्यवसायसाराः साधवो–यतयः, न त्वन्ये–न पुनरपरे द्रव्यलिङ्गधराः–भावशून्यत्वेनाप्रधानसाधुनेपथ्यधारिणः । इति गाथार्थः ॥४६॥ अथ द्रव्यलिङ्गधारिणोऽपि क्रियासामर्थ्याद्दुःखान्तकरा भविष्यन्तीति?,आह–'संपुण्णे'त्यादि, संपूर्णाऽपि च–अखण्डापि च, आस्तामसंपूर्णा, क्रिया–विरतिरूपा भावेन विना–सम्यक्त्वादिप्रशस्ताध्यवसायमन्तरेण न भवति–न स्यात् क्रिया–विरतिः, इतिशब्दः प्रतिज्ञार्थसमाप्तौ, अथ कथं क्रियाऽपि क्रिया न स्यादिति ?, अत आह–निजफलविकलत्वात्–स्वकीयसाध्यरहितत्वात् ,अथ कथं साध्यसाधनयोः संबन्धः सिद्ध इति ?, आह–ग्रैवेयकोपपातज्ञातेन–ग्रैवेयकाभिधानविमानोपपत्त्युदाहरणेन, प्रयोगश्चास्यैवम्–भावशून्या क्रिया न तत्त्वतः क्रिया, स्वफलशून्यत्वात् , या स्वफलशून्या क्रिया सा तत्त्वतः

आणोहेणाणंता मुक्का गेवेज्जगेसु उ सरीरा । ण य तत्थासंपुण्णाएँ साहुकिरियाएँ उववाओ ॥४८॥

ता णंतसोऽवि पत्ता एसा ण उ दंसणंपि सिद्धंति । एवमसग्गहजुत्ता एसा ण बुहाण इट्ठत्ति ॥४९॥

क्रिया न भवति, यथा केषाञ्चित् ग्रैवेयकोपपातिना साधूना क्रिया,स्वफलशून्या च भावशून्या क्रिया,तस्मान्न तत्त्वतः सा क्रिया। इति गाथार्थः ॥४७॥ दृष्टान्तार्थविवरणायाह—'आणो'इत्यादि, आज्ञेति-आगमोऽयं यदुत-ओघेन-सामान्येन भव्याभव्यजीवापेक्षयेत्यर्थः अथवा आज्ञाया-आप्तोपदेशस्यौघः-सामान्यमाज्ञौघः सम्यग्दर्शनविकलमाज्ञामात्रमित्यर्थः तेन सताऽपीति गम्यं अनन्तानि-अनन्तसंख्यानि मुक्तानि-त्यक्तानि-जीवैरतीतकाले ग्रैवेयकेषु तु-ग्रैवेयकाभिधानविमानविशेषेष्वपि, किं पुनरन्यत्र ?, शरीराणि-देहाः, यदाह-"एगमेगस्स णं भंते ! मणूसस्स गेवेज्जगदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अईया ?, गोयमा ! अणंत"त्ति, न च-न पुनः तत्र ग्रैवेयकेषु असंपूर्णया-खंडया साधुक्रियया-संयतानुष्ठानेन उपपातः-उत्पादः । इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ किं चात इति ?,आह-'ते'त्यादि,'ता' इति यस्मादनन्तानि शरीराणि ग्रैवेयकेषु जीवैर्मुक्तानि तस्माद्धेतोः अनन्तशोऽपि-अनन्तवारानपि, आस्तामेकादिवारं,प्राप्ता-लब्धा एषा संपूर्णक्रिया, न तु-न पुनः दर्शनमपि-निर्वाणकारणभूतं सम्यक्त्वमपि,आस्तां निर्वाणं,सत्क्रियाफलभूतं सिद्धं-निष्पन्नं, आज्ञायोगेऽपि यदि पुनः सम्यक्त्वं सिद्धमभविष्यत्तदा नानन्तशः क्रियावाप्तिः न च तथैव ग्रैवेयकोपपत्तिरभविष्यदिति हृदयं, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, एवं-उक्तन्यायादनन्तशो ग्रैवेयकेषु शरीरत्यागादिलक्षणाद्धेतोः असद्ग्रहयुक्ता-अतत्त्वाभिनिवेशान्विता प्रशस्तभावशून्येत्यर्थः-एषा क्रिया न-नैव बुधानां-विदुषां इष्टा-अभिमता, इतिशब्दस्तथैव । इति

इय णियबुद्धीएँ इमं आलोएऊण एत्थ जइयव्वं । अच्चंतभावसारं भवविरहत्थं महाजणेणं ॥ ५० ॥

॥ सीलंगविधी समत्ता ॥ १४ ॥

गाथार्थः ॥४९॥ अथ प्रकरणमुपसंहरन्नाह—'इये'त्यादि, इति—प्रागुक्तन्यायेन निजबुद्ध्या—स्वधिया इदमनन्तरोपन्यस्तं भावशून्यक्रियायास्तत्त्वतोऽक्रियात्वं आलोच्य—विमृश्य अत्र क्रियायां यतितव्यं—यत्नो विधेयः, कथमिति ?, आह—अत्यन्तभावसारं—अतीव शुभाध्यवसायप्रधानं, क्रियाविशेषणमेतत्, भावयुक्तक्रियायां, न क्रियामात्र इत्यर्थः, किमर्थमिति ?, आह—भवविरहार्थं—संसारक्षयाय, अनन्योपायत्वात्तस्य, महाजनेन, विशिष्टलोक एव हि भवविरहार्थी स्यादिति गाथार्थः ॥५०॥

॥ शीलाङ्गविधिप्रकरणविवरणं समाप्तम् ॥ १४ ॥

॥ अथ पञ्चदशपञ्चाशकवृत्तिः ॥ १५ ॥

नमिऊण तिलोगगुरुं वीरं सम्मं समासओ वोच्छं । आलोयणाविहाणं जतीण सुत्ताणुसारेणं ॥१॥

उक्तानि शीलाङ्गानि, अथ तेषामेव कथञ्चिदतिचारसम्भवे तच्छुद्ध्यर्थमालोचना विधेयेति तां विभणिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा—प्रणम्य त्रिलोकगुरुं—लोकत्रयानुशासकं वीरं—वर्धमानजिनं सम्यक्—यथाविधि, एतच्च नमनक्रियाया विशेषणं, समासतः—संक्षेपेण वक्ष्ये—भणिष्यामि आलोचनाविधानं—अतिचारनिवेदनविधिं यतीनां—साधूनां सूत्रानुसारेण—

आलोयणं अकिच्चे अभिविहिणा दंसणंति लिंगेहिं । वइमादिएहिं सम्मं गुरुणो आलोयणा णेया ॥२॥
आसेविते ऽवऽकिच्चेऽणाभोगादीहिँ होति संवेगा । अणुतावो तत्तो खलु एसा सफला मुणेयव्वा ॥३॥
जह संकिलेसओ इह बंधो वोदाणओ तहा विगमो । तं पुण इमीएँ णियमा विहिणा सइ सुप्पउत्ताए ॥४॥

आगमानुरूपेणेति, न च साधुग्रहणाच्छ्रावकाणामालोचना नास्तीति प्रतिपत्तव्यं, तस्याः श्रावकाणामपि संभवात्, तत्संभवश्च प्रथमप्रकरणे दर्शित इति न पुनरुच्यते । इति गाथार्थः ॥१॥ अथालोचनाशब्दार्थमाह—'आलो'इत्यादि, आलोचनं आलोचना ज्ञेयेति योगः, आलोचनमेव किमिति ?, आह-अकृत्ये-अकरणीयविषये स्वगतस्याकृत्यस्येत्यर्थः अभिविधिना-सामस्त्येनेत्याङोऽर्थः दर्शनं-प्रकाशनमिति लोचृधातोः कारितान्तस्यार्थः,इतिशब्दोऽग्रे योक्ष्यते,कथमकृत्यदर्शनमिति ?,आह-लिङ्गैः-परोक्षाकृत्यगमकैर्हेतुभिः रागादिभिः-वचनकायविकारविशेषैः सम्यग्-भावशुद्ध्या,कस्य तद्दर्शनमिति ?,आह-गुरोः-आलोचनाचार्यस्य इति-एषा आलोचना प्रकरणाभिधेया ज्ञातव्या तच्छब्दज्ञानार्थिभिः । इति गाथार्थः ॥२॥ ननु अकृत्ये समासेविते यत् कर्म बद्धं तदनुभवनीयमेवेत्यालोचनायां को गुण इत्याशंक्याह—'आसे'इत्यादि, आसेवितेऽपि-आचरितेऽपि,अनासेविते कर्माभावात् सफलैव आज्ञानुपालनादित्यपिशब्दार्थः,अकृत्ये-साधूनामविधेये,कथमिति ?,आह-अनाभोगादिभिः-अज्ञानप्रभृतिभिः, तद्यथा-"सहसाऽणाभोगेण व भीएण व पेल्लिएण व परेण । वसणेणायंकेण व मूढेण व रागदोसेहिं ॥१॥ "भवति-जायते,कुतः क इति ?,आह-संवेगात् अनुतापः पश्चात्तापः प्राक्कृताकृत्यविषयस्तज्जन्यकर्मक्षपणहेतुभूतः आलोचनायामिति गम्यते,ततः किमिति ?,आह-ततः-अनुतापात् खलुर्वाक्यालङ्कारे एषा आलोचना सफला-सार्थिका 'मुणेयव्व'त्ति ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ अथ कथमनुतापादालोचना

इहरा विवज्जओऽवि हु कुवेज्जकिरियादिणायतो णेओ । अवि होज्ज तत्थ सिद्धी आणाभंगा न उण एत्थ ॥५॥
तित्थगराणं आणा सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा । तस्सऽण्णहा उ करणे मोहादतिसंकिलेसोत्ति ॥६॥

सफला भवतीति ?, अत आह—'जहे'त्यादि, यथा—यद्वत् संक्लेशात्—रागादिलक्षणचित्तमालिन्यात् इहाकृत्यासेवने बन्धः—अशुभकर्मोपादानं जीवस्य भवति व्यवदानं—"दैप् शोधने" इति वचनात् शुद्धिः ततो व्यवदानात्—पश्चात्तापरूपचित्तविशुद्धेः सकाशात् तथा—तद्वत् विगमो—निर्जरणं अकृत्यकरणजन्याशुभकर्मणो भवति, यद्येवं ततः किमिति ?, आह—'तं पुण'त्ति तत्पुनर्व्यवदानं अनया—आलोचनया नियमात्—अवश्यंतया भवति विधिना—विधानेन वक्ष्यमाणेन सकृत्—सदा सुप्रयुक्तया—भावसारं प्रवर्तितया इत्यतः सफलेयमिति गाथार्थः ॥४॥ 'विधिना प्रयुक्ताऽऽलोचना व्यवदानतः सफला सा'दित्युक्तं, अथोक्तस्यैव विपर्ययमाह—'इहरे'त्यादि, इतरथा—अविधिप्रयोगे आलोचनायाः विपर्ययोऽपि—व्यवदानाभावेन आलोचनानिष्फलत्वमपि अनर्थफलत्वं वा स्यात्, न केवलं विधिना सफलत्वं अविधिना विपर्ययोऽपि स्यादित्यपिशब्दार्थः हुर्वाक्यालङ्कारे, कुत एवमिदमिति ?, आह-कुवैद्यक्रियादिज्ञाततो—दुर्भिपक्प्रवर्तितरोगचिकित्साप्रभृत्युदाहरणेन, आदिशब्दादविधिविद्यासाधनादिपरिग्रहः, ज्ञेयो—ज्ञातव्यः, अविध्यालोचनायां विशेषमाह—अपीति संभाव्यत एतत् यदुत भवेत्—जायेत पुण्यानुभावात् तत्र कुवैद्यचिकित्सायां सिद्धिः—प्रयोजननिष्पत्तिरारोग्यमित्यर्थः, न पुनरत्र-न त्वविध्यालोचनायामिष्टसिद्धिः, कुत इति ?, आह—आज्ञाभंगाद्-आप्तोपदेशाननुपालनादिति गाथार्थः ॥५॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'तित्थे'त्यादि, 'वंधो'इत्यादि' तीर्थकराणां—जिनानां आज्ञा—उपदेशः सम्यग्—भावतः विधिना तु—वक्ष्यमाणविधानेनैव भवति—स्यात् कर्तव्या—विधेया, विपर्यये दोषमाह—तस्या जिनाज्ञायाः अन्यथा तु करणे—अविधिविधाने पुनः, कुत इति ?, आह—मोहाद्-

बंधो य संकिलेसा ततो ण सोऽवेति तिव्वतरगाओ । ईसिमलिणं ण वत्थ सुज्झइ नीलीरसादीहिं ॥७॥
एत्थं पुन एस विही अरिहो अरिहंमि दलयति कमेणं । आसेवणादिणा खलु सम्मं दव्वादिसुद्धीए ॥८॥
कालो पुण एतीए पक्खादी वण्णितो जिणिंदेहिं । पायं विसिट्ठगाए पुव्वायरिया तथा चाहू ॥९॥

अज्ञानात्, किमिति ?, आह–अतिसंक्लेशः–आत्यन्तिकं चित्तमालिन्यं भवति इतिशब्दः समाप्ताविति ॥६॥ बन्धश्च–अशुभकर्मबन्धः पुनः संक्लेशाद्रूपाद्भवति, किं चातः ?, ततः संक्लेशात् न स–नैवासौ कर्मबन्धः अपैति–अपगच्छति, किंभूतात्संक्लेशादिति ?, आह–तीव्रतरकात्–अकृत्यासेवाहेतुभूतसंक्लेशापेक्षयाऽतिशयोत्कटात्, अविध्यालोचनाकृताज्ञाभंगजन्यादित्यर्थः, इहार्थे दृष्टान्तमाह–ईषन्मलिनं–मनागमलयुक्तं न–नैव वस्त्रं–वासः शुध्यति–निर्मलीभवति नीलीरसादिभिः–गुलिकाद्रव्यप्रभृतिभिर्बहुतरमालिन्यहेतुभिः, आदिशब्दात्कुसुम्भादिपरिग्रहः, यथा हीषन्मलिनं प्रचुरमालिन्यहेतुना न शुध्यति एवमकृत्यासेनाकृतो बन्धो न गाढतरबन्धहेतुना आज्ञाभंगहेतुभूतसंक्लेशेनापैतीति गाथाद्वयार्थः ॥ ७ ॥ 'विधिप्रयुक्तयाऽऽलोचनया कर्मविगमो भवती' त्युक्तं, अथ तद्विधिमेवाह—'एत्थ'मित्यादि, अत्रालोचनायां, पुनःशब्दस्य चैवं संबन्धः–विधिनाऽऽलोचना देया, अत्र पुनः एषः–अयं वक्ष्यमाणः विधिः–कल्पः, तद्यथा–अर्हः–आलोचनादानानोचितः तथाऽर्हे–आलोचनादानयोग्ये गुरौ विषयभूते 'दलयइ'त्ति ददाति–प्रयच्छति, तथा क्रमेण–आनुपूर्व्येण, किंविधेनेति ?, आह–आसेवनादिना खलु–प्रतिसेवाप्रभृतिनैव, आदिशब्दादालोचनाक्रमग्रहः, तथा सम्यक्–यथावत् आकुट्टिकादिभावप्रकाशनतः तथा द्रव्यादिशुद्धौ–द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धौ सत्यां, प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वित्यर्थः, इति द्वारगाथासमासार्थः ॥८॥ एवं तावद्द्वाराण्युपन्यस्य अपान्तराल एव तद्दानावसरनिरूपणायाह—'कालो'इत्यादि, कालः–

पक्खियचाउम्मासे आलोयण णियमसा उ दायव्वा । गहणं अभिग्गहाण य पुव्वग्गहिए णिवेएउं ॥१०॥
जीयमिणं आणाओ जयमाणस्सवि य दोससब्भावा । पम्हुसणपमायाओ जलकुंभमलादिणाएणं ॥११॥

।वसरः, पुनःशब्दस्त्वेवं योज्यः–आलोचनाया विधिस्तावदयं, कालः पुनः एतस्या–आलोचनायाः पक्षादिः–अर्धमासप्रभृतिः, ।।दिशब्दाच्चतुर्मासादिग्रहः, वर्णित–उक्तः जिनेन्द्रैः–अर्हद्भिः प्रायो–बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं यदैव विशिष्टमपराधमापन्नस्तदैवालोचनां कदाचित् करोति ग्लानत्वोत्थितो दीर्घाध्वगतादिर्वा न पक्षादिकमपेक्षत इत्येतदर्थसूचनार्थं, किं सर्वस्या आलोचनायाः 'क्षादिकाल इति ?, अत्राह–विशिष्टकाया–विशेषवत्याः, सामान्या पुनरावश्यकद्वये प्रतिदिनं विधीयत एवेति, पक्षादिकमालोच।कालं पूज्यवचनेन दर्शयितुमाह–पूर्वाचार्या–भद्रबाहुस्वामिमिश्राः तथा च–तेनैव प्रकारेण पक्षादिप्रतिपादनपरतया आहुः–ब्रुवते । ति गाथार्थः ॥९॥ यदाहुस्ते तदेवाह—'पक्खी'त्यादि, पक्षे–अर्धमासे भवं पाक्षिकं–पर्व पञ्चदशी चतुर्दशी वा चतुर्षु मासेषु वं चातुर्मासं पर्वैव ततो द्वन्द्वैकत्वात्पाक्षिकचातुर्मासे, किमिति ?, आह–आलोचना उक्तार्था ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् 'नियमसा उ'त्ति कारस्य प्राकृतत्वान्नियमेनैव–अवश्यंतयैव, अन्यदा त्वनियमः, दातव्या–देया, तथा ग्रहणं च–उपादानं विधेयं अभिग्रहाणां–।यमानां चः समुच्चयार्थो योजितश्च पूर्वगृहीतान्–प्रागुपाचान् निवेद्य गुरोराख्याय । इति गाथार्थः ॥ १० ॥ किं पुनः पक्षादाव।मतेयमिति ?, आह—'जीये'त्यादि, जीतं–आचरितं पूर्वमुनीनां इदं पक्षादावनतिचारणामप्योघत आलोचनादानं, तथा आज्ञातः–।सोपदेशात् पक्षादावालोचनेति प्रकृतं, तथा यतमानस्यापि च–संयमे घटमानस्यापि च, आस्तामितरस्य, दोषसद्भावाद्–अति।रसंभवात् आलोचनेति प्रकृतं, अथ कथं यतमानस्यातिचार इति ?, आह–'पम्हुसणं'ति विसारणं प्रमादश्च–प्रमत्तता ताभ्यां, अत्रो-

संविग्गो उ अमाई मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी । पण्णवणिज्जो सड्ढो आणाइत्तो दुक्कडतावी ॥१२॥
तव्विहिसमुस्सुगो खलु अभिग्गहासेवणादिलिंगजुतो । आलोयणापयाणे जोग्गो भणितो जिणिंदेहिं ॥१३॥

दाहरणमाह-जलकुंभमलादिज्ञातेन-नीराधारघटमालिन्यहेतुप्रभृत्युदाहरणेन, यथा हि जलकुंभे नित्यं प्रक्षाल्यमानेऽपि मलसंचयो भवतीत्येवं यतमानस्याप्यतिचारभावः, आदिशब्दाद्गृहकचवरादिग्रहः, आह-"जह गेहं पतिदियहंपि सोहियं तहवि पक्खसंधीसु। गोहिज्जइ सविसेसं एवमिहयंपि नायव्वं ॥१॥" इति गाथार्थः ॥११॥ उक्तमानुषङ्गिकं, अथार्हद्वारविवरणायाह—'संवी'त्यादि, 'तव्विही'त्यादि, संविग्नस्तु-संसारभीरुरेव आलोचनाप्रदाने योग्य इति योगः,तस्यैव दुष्करकरणाध्यवसायित्वात् , दुष्करं चालोचनादानं, यदाह—"अवि राया चए रज्जं, न य दुच्चरियं कहे", तथाऽमायी-अशठः, मायी हि न यथावत् दुष्कृतं कथयितुं शक्नोति, तथा मतिमान्-विद्वान्, तदन्यो ह्यालोचनीयादिस्वरूपमेव न जानाति, तथा कल्पस्थितः-स्थविरजातसमाप्तकल्पादिव्यवस्थितः, तदन्यस्य ह्यतीचारविषया जुगुप्सैव न स्यात् , तथाऽनाशंसी-आचार्याद्याराधनाऽऽशंसारहितः सांसारिकफलानपेक्षो वा, आशंसिनो हि न समग्रातिचारालोचना संभवति, आशंसाया एवातिचारत्वात् , तथा प्रज्ञापनीयः-सुखावबोध्यः, तदन्यो हि व्याग्रहादकृत्यविषयान्निवर्तयितुं न शक्यते, तथा श्राद्ध-श्रद्धालुः, स हि गुरूक्तां शुद्धिं श्रद्धत्ते, तथाऽऽज्ञावान्-आप्तोपदेशवर्ती, स हि प्रायोऽकृत्यं न करोत्येव, तथा दुष्कृतेन-अतिचारासेवनेन तप्यते-अनुतापं करोतीत्येवंशीलो दुष्कृततापी, स एव तदालोचयितुं शक्नोतीति ॥१२॥ तथा तद्विधिसमुत्सुकः खलु-आलोचनाकल्पलालस एव,स हि तदविधिं प्रयत्नेन परिहरति, तथाऽभिग्रहासेवनादिभिः-द्रव्यादिनियमविधानविधापनानुमोदनप्रभृतिभिर्लिङ्गैः-आलोचनायोग्यतालक्षणैर्युतो-युक्तो यः सः तथा आलोच-

आयारवमोहारववबहारोवीलए पकुव्वी य। णिज्जव अवायदंसी अपरिस्साची य बोद्धव्वो ॥१४॥

नाप्रदाने प्रतीते योग्यः–अर्हः भणितः–उक्तः जिनेन्द्रैः–तीर्थकरैः। इति गाथाद्वयार्थः ॥१३॥'अर्हे गुरौ ददात्यालोचनामित्युक्तं, अतस्तमेवाह—'आये'त्यादि, 'तहे'त्यादि, आचारवान्–ज्ञानासेवाभ्यां ज्ञानादिपञ्चप्रकाराचारयुक्तः, अयं हि गुणवत्त्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति,तथा 'ओहारव'त्ति अवधारः–आलोचकोक्तापराधानामवधारणा तद्वान् ,स हि सर्वापराधेषु यथावच्छुद्धिदानसमर्थो भवति, तथा 'ववहार'त्ति मतुब्लोपाद्व्यवहारवान्–आगमश्रुताज्ञाधारणाजीतलक्षणपञ्चप्रकारव्यवहारान्यतरयुक्तः, व्यवहारवांश्च यथावच्छुद्धिकरणसमर्थो भवतीति, तथा 'ओवीलए'त्ति लज्जयाऽतिचारान् गोपायन्तमुपदेशविशेषैरपव्रीडयति–विगतलज्जं करोतीत्यपव्रीडकः, अयं ह्यालोचकस्यात्यन्तमुपकारको भवतीति, अवधारादिपदत्रयस्य च कर्मधारयः कार्यः, तथा 'पकुव्वी'त्ति आलोचितातिचाराणां प्रायश्चित्तदानेन शुद्धिं प्रकर्षेण कारयतीत्येवंशील इति,एतदर्थस्य सामयिकस्य कुर्वधातोर्दर्शनात् प्रकुर्वी, आचारवत्त्वादिगुणयुक्तोऽपि कश्चिच्छुद्धिदानं नाभ्युपगच्छतीत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं प्रकुर्वीत्युक्तं चः समुच्चये, तथा 'निज्जव'त्ति प्राकृतत्वान्निर्यापको–यतेः प्रायश्चित्तस्य निर्वाहकः, अयं हि तथा विधत्ते यथा साधुर्महदपि प्रायश्चित्तं वोढुं शक्नोति, अत एवायमिह महोपकारीति, तथाऽपायान्–दुर्भिक्षदुर्बलत्वादिकानैहलौकिकाननर्थान् पश्यति अथवा दुर्लभबोधिकत्वादिकान् पारलौकिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवंशीलोऽपायदर्शी, अयं चात एवालोचकस्योपकारी, तथा न परिश्रवति–आलोचकोक्तमकृत्यमन्यस्मै न निवेदयतीत्येवंशीलोऽपरिश्रावी, तदन्यो ह्यालोचकानां लाघवकारी स्यात् चः समुच्चये, बोद्धव्यो–ज्ञेय इति, आलोचनाचार्य इति योगः ॥१४॥ तथेति समुच्चये परहिते–परोपकारे युक्त–उद्युक्त उद्यत इत्यर्थः, तदन्यो हि परेषामवधीरको भवति, तथा विशे-

तह परहियम्मि जुत्तो विसेसओ सुहुमभावकुसलमती। भावाणुमाणवं तह जोग्गो आलोयणायरिओ ॥१५॥

दुविहेणऽणुलोमेणं आसेवणवियडणाभिहाणेणं। आसेवणाणुलोमं जं जह आसेवियं वियडे ॥१६॥

आलोयणाणुलोमं गुरुगऽवराहे उ पच्छओ वियडे। पणगादिणा कमेणं जह जह पच्छित्तवुड्ढी उ ॥१७॥

एत-आचार्यान्तरापेक्षया विशेषेण सूक्ष्मभावकुशलमतिः-लोकशास्त्रगतास्थूलार्थनिपुणबुद्धिः, अत एव भावानुमानवान्-परचेतसामिङ्गितादिभिर्निश्चायकः, अयं हि परभावानुसारेण शुद्धिदानशक्तो भवति, तथेति समुच्चये योग्य-उचितः आलोचनाचार्यो-विकटनागुरुः, उक्तगुणकलापशून्यो हि न शुद्धिकरणक्षम इति गाथाद्वयार्थः ॥१५॥ 'क्रमेणे'त्युक्तं तत्प्रकाशनायाह— 'दुवी'त्यादि, 'आलो'इत्यादि, द्विविधेन-द्विप्रकारेण आनुलोम्येन-क्रमेण, द्वैविध्यमेवाह-आसेवने यदानुलोम्यं तदासेवनमेव विकटनेन च यत्तद्विकटनमेव अतस्ते एवाभिधाने यस्य तत्तथा तेनासेवनाविकटनाभिधानेन, आलोचनां ददातीति द्वारगाथासम्बन्धि पदं संबन्धनीयं, तत्राद्यं स्वरूपत आह-आसेवनानुलोम्यमुक्तशब्दार्थं तदिति शेषः, यत् किम्?, येन क्रमेणासेवितं यथासेवितं विकटयति-आलोचयत्यालोचनाकारीति ॥१५॥ आलोचनानुलोम्यं पुनः व्यक्तशब्दार्थं तद्यदिति शेषः गुरुकापराधान्-महातिचारान् तुशब्दः पुनरर्थः स च योजित एव 'पच्छउ'त्ति प्राकृतत्वात् पश्चात्-लघ्वपराधानन्तरं विकटयति-आलोचयति, कथमिति?, आह-'पणगाइण'त्ति समयभाषत्वात् पञ्चकादिना-पञ्चकदशकप्रभृतिना क्रमेण-आनुपूर्व्या, किमिति?, आह-यथा यथा-येन येन प्रकारेण प्रायश्चित्तवृद्धिः-विशुद्धिवर्धनं तथा तथा, यद्विकटयतीति प्रकृतं, इह च लघावतिचारे पञ्चकं नाम प्रायश्चित्तं, गुरुके तु दशकं, गुरुतरे तु पञ्चदशकं इत्येवमादीति, तुशब्दः पूरणार्थः, अत्र च गीतार्थ आलोचनानुलोम्येनैवालोचयति, कारणं तु गीतार्थगम्यतरं,

तह आउट्टियदप्पपमायओ कप्पओ व जयणाए। कज्जे वाऽजयणाए जहट्ठियं सव्वमालोए ॥१८॥

दव्वादीसु सुहेसुं देया आलोयणा जतो तेसुं। होति सुहभावबुड्ढी पाएण सुहा उ सुहहेऊ ॥१९॥

दव्वे खीरदुमादी जिणभवणादी य होइ खेत्तम्मि। पुण्णतिहिपभिति काले सुहोवओगादि भावे उ ॥२०॥

इतरस्त्वासेवनानुलोम्येन, आलोचनानुलोम्यानभिज्ञत्वात्तस्य, अत्र च कारणमतिचाराणां मुसरत्वं। इति गाथाद्वयार्थः ॥१७॥ अथ 'सव्व'मिति यदुक्तं तत्राह—'तह'त्यादि, तथेतिशब्दः समुच्चये यथा क्रम आलोचनाक्रमेनमाकुट्ट्यादिकवरनमपीत्येतदर्थः, आकुट्टिका—उपेत्यकरण दर्पो—वल्गनादिः प्रमादो—मद्यादिः स्मृतिभ्रंशादिर्वा एषां द्वन्द्वः अतस्तेभ्यस्तत आकुट्टिकादर्पप्रमादतः, तथा कल्पतो वा—अशिवादिपुष्टालंबनतो वा, कल्पश्च यतनादिविषय इत्यत आह—यतनया—यथाशक्ति संयमरक्षारूपया कार्ये वा—प्रयोजने वा संभ्रमहेतौ प्रदीपनकादौ अयतनया—अनपेक्षितसारेतरविभागतया यदासेवितं तदिति गम्यं यथास्थितं—यथावृत्तं सर्वं—समस्तमकृत्यं आलोचयेद्—गुरुभ्यो निवेदयेत् विशुद्धिकामः। इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ अथ द्रव्यादिशुद्धिमाह—'दव्वे'त्यादि, द्रव्यादिषु—द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु—प्रशस्तेषु देया—दातव्या आलोचना—विकटना, कस्मादेवमिति?, आह—यतो—यस्मात् तेषु शुभद्रव्यादिषु भवति—स्यात् शुभभावशुद्धिः—कुशलाशयसमृद्धिः प्रायेण—बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च कस्यापि न स्यादपीति प्रतिपादनार्थं, किंभूतेति?, आह—सुखा तु—सुखस्वरूपैव, यद्वा सुखहेतुः—भाविसुखकारणं शुभहेतुर्वा, अथवा प्रायेण शुभा एव पदार्थाः शुभहेतवः स्युरितिकृत्वा शुभभावशुद्धिः स्यादिति गाथार्थः॥१९॥ शुभद्रव्यादिव्याख्यानायाह—'दव्वे'इत्यादि,द्रव्ये प्रशस्तेऽधिकृते क्षीरद्रुमादिः—न्यग्रोधादि, आदिशब्दाद्घपरायोकादिपरिग्रहः, आह च—"दव्वे सुवण्णगातिसु खीरदुमातीसु आलोए" तथा जिनभव-

सुहदव्वादिसमुदए पायं जं होइ भावसुद्धित्ति । ता एयम्मि जएज्जा एसा आणा जिणवराणं ॥२१॥

आलोएयव्वा पुण अइयारा सुहुमबायरा सम्मं । णाणायारादिगया पंचविहो सो य विण्णेओ ॥२२॥

नादि च–अर्हद्गृहप्रभृति च भवति–स्यात् शुभक्षेत्रमिति प्रकृतं क्षेत्रे विचारयितव्ये, आह च—"उच्छुवणे सालिवणे चेइहरे चेव होइ खेत्तम्मि । गंभीरसाणुणाए पयाहिणावत्तउदगे य ॥१॥" तथा पूर्णतिथिप्रभृति–पञ्चदशी तिथिः पूर्णेत्युच्यते तदादिकं दिनं शुभमिति प्रकृतं, प्रभृतिशब्दादशुभतिथिवर्जतिथिग्रहः, शुभाश्चेताः—"पडि (अणु) कूलेवि य दिवसे वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च दोण्हंपि पक्खाणं ॥१॥" इति । 'काले'त्ति शुभकाले विचार्ये, तथा शुभोपयोगादिः–प्रशस्ताध्यवसायप्रभृतिः भावः शुभः, आदिशब्दान्निमित्तशास्त्रगतशुभभावपरिग्रहः, भावे तु–भावे पुनरधिकृते । इति गाथार्थः ॥२०॥ अथ द्रव्यादिद्वारं निगमयन्नाह—'सुहे'त्यादि, शुभद्रव्यादिसमुदये–प्रशस्तद्रव्यप्रभृतीनां समवाये सति प्रायो–बाहुल्येन, न तु सर्वस्यापीत्यर्थः, यद्–यस्मात् भवति–स्यात् भावशुद्धिः–मनोविशुद्धता इति–उक्तरूपा शुभहेतुरित्यर्थः तत्–तस्मात् एतस्मिन् शुभद्रव्यादिसमुदये यतेत–यत्नं कुर्यात्,जिनानां चानुमतमिदमिति दर्शयन्नाह–एषा–अनन्तरोक्तशुभद्रव्याद्याश्रयणरूपा आज्ञा–आदेशः जिनवराणां–तीर्थकराणां, अतः शुद्ध्यर्थिना शुभद्रव्यादिसमुदये यतितव्यमिति गाथार्थः ॥२१॥ व्याख्यात 'एत्थं पुणे'त्यादिद्वारगाथोक्त आलोचनाविधिः,अथालोचयितव्यापराधदर्शनार्थमाह—'आलो'इत्यादि,आलोचनाविधिस्तावदयं आलोचयितव्याः पुनः–प्रकाशनीयास्तु अतीचारा–अपराधाः सूक्ष्मबादरा–लघुगुरुकाः, न तु लघव एव बादरा एव वा,सम्यग्–भावशुद्ध्या ज्ञानाचारादिगता–ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारविषयाः, पञ्चविधः–पञ्चप्रकारः स चाचारः पुनः विज्ञेयो–ज्ञातव्य इति गाथार्थः

काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहा अणिण्हवणे। वंजणअत्थतदुभए अट्ठविहो णाणमायारो ॥२३॥
णिस्संकियणिक्कंखियणिव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य। उववूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥२४॥

॥२३॥ ज्ञानाचारभेदानाह—'काले'इत्यादि, काले-कालविषयः प्रथमैकवचनान्तत्वाद्वा काल एव ज्ञानाचारः तदभेदोपचारात्, स च यथाकालं स्वाध्यायाकरणादिः, अकालकरणे हि प्रत्यपायाः स्युः, तथा विनये-विनयविषयः विनय एव वा-ज्ञानस्य ज्ञानिनां ज्ञानसाधनानां च पुस्तकादीनामुपचाररूपः,तथा बहुमानः-प्रीतिः अतः तद्विषयः स एव वा,तथोपधाने-उपधानविषयः यथास्वमध्ययनोद्देशकादिषु तपोविषय इत्यर्थः उपधानमेव वा तथेति समुच्चये तथाऽनिह्नवने-श्रुत(स्य)गुरूणा वाऽनलपनविषयेऽनलपनमेव वा, तथा व्यञ्जनार्थतदुभये इति समाहारद्वन्द्वः, तत्र व्यञ्जने-व्यञ्जनविषयः सूत्राक्षराणामनन्यथाकरणं तथाऽर्थे-अर्थविषयः सूत्राभिधेयस्य अनन्यथाकरणं तथा तदुभये-तदुभयविषयः तयोः सूत्रार्थयोरनन्यथाकरणं, प्रथमैकवचनान्तपक्षस्तु प्राग्वदिति,एवमष्टविधः-अष्टभेदः ज्ञान-श्रुतज्ञानमाश्रित्येति गम्यं आचारो-ज्ञानाराधनपराणां व्यवहारो ज्ञानाचारो वा मकारस्यागमिकत्वात्, एतदाराधनाच्छ्रुतज्ञानमाराधितं भवति, अन्यथा विराधना, ततश्चैहिकादयः प्रत्यपाया भवन्ति.। इति गाथार्थः ॥२३॥.अथ दर्शनाचारभेदानाह—'णिस्स'मित्यादि, शंकितं शंका-सन्देहस्तस्याभावो निःशंकितं दर्शनाचारः इत्येवमन्यत्रापि, तथा कांक्षितं कांक्षा-अन्यान्यदर्शनग्रहस्तदभावो निष्कांक्षितं, तथा विचिकित्सा-फलं प्रति शंका तदभावो निर्विचिकित्सं तत एषां, द्वन्द्वः पुंनिर्देशश्च प्राकृतत्वात्, तथाऽमूढा-कुतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽपि अमोहा सा च सा दृष्टिश्च-दर्शनं अमूढदृष्टिः, अथवा निर्गताः शंकितादिभ्यो ये ते निःशंकितनिष्कांक्षितनिर्विचिकित्सा जीवाः, अमूढा दृष्टिरस्येत्येवममूढदृष्टिश्च जीव एव,एवं चेह वृद्धव्याख्याने धर्म-

पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिँ समितीहिँ तीहिँ गुत्तीहिं। एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥२५॥
बारसविहम्मिवि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे। अगिलाएँ अणाजीवी णायव्वो सो तवायारो॥२६॥

धर्मिणोरभेदोपचाराद्दर्शनाचारभेदा भवन्तीति, तथोपबृंहा-सद्गुणानामुत्कीर्तनं तथा स्थिरीकरणं-धर्मे प्रमाद्यतां तत्रैव स्थापनं एत-योश्च समाहारद्वन्द्वः ततः प्रथमैकवचन, तथा वात्सल्यं-समानधर्मवतां बहुमानकार्यकरणं तथा प्रभावनं-प्रावचनिकत्वादिभिर्जिनप्रवचनप्रकाशनापादनं इहापि द्वन्द्वस्तथैव, इत्येवमष्ट भेदा भवन्ति, दर्शने सति य आचारो व्यवहारः स दर्शनाचारः, एतच्चेह गाथायां प्रक्रमगम्यमिति गाथार्थः ॥२४॥ अथ चारित्राचारभेदानाह-'पणी'त्यादि, प्रणिधानं-मनसः शुभमैकाग्र्यं तद्रूपस्तत्प्र-धानो वा योगो-व्यापारस्तेन युक्तः-अन्वितः अथवा योगो-मनोनिरोधः ततश्च प्रणिधानयोगाभ्यां युक्तो यः स तथा, कस्मिन् विषय इति?,आह-पञ्चसु समितिषु-ईर्यासमित्यादिषु सम्यक्प्रवृत्तिरूपासु तथा तिसृषु गुप्तिषु-मनोवाक्कायानां शुभप्रवृत्त्यशुभनिवृत्तिलक्षणासु अथवा युक्तशब्दानुवर्तनतः पञ्चभिः समितिभिर्युक्त इत्यादि व्याख्येयं यो जीव इति शेषः, एष जीवः किमिति?, आह-चरित्रे सत्याचारो-व्यवहारो यः स चरित्राचारः, आचारतद्वतोरभेदात् , अष्टविधः-अष्टभेदः समितिगुप्तियोगात् भवति-स्यात् ज्ञेयो-ज्ञातव्य इति वृद्धव्याख्या,अन्ये त्वाहुः-प्रणिधानयोगयुक्तः-समित्यादिभिरुपलक्षित एषः-एवंविधश्चरित्राचारः। इति गाथार्थः ॥२५॥ अथ तपआचारदर्शनायाह—'बारे'त्यादि, द्वादशविधेऽपि-द्वादशभेदेऽपि, आस्तां तदेकदेशे, तपसि-तपस्यायां कार्मणलक्षणाभ्यन्तरदेहस्यैव तापनात् प्रायः सम्यग्दृष्टिभिरेव वा तपस्तया प्रतीयमानत्वात् आभ्यन्तरं-प्रायश्चित्तादि षोढा तथा बाह्यदेहस्यापि तापनान्मिथ्यादृष्टिभिरपि वा तपस्तया प्रतीयमानत्वात् बाह्यं-अनशनादि षोढैव,सहाभ्यन्तरेण बाह्यं-साभ्यन्तर-

अणिगूहियबलविरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ य जहत्थामं णायव्वो वीरियायारो ॥२७॥

एयम्मि उ अइयारा अकालपढणाइया णिरवसेसा । अपुणकरणुज्जएणं संवेगाऽऽलोइयव्वत्ति ॥२८॥

अहवा मूलगुणाणं एते एव तह उत्तरगुणाणं । एएसिमह सरूवं पत्तेयं संपवक्खामि ॥२९॥

बाह्यं तत्र कुशलदृष्टे-निपुणोपलब्धे सर्वज्ञप्ररूपित इत्यर्थः अग्लान्या-अखेदेन अनाजीवी-तस्यैव तपसोऽनुपजीवकः सन् यो जीवः वर्तेत इति शेषः ज्ञातव्यो-ज्ञेयः स जीवः तपआचारः-तपसि तपोरूपो वाऽऽचारो-व्यवहारस्तपआचारः,आचारतद्वतोरभेदात् । ति गाथार्थः ॥ २६ ॥ वीर्याचारस्वरूपमाह—'अणी'त्यादि, अनिगूहिते-अगोपिते बलवीर्ये-देहप्राणचित्तोत्साहरूपे येन स था पराक्रमते-धर्मक्रियासु प्रवर्तते यो जीवः यथोक्तं-यथाऽऽगमं आयुक्तः-उपयुक्तः सन् ,अनेन शक्तेरप्रच्छादनमुक्तं,अथ शक्त्य-तिक्रममाह-युंक्ते-प्रयुंक्ते चः समुच्चये यथास्थामं-यथाबलं शक्त्यनतिक्रमेण, आत्मानं धर्मक्रियास्विति गम्यं, ज्ञातव्यो-ज्ञेयः साविति गम्यं वीर्यस्य-सामर्थ्यस्याचारः-आचरणं वीर्याचारः, आचारतद्वतोरभेदात् इति, वृद्धास्त्वाहुः-अनिगूहितबलवीर्यः राक्रमते-चेष्टते यथोक्तज्ञानाद्याचारमाश्रित्य ग्रहणकाले , तत ऊर्ध्वं युंक्ते च-प्रवर्तयति ज्ञानाद्याचारमेव यथास्थाम । इति ाथार्थः ॥ २७ ॥ अथ प्रकृतयोजनायाह—'एयंमी'त्यादि, एतस्मिन्नुक्तरूपे पञ्चप्रकाराचारे तुशब्दः पुनरर्थः अतिचारा-अति-मा: अकालपठनादिकाः-असमयवाचनाप्रभृतयः, आदिशब्दादविनयादिग्रहः, निरवशेषाः-सर्वे सूक्ष्मेतरा इत्यर्थः,किंभूतेनालो-केनेति?, आह-अपुनःकरणोद्यतेन-न पुनरेतान् करिष्यामीतिपरिणामवता संवेगात्-भयात् आलोचयितव्या-गुरोर्निवेदनीयाः, तिः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥२८॥ आलोचनीयातिचारप्रकारान्तरमाह—'अहवे'त्यादि, अथवेति प्रकारान्तरद्योतनार्थः मूल-

पाणातिपातविरमणमादी णिसिभत्तविरइपज्जंता । समणाणं मूलगुणा तिविहं तिविहेण णायव्वा ॥३०॥

पिंडविसुद्धादीया अभिग्गहंता य उत्तरगुणत्ति । एतेसिं अइयारा एगिंदियघट्टणादीया ॥३१॥

पुढयादिघट्टणादी पयलादी तुच्छऽदत्तगहणादी । गुत्तिविराहणकप्पट्ठममत्तदियगहियभुत्तादी ॥३२॥

गुणानां-महाव्रतादीनां एतेऽतिचाराः एवमिति पूर्वोक्तन्यायेन आलोचयितव्याः, तथेति समुच्चयार्थः उत्तरगुणानां-पिंडविशुद्ध्यादीनां एतेषामुभयातिचाराणां अथ-अनन्तरं स्वरूपं-स्वभावं प्रत्येकं-पृथक् पृथक् संप्रवक्ष्यामि भणिष्यामि । इति गाथार्थः ॥२९॥ अथ प्रतिज्ञातमेव मूलगुण दिग्दर्शनाभिधानपूर्वकं गाथापञ्चकेनाह-'पाणे'त्यादि, 'पिंडे'त्यादि, 'पुढवी'त्यादि, 'भोगो'इत्यादि, एते 'इत्थे' त्यादि, प्राणातिपातविरमणादयो-वधविरत्याद्याः निशाभक्तविरतिपर्यन्ता-रात्रिभोजननिवृत्त्यन्ताः श्रमणानां-यतीनां मूलगुणा धर्मलक्षणकल्पवृक्षमूलकल्पा नियमाः त्रिविधं-करणकारणानुमतिरूपं वधादिकं त्रिविधेन-मनोवाक्कायलक्षणकरणेन प्रत्याख्यामीति प्रतिज्ञया ज्ञातव्या तथा इति ॥३०॥ पिंडविशुद्ध्यादय-एषणाद्याः, आदिशब्दात् समित्यादिग्रहः, अभिग्रहान्ता-अभिग्रहावसानाः आह, च-"पिंडस्स जा विसोही समिईओ भावणा तवो दुविहो । पडिमा अभिग्गहावि य उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥१॥" चः समुच्चये उत्तरगुणाः-चारित्रकल्पतरोः शाखादिकल्पाः इतिः समाप्तौ, एतेषां वधविरमणादीनां अतिचारा-अतिक्रमाः एकेन्द्रियघट्टनाद्याः, आदिशब्दात् द्वीन्द्रियादिसंघट्टपरितापनादिरूपप्रथममहाव्रतातिचाराणां शेषमहाव्रताद्यतिचाराणां च परिग्रह इति ॥३१॥ अथ भेदेनाह-पृथिव्यादिघट्टनादयः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाणां संघट्टनपरितापापद्रावणानि प्रथमस्य मूलगुणस्य, तथा प्रचलादयो-निद्राविषयमृषावादरूपा द्वितीयस्य, तत्र प्रचलायमानः साधुः 'प्रचलायसे त्वं ?' इति केनचित् पृष्टः सन् यो

भोगो अणेसणीएऽसमियत्तं भावणाणऽभावणया । जहसत्तिं चाकरणं पडिमाण अभिग्गहाणं च ॥३३॥

ब्रूते 'न प्रचलाये', तस्य मृषावादव्रतातिचारो भवति, आदिशब्दाद्वर्षतीति दृष्टे न वर्षतीत्यादयः सूक्ष्माः, बादरास्त्वेते एवाभिनिवेशादिति २ तथा तुच्छादत्तग्रहणादि-अमारावितीर्णादानप्रभृति, तत्र तुच्छस्य-तृणडगलक्षारमल्लकादेरदत्तस्यादानं सूक्ष्मः, आदिशब्दात् साधर्मिकादिसत्कशिष्यादिसारद्रव्यादत्तग्रहणं बादरः तृतीयस्य ३ तथा गुप्तिविराधनं च कल्पार्थममता च दिवागृहीतभुक्तं चादिर्यस्य स तथा, तत्र गुप्तिविराधना कुड्यादिसंसक्तत्रमत्यादानादीति सूक्ष्मः, आदिशब्दात् संक्लिष्टकर्मादिर्बादरः चतुर्थस्य ४ तथा 'कप्पट्ठममत्त'त्ति कल्पे-वस्त्रादौ तिष्ठतीति कल्पस्थः कल्पेन वाऽर्थो यस्यासौ कल्पार्थः-शिशुः तत्र ममता-ममत्वं शय्यातरादिसंबन्धित्वात् स्वीकरणं कल्पार्थममता, 'कप्पट्ठतमत्त'त्ति पाठान्तरे मशब्दलोपात् कल्पस्थममत्वमिति, आदिशब्दात् काकश्वगवादिभ्यः शय्यातरादेः संरक्षणलक्षणः सूक्ष्मः हिरण्यादीनामतिरिक्तबहुधनवस्त्रादीनां च ग्रहणरूपो बादरः पञ्चमस्य ५ तथा दिवा गृहीतं दिवैव भुक्तमन्नादि, आदिशब्दाद्दिवा गृहीतं रात्रौ भुक्तं रात्रौ गृहीतं दिवा भुक्तं रात्रौ गृहीतं रात्रौ भुक्तं इत्येतत्परिग्रहः, इह चातिचारस्याशनादेश्चाभेदादेवं निर्देश इति षष्ठस्यातिचार इति ६ ॥३२॥ भोगे-भोजनं अनेषणीये-अकल्प्येऽशनादौ विषयभूते इत्येष पिंडविशुद्धिलक्षण उत्तरगुणेऽतिचारः तथाऽसमितत्वं-अप्रयत्न इति शेषसमितिचतुष्टये, भावनानां-महाव्रतरक्षणोपायभूतानां पञ्चविंशतेरनुप्रेक्षाणां वा द्वादशानां, किमिति ?, आह-अभावनता-प्राकृतत्वेन ताप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वादभावना अभावनस्य वा-अविद्यमानभावनस्य भावोऽभावनता-अनासेवनमिति भावनातिचारः, तथा यथाशक्ति च-यथाबलं च अकरणं-असेवा प्रतिमानां भिक्षुप्रतिमानां मासिक्यादीनां अभिग्रहाणां च-द्रव्यादिनियमानां चशब्दाद् विविधतपसश्चेति तपःप्रतिमाभिग्रहाणामतिचार इति

एते इत्थऽइयारा असद्दहणादी य गरुय भावाणं। आभोगाणाभोगादिसेविया तह य ओहेणं ॥३४॥

संवेगपरं चित्तं काऊणं तेहिँ तेहिँ सुत्तेहिँ। सल्लाणुद्धरणविवागदंसगादीहिँ आलोए ॥३५॥

सम्मं दुच्चरितस्सा परसक्खिगमप्पगासणं जं तु। एयमिह भावसल्लं पण्णत्तं वीयरागेहिँ ॥३६॥

॥३३॥ एतेऽनन्तरोक्ताः 'एत्थे'ति एतेषु यथाक्रमं मूलगुणोत्तरगुणेषु अतिचारा-अतिक्रमाः तथाऽश्रद्धानादयश्च-अश्रद्धानविपरीतप्ररूपणादयश्च भावानां-जीवानां-जीवादिपदार्थाना अतिचारा इति प्रकृतं, किंविधा इति?, आह-'गुरुग'त्ति गुरुकाः-पृथ्वीसंघट्टादिभ्यः प्रकाशान्महान्तः, सद्धर्ममहाद्रुममूलकल्पसम्यक्त्वदूषकत्वादेषां, एते च सर्वेऽपि आभोगानाभोगादिसेविता-आभोगानाभोगादिकृताः, तत्राभोगात् अकर्तव्यमिदमिति ज्ञानं अनाभोगस्तु अज्ञानं, आदिशब्दात् सहसाकारभयरागद्वेषादिपरिग्रहः, तथाचेति समुच्चये ओघेन-आभोगादिविशेषाभावेनो (नानु) पयुक्तगमनागमनादिना अथवा ओघेन-लोकप्रवाहेण अथवा तथा चेति-एवंस्थिते ओघेन-सामान्येन सामस्त्येनेतियावत् आलोचयेदिति योगः। इति गाथापञ्चकार्थः॥३४॥ ततः किमिति?, आह-'संवे'इत्यादि, संवेगपरं-भवभयप्रधानं मोक्षं प्रति प्रचलनवद्वा चित्तं-मनः कृत्वा-विधाय, कैरिति?, आह-तैस्तैः प्रवचनप्रसिद्धैः सूत्रैः-(सूत्र) वाक्यविशेषैः, किंविधैः?-शल्यानुद्धरणे-अकृत्यकरणभावशल्याप्रकाशने यो विपाको-दुष्टपरिणामस्तं दर्शयन्ति यानि तानि तथा तदादिभिः-तत्प्रभृतिभिः, आदिशब्दाच्छल्योद्धरणगुणसंदर्शकसूत्रपरिग्रहः, आलोचयेद्-गुरवे निवेदयेत् आलोचकोऽतिचारानिति प्रकृतं, अथवाऽऽलोचयेदिति-आलोचयेद्गुरुः शिष्यं। इति गाथार्थः ॥३५॥ अथ शल्यस्यैव लक्षणमाह—'सम्म'मित्यादि, सम्यग्-भावतः दुश्चरितस्य-दुष्कृतस्य परमाक्षिकं-गीतार्थाध्यक्षं अप्रकाशन-अप्रकटनं यत्तु-यत्पुनः एतद् दुश्चरिताप्रकाशनं इह शल्य-

णवि तं सत्थं व विसं दुप्पउत्तो व कुणति वेतालो । जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमादिओ कुद्धो ॥३७॥
जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धितं उत्तिमट्ठकालम्मि । दुल्लहबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥३८॥
आलोयणं अदाउं सति अण्णम्मिवि तहऽप्पणो दाउं । जेवि हु करेंति सोहिं तेऽवि ससल्ला विणिद्दिट्ठा ॥३९॥

विचारे भावशल्यं-द्रव्यशल्येतरत् प्रज्ञप्त-प्ररूपितं वीतरागैः-जिनैः । इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ 'शल्यानुद्धरणविपाकदर्शकादिभिः सूत्रै'रित्युक्तं, अथ तद्दर्शनाय गाथाद्वयमाह—'णवी'त्यादि, 'ज'मित्यादि, नापि-नैव तमपायं करोतीति योगः शस्त्रं वा-खड्गादि कर्तृभूतं विषं वा-हलाहलं दुष्प्रयुक्तो वा-दुःसाधितो वा करोति-विधत्ते वेतालः-पिशाचः यंत्रं वा-शतघ्न्यादि दुष्प्रयुक्तं-दुर्व्यापारित सर्पो वा-भुजङ्गः प्रमादितः-अवगीतः क्रुद्धः-कुपितः मन्निति, वाशब्दो विकल्पार्थः ॥ ३९ ॥ यमपायं करोति-विधत्ते भावशल्यं-दुश्चरितं अनुद्धृतं-अनाकृष्टं जीवदेहात् उत्तमार्थः-प्रधानप्रयोजनं पंडितमरणं समस्तानुष्ठानशेखरकल्पत्वात्तस्य कालः-अवसर उत्तमार्थकालस्तस्मिन्, शस्त्रादीनि ह्येकभविकमेव मरणं कुर्वन्ति एतच्चानन्तजन्ममरणपरंपरां, अत एवाह-दुर्लभबोधित्वं-असुलभजिनधर्मतां अनन्तसंसारिकत्वं-अनन्तभवभावत्वं चः समुच्चये, सम्यक्त्वचरणभ्रष्टो ह्युत्कर्षेणापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणसंसारभाजनं भवतीति । भावशल्योद्धारगुणसंदर्शकसूत्राणि पुनरेवं-'आलोयणापरिणओ सम्मं काऊण सुविहिओ कालं । उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥ १ ॥" इत्यादीनीति गाथाद्वयार्थः ॥ ३८ ॥ अथानीत्या शुद्धिकरणेऽपि सशल्यतैवेति दर्शयन्नाह—'आलो'इत्यादि, आलोचनां-विकटनां अदत्त्वा-अविधाय ये शुद्धिं कुर्वन्ति सङ्कल्पनया तथा 'सइ अण्णम्मिवि'त्ति अन्यस्मिन्-परस्मिन् गीतार्थे सत्यपि-विद्यमाने अपि तथेति समुच्चये आत्मनः-स्वस्यैव दत्त्वा-विधाय लज्जादेः कार-

किरिगंण्णुणावि सम्मंपि रोहिओ जह वणो ससल्लो उ । होइ अपत्थो एवं अवराहवणोऽवि विण्णेओ ॥४०॥
सल्लुद्धरणनिमित्तं गीयस्सन्नेसणा उ उक्कोसा । जोयणसयाइँ सत्त उ बारस वरिसाइं कायव्वा ॥४१॥

णात्, अनेन च परसद्भावे परस्यैव तां यच्छन् शुध्यतीत्युक्तं भवति, यदाह–"छत्तीसगुणसमन्नागएण तेणवि अवस्स कायव्वा। परसक्खिया विसोही सुठ्ठुवि ववहारकुसलेणं ॥१॥" पराभावे त्वात्मनोऽपि यच्छन् शुध्यति,केवलं सिद्धान् साक्षीकृत्य,यदाह–"सिद्धावसाणा य", तथा गीतार्थप्राप्तौ निवेदयिष्यामीत्यध्यवसायात् स्वयमेव प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य तद्विदधानो गीतार्थः शुद्ध्यतीत्युक्तं भवतीति, अपिशब्दात् ये न कुर्वन्त्येव, तुशब्दोऽलङ्कृतौ कुर्वन्ति शोधिं–विशुद्धिं प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना तेऽपि–तदन्येऽपि सशल्या–भावशल्योपेताः विनिर्दिष्टा–उक्ता जिनैः । इति गाथार्थः ॥३९॥ स्वयं शल्योद्धारे सशल्यतैवेति दृष्टान्तेनाह–'किरिये'त्यादि, क्रियाज्ञेनापि–व्रणचिकित्सावेदिनाऽपि, आस्तां तदन्येन, सम्यगपि–सर्वथापि, आस्तामसम्यक्,रोहितो–रूढतां नीतः यथा–यद्वत् व्रणो–देहक्षतं सशल्यो–दुष्टगर्भोपेतः सन् तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च भवति–जायते अपथ्य एव–अहित एव,परिणतो मरणकारणत्वात् ,एवं–तद्वत् अन्यस्मै अनिवेदितशल्यस्य अपथ्य एव अनन्तमरणादिकारणत्वात्,कोऽसाविति?,आह–अपराधव्रणोऽपि–चरणरूपशरीराश्रय तिचारक्षतमपि, न केवलं देहव्रण एव, विज्ञेयो–ज्ञातव्यः, तत्त्वतस्तस्यानुद्धृतत्वात् , अन्यनिवेदनमेव हि शल्योद्धारः । इति गाथार्थः ॥४०॥ 'गीतार्थस्यालोचना देये'त्युक्तं,अथ दुर्लभत्वे तस्य यद्विधेयं तदाह–'सल्लु' इत्यादि, शल्योद्धरणनिमित्तं–आलोचनार्थं गीतस्य–गीतार्थस्य गुरोरन्वेषणा–अनुगवेषणा पुनः उत्कर्षाद्–उत्कृष्टतः, कियत्क्षेत्रकालविषयेति?,आह–योजनशतानि सप्त तु–सप्तैव यावत् ,तथा द्वादश वर्षाणि–संवत्सरान् यावत् कर्तव्या–विधेयेति, इह च शेषविशे-

मरिउंससल्लमरणं संसाराडविमहाकडिल्लम्मि । सुचिरं भमंति जीवा अणोरपारंमि ओइण्णा ॥४२॥
उद्धरियसव्वसल्ला तित्थगराणाएँ सुत्थिया जीवा । भवसयकयाइँ ग्खविउं पावाइँ गया सिवं थामं ॥४३॥
सल्लुद्धरणं च इमं तिलोगबंधूहिँ दंसियं सम्मं । अवितहमारोग्गफलं धण्णोऽहं जेणिमं णायं ॥४४॥
ता उद्धरेमि सम्मं एयं एयस्स णाणरासिस्स । आवेदिउं असेसं अणिग्गाणो दारुणविवागं ॥ ४५ ॥

पणानुपादानेन यद् गीतार्थग्रहणं कृतं तत् सकलोक्तगुणयुक्ताचार्यलाभे संविग्नगीतार्थमात्रस्याप्यालोचनाचार्यत्वज्ञापनार्थं, यतः श्रूयते-अपवादतो गीतार्थसंविग्नपाक्षिकसिद्धपुत्रप्रवचनदेवतानामलाभे सिद्धानामप्यालोचना देया, सशल्यमरणस्य संसारकारणत्वादिति, आह च-"संविग्गे गीयत्थे असई पासत्थमाइ सारूवी" । इति गाथार्थः ॥४१॥ अथ गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयं तद्गाथाषट्केनाह—'मरिउं' 'उद्ध' 'सल्लु' 'ता' 'इय' 'जहे'त्यादि, मृत्वा-आसेव्य सशल्यमरणं प्रतीतं, ततः किमिति ?,आह-'संसाराडविमहाकडिल्ले' भवारण्यगुरुगहने सुचिरं-अतिदीर्घकालं भ्रमन्ति-पर्यटन्ति जीवा-देहिनः अनर्वाक्पारे-अर्वाग्भागपरभागवर्जिते अवतीर्णा-अवगाढाः, इति संवेगं कृत्वेति योगः ॥४२॥ तथा उद्धृतसर्वशल्याः-कृतालोचनाः तीर्थकराज्ञायां-जिनोपदेशे सुस्थिताः-सुष्ठु व्यवस्थिताः सन्तः जीवा-देहिनः भवशतकृतानि-जन्मशतविहितानि क्षपयित्वा-प्रक्षपय्य शल्योद्धारसामर्थ्यात् पापानि-कर्माणि गताः-प्राप्ताः शिवं-निरुपद्रवं 'थामं'ति स्थानं सिद्धालयमित्यर्थः ॥४३॥ शल्योद्धरणं आलोचना चशब्दः पूर्वगाथाद्वयोक्तार्थापेक्षया समुच्चयार्थः इदं अनन्तरोक्तविधानं त्रिलोकबन्धुभिः-जिनैरित्यर्थः दर्शितं-उक्तं सम्यक्-सोपपत्तिकं अवितथं-अव्यभिचारि आरोग्यफलं-भावारोग्यसाधकं, ततश्च धन्योऽहं-पुण्यवानहं येन मया इद-

इय संवेगं काउं मरुगाहरणादिएहिँ चिंधेहिं । दढमपुणकरणजुत्तो सामायारिं पउंजेज्जा ॥ ४६ ॥

मेतच्छल्योद्धरणं ज्ञातं-अवगतं ॥४४॥ 'ता' इति यस्मादिदं मया ज्ञातं तत्-तस्मात् उद्धारात् अपनयामि सम्यग्-न्यायेन एतद्भा-वशल्यं एतस्य गुरोः ज्ञानराशेः-सद्बोधनिकरस्य आवेद्य-कथयित्वा अशेषं-सकलं अनिदानो-निर्निदानः सन् दारुणविपाकं-रौद्रफलं, शल्यमिति प्रक्रमः ॥४५॥ इति-एवमनन्तरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारं संवेगं-शुभाध्यवसायविशेषं कृत्वा-विधाय, कैरिति ?, आह-मरुका-हरणादिभिः ब्राह्मणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैः चिह्नैः-लिङ्गैः मरणाभ्युपगतेनापि शुद्धिः कार्येत्येवंभूतार्थगमकैः सशल्यतादोषज्ञापकैर्वा, पीठमहापीठादिग्रहः, दृढं-अत्यर्थं अपुनःकरणयुक्तः-पुनरमुमपराधं न करिष्यामीत्यभिप्रायवान् सन् सामाचारीम्-समाचारं वन्दनकदाननिषद्यादानादिकं प्रयुञ्जीत-विदध्यात्, आलोचनाकारीति । मरुकज्ञातं चैतत्-नगरे पाटली-

आसीत्त्रिलोचनः । वेदवेदांगशास्त्रार्थविशारदशिरोमणिः ॥१॥ तस्य पार्श्वे बटुः कोऽपि, समायातः प्रणम्य तम् । उवाच मयका मोहात्, परदाररतिः कृता ॥२॥ तस्य पापस्य मे शुद्धिः, क्रियतां सोऽप्यभाषत । तद्भावस्य परीक्षार्थं, यथा भो विप्रपुत्रक ! ॥३॥ तप्तां लोहमयीं नारीं, फुल्लकिंशुकसन्निभाम् । आलिङ्ग्य यतो नान्यत्, प्रायश्चित्तमिहागसि ॥ ४ ॥ तेनापि पापभीतेन, प्रतिपन्न-

सोऽपि विज्ञाय तद्भावं, शुद्धिमन्यां न्यवेदयत् ॥ ५ ॥ अथवा मरुकोदाहरणमेवम्-बभूव ब्राह्मणः कोऽपि, वेदार्थेषु आगमाहितबोधेन, धर्मायाभूत् स तापसः ॥ १ ॥ ततस्तपस्यतस्तस्य, वसतस्तापसाश्रमे । कन्दमूलाशिनोऽत्यर्थं, नकारिणः ॥२॥ स्नानाद्यर्थं नदीतीरे, प्रयातस्यैकदा किल । पश्यतो मत्स्यबन्धानां, मत्स्यमांसस्य भक्षणम् ॥३॥ तत्र जाता-भिलाषस्य, जेमितस्य प्रयाच्य तत् । तस्यैवाजीर्णदोषेण, समुत्पन्नो महाज्वरः ॥ ४ ॥ तच्चिकित्सार्थमानीतो, वैद्यः सोऽपि च

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुगं भणाति । तं तह आलोइज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥४७॥
आलोयणासुदाणे लिंगमिणं बिंति मुणियसमयत्था । पच्छित्तकरणमुचितं अकरणयं चेव दोसाणं ॥४८॥

पृष्टवान् । किं भोस्त्वं भुक्तवान् ? ब्रूहि, सोऽप्यभाषत लज्जया ॥५॥ कन्दमूलफलाहारास्तापसा यत् प्रभुञ्जते । तद् भुक्तं न पुनस्तेन, कथितं मत्स्यभक्षणम् ॥६॥ वैद्योऽपि तस्य वाक्येन,ज्ञात्वा तं वातिकं ज्वरम् । तथाविधां क्रियां चक्रे, न चाभूज्ज्वरमुक्तता ॥७॥ पुनः पृष्टोऽथ वैद्येन, तदेवाख्यातवानसौ । चक्रे क्रियां स तामेव, विशेषाश्च त्वभूद्गुणः ॥ ८ ॥ अन्यदा वेदनाक्रान्तो, भीतोऽसौ मृत्युरक्षसा । लज्जां विहाय वैद्याय, न्यगादीन् मत्स्यभोजनम् ॥ ९ ॥ ततो वैद्यो न्यगादीत्तं, दुष्ठु दुष्ठु त्वया कृतम् । यदियन्ति दिनानीदं, नाख्यातं रोगकारणम् ॥१०॥ अधुनाऽपि कृतं साधु, साधो ! यत् भाषितं त्वया । निदानं ज्वररोगस्य, करोमीतो रुजः क्षयम् ॥ ११ ॥ तस्योचितां ततो वैद्यः, क्रियां कृत्वा तकं व्यधात् । व्याधिबाधाव्यपेताङ्गं, पुष्टदेहं महौजसम् ॥ १२ ॥ इति ॥ ४६ ॥ ततश्च—'जह'इत्यादि, यथा-यद्वत् बालः-शिशुः जल्पन्-भाषमाणः विवक्षितमिति गम्यते कार्यमकार्यं वा-विधेयमविधेयं वा निर्विशेषं ऋजुकं अवक्रमगोपायन्नित्यर्थः भणति-अभिधत्ते मात्रादिकं प्रति तमित्यालोचनीयापराधं तथा-तद्वद्वालवत् वक्तव्यमवक्तव्यं चाऽऽलोचयेत्-गुरोर्निवेदयेत् मायामदविप्रमुक्तस्तु-शठतागर्वरहित एव, मायामदयुक्तो हि न सम्यगालोचयितुं शक्नोतीत्यतस्तद्रहित इत्युक्तमिति गाथाषट्कार्थः ॥४७॥ सम्यगालोचनादाने किं पुनर्लिङ्गमिति?,आह-'आलो' इत्यादि, आलोचनासुदाने-सम्यगालोचनायां लिङ्गं-चिह्नं इदं वक्ष्यमाणं ब्रुवत-आहुः 'मुणियसमयत्था' ज्ञातसिद्धान्तार्थाः प्रायश्चित्तकरणं-विशुद्धिविशेषासेवनं उचितं-योग्यं गुरूपदेशानुसारि तथाऽकरणकमेन-अविधानकमेन चैवेत्यवधारणे दोषाणां-आलो-

इय भावपहाणाणं आणाए सुट्ठियाण होति इमं । गुणठाणसुद्धिजणगं सेसं तु विवज्जयफलंति ॥४९॥
लद्धूण माणुसत्तं दुलहं चइऊण लोगसण्णाओ । लोगुत्तमसण्णाए अविरहियं होति जतितव्वं ॥५०॥

॥ आलोयणाविधी समत्ता ॥ १८ ॥

चितापराधानामिति गाथार्थः ॥ ४८॥ कथं पुनरालोचनादानं शुद्धिकर भवतीति ?, आह–'इये'त्यादि, इति–एवमुक्तनीत्या भावप्रधानानां–संवेगसाराणां तथाऽऽज्ञायां–आप्तोपदेशे सुस्थितानां–सुष्ठु व्यवस्थितानां भवति–स्यात् इदमालोचनादानं गुणस्थानशुद्धिजनक–प्रमत्तादिगुणविशेषनिर्मलताधायक, शेष तु–उक्तादन्यत् पुनः विपर्ययफलं–गुणस्थानकाशुद्धिजनकं, इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ अथ प्रकरणार्थमुपसंहरन्नुपदेशमाह—'लद्धूणे'त्यादि, लब्ध्वा–अवाप्य मानुषत्वं–नरत्वं, एवं हि जीवो चिन्तितार्थसाधनसमर्थो भवति, किंभूतं तदिति ?, आह–दुर्लभ–असुलभं चुल्लकादिज्ञातैः, त्यक्त्वा–विहाय लोकसंज्ञा–भवाभिनन्दिजनमनोवृत्तीः अकृत्यहेतुभूतपरिणामानित्यर्थः लोकोत्तमसंज्ञाया–मुमुक्षुजनमनोवृत्त्यां, अतिचारविशुद्धित आप्तोपदेशानुसारितायामित्यर्थः, अविरहितं–सततं भवति–स्यात् यतितव्यं–उद्यन्तव्यं अनन्योपायत्वान्निर्वाणकल्याणस्य । इति गाथार्थः ॥ ५० ॥

आलोचनाविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥ १८ ॥

-ः॰ॐ॰ः-

॥ अथ षोडशपञ्चाशकवृत्तिः ॥ १६ ॥

नमिऊण वद्धमाणं पायच्छित्तं समासतो वोच्छं। आलोयणादि दसहा गुरूवएसाणुसारेणं॥१॥
आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव॥२॥

उक्तमालोचनाविधानं, अथोक्तविधिनाऽऽलोचितेऽतिचारे तच्छुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं गुरवो ददतीति तत्प्ररूपणाप्रकरणमारिप्सुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—'नमी'त्यादि, नत्वा-प्रणम्य वर्धमानं-महावीरजिनं प्रायो-बाहुल्येन चित्तं-शुद्धिरस्मादिति प्रायश्चित्तं, चित्तशब्दो हि शुद्धिपर्यायोऽत्र, 'चिति संज्ञानशुद्ध्यो'रिति पाठात् क्तप्रत्ययस्य च भावार्थत्वादिति, प्रायश्चित्तं च भावपूर्वकमेव शुद्धिहेतुर्भवति नान्यथेति प्रायःशब्दोपादानमत्रेति, समासतः-संक्षेपेण, न तु विस्तरेण व्यवहारभाष्यादिष्विव वक्ष्ये-प्रतिपादयिष्ये आलोचनादि-आलोचनाप्रभृति दशधा-दशभिः प्रकारैः गुरूपदेशानुसारेण-गणधरादिवचनानुसारेण। इति गाथार्थः ॥१॥ दशविधत्वमेव-तस्याह—'आलो'इत्यादि, आलोचनं आलोचना-गुरोः स्वचरितप्रकाशना, तथा प्रतीपं क्रमणं-अतिचारान्निवृत्य गुणेष्वेव गमनं मिथ्यादुष्कृतदानमिति तात्पर्यं, तथा मिश्रं-आलोचनामिथ्यादुष्कृतरूपमुभयं, तथा विवेचनं विवेकः-अनेषणीयभक्तादित्यागः, तथेति समुच्चये व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गः-कायोत्सर्गः इत्यर्थः, तथा तापयति-कर्म दहतीति तपो-निर्विकृतिकादि, तथा छेदः-तपसा दुर्दमस्याहोरात्रपञ्चकादिना क्रमेण श्रमणपर्यायच्छेदनं, तथा मूलं-महाव्रतानां मूलत आरोपणं, तथाऽनवस्थाप्यत इत्यनवस्थाप्यस्तन्निषेधादनवस्थाप्यस्तद्भावोऽनवस्थाप्यता-दुष्टतरपरिणामस्याकृततपोविशेषस्य व्रतानामनारोपणं, चः

पावं छिंदति जम्हा पायच्छित्तंति भण्णई तेण। पाएण वावि चित्तं सोहयती तेण पच्छित्तं ॥३॥
भव्वस्साणारुइणो संवेगपरस्स वण्णियं एयं। उवउत्तस्स जहत्थं सेसस्स उ दव्वतो णवरं ॥४॥
सत्थत्थबाहणाओ पायमिणं तेण चेव कीरंतं। एयं च्चिय संजायति वियाणियव्वं बुहजणेणं ॥५॥

समुच्चये तथा पारं–अन्तं प्रायश्चित्तानां तत उत्कृष्टतरप्रायश्चित्ताभावादपराधानां वा अश्नुति–गच्छतीत्येवंशीलं पाराञ्चि तदेव पाराञ्चिकं चैवेतिशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ तयोश्च पाराञ्चिकमेव चेत्येवं प्रयोगः; दशाप्येतानि प्रथमैकवचनान्तानि, निरनुस्वारतैकारान्तत्वादि चैतेषु प्राकृतत्वादिति द्वारगाथासमासार्थः ॥२॥ अथ प्रायश्चित्तनिरुक्ताभिधानायाह—'पाव'मित्यादि, पापं–अशुभं छिनत्ति–कृन्तति यस्माद्धेतोः पापच्छिदिति वक्तव्ये प्राकृतत्वेन पायच्छित्तमिति भण्यते–निगद्यते तेन–तस्माद्धेतोः, प्रायेण–बाहुल्येन वापीति–अथवा चित्तं–मनः शोधयति–निर्मलयति तेन हेतुना प्रायश्चित्तमित्युच्यते। इति गाथार्थः ॥३॥ अथेदं कस्य भावतो भवतीति ?, आह—'भव्वे'त्यादि, भव्यस्य–मुक्तिगमनोचितस्य, तस्याप्याज्ञारुचेः–आगमबहुमानिनः सम्यग्दृष्टेः, न जातिभव्यस्य, तस्यापि संवेगपरस्य–संविग्नस्य चारित्रिण इत्यर्थः वर्णितं–उक्तं आगमे एतत्प्रायश्चित्तं, तस्याप्युपयुक्तस्य–सर्वापराधस्थानेषु दत्तावधानस्य यथार्थं–अन्वर्थयुक्तं शुद्धिकारकमित्यर्थः, उक्तव्यतिरिक्तस्य का वार्तेति ?, आह–शेषस्य तु–उक्तादन्यस्य पुनर्भवति नवरं–केवलं द्रव्यतो–भावशून्यत्वेनाप्रधानतयाऽयथार्थमित्यर्थः। इति गाथार्थः ॥४॥ एतदेव भावयन्नाह—'सत्थे'त्यादि, शास्त्रार्थबाधनाद्–आगमार्थविराधनात् प्राणातिपातादिरूपात् प्रायो–बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च हिंसादावप्यप्रमत्तस्य "उच्चालियंमि पाए" इत्यादिन्यायेन न प्रायश्चित्तमिति ज्ञापनार्थं, इदमिति प्रायश्चित्तं भवतीति गम्यते, इह च प्रायश्चित्तशब्देन तद्विशोध्यमुपचारात्पापं गृह्यते,

दोसस्स जं णिमित्तं होति तयो तस्स सेवणाए उ । ण उ तक्खउत्ति पयडं लोगंमिवि हंदि एवंति ॥६॥

वणवणाहरणेणं जोजितमेतं विदूहिँ समयंमि । भाववणतिगिच्छाए सम्मंति जतो इमं भणितं ॥७॥

ततः किमिति ?,आह तेनैव शास्त्रार्थबाधनेनैव क्रियमाणं-विधीयमानं विशुद्धिरूपं प्रायश्चित्तं एतदेव प्रायश्चित्तमेव पापमेवेत्यर्थः संजायते-संपद्यते शास्त्रनिषिद्धानुष्ठानवत् विज्ञातव्यं-ज्ञेयं बुधजनेन-समयज्ञलोकेन, समयानभिज्ञजनो हि यथाकथञ्चिदपि क्रियमाणं तत् शोधेर मन्यते, शुद्धिदोषादिति, अथवा शास्त्रार्थबाधनात् प्राय इदं द्रव्यप्रायश्चित्तं भवति,प्रायोग्रहणादन्यथाऽपि योग्यतावि-शेषात् स्यादिति, सकृत-तेनैव शास्त्रार्थबाधनेनैव क्रियमाणं प्रायश्चित्तं इदमेव द्रव्यप्रायश्चित्तमेव संजायते, शेषं तथैव इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—'दोसे'त्यादि, दोषस्य-अपराधस्य यद् वस्तु शास्त्रार्थबाधनमिति हृदयं निमित्तं-कारणं भवति-जायते तकः-असौ दोषः तस्य निमित्तस्य शास्त्रार्थबाधनरूपस्य सेवनया तु-आश्रयणेनैव,नान्यथा,न तु-न पुनः तत्क्षयो-दोषक्षयः इति-एतद्वस्तु प्रकटं-प्रसिद्धं रोगाद्युदाहरणैः लोकेऽपि-पृथग्जनेऽपि, आस्तां लोकोत्तरजने हंदीत्युपप्रदर्शने एतद् दोषो-त्पाददोषाक्षयलक्षणद्वयं । इतिशब्दः समाप्तौ, इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ एतच्च प्रायश्चित्तं व्रणचिकित्सातुल्यं पूर्वसूरिभिरभिहितमि-त्येतद्दर्शनाय प्रस्तावयन्नाह—'वणे'त्यादि, द्रव्यव्रणोदाहरणेन-वक्ष्यमाणक्षतज्ञातेन करणेन योजितं-उपनीतं एतत्प्रायश्चित्तं विद्वद्भिः-बुधैः समये-कायोत्सर्गनिर्युक्तिलक्षणे सिद्धान्ते,क्व योजितमिति ?, आह-भावव्रणचिकित्सायां-चरणातिचाररूपक्षतप्र-तिक्रियायां सम्यग्-यथावत् ,इतिशब्दः समाप्तौ,-यतो-यस्मादिदं वक्ष्यमाणं भणितं-उक्तं श्रीभद्रबाहुस्वामिभिः। इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ यदुक्तं तदेव गाथाषट्केनाह—'दुवी'त्यादि 'तणु'इत्यादि, 'लग्गु'इत्यादि, 'मे'त्यादि, 'रोहे'इत्यादि, 'तहे'त्यादि,

दुविहो कायंमि वणो तब्भव आगंतुगो य णायव्वो। आगंतुगस्स कीरति सल्लुद्धरणं ण इयरस्स ॥८॥
तणुओ अतिक्खतुंडो असोणितो केवलं तयालग्गो। उद्धरिउं अवउज्झइ सल्लो ण मलिज्जइ वणो उ ॥९॥
लग्गुद्धियम्मि वीए मलिज्जइ परमदूरगे सल्ले। उद्धरणमलणपूरण दूरयरगए उ तइयंमि ॥१०॥
मा वेअणा उ तो उद्धरित्तु गालिंति सोणिय चउत्थे। रुज्झइ लहुंति चेट्ठा वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥११॥

द्विविधो-द्विप्रकारः काये-देहेव्रणः-क्षतं, द्वैविध्यमेवाह-तस्मिन् काये भवतीति तद्भवो-गण्डादिः आगन्तुकश्च-कंटकादिकृतः ज्ञातव्यो-ज्ञेयः, तत्रागन्तुकस्य-कंटकादिजन्यस्य क्रियते-विधीयते शल्योद्धरणं-कंटकाद्युद्धारः, नेतरस्य-न कायसंभवस्य, आगन्तुकशल्याभावादिति ॥ ८ ॥ द्रव्यव्रणक्रियाविशेषदर्शनायाह—तनुरेव तनुकः-स्वरूपेण कृशः अतीक्ष्णतुंडः-अनत्यन्तभेदकमुखः अत एवाशोणितः-अरुधिरप्राप्तः केवलं-नवरं त्वग्लग्नः-त्वग्मात्रावसक्तः,स एवंभूतः शल्यः किमिति?,आह-उद्धृत्य-आकृष्य देहात् अपोह्यते-बहिः क्षिप्यते शल्यो-देहप्रविष्टः कंटकादिः, शल्यशब्दः पुल्लिंगोऽपि प्राच्यानामस्ति,एवं तावच्छल्यविधिः,व्रणस्य तु को विधिरिति?,आह-व्रणस्तु-व्रणः पुनः न मल्यते-न मृद्यते,शल्याल्पत्वेन तद्व्रणस्याप्यल्पत्वात् शल्योद्धारमात्रमेव तच्चिकित्सेति ॥ ९ ॥ तथा लग्नश्चासावुद्धृतश्च लग्नोद्धृतस्तस्मिन् द्वितीये शल्य इति योगः मल्यते-मृद्यते व्रण इति गम्यते परं-केवलं, न तु कर्णमलपूरणादि विधीयते व्रणस्य, अदूरगे-शरीरानतिभेदके शल्ये-कंटकादौ, तथा उद्धरणमलनपूरणानि-शल्योद्धारव्रणमर्दनकर्णमलपूरणानि प्रथमाबहुवचनलोपोऽत्र दृश्यः क्रियन्त इति गम्यते दूरतरगते तु-द्वितीयशल्यापेक्षया देहे दूरतरावगाढे पुनः तृतीयके शल्य इति ॥ १० ॥ तथा मा वेदना-मा भूत्पीडा शल्यवतः तुशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च तो इति-तस्माद्वेदनानिवार-

रोहेइ वणं छट्ठे हितमितभोजी अभुंजमाणो वा। तत्तियमेत्तं छिज्जति सत्तमए पूइमंसादी ॥१२॥

तहविय अठायमाणे गोणसखइयादि रप्पुए वावि। कीरति तदंगछेदो सअट्ठितो सेसरक्खट्ठा ॥१३॥

मूलुत्तरगुणरूवस्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स। अवराहसल्लपभवो भाववणो होइ णायव्वो ॥१४॥

णार्थित्वलक्षणाद्धेतोः उद्धृत्य-निष्कृष्य शल्यं व्रणात् गालयन्ति-निःसारयन्ति शोणितं-रक्तं कियदपि, अनुस्वारस्य चाश्रवणं छन्दोवशात्, भिषज इति गम्यं, चतुर्थे पुनः शल्ये, तथा रुध्यते-व्रणो न रूढो भवत्वमावित्यर्थः लघु-शीघ्रं शल्योद्धारानन्तरं चेष्टानिरोधे सति इति-कृत्वा चेष्टा-अध्वगमनादिक्रिया वार्यते-निषिध्यते वैद्यैः पञ्चमे शल्ये गाढतरावगाढे व्रणिनो-व्रणवत इति ॥११॥ रोहति-निराश्रवीकरोति व्रणीति व्रणं-क्षतं,क्व तत्?-षष्ठे शल्ये उद्धृते सति, किंविधः सन्निति?,आह-हितमितभोजी-पथ्याल्पाहाराभ्यवहारी अभुञ्जमानो वा-भोजनत्यागी वा चिकित्सानुगुण्येन, तथा यावच्छल्येन दूषितं तावन्मात्रं-तावत्प्रमाणं छिद्यते-अपनीयते सप्तमके शल्ये उद्धृते, किमिति?,आह-पूतिमांसादि-दुष्टपिशितमेदःप्रभृतीति ॥१२॥ तथापि च-एवमपि च विधीयमाने कर्मणि अतिष्ठति-विसर्पति गोनसखादितादौ-सरीसृपभक्षितप्रभृतौ, आदिशब्दाद्रोधेरकखादितादिपरिग्रहः, रप्फुके वापि-वल्मीकरोगे, वापीति समुच्चये, क्रियते-विधीयते तदंगच्छेदो-दूषितावयवकर्तनं सहास्थ्ना वर्तत इति सास्थिकः शेषरक्षार्थं-अदूषितांगत्राणायेति, सप्तम एव शल्ये। इति गाथाषट्कार्थः ॥१३॥ एवं तावद्द्रव्यशल्योद्धारद्वारेण द्रव्यव्रणचिकित्सोक्ता, अथ भावव्रणेऽपि तथैव प्रतिपिपादयिषुर्भावव्रणप्ररूपणायाह-'मूल' इत्यादि, मूलोत्तरगुणा-महाव्रतपिण्डविशुद्ध्यादयस्त एव रूपं-आत्मा यस्य स तथा तस्य तायिनः-संसारसागरात्प्राणिपूगपालकस्य परमचरणपुरुषस्य-प्रधानचरित्रलक्षणनरस्य अपराधशल्यप्रभवः-पृथ्वीसंघ-

एसो एवंरूवो सविगिच्छो एत्थ होइ विण्णेओ। सम्मं भावाणुगतो णिउणाए जोगिबुद्धीए ॥१५॥
भिक्खायरियादि सुज्झति अइयारो कोइ वियडणाए उ। बितिओ उ असमितो मित्ति कीस? सहसा अगुत्तो वा॥१६
सद्दादिएसु रागं दोसं व मणे गओ तइयगम्मि। णाउं अणेसणिज्जं भत्तादि विगिंचण चउत्थे ॥१७॥

द्यतिचाररूपशल्यनिमित्तः भावव्रणो-भावक्षतरूपः भवति-स्यात् ज्ञातव्यो-ज्ञेयः। इति गाथार्थः ॥१४॥ भावव्रणचिकित्साप्रस्तावनायाह—'एसो'इत्यादि, एष भावव्रणः एवंरूप-उक्तस्वभावः सचिकित्सो-वक्ष्यमाणप्रतिक्रियोपेतः अत्र प्रायश्चित्ताधिकारे भवति-स्यात् विज्ञेयो-ज्ञातव्यः सम्यग्-अविपरीततया भावानुगतः-ऐदंपर्यसंगतः निपुणया-सूक्ष्मया योगिबुद्ध्या-समाधिविशेषवन्नरावबोधेन, योगिन एवाध्यात्मिकार्थविवेचनचतुरचेतसो भवन्ति। इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ अथ भावव्रणचिकित्सां गाथात्रयेण दर्शयन्नाह—'भिक्खे'त्यादि 'सद्दे'त्यादि,'उस्से'त्यादि,भिक्षाचर्यादिः-भिक्षाटनप्रभृतिः तत्र गमनागमनयोर्योऽतिचारः स भिक्षाटनादिरेव, आदिशब्दाद्विहारभूमिगमनादिमत्रातिचारपरिग्रहः, शुध्यति-अपैति अतिचारः-अतिक्रमः कोऽपि-कश्चिदत्यन्तमल्पः प्रथमशल्यतुल्यः विकटनया तु-आलोचनयैव प्रथमशल्योद्धरणमात्रकल्पनया, न तत्र मलनादिचिकित्साकल्पं प्रायश्चित्तान्तरमुपयोगीति,तथा द्वितीयस्तु-द्वितीयः पुनरतिचारः समित्यादिभंगरूपः शुध्यतीति प्रकृतं, कथं?-असमितः-समितिषु प्रमत्तः असि-भवाम्यहं, इतिशब्दोऽन्यत्र योक्ष्यते, कस्मात्?-कुतो हेतोः सहसा-प्रयोजनमन्तरेण अगुप्तो वा-गुप्तिप्रमत्तो वा,न किञ्चिदप्यसमितत्वेऽगुप्तत्वे वा पुष्टालंबनमस्ति इत्येवंविधपश्चात्तापरूपविकल्पेन मिथ्यादुष्कृतदानरूपा प्रतिक्रमणचिकित्सेत्यर्थः, इयं च द्वितीयशल्योद्धारे व्रणमलनकल्पा इति ॥१६॥ शब्दादिकेषु-शब्दरूपप्रभृतिषु इष्टानिष्टविषयेषु रागं-अभिष्वङ्गं द्वेषं-अप्रीतिं

'उस्सग्गेण विसुज्झंति अइयारो कोइ कोइ उ तवेणं । तहवि य असुज्झमाणे छेयविसेसा विसोहिंति ॥१८॥

छिज्जति दूसियभावो तहोमरायणियभावकिरियाए । संवेगादिपभावा सुज्झइ णाणा तहाऽऽणाओ ॥१९॥

वा विकल्पार्थः मनसि-चेतसि-मनोमात्रेणेत्यर्थः मतः-प्रतिपन्नः मुनिरिति गम्यते तृतीयके चिकित्साविशेषे व्रणमलनपूरणकल्पे मिथ्यादुष्कृते सति शुध्यतीति प्रकृतं, तदुभयार्हं हि मनोगतरागादिशल्यमिति, तथा आहारा—अशुद्ध—अनेषणीयं—अकल्प्यं भक्तादि—अशनप्रभृति चतुर्थद्रव्यशल्यकल्पं 'विगिंचण'त्ति विवेचनात् तस्यैव पारिष्ठापनाद्विवेकाभिधानभावचिकित्सारूपाच्छोणितनिर्गालनकल्पात् चतुर्थे अतिचारशल्यविशेषे शुध्यतीति प्रकृतमिति ॥ १७ ॥ उत्सर्गेणापि—कायोत्सर्गाभिधानचिकित्साविशेषेणापि चेष्टानिरोधकल्पेन,न केवलं विवेकेन, शुध्यति-अपैति अतिचारः—अतिक्रमः पञ्चमशल्यकल्पः कोऽपि-कश्चिद्-दुःस्वप्नादिः,न तु सर्वोऽपि, तथा कोऽपि तु-कश्चित् पुनरतिचारः पृथिवीसंघट्टनादि षष्ठशल्यकल्पः तपसा—निर्विकृतिकादिना षण्मासान्तेन भावचिकित्साविशेषेण हितमितभोजनाभोजनकल्पेन, तथापि च तेनापि च प्रकारेण तपोरूपेण अशुध्यति अनपगच्छत्यतिचारशल्ये अतिचारशल्यजनिते वा भावव्रणे छेदविशेषाः—श्रामण्यपर्यायच्छेदप्रकाराः पञ्चरात्रिंदिवादयो भावचिकित्साविशेषाः पूतिमांसादिच्छेदकल्पाः विशोधयन्ति अतिचारशल्यमपनयन्ति तज्जन्यभाववणं वा नीरुजयन्ति छेदविशेषात् विशोधयन्त्याचार्याः इति गाथाद्वयार्थः ॥१८॥ कथं पुनश्छेदविशेषेभ्योऽपराधशुद्धिर्भवतीति?, अत आह—'छिज्जे'त्यादि,छिद्यते अपनीयते दूषितभावो-दूषिताध्यवसायः साधोः तथा-तेन प्रकारेण रात्रिंदिवपञ्चकच्छेदादिना अवमो लघुः स चासौ रात्निक- गुणरत्नव्यवहारी तस्य भावोऽवमरात्निकभावो-न्यूनपर्यायता तस्य या क्रिया-करणं सा तथा तयाऽवमरात्निकभावक्रियया-लघुतापादनेनेत्यर्थः.

मूलादिसु पुण अहिगयपुरिसाभावेण नत्थि वणचिन्ता । एतेसिंपि सरूवं वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥२०॥
पाणातिवातपभितिसु संकप्पकएसु चरणविगमम्मि । आउट्ट परिहारा पुणव्वयठवणं तु मूलंति ॥ २१ ॥
माहम्मिगादितेयादितो तहा चरणविगमसंकेसे । णोचियतवेऽकयम्मी ठविज्जति वएसु अणवट्ठो ॥२२॥

ततश्च संवेगादिप्रभावात्–लघुताकरणजन्यसवेगनिर्वेदादिगुणसामर्थ्यात् शुध्यति–शुद्धिमनुभवति अपराधमलविगमेन,कोऽसावि- ति ?,आह–ज्ञाता–बुद्धिमान् अथवा न्यायात्–साधुजनव्यवहारात् तथेति समुच्चये आज्ञात–आप्तोपदेशात् ,इष्टो ह्ययमुपायो भगवद्भि- स्तथाविधापराधशुद्धौ, यदाह–"उक्कोसं तवभूमिं समतीतो सावसेसचरणो य । छेयं पणगाईयं पावइ जा धरइ परियाओ ॥१॥" इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ एवं तावदालोचनादीनि सप्त प्रायश्चित्तानि निरूपितानि, अथ शेषनिरूपणप्रस्तावनार्थमाह—'मूले'त्यादि, मूलादिषु–मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकेषु, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, तद्भावना चैवम्–आलोचनादीनि व्रणोदाहरणेन चिन्तितानि,मूला- दिषु पुनः अधिकृतपुरुषाभावेन–प्रस्तुतचरणरूपनरासद्भावेन हेतुना नास्ति–न विद्यते व्रणचिन्ता–ज्ञातनिरूपणा, मूलादीनि हि चरणाभाव एव भवन्ति, तत्र चातिचारासंभवान्न व्रणचिन्तोपपद्यते, ततो व्रणचिन्ताविरहेण तत्स्वरूपप्रतिपादनाय प्रस्तावयन्नाह- एतेषामपि–मूलादीनामपि आलोचनादीनां तूक्तमेव स्वरूपं–स्वभावं वक्ष्यामि–भणिष्यामि यथानुपूर्वि–आनुपूर्व्यनतिक्रमेण । इति गाथार्थः ॥ २० ॥ तत्र मूलस्वरूपमाह—'पाणे'त्यादि, प्राणातिपातप्रभृतिषु–प्राणिवधमृषावादादिष्वपराधेषु संकल्पकृतेषु–आकु- ट्टिकादिविहितेषु चरणविगमे–चारित्राभावे सति आवृत्तपरिणामे साधौ, कथं ?–परिहाराद्–दोषपरिहारमाश्रित्य पुनर्व्रतस्थापनं– उत्तरकालं महाव्रतन्यासं तुशब्दः पुनरर्थः मूलमिति–मूलाभिधानं प्रायश्चित्तमेतत् । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अनवस्थाप्यमाह—

अण्णोऽण्णमूढदुट्ठातिकरणतो तिव्वसंकिलेसंमि । तवसाऽतियारपारं अंचति दिक्खिज्जइ ततो य ॥२३॥

'साहे'त्यादि, साधर्मिकादयः-साधुप्रभृतयः, आदिशब्दादन्यसाधर्मिकग्रहः, तत्संबन्धिद्रव्यस्योत्कृष्टस्य सचित्तादेर्यत् स्तेयं-चौर्यं तत्तथा तदादिर्यस्य तत्तथा तस्मात्साधर्मिकादिस्तेयादितः,आदिशब्दाद् हस्तताडनादिग्रहः,हस्तताडनं चास्थिमुष्टियष्ट्यादिभिर्म-रणनिरपेक्षतयाऽऽत्मनः परस्य वा स्वपक्षगतस्य परपक्षगतस्य वा घोरपरिणामतः प्रहरणं,आह च-"उक्कोसं बहुसो वा पउट्ठचित्तो य ते-णियं कुणइ। पहरइ जो सपरपक्खे निरवेक्खो घोरपरिणामो ॥१॥" कथं यत्साधर्मिकादिस्तेयादीति ?,आह-तथा तेनागमोक्तप्रकारेण 'उक्कोस'मित्यादिनोक्तरूपेण,किमिति ?,आह-चरणविगमसंक्लेशे-चारित्राभावहेतुदुष्टाध्यवसाये जाते सति न चोचिततपसि-तदवस्था-योग्यागमोक्ततपसि अकृते-अनासेविते स्थाप्यते-आरोप्यते व्रतेषु-महाव्रतेषु यः सोऽयमेवंविधः अनवस्थाप्यः तदभेदोपचारात्प्रा-यश्चित्तमपि तथोच्यते इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अथ सविषयं पाराञ्चिकमाह—'अण्णो'इत्यादि, अन्योऽन्यस्य मूढस्य दुष्टस्य च यदतिकरणं-तथाविधक्रियासु पौनःपुन्यप्रवृत्तिस्तत्तथा ततोऽन्योऽन्यमूढदुष्टातिकरणतः,तत्रान्योऽन्यस्यातिकरणं-परस्परेण पुरुषयोर्वे-दविकारकरणं मूढातिकरणं-पञ्चमनिद्रावशविवर्तनं दुष्टातिकरणं तु द्विविधं-कषायतो विषयतश्च,तत्र स्वपक्षे कषायतो लिंगिघातः, विषयतस्तु लिङ्गिनीप्रतिषेवा, परपक्षे तु कषायतो राजवधः, विषयतस्तु राजदारसेवेति, अथवाऽन्योऽन्यमूढदुष्टादिकरणत इति व्याख्येयं, तत्र चादिशब्दात्तीर्थंकराद्याशातनाकरणपरिग्रहः, तीव्रसंक्लेशे-उत्कृष्टदुष्टपरिणामे सति तपसा-चतुर्थादिना समयोक्तेन कालतः षण्मासादिना द्वादशवर्षान्तेन अतिचारपारं-अपराधान्तं अञ्चति-गच्छति 'ततो य' त्ति ततश्च-अतिचारपारगमनानन्तरं दीक्ष्यते-प्रव्राज्यते,नान्यथेति, य एवंविधः स पाराञ्चिकः, तदभेदात्प्रायश्चित्तमपि पाराञ्चिकमिति गाथार्थः ॥२३॥ इहैव मता-

अण्णेमि पुण तब्भवतदण्णवेक्खाएँ जे अजोगत्ति । चरणस्स ते इमे खलु सलिंगचितिभेदमादीहिं ॥२४॥
आसयविचित्तयाए किलिट्ठयाए तहेव कम्माणं । अत्थस्स संभवातो णेयंपि असंगयं चेव ॥२५॥
आगममाई य जतो ववहारो पंचहा विणिद्दिट्ठो । आगम सुय आणा धारणा य जीए य पंचमए ॥२६॥

न्तरमाह—'अण्णे'इत्यादि,अन्येषा–अपरेषामाचार्याणा मतेन पुनःशब्दो विशेषणार्थः स एव–यत्रापराधः कृतो भवो–जन्म तद्भ-वस्तस्मादपरो भवादन्यः–अपरो यो भवोऽनागतः स तदन्यः तद्भवश्च तदन्यश्च तद्भवतदन्यौ तयोरपेक्षा–आश्रयणं तद्भवतदन्या-पेक्षा तया ये जीवाः अयोग्या इति अनुचिता एव,इतिशब्दस्यावधारणार्थत्वात्,कस्येति ?,आह–चारित्रस्य–चरणस्य ते जीवाः इमे एते पाराञ्चिका उच्यन्त इत्यर्थः खलुर्वाक्यालङ्कारे, कैश्चरणायोग्या इति ?,अत आह–स्वलिङ्गं च–साधुलिङ्गं चितिश्च–चैत्यमर्हत्प्रतिमा तयोर्यो भेदो–विध्वंसः स तथा तदादिभिः–तत्प्रभृतिभिः, आदिशब्दात्प्रवचनोपघातपरिग्रहः, तत्र स्वलिङ्गभेद ऋषिघातेन लिङ्गिनीभोगेन च चितिभेदश्च प्रतिमाविनाशनेन चैत्यद्रव्यविनाशनेन च, भवन्ति चैतत्कारिणो वर्तमानभवे भवान्तरेषु च चरणायोग्याः, हतबोधिलाभत्वात्, आह च–"संजइचउत्थभंगो चेइयदव्वे य पवयणुड्डाहे । रिसिघायणे चउत्थे मूलग्गी बोहि-लाभस्स ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ अथेदमेव समर्थयन्नाह—'आसे'त्यादि, आशयविचित्रतया–परिणामवैचित्र्यात् क्लिष्टतया–दुष्टतया निरुपक्रमतयेत्यर्थः तथैवेति समुच्चये कर्मणां–मोहनीयादीना,किमिति ?,आह–अर्थस्य–तद्भवान्यभवयोश्चरणायो-ग्यतालक्षणस्य संभवाद्–उपपद्यमानत्वात् न–नैव इदमपि–आचार्यान्तरेणोक्तपाराञ्चिकलक्षणमपि,आस्तामस्मदुक्तं,असंगतमेव–अयु क्तमेव चैवशब्द एवकारार्थः । इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ अथ प्रायश्चित्तस्य विचित्रतोपदर्शनेन मतान्तरमेव समर्थयन्नाह—'आग

एयाणुसारतो खलु विचित्तमेयमिह वण्णियं समए । आसेवणादिभेदा तं पुण सुत्ताउ णायव्वं ॥२७॥

एयं च एत्थ तत्तं असुहज्झवसाणओ हवति बंधो । आणाविराहणाणुगमेयंपि य होति दट्ठव्वं ॥ २८ ॥

मे'त्यादि, 'एये'त्यादि, आगमादिश्च–ज्ञानविशेषप्रभृतिः मकारोऽलाक्षणिकः चकारश्च युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थः यतो–यस्माद्धेतोः व्यवहारः–प्रायश्चित्तसमाचारः पञ्चधा–पञ्चभिः प्रकारैः विनिर्दिष्टः–अभिहितो जिनैः, पञ्चधात्वमेवाह–आ–मर्यादाभिविधिभ्यां गम्यन्ते–परिच्छिद्यन्तेऽर्था येनासावागमः–केवलमनःपर्यायावधिचतुर्दशदशनवपूर्वलक्षणः, व्यवहारता चास्य व्यवहारहेतुत्वात्, तथा श्रुतं–श्रुतज्ञानं शेषमङ्गानङ्गभेदं, इह पदद्वयेऽपि प्रथमैकवचनलोपो द्रष्टव्यः, तथा आज्ञा–यद्गीतार्थो देशान्तरस्थगीतार्थस्य तत्समीपगमनाय स्वातिचाराणां गूढभापोक्तानां निवेदनार्थमगीतार्थमाज्ञापयति स च तत्प्रवृत्तिः उत्तरदानार्थमिति, तथा धारणा–बहुशो निवेदितातिचारलब्धशुद्धीनामवधारणं, तथा जीतं–गीतार्थसंविग्नप्रवर्तितशुद्धव्यवहारः चशब्दौ समुच्चयार्थौ पञ्चम एव पञ्चमकः ॥ २६ ॥ तत एतदनुसारतः–पञ्चविधव्यवहारानुसारेण खलुर्वाक्यालङ्कारे विचित्रं–बहुप्रकारमेतत् प्रायश्चित्तं इह–प्रत्यक्ष आर्हत इत्यर्थः वर्णितम्–उक्तं समये–सिद्धान्ते, कथमिति ?, आह–आसेवनादिभेदात्–प्रतिसेवापुरुषप्रभृतिभेदेन, तत्पुनः प्रायश्चित्तविचित्रत्वं सूत्राद्–आगमात् ज्ञातव्यं–विज्ञेयमिति, तत्रागमव्यवहारिणां प्रत्यक्षज्ञानित्वात् समानेऽप्यपराधे भावानुसारेण प्रायश्चित्तदानात् तस्य विचित्रता, श्रुतादिव्यवहारिणां तु श्रुतमात्रादिव्यवहारित्वाद्, एवं प्रतिसेवाया आकुट्टिदर्पप्रमादकल्पभेदेन चतुर्विधत्वात् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन वा, एवं पुरुषस्याचार्योपाध्यायवृषभभिक्षुक्षुल्लकभेदभिन्नत्वात्, एवमेकद्वित्रादिवाराभेदात्, अतः प्रायश्चित्तलक्षणविचित्रत्वादपि मतान्तरं नासंगतमिति गाथाद्वयार्थः ॥२७॥ अथोक्तविधिप्रायश्चित्तस्यैव परमार्थं प्रतिपादयन्नाह—'एय'मित्यादि,

पच्छित्तमेत्त सम्मं विसिट्ठओ चेव णिण्णेओ ॥ २९ ॥
सुहभावा तव्विगमो सोऽवि य आणाणुगो णिओगेण । सो इह होति विसिट्ठोण ओहतो समयणीतीए ॥३०॥
असुहज्झवसाणाओ जो सुहभावो विसेसओ अहिगो । पच्छित्तंति विसुद्धी ततो ण दोसो समयसिद्धो ॥ ३१ ॥
इहरा बंभादीणं आवस्सयकरणतो उ ओहेणं ।

'सुहे'त्यादि, एतच्च-इदं पुनः अत्र प्रायश्चित्तविषये तत्त्वं-परमार्थः यदुताशुभाध्यवसानतः-क्लिष्टपरिणामात् भवति-स्यात् बन्धः-अशुभकर्मबन्धनं, 'एयंपि य'त्ति इदं पुनरशुभाध्यवसानं आज्ञाविराधनां-आप्तोपदेशाननुपालनामनुगच्छति-अनुसरतीत्याज्ञाविराधनानुगं भवति-स्यात् द्रष्टव्यं-ज्ञेयमिति ॥२८॥ शुभभावात्-प्रशस्ताध्यवसायात् तद्विगमः-अशुभकर्मविगमो भवति, 'सोऽवि य'-त्ति स पुनः शुभभावः आज्ञानुगः-आगमानुसारी भवति नियोगेन-नियमेन, अनाज्ञानुगाम्यशुभ एवेति भावः, प्रायश्चित्तं च-विशुद्धिः पुनः एष एव-शुभभाव एव सम्यग्-यथावत्, किं सर्व एव ?, नेत्याह-विशिष्टको-विशेषवान् चैवशब्दौ नियोजितावेव विज्ञेयो-ज्ञेयः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ २९ ॥ विशिष्टः शुभाध्यवसायः प्रायश्चित्तमित्युक्तं, अथ विशिष्टत्वमेव तस्य दर्शयन्नाह—'असु'इत्यादि, अशुभाध्यवसानाद्-अकृत्यासेवननिबन्धनसंक्लेशात्मकाशात् यः शुभभावः-प्रायश्चित्ततया विवक्षितसत्परिणामः विशेषतो-विशेषेण अधिकः-अर्गलतरः स शुभभावः इह प्रायश्चित्तप्रक्रमे भवति-वर्तते विशिष्टः-अतिशयवान्, न-नैव ओघतः-सामान्येन शुभभावमात्रमित्यर्थः समयनीत्या-आगमन्यायेन । इति गाथार्थः ॥ ३० ॥ व्यतिरेके दोषमाह—'इह'इत्यादि, इतरथा-अन्यथा शुभभावमात्रस्यापि प्रायश्चित्तत्वे इत्यर्थः ब्राह्मयादीनां-आदिदेवज्येष्ठपुत्रीप्रभृतीनां,आदिशब्दात्सुन्दर्यादिपरिग्रहः, किमिति ?,आह-आवश्यककरणत एव प्रतीतात् तुशब्द एवकारार्थः ओघेन-सामान्येन विशिष्टतरशुभभावाभावेनेत्यर्थः प्रायश्चित्तं-

ता एयंमि पयत्तो कायव्वो अप्पमत्तयाए उ। सतियलजोगेण तहा संवेगविसेसजोगेण ॥ ३२ ॥

शुद्धधर्मानुष्ठानं कृतमभविष्यत् इतिकृत्वा विशुद्धिः-कर्मविगमोऽभविष्यत् ततो विशुद्धेः सकाशात् नैव दोषो-दूषणं समयसिद्धः-आगमोक्तः स्त्रीत्वलक्षणोऽभविष्यत् इति न शुभभावमात्रं शुद्धिनिमित्तमिति। एवंवादोऽयं श्रूयते ब्राह्मीवृत्तान्तः-क्षेत्रे महाविदेहेऽभून्नगरी पुंडरीकिणी। वैरनामाभिधस्तत्र, चक्रवर्ती किलाभवत् ॥ १॥ वैरसेनाभिधानस्य, जिननाथस्य सोऽन्तिके। चतुर्भिर्भ्रातृभिर्युक्तः, प्रवव्राज विरागतः ॥ २ ॥ प्राप्तपारः श्रुताम्भोधेर्नियुक्तो गच्छपालने। विजहार महीं सार्धं, साधुभिः पञ्चभिः शतैः ॥ ३ ॥ तद्भ्राता बाहुनामा यो,लब्धिमानुद्यमान्वितः। वैयावृत्त्यं चकारासौ, साधूनामशनादिभिः ॥ ४ ॥ सुबाहुनामको यस्तु, स साधूनामखिन्नधीः। स्वाध्यायादिप्रखिन्नानां, सदा विश्रामणां व्यधात् ॥ ५ ॥ अन्यौ पीठमहापीठनामानौ तस्य सोदरौ। स्वाध्यायादिमहारागे,रेमाते रम्यकेऽनिशम् ॥ ६ ॥ कदाचित् सूरिराद्यौ तौ, श्लाघयामास भावतः। अहो धन्याविमौ साधू, साधुनिर्वाहणोद्यतौ ॥ ७ ॥ एवं श्रुत्वेतरावेवं, भावयामासतुर्मुनी। लौकिकव्यवहारस्था, अहो जल्पन्ति सूरयः ॥ ८ ॥ करोति यो हि कार्याणि, स एव श्लाघ्यते जने। सुमहानप्यकुर्वाणस्तृणायापि न मन्यते ॥ ९ ॥ इत्येवंचिन्तया ताभ्यां, स्त्रीकर्म समुपार्जितम्। मृत्वा गता विमाने ते, सर्वार्थसिद्धिनामके ॥ १० ॥ च्युत्वा ततोऽपि संजात, एकः श्रीनाभिनन्दनः। अन्ये तु तनयस्तस्य, तत्रैको भरतोऽभवत् ॥ ११ ॥ अन्ये बाहुबली ब्राह्मी, सुन्दरी चेति जज्ञिरे। सर्वे ते कर्मनिर्मुक्ताः, संप्राप्ता निर्वृतिश्रियम् ॥ १२ ॥ इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ अथोपसंहरन्नाह—'ते'त्यादि, यस्माद्विशिष्ट एव शुभभावः शुद्धिनिमित्तं भवति तस्मादेतस्मिन् विशिष्टशुभभावे प्रयत्नः-समुद्यमः कर्तव्यो-विधेयः अप्रमत्ततया स्मृतिबलयोगेन-स्थूलेतराद्यतिचारस्मरणसामर्थ्य-

एतेण पगारेणं संवेगाइसयजोगतो च्चेव । अहिगयविसिट्ठभावो तहा तहा होति णियमेणं ॥ ३३ ॥
तत्तो तव्विगमो खलु अणुबंधावणयणं व होज्जाहि । जं इय अपुव्वकरणं जायति सेढी य विहियफला ॥ ३४ ॥
एवं निकाइयाणवि कम्माणं भणियमेत्थ खवणंति । तंपिय जुज्जइ एवं तु भावियव्वं अओ एयं ॥ ३५ ॥

युक्ततया तथेति समुच्चये संवेगविशेषयोगेन–भवभयातिशयसंबन्धेन । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अथ कस्माद्विशिष्टशुभभावेऽप्रमत्तत्वादिना यत्नो विधेय इति ?, आह—'एतेण'मित्यादि, एतेन–उक्तेन प्रकारेणाप्रमत्ततास्मृतिबलयोगलक्षणेन संवेगातिशययोगतश्चैव–संवेगप्रकर्षसंबन्धत एव च, इह चैतेन प्रकारेणेत्यनेनैव संवेगयोगस्य ग्रहणे यत्पुनः साक्षात्तद्ग्रहणं तत्तस्य विशिष्टशुभभावजनने मुख्यकारणताप्रतिपादनार्थं, अधिकृतविशिष्टभावो–विशुद्धिहेतुप्रस्तुतप्रकृष्टशुभाध्यवसायः तथा तथा जीववीर्यातिशयेन भवति–स्यात् नियमेन–अवश्यंभावेन । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ ततश्च—'तत्तो'इत्यादि, ततो विशिष्टशुभभावात् तद्विगमः खलु–अशुभाध्यवसायजातकर्मविनाश एव अनुबन्धापनयनं वा–अशुभभावजातकर्मानुबन्धव्यवच्छेदो वा वेति विकल्पार्थः भवेत्–स्यात् सर्वथा तद्विगमाभावे, अथ कथं तद्विगमो भवतीति ?, आह–यद्–यस्माद्धेतोः इति–अमुना प्रकारेण विशिष्टशुभभावलक्षणेन अपूर्वकरणं–अष्टमगुणस्थानकमपूर्वेषामध्यवसायविशेषाणां स्थितिघातादीनामधिकरणभूतं जायते–भवति श्रेणिश्च–उपशमकक्षपकश्रेणिरूपा विहितफला–सिद्धान्तनिरूपितप्रयोजनाऽनुत्तरसौख्यनिर्वाणफला । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ अथ प्रायश्चित्तरूपशुभभावस्य पुनरपि महार्थतां दर्शयन्नाह—'एव'मित्यादि, एवमिति–अनेनैव न्यायेनापूर्वकरणश्रेणिजननरूपेण निकाचितानामपि–उपशमनादिकरणान्तराविषयत्वेन नितरां बद्धानामपि, आस्तामनिकाचितानां, कर्मणां–ज्ञानावरणादीनां भणितं–उक्तं आगमे "तवसा उ निकाइ-

विहियाणुट्ठाणंमी एत्थं आलोयणादि जं भणियं। तं कह पायच्छित्तं दोसाभावेण तस्सत्ति ? ॥३६॥
अह तंपि सदोसं चिय तस्स विहाणं तु कह णु समयम्मि?। न य णो पायच्छित्तं इमंपि तह कित्तणाओ उ ॥
भण्णइ पायच्छित्तं विहिगाणुट्ठाणगोयरं चेयं। तत्थवि य किंतु सुहुमा विराहणा अत्थि तीएँ इमं. ॥३८॥

याणंपि" इति वचनात्, अत्र प्रायश्चित्तरूपशुभभावे क्षपणं-सर्वथा क्षयो भवतीति यत् तदपि च, अनिकाचितक्षपणं तु निर्विचारमित्यपिचशब्दार्थः, युज्यते-संगच्छते, ततश्चैवं तु-एवमेव कर्मविगमकर्मानुबन्धापनयनहेतुत्वेनैव भावयितव्यं-पर्यालोचनीयं अतो निकाचितकर्मक्षपणहेतुत्वात् एतत् शुभभावरूपं प्रायश्चित्तमिति गाथार्थः ॥३५॥ अथाविहितानुष्ठानेषु युक्तं प्रायश्चित्तं, न तु विहितेषु भिक्षाचर्यादिष्विति परमतमादर्शयन्नाह—'विही'त्यादि''अहे'त्यादि, विहितानुष्ठाने आगमोक्तक्रियायां भिक्षाचर्यादिरूपायां अत्र प्रायश्चित्ताधिकारे आलोचनादि-आलोचनाकायोत्सर्गप्रभृति यत् प्रायश्चित्तं भणितं-उक्तं आगमे "भत्ते पाणे सयणासणे य अरहंतसमणसेज्जासु। उच्चारे पासवणे पणवीसं होंति ऊसासा ॥ १ ॥" इति वचनात् तत्कथं प्रायश्चित्तं ?, न कथञ्चिद् घटत इत्यर्थः, दोषाभावेन-निर्दोषत्वेन हेतुना तस्य भिक्षाटनादिविहितानुष्ठानस्य, इतिर्वाक्यसमाप्तौ ॥ ३६ ॥ अथ ब्रूपे-तदपि विहितानुष्ठानमपि, आस्तां तदन्यत्, सदोषमेव-सातिचारमेव, तस्य भिक्षाटनादेः विधानं-उपदेशः कथं-केन प्रकारेण ? नु इति वितर्के समये-सिद्धान्ते, न तद्विधिः प्राप्नोतीत्यर्थः, नन्वालोचनादि प्रायश्चित्तमेव न भवतीत्याशंक्याह—न च नो प्रायश्चित्तं, अपि तु प्रायश्चित्तमेव इदमपि आलोचनाद्यपि, आस्तां तपआदि, कुत इति ?, आह-तथाकीर्तनात्तु-प्रायश्चित्तत्वेन संशब्दनादेव, तथाहि-"आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे" इत्यादि। इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३९ ॥ सूरिराह—'भण्णई'त्यादि, भण्यते-

सव्वावत्थासु जओ पायं बंधो भवत्थजीवाणं । भणितो विचित्तभेदो पुव्वायरिया तहा चाहु ॥३९॥
सत्तविहबंधगा होंति पाणिणो आउवज्जियाणं तु । तह सुहुमसंपराया छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥४०॥
मोहाउयवज्जाणं पगडीणं ते उ बंधगा भणिता । उवसंतखीणमोहा केवलिणो एगविहबंधा ॥४१॥

अभिधीयतेऽत्रोत्तरम्-प्रायश्चित्तं न तु न तथा, प्रायश्चित्तं विहितानुष्ठानगोचरं च-विधेयक्रियाविषयं चशब्दो विशेषणसमुच्चये, तत्र प्रथमविशेषणेन "तं कह पायच्छित्तं" इत्यादिप्रायश्चित्तदूषणं वक्ष्यमाणयुक्तिबलान्निराकृतं द्वितीयेन तु "अह तंपि" इत्यादि विहितानुष्ठानदूषणमिति, एतद्-आलोचनादिप्रायश्चित्तं किंतु-केवलं तत्रापि च विहितानुष्ठानेऽपि च, आस्तामि-तरत्र, सूक्ष्मा-अल्पा विराधना-खण्डना अस्ति-विद्यते अतस्तस्या विराधनायाः शुद्ध्यर्थं इदं-एतदालोचनादीति गाथार्थः ॥३८॥

अथ कथमुपयुक्तस्यापि सूक्ष्मा विराधना स्यादित्याशंक्याह—'सव्वे'त्यादि, सर्वावस्थासु-सरागवीतरागादिसमस्तपर्यायेषु यतो-यस्माद्धेतोः प्रायो बाहुल्येन, अयोग्यवस्थायां बन्धो न स्यादपीति सूचनार्थं प्रायोग्रहणं, बन्धः-कर्मबन्धः भवस्थजीवानां-संसारिजन्तूनां,न तु सिद्धानां,भणितः-उक्तः सिद्धान्ते,किंविध इति ?,आह-विचित्रभेदो-बहुप्रकारः,कुत एतत् सिद्धमिति ?,आह-पूर्वाचार्या-अतीतसूरयः तथा च-कर्मबन्धविचित्रतार्थत्वेन आहुः-ब्रुवते । इति गाथार्थः ॥३९॥ यदाहुस्तदेव दर्शयन् गाथापञ्चक-माह—'सत्त''मोहा''ते''अपमत्त' 'जे'इत्यादि,सप्तविधबन्धकाः-सप्तप्रकारकर्मोपार्जकाः भवन्ति-स्युः प्राणिनो-जीवाः आयु-र्वर्जितानां तु-आयुःकर्मरहितानामेव शेषाणां-ज्ञानावरणादीनां, तद्धि एकत्र भवे सकृदेव बध्यते, तथेति समुच्चये, सूक्ष्मसंपराया-दशमगुणस्थानवर्तिनः षड्विधो बन्धो येषां ते तथा विनिर्दिष्टा-उक्ता आगमे ॥४०॥ कथं षड्विधबन्धा इति ?,आह—मोहायुर्वर्जा-

ते पुण दुसमयठितियस्स बंधगा ण पुण संपरायस्स । सेलेसीपडिवण्णा अबंधगा होंति विण्णेया ॥४२॥
अपमत्तसंजयाणं बंधठिती होति अट्ठ उ मुहुत्ता । उक्कोसेण जहण्णा भिण्णमुहुत्तं तु विण्णेया ॥४३॥
जे उ पमत्ताणाउट्टियाए बंधंति तेसि बंधठिती । संवच्छराणि अट्ठ उ उक्कोसियरा मुहुत्तंतो ॥४४॥

नां-मोहनीयायुष्कवर्जितानां प्रकृतीनां-कर्मभेदानां ते तु-सूक्ष्मसंपरायाः पुनः बन्धका-अर्जकाः भणिता-उक्ताः, तथा उपशान्तः-सर्वथानुदयावस्थः क्षीणश्च-निर्जीर्णो मोहो-मोहनीयं कर्म येषां ते तथा केवलिनश्च-सयोगिकेवलिनः एकविधबन्धा इत्युक्तमिति ॥४१॥ ते पुनरशेषोऽपि द्वौ समयौ बन्धोदयविशिष्टौ स्थितिः-अवस्थानं यस्य तद्द्विसमयस्थितिकं योगप्रत्ययं सातवेदनीयमित्यर्थः तस्य बन्धका-अर्जकाः, न तु-न पुनः संपरायस्य-कषायप्रत्ययस्य, उपशान्तक्षीणकषायत्वात्तेषां, तथा शैलेशी-अयोग्यवस्थासंभवा करणविशेषस्तां प्रतिपन्ना-आश्रिता ये ते तथा ते अबन्धकाः-कर्मबन्धरहिताः भवन्ति-स्युः विज्ञेया-ज्ञातव्या इति ॥४२॥ एवं प्रकृतिबन्धापेक्षया सर्वावस्थासु बन्ध उक्तः, अथ स्थित्यपेक्षया तमाह—अप्रमत्तसंयतानां-सप्तमगुणस्थानकवर्तिनां बन्धतः स्थितिः-बद्धस्य कर्मणोऽवस्थानं भवति-स्यात् अष्ट तु-अष्टावेव मुहूर्तान्-नाडिकाद्वयमानान् उत्कर्षेण-उत्कृष्टतः, जघन्या तु-सर्वाल्पा पुनः भिन्नमुहूर्तं-अन्तर्मुहूर्तं यावत् तुशब्दः पुनरर्थो योजित एव विज्ञेया-अवसेया, कषायाणां स्थितिबन्धहेतूनां विद्यमानत्वादिति ॥४३॥ ये तु-ये पुनः प्रमत्ताः-प्रमत्तसंयताः षष्ठगुणस्थानकवर्तिनः अनाकुट्टिकया-अनुपेत्यकरणेन प्राणातिपातादौ वर्तमानाः बध्नन्ति-आवर्जयन्ति कर्म तेषां बन्धस्थितिः-कर्मबन्धावस्थानं संवत्सरान्-वर्षाणि अष्ट तु-अष्टावेव उत्कर्षा-उत्कृष्टा भवन्ति, इतरा-जघन्या पुनः मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तं यावत् । इति गाथापञ्चकार्थः ॥४४॥ प्रस्तुतयोजनामाह—'ते'त्यादि, यस्मात्सर्वथ-

ता एवं चिय एयं विहियाणुट्ठाणमेत्थ हवइत्ति । कम्माणुबंधछेयणमणहं आलोयणादिजुयं ॥४५॥
विहिताणुट्ठाणत्तं तस्स वि एवंति ता कहं एयं । पच्छित्तं णणु ! भण्णति समयंमि तहा विहाणाओ ॥४६॥
विहियाणुट्ठाणं चिय पायच्छित्तं तदण्णहा ण भवे । समए अभिहाणाओ इट्ठत्थपसाहगं णियमा ॥४७॥

स्यासु कर्मबन्धोऽस्ति,कर्मबन्धानुमेया च विराधना,इष्यते चासौ द्रव्यतो वीतरागस्यापि छद्मस्थस्य, चतुर्णामपि मनोयोगादीनामभिधानात्, तस्मात् 'एवं चिय'त्ति एवमेव विराधनायाः शोधनीयत्वेन एतद्भिक्षाटनादिकं विहितानुष्ठानं-विधेयक्रिया अत्र कर्मापनयनप्रक्रमे भवति-स्यात्, इतिशब्दः समाप्त्यर्थो गाथान्ते योज्यः,किंविधं भवतीति, आह-कर्मानुबन्धच्छेदनं-कर्मसन्तानच्छेदकं अनघं-अदोषं परोक्तदूषणाभावात्, किंभूतं सदिति ?, आह-आलोचनादियुतं-आलोचनाप्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तसमन्वितमिति गाथार्थः ॥४५॥ इहैवार्थे परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—विहितानुष्ठानत्वं-विधेयक्रियात्वं तस्यापि आलोचनादिप्रायश्चित्तस्यापि प्राप्नोति,आस्तां भिक्षाटनादेः, एवं-उक्तन्यायेन विहितानुष्ठानमालोचनादियुतं सत्कर्मानुबन्धच्छेदनं भवतीत्येवंलक्षणेन इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ, यत एवं तत्-तस्मात् कथं ?, न कथञ्चिदित्यर्थः, एतदालोचनादि प्रायश्चित्तमुच्यत इति परः, सूरिराह-नन्विति परमताक्षमायां भण्यते-उच्यत उत्तरमत्र समये-सिद्धान्ते तथा-तेन प्रकारेण प्रायश्चित्तत्वेन विधानाद्-विहितत्वात् । इति गाथार्थः ॥४६॥ अथवा प्रायश्चित्तमपि विहितानुष्ठानमेवेति दर्शयन्नाह—विहितानुष्ठानमेव-विहितक्रियैव प्रायश्चित्तं आलोचनादिकमिति प्रतिज्ञा, समये-सिद्धान्ते अभिधानाद्-उक्तत्वादिति हेतुः, भिक्षाटनादिवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः,विपर्यये बाधकमाह-तत् प्रायश्चित्तं अन्यथा-अविहितानुष्ठाने सति न भवेत्-न जायेत इष्टार्थप्रसाधकं-कर्मविशोधकमित्यर्थः नियमाद्-अवश्यंतयेति, यदिष्टार्थसाधकं न भवति

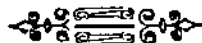
सव्वावि य पव्वज्जा पायच्छित्तं भवंतरकडाणं । पावाणं कम्माण ता एत्थं णत्थि दोसोत्ति ॥ ४८ ॥
चिण्णस्स णवरि लिंगं इमस्स पाएणमकरणया तस्स । दोसस्स तहा अण्णे णियमं परिसुद्धए विंति ॥ ४९ ॥
णिच्छयणएण संजमठाणापातंमि जुज्जति इमंपि । तह चेव पयट्टाणं भवविरहपराण साहूणं ॥ ५० ॥

तद्विहितानुष्ठानमपि न भवति, यथा हिंसादि, इष्टार्थसाधकं च प्रायश्चित्तं, अतो विहितानुष्ठानमिति, अथवा पूर्वोक्तार्थमेव भावयन्नाह–विहितानुष्ठानमेव प्रायश्चित्तं, तत् प्रायश्चित्तमन्यथा–विहितानुष्ठानत्वाभावे न भवेत्, अविहितानुष्ठानत्वादेवेति, नन्वेवं विहितानुष्ठानत्वे प्रायश्चित्तस्य भिक्षाटनादिवच्छोध्यत्वैव स्यात् न शोधकनेत्याशङ्क्याह–समयेऽभिधानात्–शोधकतया प्रायश्चित्तस्यागमेऽभिहितत्वात् इष्टार्थप्रसाधकं–नियमाद्विशोधकमेव तत् । इति गाथार्थः ॥४७॥ अथ प्रायश्चित्तस्य विहितानुष्ठानत्वसमर्थनायैवाह—सर्वापि च–समस्तापि च, न केवलं तदेकदेशः, प्रव्रज्या–महाव्रतप्रतिपत्तिः प्रायश्चित्तं–विशुद्धिहेतुर्भवति, केषामिति ?, आह–भवान्तरकृतानां–जन्मान्तरोपात्तानां पापानां–भवनिबन्धनत्वेन दुष्टानां कर्मणां प्रतीतानां, यत एवं तत्–तस्मात् अत्र प्रायश्चित्तस्य विहितानुष्ठानत्वे नास्ति दोषो–न विद्यते दूषणं, प्रव्रज्यालक्षणप्रायश्चित्तस्य विहितानुष्ठानत्वाभ्युपगमात्, इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥४८॥ किं पुनः सम्यक्चरितस्य लिङ्ग–मिति ?, आह—'चिण्णे'त्यादि, चीर्णस्य–सम्यक्चरितस्य 'नवरि'त्ति केवलं लिङ्गं–चिह्नं अस्य प्रायश्चित्तस्य प्रायेण–बाहुल्येन, प्रायेणेतिकरणात्करणमपि संभाव्यते, अकरणं–अनासेवनं तस्य यमाश्रित्य प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नं दोषस्य–अपराधस्य प्रायश्चित्तार्हस्य तथेति समुच्चये, अन्ये–अपरे सूरयः नियमं–दोषस्याकरणमेवेत्येवंलक्षणं प्रायेणेति प्रागुक्तविशेषणस्यानिष्टेः परिशुद्धके–विशुद्धेऽपगते दोष इति प्रक्रमः ब्रुवते–अभिदधति, अन्ये तु व्याख्यान्ति–नियमं–अक-

॥ पायच्छित्तविधा सम्मत्ता ॥ १६ ॥

रणनियममासंसारं तद्दोपासेवनात् परिशुद्धये–दोषविशुद्धये। इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ अथेदमपि मतान्तरं संगतमेवेति दर्शयन्नाह—'णिच्छे'त्यादि, निश्चयनयेन–तत्त्वनयमतेन परिणामत इत्यर्थः संयमस्थानापाते–चरणशुद्धिविशेषाप्रतिपाते सति युज्यते–संगच्छते इदमपि–आचार्यान्तरमतमपि,आस्तामसन्मतं,केषामिति ?,आह–तथैव–संयमाप्रतिपातेनैव प्रवृत्ताना–व्यापृताना भवविरहपराणा–संसारच्छेदनप्रधानाना साधूनां–संयतानामिति गाथार्थः ॥ ५० ॥

॥ प्रायश्चित्तविधिप्रकरणं वृत्तितः समाप्तमिति ॥ १६ ॥



॥ अथ सप्तदशपञ्चाशकवृत्तिः ॥ १७ ॥

णमिऊण महावीरं ठियादिकप्पं समासओ वोच्छं । पुरिमेयरमज्झिमजिणविभागतो वयणनीतीए ॥ १ ॥

अनन्तर प्रायश्चित्तमुक्तं, तच्च स्थितादिकल्पयुताः साधवो ददति वहन्ति चेति स्थितादिकल्पस्वरूप विभणिपुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—'णमी'त्यादि, नत्वा–अभिवन्द्य महावीर–वर्धमानजिनं स्थितादिकल्पं–अवस्थितानवस्थितसमाचार समासतः–सङ्क्षेपेण वक्ष्ये–अभिधास्ये 'पुरिम'त्ति पूर्वः–प्रथमः इतरः–अन्तिमः मध्यमाः–शेषा द्वाविंशतिः ते च ते जिनाश्च तेषां विभागः–स्थिता-

दसट्ठोहओ उ कप्पो एस उ   रायण ठियकप्पो । सययासेवणभावा ठियकप्पो णिच्चमज्जाया ॥ २ ॥
ततिओसहकप्पोऽयं जम्हा एगंततो उ अविरुद्धो । सययपि कज्जमाणो आणाओ चेव एतेसिं ॥ ३ ॥
वाहिमवणेइ भावे कुणइ अभावे तयं तु पढमंति । बितियमवणेति न कुणति तइयं तु रसायणं होति ॥४॥

द्विविभजनं स तथा ततः पूर्वेतरमध्यमजिनविभागतः, इह च मध्यमग्रहणस्योपलक्षणत्वाद्विदेहजिनग्रहो दृश्यः, यतो वक्ष्यति- "एव खु विदेहजिणकप्पी" वचननीत्या-कल्पादिसूत्रन्यायेन, इति गाथार्थः ॥१॥ तत्र स्थितकल्पप्रतिपादनायाह—'दसे'-त्यादि, दशधा-दशभिः प्रकारैः ओघतः-सामान्येन स चाचेलक्यादिर्वक्ष्यमाणः तुशब्दः पुनरर्थः भिन्नक्रमश्च कल्पो-व्यवस्था, एष तु-एष पुनः सामान्यकल्पः पूर्वेतराणां आदिमान्तिमजिनसाधूनां स्थितकल्पः-अवस्थितकल्प उच्यते, कुतः ?-सततासेवनाभावाद्-निरन्तराचरणसद्भावादिति, तच्चत एव निरूप्यार्थेनमेव पर्यायत आह स्थितकल्पो-नित्यमर्यादा । इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अथ किमयं नित्यमासेव्यत इति?, आह—'तती'त्यादि, तृतीयौषधकल्पो-वक्ष्यमाणौषधतुल्यः अयमेव स्थितकल्पः यस्माद् यतो हेतोः एकान्ततस्तु-सर्वथैव अविरुद्धो-युक्तः शुभरूपत्वात् सततमपि-सदापि, आस्तां कदाचित् , क्रियमाणो-विधीयमानः, अथ मन्यमानामपि तथा भविष्यतीति ?, आह-आज्ञात एव-आगमादेव एतेषां-पूर्वेतरजिनसाधूनां, आज्ञाबीजं च ऋजुजडत्वादिकं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥३॥ तृतीयौषधप्रतिपादनायाह—'वाही'त्यादि, किल कस्यचिन्नरपतेः पुत्रोऽत्यन्तवल्लभो बभूव, स च तस्य सततारोग्यसंपादनायायुर्वेदविशारदविविधवैद्यानाहूयोवाच-'भो भिषग्वराः ! मम तनयस्य यथा रुजो न भवन्ति तथा यतध्वं', एते च तद्वचस्तथैव प्रतिपन्नवन्तः ततश्च ते यथोपदेशमौषधानि संस्कृत्य राजानमुपतस्थुः, राजा च तान् प्रत्येकमौषधगुणान् पप्रच्छ,

एवं एसो कप्पो दोसाभावेऽवि कज्जमाणो उ। सुंदरभावाओ खलु चरित्तरसायणं णेओ ॥ ५ ॥
आचेलक्कु१ देसिय२ सिज्जायर३ रायपिंड४ किइकम्मे५। वय६ जेट्ठ७ पडिक्कमणे८ मासं९ पज्जोसवण१० कप्पो ॥

तेऽपि तान् क्रमेणाचख्युः, तत्र च व्याधिं–रुजं अपनयति–अपहरति प्रयुज्यमानं भावे–सद्भावे व्याधेरिति गम्यते, तथा करोति–विधत्ते अभावे– पुनर्व्याधेरसद्भावे तकं–व्याधिं तुः पुनरर्थो योजित एव प्रथमं–आद्यमिदमौषधं इतिशब्दः समाप्तौ, तथा द्वितीयमौषधं अपनयति–हरति व्याधिं सन्तं असन्तं तु न करोति–न विधत्ते,तथा तृतीयं तु–तृतीयं पुनरौषधं सन्तं हत्वाऽसन्तं चाकृत्वा रसायनं भवति–वयःस्तंभादिगुणकरं स्यात्। इति गाथार्थः ॥४॥ एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकाभिधानायाह—'एव'मित्यादि, एवमिति तृतीयौषधवत् एषः–अनन्तरोक्तः कल्पः–स्थितकल्पः दोषाभावे–अपराधासत्त्वेऽपि,आस्तां दोषसद्भावे,क्रियमाणो–विधीयमानः सन् तुः पुरणे सुन्दरभावात् खलु–शोभनत्वादेव चारित्रस्य–चरणशरीरस्य रसायनमिव–पुष्टिकरणाच्चारित्ररसायनं ज्ञेयः–अवसेयः इति गाथार्थः ॥५॥ दशधौघतः कल्प इत्युक्तं,अथ तद्दर्शनायेदमाह—'आचेले'त्यादि,अविद्यमानं चेलं–वस्त्रं यस्यासावचेलकस्तद्भाव आचेलक्यं,उद्देशेन-साधुसंकल्पेन निर्वृत्तमौद्देशिकं-आधाकर्म,शय्यया-वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरः स च राजा च नृपचक्रवर्त्यादिस्तयोः पिंडः-समुदानमिति शय्यातरराजपिंडः,कृतिकर्म–वन्दनकं, एतेषां च समाहारद्वन्द्वत्वात्सप्तम्येकवचनं, ततश्चाचेलक्यादिषु यथास्वं विधिनिषेधाभ्यां स्थितास्थिताः साधवो भवन्तीत्यतोऽयमोघकल्पः, एतेष्वेव च प्रथमचरमजिनसाधवः स्थिता एवेति स्थितकल्पः तेषां,तथा व्रतानि-महाव्रतानि,ज्येष्ठो-रत्नाधिकः,प्रतिक्रमणं-आवश्यककरणं,सप्तम्येकवचनं प्राग्वत्,मासमिति प्राकृतत्वादनुस्वारः परि–सर्वथा वसनं–एकत्र निवासो निरुक्तविधेः पर्युषणं एतद्द्वयलक्षणः कल्प–आचारो मासपर्युषणकल्पः,तत्र च स्थितास्थि-

छसु अट्ठिओ उ कप्पो एत्तो मज्झिमजिणाण विण्णेओ। णो सययसेवणिज्जो अणिच्चमेरासरूवोत्ति ॥७॥
आचेलकुद्देसियपडिक्कमणरायपिंडमासेसु। पज्जुसणाकप्पंमि य अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥८॥
सेसेसुं ठियकप्पो मज्झिमगाणंपि होइ विण्णेओ। चउसु ठिता छसु अठिता एत्तो चिय भणियमेयं तु ॥९॥

तेत्यादि गाथार्थत्। इति गाथासमासार्थः॥६॥ उक्तः स्थितकल्पः, अथ अस्थितकल्पाभिधानायाह-'छसु'इत्यादि, षट्सु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु अस्थितस्तु-अनवस्थितः पुनः कल्पः-समाचारः 'एत्तो'त्ति एतेभ्य एव दशभ्यः पदेभ्यो मध्यात् मध्यमजिनानां-तत्साधूनामित्यर्थः विज्ञेयो-ज्ञातव्यः, कुतोऽयमिति ?, आह-नो-नैव सततं सेवनीयः सदा विधेयः दशस्थानकापेक्षया, एतदपि कुत इति ?, आह-अनित्यमर्यादास्वरूपः-अनियतव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा, ते हि दशानां स्थानानां मध्यात् कानिचित्स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति भावः। इति गाथार्थः ॥७॥ षट्स्वनवस्थितः कल्प इत्युक्तं, अथ तानि दर्शयन्नाह—'आचे'त्यादि, आचेलक्यौद्देशिकप्रतिक्रमणराजपिंडमासेषु प्रतीतेषु विषयभूतेषु पर्युषणाकल्पे च-वर्षाकालसमाचारे चः समुच्चये अस्थितकल्पोऽभिहितार्थः 'मुणेयव्वो'-त्ति ज्ञातव्यः, इति गाथार्थः ॥८॥ एषामपि शेषपदापेक्षया स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह—'सेसेसु'मित्यादि, शेषेषु तु-प्रागुक्तेभ्यः षड्भ्योऽन्येषु पुनः शय्यातरपिंडादिषु स्थितकल्प उक्तार्थः मध्यमकानामपि-द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि, न केवलमाद्यचरमाणां, भवति-स्यात् विज्ञेयो-ज्ञातव्यः, उक्तमेवार्थमागमेन समर्थयन्नाह-चतुर्षु स्थानकेषु-शय्यातरपिंडादिषु स्थिताः-परिहारादितोऽवस्थिताः षट्सु आचेलक्यादिषु अस्थिताः-अनवस्थिताः कादाचित्कपरिहारादितो मध्यमजिनसाधवः, अत एव-पूर्वोक्तार्थवशादेव भणितं-उक्तमागमे एतदिदमनन्तरोक्तं तुशब्दः पूरणे। इति गाथार्थः ॥९॥ 'शेषेषु स्थित (:) कल्प' इत्युक्तं, अथैतदेव स्पष्ट-

सिज्जायरपिंडंमि य चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य । कितिकम्मस्स य करणे ठियकप्पो मज्झिमाणंपि ॥१०॥

दुविहा एत्थ अचेला संतासंतेसु होइ विण्णेया । तित्थगरऽसंतचेला संताऽचेला भवे सेसा ॥११॥

आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स । मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य ॥१२॥

यथाह—'सिज्जा'इत्यादि, शय्यातरपिंडे च प्रसिद्धे तथा चतुर्णां–परिग्रहविरत्यन्तर्भूतब्रह्मचर्यत्वेन चतुःसंख्यानां यामानां–व्रतानां समाहारश्चतुर्यामं तत्र च पुरुष एव ज्येष्ठः पुरुषज्येष्ठस्तत्र च कृतिकर्मणश्च–वन्दनकस्य चशब्दाः समुच्चयार्थाः करणे–विधाने स्थितकल्पः प्रतीतः मध्यमानामपि–द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि, न केवलमाद्यन्तयोरेवेति गाथार्थः ॥१०॥ तदेवं स्थितास्थित-कल्पं विभज्याचेलक्यादिपदानां स्वरूपं दिदर्शयिषुराचेलक्यस्वरूपं तावद् गाथात्रयेणाह—'दुवि'इत्यादि, द्विविधा–द्विप्रकाराः अचेलक्यविचारे अचेला–निर्वाससः सदसत्सु–विद्यमानाविद्यमानेषु चेलेष्विति गम्यं भवन्ति–स्युः विज्ञेया–ज्ञातव्याः, तत्र तीर्थकरा–जिनाः असचेलाः सन्तोऽचेला भवन्ति शक्रोपनीतदेवदूष्यापगमानन्तरं, तथा सद्भिर्वस्त्रैरचेलाः सन्तोऽचेलाः भवेयुः–स्युः शेषा–जिनेभ्योऽन्ये साधवः ॥११॥ 'आचे'त्यादि, आचेलक्यधर्मोपेतत्वादाचेलक्यः धर्मः–चारित्रलक्षणः 'पुरिमस्स'त्ति पूर्वस्य च–युगादिदेवस्य पश्चिमस्य च–चतुर्विंशतितमस्य जिनस्य–अर्हतः संबन्धिसाधूनां, विद्यमानचेलत्वेऽपि हि तेषां श्वेतखंडित-वस्त्रग्रहणात्, दृश्यते च विवक्षितवस्त्राभावे सचेलकत्वेऽप्यचेलव्यवहारः, यदाह—"जह जलमवगाहंतो बहुचेलोऽवि सिरवेढिय-कडिल्लो । भन्नइ नरो अचेलो तह मुणओ संतचेलावि ॥१॥ तह थोवजुन्नकुच्छियचेलेहिवि भन्नए अचेलोत्ति । जह तूर सालिय! लहुं दे पोत्तिं नग्गिया मोत्ति ॥२॥" मध्यमकानां–द्वाविंशतेः पुनर्जिनानां संबन्धिसाधूनां भवति–स्यात् सचेलः–सवस्त्रः

अमहद्धण भिन्नेहि य आचेलक्कंमि होइ वत्थेहिं। लोगागमणीतीए अचेलगत्तं तु पच्चयओ ॥१३॥

उद्देसियं तु कम्मं एत्थं उद्दिस्स कीरतेलंति। एत्थवि इमो विभागो णेओ संघादवेक्खाए ॥१४।

अचेलो वा-निर्वस्त्रो धर्मः, कुतः ?, तेषामृजुप्राज्ञत्वान्महामूल्यभिन्नवस्त्राणामितरेषां च वस्त्राणां परिभोगानुज्ञानात्, पुरिमपश्चिमतीर्थकरसाधूनां तु ऋजुजडत्वेन वक्रजडत्वेन च महाधनादिवस्त्राणामननुज्ञानात् श्वेतखंडितादीनामेव चानुज्ञानादचेलक इति ॥१२॥ अथ कथं पूर्वपश्चिमसाधूनां सचेलत्वेऽप्याचेलक्यमिष्टमिति ?, आह—'अम' इत्यादि, 'अमहद्धण' त्ति इह तृतीयाबहुवचनदर्शनादमहाधनैः-अबहुमूल्यैः भिन्नैश्च-खंडितैः आचेलक्यं-अचेलत्वं इह प्रक्रमे भवति-स्यात् वस्त्रैः-आच्छादनैः, कुतः पुनः सचेलत्वेऽप्यचेलत्वमपदिश्यत इति ?, आह-अचेलकत्वं तु-अचेलकता पुनः प्रत्ययतः-प्रतीतेः, कयेति ?, आह-लोकागमनीत्या-लोकन्यायेन आगमन्यायेन च, तथाहि-लोको जीर्णादिवस्त्रत्वेऽप्यचेलत्वं प्रत्येति विशिष्टार्थाप्रसाधकत्वेनासत्त्वाविशेषात्, आगमनीत्याऽपि अचेलत्वमुपपन्न एव, यदाह-"परिजुन्नेहिं वत्थेहिं, होक्खामित्ति अचेलए। अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खू न चिंतए" ॥१॥ [परि-समन्ताज्जीर्णैः-दुर्बलैर्वस्त्रैः-कल्पादिभिः 'होक्खामि' त्ति भविष्यामि अचेलकः-चेलहीनः, अल्पदिनभावित्वादेषां, प्रायस्तेषामेव तद्रूपस्य भिन्नकस्येव संभवनात् इति-एतद् भिक्षुर्न चिन्तयेदिति, 'अदुव' त्ति अथवा सचेलको भविष्यामि, परिजीर्णवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चिदुपासकः सुन्दराणि वस्त्राणि दास्यतीति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, अयं भावः-न जीर्णचेलोऽन्यचेलानां लाभासंभावनया दैन्यं लाभसंभावनया वा प्रमोदं गच्छेदिति सूत्रार्थः।] इति गाथात्रयार्थः ॥१३॥ औद्देशिकविभागं गाथाद्वयेनाह—'उद्दे' 'संघा' 'मज्झि' इत्यादि, औद्देशिकं तु-औद्देशिकं पुनः कर्मेति-आधाकर्म अत्र व्यिताम्नित(?)कल्पविचारे विवक्षितं, अन्यत्र तु अनाधाकर्म, कुत एवमिति?, आह—

संघादुद्देसेणं ओघाईहिँ समणमाइ अहिकिच्च । कडमिह सव्वेसिं चिय ण कप्पई पुरिमचरिमाणं ॥ १५ ॥

मज्झिमगाणं तु इदं कडं जमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति । नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ तं एस मेरत्ति ॥ १६ ॥

उद्दिश्य-साधूनङ्गीकृत्य क्रियते-विधीयते तदौद्देशिकं इति-कृत्वाऽनया व्युत्पत्त्येत्यर्थः, अत्राप्यौद्देशिकविषये अयं वक्ष्यमाणः विभागः-प्रथमजिनादिसाधूनधिकृत्य ग्राह्याग्राह्यत्वविभजनं ज्ञेयो-ज्ञातव्यः संघाद्यपेक्षया-संघश्रमणादीनाश्रित्येत्यर्थः ॥१४॥ विभागमेवाह—'संघा'इत्यादि, संघाद्युद्देशेन-संघोपाश्रयालंबनेन 'ओघाईहिँ'ति सामान्यविशेषाभ्यां, तत्र संघार्थमिति विकल्पः सामान्यं प्रथमजिनसंघार्थमन्तिमजिनसंघार्थं मध्यमजिनसंघार्थं चेत्यादिस्तु विशेषः, तथा श्रमणादि-साधुप्रभृति, आदिशब्दाच्छ्रमणीसाधुविशेषग्रहः, अधिकृत्य-आश्रित्य कृतं-साधितमाधाकर्म इह स्थितकल्पविचारे सर्वेषामेव-समस्तानां न कल्पते-ग्रहीतुं न युज्यते पूर्वचरमाणां-आद्यन्तजिनसाधूनामिति, अत्र कल्पगाथाः-"संघं समुद्दिसित्ता पढमो बीओ य समणसमणीओ । तइओ उवस्सए खलु चउत्थओ एगपुरिसस्स ॥ १ ॥ जइ सव्वं उद्दिसिउं संघं कारेइ दोण्हवि न कप्पो । अहवा सव्वे समणा समणी वा तत्थवि तहेव ॥ २ ॥ जइ पुण पुरिमं संघं उद्दिस्सइ मज्झिमस्स तो कप्पे । मज्झिम उद्दिट्ठे पुण दोण्हंपि अकप्पियं होइ ॥ ३ ॥ एमेव समणवग्गे समणीवग्गे य पुव्वउद्दिट्ठे । मज्झिमगाणं कप्पे तेसिं कयं दोण्हवि न कप्पे ॥४॥" एवमुपाश्रयैकसाध्वोरपीति ॥ १५ ॥ 'मज्झी'त्यादि, मध्यमकानां तु-द्वाविंशतिजिनसाधूनां पुनः इदमौद्देशिकं कृतं-निर्वर्तितं यं संघादिकं साधुं च उद्दिश्य-आलंब्य तस्यैव संघादेः इतिशब्दो भिन्नक्रमः नो कल्पत इति-न ग्रहीतुं युज्यते इतिर्वाक्यपरिसमाप्तौ, शेषाणां-अनालंबितसंघादिभ्योऽन्येषां पुनः संघादीनां कल्पते तदौद्देशिकं,अथ कस्मादेवमिति ?,आह-एषाऽनन्तरोक्ता 'मेर'त्ति मर्यादा इति-कृत्वा

सेज्जायरोत्ति भण्णति आलयसामी उ तस्स जो पिंडो। सो सव्वेसि ण कप्पति पसंगगुरुदोसभावेण ॥१७॥
तित्थंकरपडिकुट्ठो अण्णायं उग्गमोवि य ण सुज्झे। अविमुत्ति यऽलाघवया दुल्लहसेज्जा विउच्छेओ ॥१८॥

ऋजुप्रज्ञसाधून् प्रज्ञापनीयलोकांश्चाधिकृत्य जिनैः कृता। इति गाथात्रयार्थः॥१६॥ अथ शय्यातरपिंडं गाथात्रयेण निरूपयन्नाह— 'सेज्जा' 'तित्थं' 'पडि' इत्यादि, शय्यातर इति-अनेन ध्वनिना भण्यते-अभिधीयते आलयस्वामी तु-साध्वाश्रयप्रभुरेव तस्य शय्यातरस्य यः पिंडः-अशनपानखादिमस्वादिम ४वस्त्रपात्रकंबलरजोहरण४शूचीपिप्पलकनखरदनकर्णशोधनक४रूपः, यदाह— "असणाई चत्थाई शूइयाइ चउक्कया तिन्नि" तृणफलकादिस्त्वपिंडः, स शय्यातरपिंडः सर्वेषां-आद्यान्तिममध्यमविदेहजिनसाधूनां तदाश्रयस्थानामन्याश्रयस्थानां च, यदाह-पुरपच्छिमवज्जेहिं अवि कम्मं जिणवरेहिं लेसेणं। भुत्तं विदेहएहि य न य सागरियस्स पिंडो उ ॥१॥" न कल्पते-ग्रहीतुं न युज्यते, केन हेतुनेति?, आह-प्रसंगे-तद्ग्रहणप्रसक्तौ ये गुरवो-महान्तो दोषा-दूषणानि तेषां यो भावो-भवनं स तथा तेन प्रसंगगुरुदोषभावेनेति ॥ १७ ॥ दोषानेवाह—'तित्थ'मित्यादि, तीर्थकरैः प्रतिकुष्टो-जिनैर्निषिद्धः शय्यातरपिंड इति प्रकृतं,कस्मादेवमिति ?,आह-अज्ञातस्य-अविदितस्य राजादिप्रव्रजितत्वेन यद्भैक्ष्यं तदज्ञातमुच्यते, तदेव प्रायः साधुना ग्राह्यं 'अन्नायउंछं चरई विसुद्धं' इति वचनात्, तच्चासन्नतरामादतिपरिचयेन ज्ञातस्वरूपशय्यातरगृहे पिंडं गृह्णतो न शुध्यतीति योगः, तथा उद्गमः-कल्पनीयभक्तादिभवनं अपिचेति समुच्चये न शुध्यति-न शुद्धो भवति, शय्यातरपिंडग्रहणे सति, कथं ?, "बाहुल्ला गच्छस्स उ पढमालियपाणयाइकज्जेसु। सज्झायकरणआउट्टिया करे उग्गमेगयरं ॥१॥" तथाऽविमुक्तिः-सलोभता, तत एव वा शय्यातरकुलस्यामोचनं, आह च-"भावे उक्कोमपणीयगेहि उ तं कुलं न छड्डेइ।

पडिबंधनिरागरणं केई अण्णे अगहियगहणस्स । तस्साउंटणमाणं एत्थऽवरे बेंति भावत्थं ॥१९॥

मुदितादिगुणो राया अट्ठविहो तस्स होति पिंडोत्ति । पुरिमेयराणमेसो वाघयादीहिँ पडिकुट्ठो ॥२०॥

पाणाईकज्जेसु य गओवि दूरं पुणो एइ ॥१॥" तथा अविद्यमानं लाघवं-लघुता यस्य स तथा तद्भावोऽलाघवता, तत्र विशिष्टाहारलाभेनोपचितत्वाच्छरीरालाघवं शय्यातरादपरिजनाद्वोपधिलाभादुपधेरनल्पतया तदलाघवमिति, तथा दुर्लभा-असुलभा शय्या च-वसतिः कृता भवति, येन किल शय्या देया तेनाहाराद्यपि देयमित्येवं गृहिणां भयोत्पादनात्, तथा व्यवच्छेदो-विनाशः दानभयाच्छय्यायाः शय्यातरेण क्रियते वमत्यभावाद्वा भक्तपानशिष्यादिव्यवच्छेदः स्यादिति ॥१८॥ अथैते दोषाः प्रायः पिंडान्तरग्रहणेऽपि ?स्तत्कोऽत्र भावार्थ इति ?, अत आह—'पडि'इत्यादि, प्रतिबन्धनिराकरणं-साधुशय्यातरयोर्योऽत्यन्तोपकार्योपकारकभावेन ?स्तन्निरासं केचिदाचार्या भावार्थं ब्रुवन्तीति योगः, अन्ये पुनराचार्याः अगृहीतग्रहणस्य-साधुभिरस्वीकृतभक्तादिदातव्यद्रव्यस्य शय्यातरस्य आकुंटनं-आवर्जनं "अहो निःस्पृहा एते अतो वमत्यादिदानतः पूज्या" इति भावोत्पादनात्; तथा आज्ञां-आप्तोपदेशं अत्र शय्यातरपिंडपरिहारे अपरे-अन्ये ब्रुवन्ति-आहुः भावार्थं-तात्पर्यमिति गाथात्रयार्थः ॥१९॥ अथ राजपिंडप्रतिविगाथात्रयेणाह—'मुदि' 'ईसर' 'असणा' इत्यादि, मुदितादिगुणः-सद्वंशजादिगुणः, आदिशब्दान्मूर्धाभिषिक्तग्रहः, यदाह—? मुद्धमिसित्तो मुदिओ जो होइ जोणिसुद्धो उ। अहिसित्तो उ परेहिं सयं व भरहो जहा राया ॥१॥" राजा-नृपः, तत्र मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्चेत्यादिचतुर्भंगी, तत्र प्रथमे दोषाभावेऽपि वर्जनीयोऽसौ, इतरेषु तु दोषसंभव एवेति, अष्टविधः-अष्टभेदो वक्ष्यमाणरूपः तस्य राज्ञः भवति-स्यात् पिंडो-भैक्ष्यं इति-एष प्रकृतो राजपिंडः, पूर्वेतराणां-आदिमान्तिमजिन-

ईसरपभितीहिं तहिं वाघातो खद्धलोहुदाराणं । दंसणसंगो गरेहा इयरेसि ण अंप्पमादाओ ॥२१॥

असणादीया चउरो वत्थं पायं च कंबलं चेव । पाउंछणगं च तहा अट्ठविहो रायपिंडो उ ॥२२॥

साधूनां एष राजपिंडः व्याघातादिभिर्वक्ष्यमाणदोषैः प्रतिकुष्टो-निषिद्धो जिनैः ॥ २० ॥ व्याघातादीनेवाह—ईश्वरप्रभृतिभिः-भोगिकादिभिः, प्रभृतिशब्दात्तलवरमाडंबिकादिग्रहः, तलवरश्च राज्ञ उच्छ्रासनिको बद्धपट्टः, माडंबिकस्तु सन्निवेशविशेषनायकः, तैः प्रविशद्भिर्निर्गच्छद्भिश्च सपरिकरैः तस्मिन्राजकुले व्याघातः-स्खलना साधोः तत्र प्रवेशस्य निर्गमस्य च तत एव वा भिक्षास्वाध्यायादिकार्याणां स्यात्, हननं संमर्दादमङ्गलबुद्ध्या वा कायपात्राणां, तथा 'खद्ध'त्ति प्रभूतेऽन्नादौ लभ्यमाने यो लोभो-लुब्धता स तथा, स च तत्र स्यात्, ततश्चैषणाप्रेरणं च स्यात्, तथा उदाराणां-उदारदेहानां हस्त्यश्वस्त्रीपुरुषादीनां दर्शने-अवलोकने संगः-अभिष्वंगो दर्शनसंगः स्यात्, ततश्चात्मविराधनादयः स्युः, तथा चारकचौराभिमरकामुकादिसंभावनया राजकोपात् कुलगणसंघाद्युपघातश्च, तथा गर्हा-निन्दा, यथाऽहो राजप्रतिग्रहमेते गर्हणीयमपि स्वीकुर्वन्ति, गर्हणीयता च तस्य स्मार्तैरेवमुच्यते-"राट्प्रतिग्रहदग्धानां, ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ! । स्विन्नानामिव बीजानां, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १ ॥" अथवाऽनभिष्वङ्गा यतयो भवन्ति एते तु अदृष्टकल्याणवत् कथं गजवाज्यादिषु संगं कुर्वन्तीत्येवंरूपा, अथैते दोषा मध्यमजिनसाधूनामपि संभवन्तीति कथं तेषां तस्य ग्राह्यतापीति ?, अत आह-इतरेषां-मध्यमजिनसाधूनां न-नैव एते दोषा भवन्ति, कुतः ?-अप्रमादात्-प्रमादाभावाद्धेतोः, ते हि ऋजुप्राज्ञत्वाद्विशेषेणाप्रमादित्वेनोक्तदोषपरिहारसमर्था भवन्ति, इतरे तु ऋजुजडवक्रजडत्वेन न तथेति ॥ २१ ॥ अथ प्रागुक्तराजपिंडस्याष्टविधत्वं दर्शयन्नाह—अशनादिका-अशन-

कितिकम्मंति य दुविहं अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं। समणेहि य समणीहि य जहारिहं होति कायव्वं ॥२३॥

सव्वाहिं संजईहिं कितिकम्मं संजयाण कायव्वं। पुरिसोत्तमोत्ति धम्मो सव्वजिणाणंपि तित्थेसु ॥२४॥

एयस्स अकरणंमी माणो तह णीयकम्मबंधोत्ति। पवयणखिसाऽयाणग अबोहि भववुड्ढि अरिहंमि ॥२५॥

पानखादिमस्वादिमरूपा आहाराश्चत्वारः वस्त्रं पात्रं च कंबलमिति व्यक्तं चैवेति समुच्चये तथेति वाक्योपक्षेपार्थोऽत्र द्रष्टव्यः पादप्रोञ्छनं-रजोहरणं चः समुच्चये अष्टविधस्तु-अष्टविध एव राजपिंडो-नृपभैक्ष्यं तुशब्दोऽवधारणार्थो नियोजितश्च प्राक्। इति गाथाद्वयार्थः ॥२२॥ कृतिकर्मेति गाथात्रयेणाह—'किति' 'सव्वाहिं' 'एयस्से'त्यादि, कृतिकर्मेति-एतत्पुनः द्विविधं-द्विप्रकारं, कथमिति?, आह-अभ्युत्थानं-अभिमुखमुत्थानं तथैवेति समुच्चये वन्दनकं-द्वादशावर्तादि श्रमणैश्च-साधुभिः श्रमणीभिश्च-साध्वीभिः चकारौ समुच्चये यथार्हं-यथापर्यायवृद्धं भवति-स्यात् कर्तव्यं-विधेयमिति ॥२३॥ किं साध्व्योऽपि यथापर्यायवृद्धाः साधुभिर्वन्दनीया इति?, अत्राह—सर्वाभिः-बहुलपपर्यायाभिः संयतीभिः-साध्वीभिः कृतिकर्म-उक्तरूपं संयतानां-साधूनामद्यदिनदीक्षितानामपि कर्तव्यं-विधेयं, कुत एतमिति?, आह-पुरुषोत्तमः-पुंप्रधानः धर्मः-प्रवचनं, पुरुषप्रवर्तितत्वेन इति-कृत्वा, सर्वजिनानामपि, न केवलमेकस्यापि जिनस्य, तीर्थेषु-प्रवचनेष्विति, दोषाश्चैते स्त्रीवन्दने-"तुच्छत्तणेण गव्वो जायइ न य संकए परिभवेणं। अन्नोवि होज्ज दोसो थियासु माहुज्जहिज्जासु ॥ १ ॥" माधुर्यहार्यास्वित्यर्थः ॥ २४ ॥ यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषानाह—एतस्य कृतिकर्मणः अकरणे-अविधाने मानः-अहंकारः कृतो भवति, तथेति समुच्चये, नीचकर्मबन्धो-नीचैर्गोत्रकर्मबन्धनं इति-एतस्मान्मानात् स्यात्, तथा प्रवचनखिसा-शासननिन्दा, 'नूनमेतत्प्रवचने विनयो नाभिधीयते, यत एते

पंचवतो खलु धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स । मज्झिमगाण जिणाणं चउव्वतो होति विण्णेओ ॥
णो अपरिग्गहियाए इत्थीए जेण होइ परिभोगो । ता तव्विरइए चिय अबंभविरइत्ति पण्णाणं ॥२७॥
दुण्हऽवि दुविहोऽवि ठिओ एसो आजम्ममेव विण्णेओ । इय वइभेया दुविहो एगविहो चेव तत्तेणं ॥२८॥

वन्दनं यथायोग्यं न कुर्वन्ती'त्येवंरूपा, तथा 'अयाणग'त्ति अज्ञायका-अविज्ञा एते ये लोकरूढिमपि नानुवर्तयन्ति एवंविधा वा निन्देति, अत एवाबोधिः-सम्यग्दर्शनालाभः, अबोधिलाभफलं कर्मेत्यर्थः, ततश्च भववृद्धिः-संसारवर्धनं इति दोषाः, कैतस्याकरणे इति ?, आइ-अर्हे-योग्ये वन्दनस्य,न यत्र कुत्रचित् । इति गाथात्रयार्थः ॥२५॥ अथ व्रतस्वरूपं गाथात्रयेणाह—'पंच' 'णो' 'दुण्ह' इत्यादि, पञ्चव्रतः खलु-पञ्चयाम एव धर्मः—चारित्रधर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य साधूनामिति शेषः, मध्यमकानां—द्वाविंशतेर्जिनानां संबन्धिसाधूनां चतुर्व्रतः—चतुर्यामो भवति विज्ञेय इति प्रकटं, इति ॥ २६ ॥ अयं चैषां यद्विधानां स्यादित्येवद्युक्तिगर्भमाह—नो-नैव अपरिगृहीताया—अस्वीकृतायाः स्त्रिया—योषितः येन कारणेन भवति—स्यात् परिभोगः—सेवा तत्-तस्मात् तद्विरत्यैव—परिग्रहविरमणेनैव अब्रह्मविरतिः—मैथुनविरमणं भवति इति- एतद्वस्तु प्रजानंति ये ते इति प्रज्ञास्तेषां मध्यमसाधूनां, पञ्चयामोऽपि चतुर्याम इति ॥ २७ ॥ अयं च द्विविधोऽपि स्थितकल्प एवेत्याह—द्वयोरपि—पूर्वपश्चिमजिनसाधुसंघमध्यमजिनसाधुसंघयोः द्विविधोऽपि—चतुर्यामपञ्चयामरूपोऽपीत्यर्थः, न केवलमेकविध एव, स्थितः—अवस्थितो भवति, परिहार्यस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, एष इति कल्पः आजन्मैव—जीविताभिव्याप्त्यैव विज्ञेयो—ज्ञातव्यः, ननु प्रागुक्तयुक्त्यैकविध एवायं, तत् कथं द्विविधोऽपीत्युक्तमित्याशंक्याह—इति वाग्भेदात्- पञ्चयामचतुर्यामेत्येवंरूपाद्वाग्भेदाद्—वचनवि-

उवट्ठावणाएँ जेट्ठो विण्णेओ पुरिमपच्छिमजिणाणं । पव्वज्जाए उ तहा मज्झिमगाणं णिरतियारो ॥२९॥
पढिए य कहिएँ अहिगएँ परिहर उवठावणाएँ कप्पोत्ति । छक्कं तीहिँ विसुद्धं सम्मं णवएण भेएण ॥३०॥
पितिपुत्तमाइयाणं समगं पत्ताण जेट्ठ पितिपभिई । थेवंतरे विलंबो पण्णवणाए उवट्ठवणा ॥३१॥

शेषात् द्विविधो–द्विप्रकारः, एकविधश्चैव–एकप्रकार एव पुनः तत्त्वेन–परमार्थेन । इति गाथात्रयार्थः ॥ २८ ॥ अथ ज्येष्ठस्वरूपं गाथात्रयेणाह—'उव' 'पढि' 'पिति'इत्यादि, उपस्थापनया–महाव्रतारोपणेन ज्येष्ठो–रत्नाधिको विज्ञेयः पूर्वपश्चिमजिनानामित्यत्र साधूनामिति शेषः, प्रव्रज्यया तु–प्रव्राजनेन पुनः तथेति ज्येष्ठो ज्ञेय इत्येवत्संबन्धनार्थः मध्यमकानां—द्वाविंशतिजिनसाधूनां निरतिचारः–अतिचाररहितः, सातिचारस्तु नोपस्थापनया प्रव्रज्यया वा ज्येष्ठः, प्राक्तन्योस्तयोरप्रमाणत्वात्, पुनरुपस्थापनायाः सामायिकारोपणस्यैव च प्रमाणत्वादिति ॥२९॥ 'उपस्थापनया ज्येष्ठ' इत्युक्तं, अथ तद्विधिमुपदर्शयन्नाह—पठिते–अधीते सूत्रतः शस्त्रपरिज्ञाध्ययने चशब्दो भिन्नक्रमः कथिते–व्याख्यातेऽर्थतः अधिगते च–ज्ञाते एतस्मिन्नेव सति एकारस्य तु ह्रस्वपाठः प्राकृतत्वात् परिहरन्–वर्जयन् सन् परिहार्यं उपस्थापनाया– महाव्रतारोपणस्य कप्पो–योग्यः इति–एवंभूतः प्राणी, किं परिहरन्निति ?,आह–षट्कं–जीवनिकायषट्कमव्रतषट्कं वा त्रिभिः–मनोवाक्कायैः विशुद्धं–निर्दोषं यथा भवति सम्यग् भावतः नवकेन–नवपरिमाणेन भेदेन–विकल्पेन नवभिर्भेदैरित्यर्थः, मनसा कृतकारितानुमतिभिः एवं वाचा कायेन चेति ॥ ३० ॥ अथ द्वयोर्युगपदुपस्थाप्यमानयोः को ज्येष्ठ इति ?, अत्राह—पितापुत्रादीनां–जनकसुतप्रभृतीनां, आदिशब्दाद्राजामात्यमातादुहितृराज्यमात्यादिग्रहः, समकं—युगपत् प्राप्तानां—विवक्षिताध्ययनाधिगमेनोपस्थापनायोग्यतामवाप्तानां यौगपद्येनैवोपस्थाप्यमानानां ज्येष्ठा–

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं ॥३२॥

गमणागमणविहारे सायं पाओ य पुरिमचरिमाणं। णियमेण पडिक्कमणं अइयारो होउ वा मा वा ॥३३॥

रत्नाधिकाः पितृप्रभृतयः-पित्रादयः स्युः,आदिशब्दाद्राजमातृराज्यादिग्रहः,अथ पुत्रादिः प्राप्तः न पित्रादिः तत्र को विधिरिति ?, आह-स्तोकं-अल्पेऽन्तरे विशेषे दिनद्वयादितः पित्रादिरपि प्राप्स्यतीत्येवंरूपे विलंबः-प्रतीक्षणं कार्यं, पित्रादौ प्राप्ते सति-युगपदेव पितापुत्रादिरुपस्थापनीयो, मा भूत् पुत्राद्यपेक्षया लघुताकरणेन पित्रादेरसमाध्युन्निष्क्रमणादिरिति, अथ बह्वन्तरं तदा को विधिरिति ?, आह- प्रज्ञापनया- पित्रादेः संबोधनया 'तव पुत्रो यदि विवक्षिता महाव्रतश्रियं प्राप्नोति अन्येषां च ज्येष्ठतरो भवति तदा तवैवाभ्युदयः, ततो न त्वयाऽस्य विघ्नो विधेय' इत्यादिलक्षणया उपस्थापना-व्रतारोपणा कार्या,अथ प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि न प्रतिपद्यते तदा प्रतीक्षणीयं यावदसौ प्राप्तः, द्वये राजादयो युगपद्यदा तूपस्थाप्यन्ते तदा यथाऽऽसन्नं ज्येष्ठतेति, तदेवं प्रकारद्वयेनापि ज्येष्ठत्वे सर्वेऽप्यवस्थिताः इति गाथात्रयार्थः, ॥ ३१ ॥ अथ 'प्रतिक्रमण'मिति गाथात्रयेणाह—'सपडि' 'गमणा' 'मज्झिमे'त्यादि,सप्रतिक्रमणः-उभयसंध्यं षड्विधावश्यककरणयुक्तः धर्मः-चारित्रधर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य सत्कानां साधूनामिति शेषः, मध्यमकानां जिनानां सत्कसाधूनां कारणजाते-समुत्पन्ने कारणे प्रतिक्रमणं-आवश्यकं विधेयं, कारणाभावे सर्वदापि न प्रतिक्रामन्ति ते इति ॥ ३२ ॥ एतदेव स्पष्टतरमाह—गमनं च-भक्ताद्यर्थमालयान्निर्गमः आगमनं च-प्रत्यावृत्तिः विहारश्च—ग्रामान्तरगमनं स्वा यायादिनिमित्तं वा वसत्यन्तरगमः गमनागमनविहारं तत्र, इह नैर्षेधिकीप्रतिक्रमणमात्रमेव प्रतिक्रमणं , यदाह-"गमणागमणविहारे सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ। नावा नइसंतारे इरियावहिया पडिक्कमणं ॥ १ ॥" इह

मज्झिमगाण उ दोसे कहंचि जायंमि तक्खणा चेव। दोसपडियारणाया गुणावहं तह पडिक्कमणं ॥३४॥
पुरिमेयरतित्थयराण मासकप्पो ठिओ विणिद्दिट्ठो। मज्झिमगाण जिणाणं अट्ठियओ एस विण्णेओ ॥३५॥
पडिबंधो लहुयत्तं ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं। णाणाराहणमेए दोसा अविहारपक्खंमि ॥३६॥

च पुष्पे पञ्चविंशत्युच्छ्वासः कायोत्सर्गो, रात्रौ स्वप्नदर्शने चाष्टशतोच्छ्वासः, शेषेष्वीर्यापथिकेति, तथा सायं—प्रदोषे प्रातश्च—प्रभाते, इह च षड्विधावश्यकप्रतिक्रमणं, यदाह—"समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहोनिसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम ॥ १॥" पूर्वचरमाणां—आदिमान्तिमसाधूनां नियमेन—अवश्यतया प्रतिक्रमणमुक्तरूपं विधेयं अतिचारः—अतिक्रमः भवतु वा—अस्तु वा मा वा भूत्, तृतीयोपधन्यायेन ऋजुजडवक्रजडतया तेषामुपकारित्वात् इति ॥ ३३ ॥ मध्यमकानां तु—द्वाविंशतिजिनसाधूनां पुनः दोषे—अतिचारे कथञ्चित्—केनापि प्रकारेण, प्रायेण तेषामृजुप्राज्ञत्वाद्दोषो न भवतीति दर्शनार्थं कथञ्चिद्ग्रहणं, जाते—उत्पन्ने तत्क्षणादेव—तस्मिन्नेव समये दोषप्रतिकारज्ञातात्—रोगचिकित्सोदाहरणेन पाठान्तरेण 'दोसपडियारणाए' त्ति तत्र दोषनिषेधेनेत्यर्थः, यथा हि जातमात्र एव रोगे चिकित्सा गुणावहा भवतीत्येवं गुणावहं—अतिचारविशुद्धिलक्षणोपकारकारकं तथेति—आदिमान्तिमसाधूनामिव प्रतिक्रमणमुक्तार्थं। इति गाथात्रयार्थः ॥ ३४ ॥ अथ मासकल्पविभागं गाथात्रयेणाह—'पुरि' 'पडि' 'कालादि' इत्यादि, पूर्वेतरतीर्थकराणां तत्सम्बन्धिसाधूनामित्यर्थः मासकल्पः—एकत्र मासावस्थितिरूपसमाचारः स्थितः—अवस्थितः विनिर्दिष्टः—उक्तः; मध्यमकानां जिनानामिति व्यक्तं अस्थितकः—अनवस्थितः, ऋजुप्रज्ञत्वेन तेषामधिकावस्थानेऽपि दोषासंभवात्, एष मासकल्पः विज्ञेयो—ज्ञातव्य इति ॥३५॥ अथ पूर्वपश्चिमानां

कालादिदोसओ पुण ण दव्वओ एस कीरई णियमा। भावेण उ कायव्वो संथारगवच्चयाईहिं ॥३७॥

पज्जोसवणाकप्पोऽप्येवं पुरिमेयराइभेएणं। उक्कोसेयरभेओ सो णवरं होइ विण्णेओ ॥३८॥

मासकल्पाभावे के दोषा इति ?, अत आह—प्रतिबन्धः-शय्यातरादिवस्तुष्वभिष्वङ्गो भवति, तथा लघुकत्वं-लाघवं, 'एते हि स्वगृहं परित्यज्य गृहान्तरादिषु व्यासक्ता' एवं लोकसंभावनोत्पादनात्, तथा न जनोपकारो-न विविधदेशस्थितभव्यजनानामुपदेशदानादिभिर्गुणः कृतो भवति अथवा न देशान्तरस्थसुविहितजनस्योपचारो-वन्दनादिपूजा जनेभ्यो वा सकाशादुपचारो न लब्धो भवति सुविहितजनव्यवहारो वा न स्यादिति, तथा न--नैव देशेषु, विविधमंडलेषु--संचरतां यद्विज्ञानं--विचित्रलोकलोकोत्तरव्यवहारज्ञानं तत्, तथा न-नैव आज्ञाराधनं-आगमार्थानुपालना, आगमो ह्येवं-"मोत्तूण मासकप्पं अन्नो सुत्तंमि नत्थि उ विहारो।" एते-अनन्तरोक्ता दोषा-दूषणानि अविहारपक्षे-अविहाराभ्युपगमे, इति ॥ ३६ ॥ ननु कदाचिदस्याकरणात् कथं स्थितकल्पता ?, भावतोऽप्यवश्यंकरणादिति ब्रूमः, एतदेवाह—'काला'इत्यादि, कालादिदोषतः-कालक्षेत्रद्रव्यभावदोषानाश्रित्य, तत्र कालदोषो दुर्भिक्षादिः, क्षेत्रदोषः संयमाननुगुणत्वादिः,द्रव्यदोषो भक्तादीनां शरीराननुकूलता,भावदोषो ग्लानत्वज्ञानादिहान्यादिः, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, न-नैव द्रव्यतो-बहिर्वृत्त्या एष मासकल्पः क्रियते-विधीयते, नियमाद्-अवश्यंतया भावेन तु-भावतः पुनः कर्तव्यो-विधेयः संस्तारकव्यत्ययादिभिः-शयनभूमिपरिवर्तनप्रभृतिभिः, आदिशब्दाद्वसतिपाटकादिग्रहः। इति गाथात्रयार्थः ॥३७॥ अथ गाथात्रयेण पर्युषणाकल्पविभागमाह—'पज्जो' 'चाउ' 'दोसा'इत्यादि, पर्युषणाकल्पोऽपि, न केवलं मासकल्प एव, एवं-उक्तक्रमेण, तमेव दर्शयति-पूर्वेतरादिभेदेन-आदिमान्तिममध्यमसाधुविशेषेण, इहैव विशेषमाह-उत्कर्षेतर-

चाउम्मासुक्कोसो सत्तरि राइंदिया जहण्णो उ । थेराण जिणाणं पुण णियमा उक्कोसओ चेव ॥३९॥
दोसासइ मज्झिमगा अच्छंति उ जाव पुव्वकोडीवि । इहरा उ ण मासंपि हु एवं खु विदेहजिणकप्पे ॥४०॥
एवं कप्पविभागो तइओसहणातओ मुणेयव्वो । भावत्थजुओ एत्थ उ सव्वत्थवि कारणं एयं ॥४१॥

भेदः—उत्कृष्टजघन्यभेदः स पर्युषणाकल्पः नवरं—केवलं भवति—स्यात् विज्ञेयः—अवसेय इति ॥ ३८ ॥ उत्कर्षादिभेदमेवाह—चत्वारो मासाः समाहृताश्चतुर्मासं तदेव चातुर्मासं तद्यावत् उत्कर्षः, आषाढ्याः कार्तिकीं यावदित्यर्थः, सप्तति रात्रिंदिवानि—अहोरात्राणि यावत् जघन्यः पुनः, भाद्रपदशुक्लपञ्चम्याः कार्तिकीं यावदित्यर्थः । केषामयं पर्युषणाकल्प इति?, आह—स्थविरकल्पिकानां, जिनानां पुनः—जिनकल्पिकानां तु नियमाद्—अवश्यंतया, निरपवादत्वात्तेषां, उत्कर्षक एव—उत्कृष्ट एव, चतुर्मासमेवेत्यर्थः ॥३९॥ अथ मध्यमकानां को विधिरिति?, आह—दोषणासद्भावे मध्यमकास्तु—मध्यमसाधवः पुनः आसते—तिष्ठन्ति एकक्षेत्रे पूर्वकोटीमपि यावत्, आस्तां चतुर्मासं, इतरथा तु—दोषभावे पुनः न मासमपि, आस्तां कालान्तरं, आसत इति प्रक्रमः हुशब्दोऽलङ्कृतौ । अथ विदेहकसाधूनां का वार्तेति ?, आह—एवं खु—एवमेव मध्यमजिनयतीनामिव सर्वपदानि स्युः विदेहजिनकल्पे—महाविदेहजिनसंबन्धिसाधुसमाचारे, 'एवं खु विदेहजिणकप्पो' त्ति पाठान्तरं, व्यक्तं च । इति गाथात्रयार्थः ॥ ४० ॥ अथैतस्यैव निगमनद्वारेणैदंपर्ययुक्ततामाह—'एव' मित्यादि, एवमुक्तनीत्या कल्पविभागः—आचेलक्यादिस्थितास्थितकल्पतया विभजनं, कुत इति?, आह—तृतीयौषधज्ञाततः—उक्तौषधविशेषोदाहरणेन 'मुणेयव्वो'त्ति ज्ञातव्यः, किंविध इति?, आह—भावार्थयुक्तः—ऐदंपर्ययुक्तः, न यादृच्छिकः, अत्र तु—इह पुनः कल्पविभागे सर्वत्रापि-दशस्वपि पदेषु, न तु क्वचिदेव,

पुरिमाण दुव्विसोज्झो चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो । मज्झिमगाण जिणाणं सुविसोज्झो सुहणुपालो य ॥४२॥
उज्जुजडा पुरिमा खलु णडादिणायाउ होंति विण्णेया । वक्कजडा उण चरिमा उज्जुपण्णा मज्झिमा भणिया॥

कारणं-विभागहेतुः एतद्-वक्ष्यमाणं । इति गाथार्थः ॥४१॥ तदेवाह—'पुरी'त्यादि,पूर्वेषां-आद्यजिनसाधूनां दुर्विशोध्यो-दुःखेन शुद्धिप्रकर्षमापणीयः ऋजुजडत्वेन तेषां विस्तारेण बहुभिश्चोपदेशैःसमस्तहेयार्थज्ञानसंभवेनातिचारपरिहारसंभवात्, चरमाणां-अन्तिम-जिनसाधूनां दुरनुपालो-दुःखानुपालनीयः स एव दुरनुपालकः, तेषां वक्रजडत्वेन तेन तेन व्याजेन हेयार्थसेवासंभवात् ,कल्पः-आचेलक्यादिसमाचारः, मध्यमकानां जिनानामिति व्यक्तं सुविशोध्यः-सुखविशोधनीयः, तेषामृजुत्वेन यथोपदिष्टानुपालनात् , सुखानुपाल्यः-सुखेनानुपाल्यते तेषां प्राज्ञत्वेनोपदेशमात्रादप्यशेषहेयार्थाभ्यूहनेन तत्परिहारसमर्थत्वात् ,चः समुच्चये । इति गाथार्थः ॥४२॥ अथ दुर्विशोध्यत्वादिष्वेव हेतुमाह-'उज्जु'इत्यादि,ऋजवः-अशठाः ते च ते जडाश्च-विशिष्टोहवैकल्येनोक्तमात्रग्राहिण ऋजु-जडाः पूर्वे-आद्यतीर्थसाधवः खलुर्वाक्यालङ्कारार्थः नटादिज्ञातात्-नर्तकप्रभृत्युदाहरणात् ,किल केचित्प्रथमतीर्थसाधवो विचारभूमेर्गु-रुसमीपमागताः पृष्टाश्च गुरुभिः यथा-'भोः किमियच्चिरादागता यूयं ?', त ऋजुत्वादूचुः,यथा-नटं नृत्यन्तं वीक्षमाणाः स्थिताः, ततो गुरुस्तानभि अशिषत्,यथा-'मा पुनरेवं कार्षु'रिति, प्रतिपन्नवन्तश्च तत्ते,ततोऽन्यदा ते तथैव पृष्टा ऊचुः,यथा-'नटीं नृत्यन्तीं वीक्षमाणाः स्थिताः' गुरुणा प्रेरिताश्च ते जडत्वादभिदधुः-'भवद्भिर्नटस्तदा निषिद्धः, न नटी'ति, नटे हि निषिद्धे रागहेतुत्वा-न्नटी नितरां निषिद्धैवेति प्रतिपत्तुं न शक्यते तैरिति, आदिशब्दाद्धस्त्यादिग्रहः, भवन्ति-स्युः विज्ञेया-ज्ञातव्याः, वक्रजडाः-शठमुग्धाः पुनः चरमाः-अन्तिमाः, तत एव ज्ञातात्-किल केचिच्चरमजिनसाधवस्तथैव पृष्टा ऊचुः,यथा-'नटं वीक्षमाणाः स्थिताः'

कालसहावाउ चिय एए एवंविहा उ पाएण । होंति अओ उ जिणेहिं एएसि इमा कया मेरा ॥४४॥
एवंविहाणवि इहं चरणं दिट्ठं तिलोगणाहेहिं । जोगाण थिरो भावो जम्हा एएसि सुद्धो उ ॥४५॥
अथिरो उ होइ इयरो सहकारिवसेण ण उण तं हणइ । जलणा जायइ उण्हं वज्जं ण उ चयइ तत्तंपि ॥४६॥

ततो गुरुणा निषिद्धाः, पुनरन्यदा पृष्टा वक्रतयोत्तरान्तराणि ददुः, निर्बन्धेन च नटीमुक्तवन्तः, उपालब्धाः सन्तो जडत्वादूचुः, यथा-'नट एव न द्रष्टव्य इत्यस्माभिर्ज्ञातमासी'दिति, ऋजुप्रज्ञा-आर्जवोपेताः प्रज्ञावन्तश्च, तत एव ज्ञातात्-एते हि किल तथैव पृष्टा ऋजुत्वादूचुः-नटं वीक्षमाणाः स्थिताः, ततो गुरुणा तथैवोक्ताः, पुनरन्यदा नटीं दृष्ट्वा प्रज्ञत्वाद्विकल्पितवन्तः 'नटवन्नट्यपि न वीक्षितव्या रागहेतुत्वा'दिति, मध्यमाः-द्वाविंशतिजिनसाधवः भणिता-उक्ता इति गाथार्थः ॥४३॥ अथ कथमेत एवंविधस्वभावा इति?,आह-'काले'त्यादि,कालस्वभावादेव-कालसामर्थ्यादेव एते साधवः एवंविधास्तु एवंप्रकाराः पुनः ऋजुजडत्वादिधर्मका इत्यर्थः प्रायेण-बाहुल्येन,न तु सर्वे तद्विधा एव,भवन्ति-स्युः,'अओ उ'त्ति यस्मादेवमत एव जिनैः-आप्तैः एतेषामृजुजडादिसाधूनां इयं-उक्तस्थितास्थितकल्परूपा कृता-विहिता'कया इम'त्ति पाठान्तरं'मेर'त्ति मर्यादा । इति गाथार्थः ॥४४॥ अथ ऋजुप्रज्ञानामस्तु चरणं,ऋजुप्रज्ञत्वादेव,ऋजुजडादीनां तु न युक्तमिति,अत आह-'एव'मित्यादि,'अथिरो'इत्यादि,एवंविधानामपि-ऋजुजडत्वादियुक्तानामपि,आस्तामृजुप्रज्ञानां,इह प्रक्रमे चरणं-चारित्रं दृष्टं-अवलोकितं त्रिलोकनाथैः-जिनैः,किं सर्वेषामिति?,आह-योग्यानां-उचितानां प्रव्रज्यायाः, कुत एतदेवमिति?,आह-स्थिरः-स्थायी भावः-अध्यवसायः यस्मात्कारणात् एतेषामृजुजडादीनां शुद्धस्तु-प्रशस्त एवेति ॥४५॥ अस्थिरस्तु-अस्थायी पुनः कादाचित्क इत्यर्थः भवति-स्यात् इतरः-अशुद्धः,अथ कथमसौ स्यादिति?, आह-सहका-

इय चरणम्मि ठियाणं होइ अणाभोगभावओ खलणा। ण उ तिव्वसंकिलेसा'पऽवेति चारित्तभावोऽवि ॥४७॥
चरिमाणवि तह णेयं संजलणकसायसंगयं चेव। माइट्ठाणं पायं असइंपि हु कालदोसेणं ॥४८।

रिवशेन-तथाविधसामग्रीसामर्थ्येन,न तु स्वत एव,तर्हि शुद्धभावस्वभावचरणोपहतिर्भविष्यतीति?,आह-न पुनस्तत् चरणं हन्ति-विनाशयति,अत्र दृष्टान्तमाह-ज्वलनाद्-वह्नेः जायते-स्यात् उष्णं-तप्तं वज्रं-कुलिशं,न तु-न पुनः त्यजति-मुञ्चति तत्त्वमपि-स्वभावमपि, वज्रत्वमपीत्यर्थः अपिः समुच्चये। इति गाथाद्वयार्थः॥ ४६ ॥ दार्ष्टान्तिकं योजयन्नाह—'इये' त्यादि, इति दृष्टान्तोक्तन्यायेन, चरणे-चारित्रे स्थितानां-आश्रितानां भवति-स्यात् अनाभोगभावतो-विसरणसद्भावात् स्खलना-अतिक्रमश्चारित्रस्य, न तु-नैव, तीव्रक्लेशाद्-उत्कटदुरध्यवसायात्,नापैति-न नश्यति चारित्रभावोऽपि-चरणपरिणामः पुनः,तीव्रसंक्लेशस्याभावादेव। इति गाथार्थः ॥४७॥ नन्वेवमृजुजडानां युक्तश्चरणानपगमो,वक्रजडानां तु कथमसाविति?,आह—'चरी'त्यादि, चरमाणामपि-अन्तिमानामपि,न केवलमाद्यानामेव, तथेति यथाऽऽद्यानामनाभोगजन्यस्खलना चरणस्याबाधिका तथा-तद्वत् ज्ञेयं-ज्ञातव्यं चरणाबाधकं मातृस्थानमिति योगः,किं सर्वं?,नेत्याह-संज्वलनकषायसंगतमेव-अल्पतरकषायोद्भवमेव,न त्वनन्तानुबन्ध्यादिगतं,किं तदिति?,आह'माइट्ठाणं'-ति मातरः स्त्रियोऽभिधीयन्ते तासां स्थानं-आश्रयो मातृस्थानं-माया,स्त्रियो हि मायो मायाश्रिता भवन्ति,स्त्रीत्वमपि प्रायो मायानिबन्धनं,अथवा मातृशब्देन मायोच्यते ततश्च तस्याः स्थानं-विशेषो मातृस्थानं,मायिनां वा स्थानमिति मायिस्थानं मायैव,प्रायो-बाहुल्येन, केषांचित्तन्न संभवत्येवेति प्रायोग्रहणं, असकृदपि-अनेकशोऽपि, आस्तामेकदा हुर्वाक्यालंकारे,कालदोषेण-दुष्षमानुभावेन। इति गाथार्थः॥४८॥व्यतिरेकमाह-'इहरे'त्यादि,इतरथा तु-अन्यथा पुनः कषायान्तरसंगतमातृस्थानसंभवे इत्यर्थः न श्रमणत्वं-न साधुत्वं,

इहरा उ ण समणत्तं असुद्धभावाउ हंदि विण्णेयं । लिंगंमिवि भावेणं सुत्तविरोहा जओ भणियं ॥४९॥
सव्वेऽवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति । मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥ ५० ॥

कुत इति?, आह–अशुद्धभावात्–अप्रशस्ताध्यवसायादनन्तानुबन्ध्यादिसंगतमातृस्थानरूपान् हंदीत्युपप्रदर्शने विज्ञेयं–ज्ञातव्यं लिंगेऽपि द्रव्यलिंगे रजोहरणादौ सति,आस्तां तदभावे,यदि द्रव्यलिंगमस्ति कथं न श्रमणत्वमिति?,अत आह-भावेन–परिणामापेक्षया, एतदेव कुत इति?, आह–सूत्रविरोधात्–आगमोक्तार्थविरुद्धत्वात् , सूत्रविरोध एव कुत इति?,आह-यतो-यस्मात् भणितं-उक्तमागमे। इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ यदुक्तं तदेवाह—'सव्वे'इत्यादि, सर्वेऽपि च–समस्ता अपि, न तु केचिदेव, अतिचाराः–सर्वविरत्यतिक्रमाः संज्वलनानां तु–संज्वलनाख्यकषायाणामेव उदयतो–विपाकेन भवन्ति–स्युः, मूलेन–अष्टमप्रायश्चित्तेन छिद्यते–अपनीयते यदपराधजातं तन्मूलच्छेद्यं तत्पुनः भवति–स्यात् द्वादशानां–अनन्तानुबन्ध्यादीनां कषायाणां–क्रोधादिभावानां उदयतः इति, अतः संज्वलनसंगतमेव मातृस्थानं चरणाभावकारकं न स्यात् , तद्भावेऽपि च चरमसाधवश्चरणवन्तः स्युः, इति भावार्थः। दुष्षमायां केचिच्चारित्रमेव न मन्यन्ते, अतिचारबाहुल्यात् , तच्च न, यतो व्यवहारभाष्ये साक्षेपः समाधिरिहोक्तः–"केसिंचिय आएसो दंसणनाणेहिं वट्टए तित्थं । वोच्छिन्नं च चरित्तं वयमाणे भारिया चउरो ॥ १ ॥"चतुर्गुरुकः–प्रायश्चित्तविशेषः। तथा–"न विणा तित्थं नियंठेहिं" "नातित्था य नियंठया" "छक्कायसंजमो जाव ताव अणुसज्जणा दोण्हं" अव्यवच्छेदो बकुशकुशीलयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्वेत्यर्थः "जो भणइ नत्थि धम्मो न य सामइयं न चेव य वयाइं । सो समणसंघवज्झो कायव्वो समणसंघेणं ॥१॥" तथा पूर्वसाध्वपेक्षया हीनतरक्रियापरिणामत्वेऽपि दुष्षमसाधूनां साधुत्वमेव, यदाह–"सत्थपरिण्णा

एवं च संकिलिट्ठा माइट्ठाणंमि णिच्चतल्लिच्छा। आजीवियभयगत्था मूढा णो साहुणो णेया ॥ ५१ ॥
संविग्गा गुरुविणया णाणी दंतिंदिया जियकसाया। भवविरहे उज्जुत्ता जहारिहं साहुणो होंति ॥५२॥

॥ स्थितास्थितविधिः समाप्तः ॥ १७ ॥

छक्कायअहिगमो पिंड उत्तरज्झाए। रुक्खे वसहे गोवे जोहे सोही य पुक्खरणी ॥ १ ॥" अयमर्थः--पूर्वं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमु-
पस्थापनाहेतुरासीत् अधुना षट्कायाधिगमः-षड्जीवनिकायिका, एवं पिंडग्रहणहेतुराचारो दशकालिकं च, तथोत्तराध्ययनान्या-
चारस्योपरि इदानीं तु दशकालिकस्येति, पूर्वं वृक्षाः कल्पवृक्षाः अधुना चूतादयोऽपि ते, तथा शोधिः पाण्मासिकी प्राक् अधुना
च पञ्चकल्याणकदशकल्याणकादिभिः, न च सा न भवति। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ एवं चरमसाधूनां चरणं व्यवस्थाप्यातिप्र-
संगवारणायाह—'एव'मित्यादि, एवं च--उक्तनीत्या संज्वलनव्यतिरिक्तकषायोदये न श्रमणत्वमित्येवंलक्षणया संक्लिष्टाः--
संक्लिष्टचित्ताः कषायान्तरोदयात् मातृस्थाने-मायायां नित्यं तल्लिप्सा-सदैव तत्पराः, परवञ्चनपरायणत्वात्, आजीवनमाजी-
विका-निर्वाहस्तदभावतया यद्भयं-भीतिस्तदाजीविकाभयं तेन ग्रस्ता-अभिभूता ये ते तथा, गृहस्थैर्विज्ञातनिर्गुणत्वा धनादिविर-
हिता वा कथं निर्वक्ष्याम इत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः, मूढा-मुग्धाः,परलोकसाधनवैमुख्येनेहलोकप्रतिबद्धत्वात्,नो-नैव साधवो ज्ञेया-
ज्ञातव्याः। इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ उक्तविपर्ययमाह—'संविग्गे'त्यादि, संविग्नाः-संसारभीरवः, अत एव गुरुषु--संसारोत्तर-
णोपायोपदेशकेषु विनताः--प्रणता गुरुविनताः, अत एव ज्ञानिनः--सुप्रसन्नगुरुवितीर्णश्रुतज्ञानाः, अत एव च दान्तेन्द्रिया--
जिताक्षाः जितकषाया-निगृहीतक्रोधादिभावाः भवविरहे-संसारवियोगे विधेये उद्युक्ताः--उद्यताः, ज्ञानक्रियारूपत्वात्तदुद्यमस्य,

यथार्हं-यथायोग्यं देशकालाद्यपेक्षया ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञत्वानुरूपं वा, न तु वक्रजडत्वे सति ऋजुप्रज्ञत्वोचिता इतरे चेति भावः, साधवो-यतयः भवन्ति-स्युः ॥ इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

॥ स्थितास्थितकल्पप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥ १७ ॥



॥ अथाष्टादशपञ्चाशकवृत्तिः ॥ १८ ॥

णमिऊण वद्धमाणं भिक्खुपडिमाण लेसओ किंपि । वोच्छं सुत्ताएसा भव्वहियट्ठाएँ पयडत्थं ॥ १ ॥
बारस भिक्खूपडिमा ओहेणं जिणवरेहिँ पण्णत्ता । सुहभावजुया काया मासाईया जओ भणियं ॥ २ ॥

उक्तः स्थितास्थितकल्पः, अथ कल्पसामान्यात् प्रतिमाकल्पं प्रतिपिपादयिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह—'णमी'त्यादि, नत्वा-प्रणम्य वर्धमानं-वीरजिनं भिक्षुप्रतिमानां-साधुप्रतिज्ञाविशेषाणां संबन्धि लेशतः-संक्षेपेण किमपि-किञ्चिदल्पमर्थजातं वक्ष्ये-अभिधास्ये सूत्रादेशात्-दशाश्रुतस्कन्धाभिधानागमोपदेशात् भव्यहितार्थाय-जीवविशेषपथ्यप्रयोजनार्थं प्रकटार्थं-स्फुटाभिधेयं यथा भवतीति क्रियाविशेषणं । इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अथ ताः संख्यादिभिर्दर्शयन्नाह—'बारे'त्यादि, द्वादशेति संख्या भिक्षुप्रतिमा वक्ष्यमाणशब्दार्थाः ओघेन--सामान्येन, विशेषतस्तु ता बहुतराः स्युर्यवमध्यावज्रमध्याभद्रादिसप्तसप्तमिकादीनां सद्भावात्, जिनवरैः-अर्हद्भिः प्रज्ञप्ताः-प्ररूपिताः, किंस्वरूपास्ता इति?, आह-शुभभावयुता-विशिष्टक्रियावत्प्रशस्ताध्यवसायविशे-

मासाइ सत्तंता पढमाबिइतइयसत्तराइदिणा । अहराइ एगराई भिक्खूपडिमाण बारसगं ॥ ३ ॥

पडिवज्जइ एयाओ संघयणधिइजुओ महासत्तो । पडिमाउ भावियप्पा सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ ॥ ४ ॥

पोपेताः कायाः—शरीराणि भिक्षुसंबन्धीनि, यच्चाभिग्रहेष्वपि वाच्येषु शुभभावयुताः काया इत्युक्तं तत् कायतस्तथाविधगुणयोगात् तत्प्रधानास्ते भिक्षवस्तदन्येभ्य इत्येतस्यार्थस्य ख्यापनार्थमिति, किमादिकास्ता इति ?, आह-मासादिकाः, आदिशब्दाद् द्विमासत्रिमासादिग्रहः, कुत एतदेवमिति ?, आह—यतो-यस्मात् भणितं—उक्तमावश्यकनिर्युक्त्याम् । इति गाथार्थः ॥ २ ॥ यदुक्तं तद्दर्शयन्नाह—'मासे'त्यादि, मासादयो-मासप्रभृतयः सप्तान्ताः-सप्तमासावसानाः एकैकमासवृद्ध्या सप्त प्रतिमा भवन्ति, तत्र मासः परिमाणमस्या मासिकी प्रथमा, एवं द्विमासिकी द्वितीया त्रिमासिकी तृतीया यावत्सप्तमासिकी सप्तमी, 'पढमसत्तइयसत्तराइदिण'त्ति सप्तानामुपरि प्रथमा द्वितीया तृतीया च सप्त रात्रिंदिनानि-रात्रिंदिवानि यस्यां सा तथा प्रतिमा भवति, तदभिलापश्चैवं-प्रथमसप्तरात्रिंदिवेत्यादि, एताश्चादितः क्रमेणाष्टमी नवमी दशमी चेति, 'अहराइ'त्ति अहोरात्रं परिमाणमस्या अहोरात्रिकी एकादशी, एका रात्रिर्यस्यां सा एकरात्रिरेकरात्रिकीत्यर्थः द्वादशीत्येवं भिक्षुप्रतिमानामुक्तार्थानां द्वादश परिमाणमस्येति द्वादशकं वृन्दं भवतीति गाथासमासार्थः ॥ ३ ॥ यः पुनरेताः प्रतिपद्यते तं गाथात्रयेणाह-'पडि' 'गच्छे' 'चोसे'त्यादि, प्रतिपद्यते—अभ्युपगच्छति एता अनन्तरोक्ताः संहननधृतियुतः, तत्र संहननं—वज्रर्षभनाराचादेराद्यत्रयस्यान्यतरत्, एतद्युक्तो ह्यत्यन्तं परीषहसहनसमर्थो भवति, धृतिः-चित्तस्वास्थ्यं तद्युक्तश्च रत्यरतिभ्यां न बाध्यते, महासत्त्वः-सात्त्विकः, स ह्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गेषु हर्षविषादौ न गच्छति, प्रतिमा उक्तनिरुक्ताः भावितात्मा-सद्भावभावनाभावितचित्तः

प्रतिमानुष्ठानेन वा भावितात्मा, तद्भावना च तुलनापञ्चकेन स्यात्, तद्यथा-"तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य। तुलणा पंचहा वुत्ता, पडिमं पडिवज्जओ ॥१॥" तत्र तपस्तुलना चतुर्थादितपांसि करोति, यदाह-"चउभत्तेहिं जाउं छट्ठेहिं अट्ठमेहिं दसमेहिं। बारस चोद्दसमेहि य धीराचि इमं तुलितऽप्पं॥१॥ एक्केकं ताव तवं करेइ जह तेण कीरमाणेणं। हाणी न होइ जइयावि होइ छम्मासुवसग्गे ॥ २ ॥" सत्त्वतुलना तु पञ्चभिः प्रतिमाभिर्भवति, कायोत्सर्गैरित्यर्थः, ताश्चैवं-"पढमा उवस्सयंमी बीया बाहिं तइय चउक्कंमि। सुण्णहरम्मि चउत्थी तह पंचमिया मसाणंमि ॥ १ ॥ आसुं थोवं थोवं पुव्वयवत्तं जिणेइ सो निद्दं। मूसगफासाइ तहा भयं च सहसुब्भवं अजियं ॥ १ ॥" सूत्रतुलना तु यत् सूत्राण्यतिपरिचितानि करोति, उक्तं च-"अह सुत्तभावणं सो एगग्गमणो अणाउलो भयवं। कालपरिमाणहेउं सव्व(मब्भ)त्थं सव्वदा कुणइ ॥ १ ॥ मेहाइच्छन्नेसुं उभओ कालमहव उवसग्गे। पेहाइ भिक्खपंथे जाणइ कालं विणा ठायं ॥ १ ॥" एकत्वतुलना त्वेवं-"एगत्तभावणं तह गुरुमाइसु दिट्ठिमाइपरिहारा। भावेइ णिम्ममत्तो तत्तं हिययंमि काऊणं ॥१॥ एगो आया संजोगियं तु सेसं इमस्स पाएणं। दुक्खनिमित्तं सव्वं हिओ य मज्झत्थभावो सो ॥ २ ॥" बलतुलना तु द्विविधा-शारीरमानसबलभेदात्, तत्र शारीरबलं कायोत्सर्गकरणसामर्थ्यं मानसबलं तु धृतिरिति, आह च-"इह एगत्तसमेओ सारीरं माणसं च दुविहंपि। भावइ बलं महप्पा उस्सग्गधिइसरूवं तु ॥ १ ॥" इदं चाभ्यासाद्भवति, आह च-"एसेन य देहबलं अभिक्खआसेवणाएँ तं होइ। लंखगमल्ले उवमा आसकिसोरे व जोगविएत्ति ॥ १ ॥" कथं भावितात्मेति ?, आह—सम्यग्-यथाऽऽगमं, अनुज्ञात इत्येतस्य चेदं विशेषणं, तथा गुरुणा-आचार्येण अनुज्ञातः—अनुमतः, अथ गुरुरेव प्रतिपत्ता तदा व्यवस्थापिताचार्येण गच्छेन वेति ॥ ४ ॥ गच्छ एव-साधुसमुदायमध्य एव तिष्ठन् निर्मातः-

गच्छे च्चिय णिम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा । णवमस्स तइयवत्थू होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥५॥
वोसट्ठचत्तदेहो उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी । एसण अभिग्गहीया भत्तं च अलेवडं तस्स ॥६॥

प्रतिमाकल्पपरिकर्मणि आहारादिविषये परिनिष्ठितः, आह च–"पडिमाकप्पियतुल्लो गच्छे चिय कुणइ दुविह परिकम्मं । आहारोवहिमाइसु तहेव पडिवज्जए कप्पं ॥ १ ॥" आहारादिप्रतिकर्म दर्शयिष्यते, प्रतिकर्मपरिमाणं चैवं–आसामाद्यासु सप्तसु या यावत्परिमाणा तस्यास्तत्प्रमाणमेव प्रतिकर्म, तथा वर्षासु नैताः प्रतिपद्यते न च प्रतिकर्म करोति, तथा आद्यद्वयमेकत्रैव वर्षे तृतीयचतुर्थ्यौ चैकैकस्मिन् वर्षे अन्यासां तु तिसृणामन्यत्र वर्षे प्रतिकर्म अन्यत्र च प्रतिपत्तिः, तदेवं नवभिर्वर्षैराद्याः सप्त समाप्यन्ते इति, अथ तस्य कियान् श्रुताधिगमो भवतीति ?, आह–यावत्पूर्वाणि दशेति प्रतीतं असंपूर्णानि–किञ्चिदूनानि, संपूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वाद्धर्मदेशनया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात् प्रतिमादिकल्पं न प्रतिपद्यते, भवेत्–स्यात् श्रुताधिगम इति योगः, उत्कृष्टश्चायं, जघन्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अथ जघन्यमेवाह–नवमस्य–पूर्वस्य प्रत्याख्याननामधेयस्य तृतीयवस्तु–आचाराख्यं तद्भागविशेषं यावदिति वर्तते भवति–स्यात् जघन्यः–अल्पीयान् श्रुताधिगमः–श्रुतज्ञानं सूत्रतोऽर्थतश्च,एतच्छ्रुतविकलो हि निरतिशयज्ञानत्वात् कालादि न जानातीति ॥ ५ ॥ व्युत्सृष्टः परिकर्माभावेन त्यक्तो ममत्वत्यागेन देहः—कायो येन स तथा, यतः—"अण्णो देहाउ अहं नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं । सो किंचि आहिरिकं न कुणइ देहस्स भंगेऽवि ॥ १ ॥" आहिरिकंति–प्रतीकारं, उपसर्गसहो—दिव्याद्युपद्रवसोढा यथैव–यद्वदेव जिनकल्पी —जिनकल्पिकः, तद्वदुपसर्गसह इत्यर्थः, एषणा–पिंडग्रहणप्रकारः, सा च सप्तविधा, तद्यथा—"संसट्ठ१मसंसट्ठा २ उद्धड ३ तह अप्पलेवडा४ चेव । उग्गहिया५ पग्ग-

हिया६ उज्झियधम्मा७ य सत्तमिया ॥ १ ॥" तत्रासंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्त्या 'असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते, अखरंटियत्ति वुत्तं भवइ' एवं गृह्णतः प्रथमा भवति, गाथाभंगभयाच्च विपर्ययनिर्देशः, संसृष्टा ताभ्यामेव चिन्त्या 'संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, खरंडियत्ति वुत्तं होइ' एवं गृह्णतो द्वितीया, उद्धृता नाम पाकस्थानाद् यत् स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृतं तत एव गृह्णतस्तृतीया, अल्पलेपा नाम अल्पशब्दोऽभाववाचकः निर्लेपं पृथुकादि गृह्णन इत्यर्थः चतुर्थी, अवगृहीता नाम भोजनकाले भोक्तुकामाय शरावादिना यदुपहृतं भोजनजातं तत एव गृह्णतः पञ्चमी, प्रगृहीता नाम भोजनवेलायां भोक्तुकामाय दातुमभ्युद्यतेन भोक्त्रा वा यत्करादिना प्रगृहीतं तद्गृह्णतः षष्ठी, उज्झितधर्मा तु यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकांक्षन्ति तदर्धत्यक्तं वा गृह्णत इति सप्तमी, अभिगृहीता-अभिग्रहवतीति, अभिग्रहश्चैवं—तासामाद्ययोर्द्वयोरग्रहः, पञ्चसु ग्रहः, पुनरपि विवक्षितदिवसे द्वयोरभिग्रहः एका भक्ते एका च पानके इति, भक्तं च—अन्नं पुनः अलेपकृतं—अलेपकारकं वल्लचणकादि तस्य प्रतिमाप्रतिपत्तुकामस्य परिकर्म कुर्वतः, चशब्दादुपधिश्च अस्य स्वकीयैषणाद्वयलब्ध एव, तदभावे यथाकृतोऽप्युचितप्राप्ति यावत् स्यात्, जाते तूचिते तं व्युत्सृजति, उक्तं च—"उवगरणं सुद्धेसणमाणजुयं जमुचियं सकप्पस्स। तं गिण्हइ तयभावे अहागडं जाव उचियं तु ॥ १ ॥ जोए उचिए य तयं वोसिरइ अहागडं विहाणेणं। इय आणानिरयस्सिह विण्णेयं तंपि तेण समं ॥२॥" कल्पोचितं चोपधिमुत्पादयति स्वकीयेनैषणाद्वयेन, एतच्चैषणाचतुष्टयेऽन्तिमं, एषणाचतुष्टयं पुनरिदं—कार्पासिकाद्युद्दिष्टमेव वस्त्रं ग्रहीष्यामि १ प्रेक्षितमेव २ परिभुक्तप्रायमेवोत्तरीयादि ३ तदप्युज्झितधर्मकमेव। इति गाथार्थः ॥ ६॥ अथैवंकृतपरिकर्मा यत्करोति तद्गाथाषट्केनाह—'गच्छा' 'आई' 'जाय' 'पुढ' 'जत्थ' 'वुड्ढ'इत्यादि, गच्छात्

गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जइ मासियं महापडिमं। दत्तेग भोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासं ॥७॥

आईमज्झवसाणे छग्गोयरहिंडगो इमो णेओ। णागरायवासी एगं च दुगं च अण्णाए ॥८॥

साधुसमूहात् विनिष्क्रम्य-तं विमुच्येत्यर्थः, तत्र यदि आचार्यादिरसौ तदाऽन्यकालिकं पाश्वन्तरे स्वादनिक्षेपं कृत्वा शुभेषु द्रव्यादिषु शरत्काले सकलसाधुसामंत्रणपूर्वकं, उक्तं च-"खामेइ तओ संघं सबालवुड्ढं जहोचियं एवं। अच्चंतं संविग्गो पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥१॥ जं किंचि पमाएणं न सुट्ठु भे वट्टिअं मए पुव्विं। तं भे खामेमि अहं निस्सल्लो निक्कसाओत्ति ॥२॥" प्रतिपद्यते-अभ्युपगच्छति मासिकीं-मासप्रमाणां महाप्रतिमां-गुरुप्रतिज्ञां, तत्र च दत्तिः-अविच्छिन्नदानरूपा एका-एकैव भोजनस्य-अन्नस्याज्ञातोञ्छरूपस्योत्तरैषणापञ्चकान्यतरोपात्तस्यालेपकारिणः कृपणादिभिरजिघृक्षितस्य एकस्यामिमत्कस्यैव अगुर्विणीबालवत्सापीयमानस्तनादिदीयमानस्य एलुकाविष्कम्भतः, तथा पानस्यापि-पानकाहारस्य च एकैव तेन प्रतिमा मासमेकं यावदिति ॥७॥

'आई'इत्यादि, 'आईमज्झवसाणे'त्ति दिवसस्यादौ मध्येऽवसाने वा, किमिति?, आह-गोरिव चरणं गोचरः, यथा गौरुच्चावचतृणेषु मुखं व्यापारयंश्चरति एवं यदुच्चावचगृहेषु साधोर्भिक्षार्थं संचरणं स गोचरः ततः षड्भिर्गोचरैर्हिंडत इति षड्गोचरहिंडकः, ते चामी-पेटा१ अर्धपेटा२ गोमूत्रिका३ पतङ्गवीथिका४ संबुक्कवृत्ता५ गत्वाप्रत्यागता६ चेति, तत्र पेटा-चतुरस्रतागमनं अर्धपेटा-पेटार्धमानतागमनं गोमूत्रिका-गोमूत्रवद्गमनं पतङ्गवीथिका-शलभवद्गमनं अर्द्धविर्दमिश्रर्थः संबुक्कवृत्ता-शंखवद्वृत्ततागमनं, सा च द्विविधा-प्रदक्षिणतोऽप्रदक्षिणतश्च, गत्वाप्रत्यागता नाम एकस्यां गृहपंक्तौ भिक्षां गृह्णन् गत्वा द्वितीयायां तयैव निवर्तते यत्रेति, 'इमो'त्ति अयं प्रतिमाप्रतिपन्नः ज्ञेयो-ज्ञातव्यः, तथा ज्ञातः-प्रतिमाप्रतिपन्नोऽयमित्येवं जनेनावसितः सन् एकरात्रवासी-एका

जायणपुच्छाणुण्णावणपण्हवागरणभासगो चेव । आगमणवियडगिहरुक्खमूलगावासयतिगोत्ति ॥९॥
पुढवीकट्ठजहऽत्थिण्णसारसाई ण अग्गिणो बीहे । कड्ढाइ पायलग्गं णऽवणेइ तहऽच्छि कणुगं वा ॥१०॥

ग्रामादावहोरात्रमेव वस्तुंशीलः, तथा एकं च-एकरात्रं द्विकं च-रात्रिद्वयं ग्रामादौ वस्तुं शीलमिति गम्यं चशब्दौ विकल्पार्थौ अज्ञातो-यत्र ग्रामादावविदितः प्रतिमाप्रतिपन्नतयेति ॥ ८ ॥ याचनं-संस्तारकोपाश्रयादीनां याञ्चार्थां भाषा पृच्छा—संशयित-सूत्रार्थयोर्गृहादेर्वा प्रश्नरूपा भाषा अनुज्ञापनं-तृणकाष्ठादीनामनुज्ञापनभाषा प्रश्नव्याकरणं-प्रश्नितानां सूत्रादीनां सकृद् द्विर्वा अभिधानरूपा भाषा एतदेव भाषते-वक्ति योऽसौ याचनपृच्छानुज्ञापनप्रश्नव्याकरणभाषकः, चैवशब्दोऽवधारणार्थत्वेन भाषान्तर-निषेधार्थः, तथा गृहशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् आगमनगृहं-आगन्तुकागारं यत्र कार्पटिकादय आगत्य वमन्ति तथा विवृतगृहं-यदधः कुड्याभावाद् उपरि चाच्छादनाभावादनावृतं तथा वृक्षमूलकं-करीरादितरुमूलं साधुवर्जनीयदोषरहितं एतल्लक्षणाऽऽवासकत्रिकं-वसतित्रयं यस्यासावागमनविवृतगृहवृक्षमूलकावासकत्रिकः, इतिशब्दो वाक्यसमाप्ताविति ॥९॥ पृथिवीति-पृथिवीशिला 'उदूगो'त्ति लोके रूढः 'कट्ठ'त्ति काष्ठशिला-काष्ठफलकं 'जहत्थिण्ण'त्ति यथास्तीर्णं-यथा संस्तृतः कुशादिसंस्तारकः स चासौ सारश्च-अशुषिरो यथास्तीर्णसारः एतेषु वा त्रिषु सारेषु शयितुं-स्वप्तुं कारणविशेषाच्छीलमस्येति पृथिवीकाष्ठयथास्तीर्णसारशायी, उक्तं च—"मा-सियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स कप्पंति तओ संथारगा अहिट्ठित्तए, तंजहा-पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहसंथडमेव व"त्ति, तथा न-नैव अग्नेः-वह्नेः बिभेति-भयमेति, प्रदीप्तोपाश्रयान्न निर्गच्छतीत्यर्थः, अथ कश्चिद्वाह्वादौ गृहीत्वा कर्षति तदा निर्यात्यपीति, तथेति समुच्चयार्थोऽत्र दृश्यः, काष्ठादि-दारुप्रभृति, आदिशब्दात् कंटकशर्करादेर्ग्रहः, पादलग्नं-चरणप्रविष्टं नापनयति-न स्फेटयति

जत्थऽत्थमेइ सूरो न तओ ठाणा पयंपि संचरइ । पायाई णं पक्खालइ एसो वियडोदगेणावि ॥११॥
दुट्ठऽस्सहत्थिमाई तओ भएणं पयंपि णोसरई । एमाइणियमसेवी विहरइ जाऽखंडिओ मासो ॥१२॥
पच्छा गच्छमईई एवं दुम्मासि तिमासि जा सत्त । णवरं दत्तिविवड्ढी जा सत्त उ सत्तमासीए ॥१३॥

तथेति योजितमेव अक्षिकणुकं-लोचनपतितरेणुकं वाशब्दः समुच्चये । इति ॥१०॥ यत्र जलस्थलदुर्गादौ स्थितस्येति गम्यते अस्त-मेति-पर्यन्तं याति सूरो-रविः न-नैव ततः-तस्मात् स्थानाज्जलादेः पदमपि-पादप्रमाणमपि क्षेत्रं, आस्तां दूरं, संचरति गच्छति आदित्योदयं यावत्, तथा पदादि-चरणकरमुखादिकमपि न-नैव प्रक्षालयति-शौचयति एष प्रतिमास्थितः विकृतोदकेनापि-प्रासुकजलेनापि, तदन्यसाधवो हि पुष्टालंबने पादादि प्रक्षालयन्त्यपि अयं तु न कथञ्चिदपीति संसूचनार्थोऽपिशब्दः ॥११॥ 'दुट्ठऽस्सहत्थिमाति' इति लुप्तपञ्चमीकं दुष्टाश्वहस्त्यादेः-मारकतुरगकरिवरप्रभृतेः, आदिशब्दात् सिंहव्याघ्रादिग्रहः, ततोऽसौ प्रतिमास्थः भयेन-मरणभीत्या पदमपि-पादविक्षेपमात्रमपि किं पुनर्दूरं ? न-नैव अपसरति—अपगच्छति, दुष्टो हि मारणार्थमागच्छन्नपसृतेऽपि साधौ हरितादि विराधयिष्यतीत्यतो नापसरति, अदुष्टस्त्वसौ साधौ मार्गेणैव गच्छति ततो हरितादिविराधना न स्यादित्य-दुष्टादपसरतीति, एवमादिनियमसेवी-एतत्प्रभृतिकाभिग्रहानुपालकः सन्, आदिशब्दाच्छायाया उष्णमुष्णाच्छायां नोपैतीत्यादि-ग्रहः, विहरति-ग्रामानुग्रामं संचरति यावदखंडितः-परिपूर्णो मासः प्रतीतः तावत इति शेषः, इति गाथाषट्कार्थः ॥ १२ ॥ ततः किमिति?, आह-'पच्छे'त्यादि, पश्चात् मासपूरणानन्तरं गच्छं-साधुसमूहं अत्येति-प्रविशति विभूत्या, तथाहि-गच्छस्थानासन्न-ग्रामे आगच्छत्यसौ, आचार्यास्तु तत्प्रवृत्तिमन्विच्छंति, ततो राजादीनां निवेद्यते, यथा "परिपालितप्रतिमारूपमहातपाः साधुर-

तत्तो य अट्ठमी खलु हवइ इहं पढमसत्तराइंदी । तीए चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ॥१४॥

उत्ताणग पासल्ली णेसज्जी वावि ठाणगं ठाउं । सहउवसग्गे घोरे दिव्वाई तत्थ अविकंपो ॥१५॥

त्रागतः" ततो राजादिलोकैः श्रमणसंघेन वाऽभिनन्द्यमानस्तत्र प्रवेश्यते तपोबहुमानार्थं तस्य तदन्येषां च श्रद्धाभिवृद्ध्यर्थं प्रवचनप्रभावनार्थं चेति, एवमाद्योक्ता, शेषाः प्रत्यतिदिशन्नाह–एवं–अनेनैव न्यायेन 'दुम्मासी'ति द्वौ मासौ यस्यां सा द्विमासा, एवं त्रिमासा 'जा सत्त'त्ति सप्त प्रतिमाः सप्तमासिकांता यावदयं न्याय इति, सर्वथा साम्यं परिहरन्नाह–नवरं–केवलं दत्तिविवृद्धिः—भिक्षाविशेषवर्धनं भवति यावत् सप्त तु–सप्तैव दत्तय एकोत्तरया वृद्ध्या सप्तमासिकायां प्रतिमायां, इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ अथाष्टमीमाह—'तत्तो'इत्यादि 'उत्ते'त्यादि, ततश्च–सप्तम्यनन्तरं अष्टमी प्रतिमा खल्वलङ्कारे भवति–स्यात् इह प्रक्रमे सप्त रात्रिंदिवानि–अहोरात्राणि यस्यां सा तथा सा पुनस्तिसृणां मध्ये आद्येति प्रथमसप्तरात्रिंदिवा,तस्यां प्रथमसप्तरात्रिंदिवायां 'चउत्थचउत्थेणे'ति चतुर्थं चतुर्थेनैकान्तरोपवासेनेत्यर्थः आसितव्यमिति शेषः, अपानकेन–पानकाहाररहितेन चतुर्विधाहाररहितेनेत्यर्थः, अथेत्ययमुक्तो वक्ष्यमाणश्च विशेषो–भेदः प्राक्तनप्रतिमाभ्यः तथेह पारणके आयामाम्लं दत्तिनियमस्तु नास्तीति ॥ १४ ॥ तथा उत्तानकः–ऊर्ध्वमुखशयितः 'पासल्ली'ति पार्श्वशयितः 'नेसज्जी'ति निषद्यावान् समपूतताोपविष्टः वापीति विकल्पार्थः स्थानकं–उत्क्रमेण कायचेष्टाविशेषरूपं स्थित्वा–कृत्वा ग्रामादिभ्यो बहिरिति शेषः दशावचनप्रामाण्यात् सहते–क्षमते उपसर्गान्–उपद्रवान् घोरान्–रौद्रान् दिव्यादीन्–देवकृतादीन्, आदिशब्दान्मानुषतैरश्चादिग्रहः,तत्र तस्यां प्रतिमायां अविकंपो–मनःशरीराभ्यामचलः इति गाथाद्वयार्थः ॥ १५ ॥ नवमीमाह—'दोच्चे'त्यादि, द्वितीयापि–द्वितीयसप्तरात्रिंदिवप्रतिमापि, आस्तां प्रथमा, ईद-

दोच्चावि एरिसच्चिय बहिया गामाइयाण णवरं तु। उक्कुडलगंडसाई दंडायअओ व्व ठाऊणं ॥१६॥
तच्चावि एरिसच्चिय णवरं ठाणं तु तस्स गोदोही। वीरासणमहवावि हु ठाएज्जा अंबखुज्जो वा ॥१७॥
एमेव अहोराई छट्ठंभत्तं अपाणगं णवरं। गामणगराण बाहिं वाघारियपाणिए ठाणं ॥ १८ ॥
एवमेव अहोरात्रि छट्ठंभत्तं अपाणगं णवरं। गामणगराण बाहिं वाघारियपाणिए ठाणं ॥ १८ ॥

इयेवोक्तरूपैव प्रथमामदृश्येवेत्यर्थः तपःपारणकमाधर्म्याद्ग्रामादिबहिर्वृत्तिसाधर्म्याच्च, अत एवाह—बहिस्तादेव—बहिरेव ग्रामादीनां—सन्निवेशविशेषाणां, नवरं—केवलमयं विशेषः तुशब्दोऽवधारणे योजितश्च उक्कुडुको—भूम्यामन्यस्तपूततयोपविष्टः तथा लगंडं—वक्रकाष्ठं तद्वच्छेते यः एवंशीलोऽसौ लगंडशायी—पार्ष्णिकाभिरेव पृष्ठदेशेनैव वा स्पृष्टभूः तथा दंडवद्—यष्टिवदायतो—दीर्घो दंडायतो—भून्यस्तायतशरीरः स एव दंडायतकः वाशब्दो विकल्पार्थः स्थित्वा—अवस्थाय दिव्याद्युपसर्गान् सहते इति प्रकृतं। इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ अथ दशमीमाह—'तच्चे'त्यादि, तृतीयापि—तृतीयसप्तरात्रिंदिवप्रतिमापि, आस्तां द्वितीया, ईदृश्येवोक्तरूपैव प्रथमातुल्यैवेत्यर्थः तपःपारणकग्रामादिबहिर्वृत्तिसाधर्म्यात्, नवरं—केवलं स्थानं—कायसंस्थानं तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च तस्य प्रतिमास्थितस्य 'गोदोही'ति गोदोहनक्रियैव गोदोहिका गोदोहनप्रवृत्तस्येवाग्रपादतलाभ्यामवस्थानक्रियेत्यर्थः अथ सैव भवति विधेयेति शेषः, तथा वीराणां—दृढसंहननानामासनं अवस्थानं वीरासनं, तद्धि सिंहासनाधिरूढस्य सिंहासनापनयनेऽविचलितस्याऽवस्थानतुल्यं तदपि स्थानं तस्येति प्रकृतं अथवेति प्रकारान्तरार्थः अपिशब्दः समुच्चयार्थो योजित एव हुर्वाक्यालङ्कारे तिष्ठेद्—अवतिष्ठेत्, आम्रकुब्जस्तु—सहकारफलवद्वक्राकार एवेति, एवमेतास्तिस्रोऽप्येकविंशत्या दिनानां यान्ति। इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ अथैकादशीमाह—'एमेवे'त्यादि, एवमेव—अनन्तरोक्तनीत्या अहोरात्रिकी—अहोरात्रपरिमाणा भवति नवरं—केवलमयं विशेष इत्यर्थः

एमेव एगराई अट्ठमभत्तेण ठाण बाहिरओ । ईसीपब्भारगओ अणिमिसणयणेगदिट्ठीए ॥१९॥

साहट्टु दोऽवि पाए वाघारियपाणि ठायइ ट्ठाणं । वाघारि लंबियभुओ अंते य इमीएँ लद्धित्ति ॥२०॥

षष्ठं भक्तं-भोजनं वर्ज्यतया यत्र तत् षष्ठभक्तं-उपवासद्वयरूपं तपः,तत्र ह्युपवासद्वये चत्वारि भक्तानि वर्ज्यन्ते,एकाशनेन च तदा रभ्यते तेनैव च निष्ठां यातीत्येवं षड्भक्तवर्जनरूप तदिति,इह च षष्ठमित्यनुस्वारः प्राकृतत्वादागमिकः,अपानकं-पानकाहाररहितं तस्यां विधेयमिति शेषः, तथा ग्रामनगरेभ्यः प्रतीतेभ्यः बहिः-बहिस्तात् व्याघारितपाणिके-प्रलंबभुजस्येत्यर्थः स्थानं-अवस्थानं भवति तत्प्रतिपन्नस्येति, इयं चाहोरात्रिकी त्रिभिर्दिवसैर्याति प्रतिमा अहोरात्रस्यान्ते षष्ठभक्तकरणात्, यदाह-"अहोराइया तिर्हि, पच्छा छट्ठं करेइ" । इति गाथार्थः ॥१८॥ अथ द्वादशीमाह-'एमेवे'त्यादि, 'साहे'त्यादि, एवमेव-अहोरात्रिकीवदेकरात्रिकी-एकरात्रिमाना, विशेषमाह-अष्टमभक्तेन-उपवासत्रयरूपेण स्थान-अवस्थानं तत्कर्तुः 'बाहिरउ'त्ति बहिस्ताद्ग्रामादेः, तथेषत्प्राग्भारगतः-ईषत्कुब्जो नद्यादिदुस्तटीस्थितो वाऽसौ स्यात् तथाऽनिमिषनयनो-निर्निमेषलोचनः तथैकदृष्टिकः-एकपुद्गलगतदृष्टिः यथास्थितगात्रो गुप्तसर्वेन्द्रिय इति ॥ १९ ॥ 'साहट्टु'त्ति संहृत्य द्वावपि पादौ-क्रमौ, जिनमुद्रया व्यवस्थाप्येत्यर्थः, व्याघारितपाणीर्वक्ष्यमाणार्थः 'ठायइ'त्ति तिष्ठति-करोति स्थानं-कायसंस्थानविशेषं वाघारितपाणिरिति-लंबितभुजोऽवलंबितबाहुरुच्यते, सम्यक्पालने चास्या यत्स्यात्तदाह-अन्ते च-सम्यक्पर्यन्तनयने पुनः अस्या एकरात्रिकप्रतिमायाः लब्धिः-लाभविशेषः स्यात्, आह च-"एगराइयं च णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स इमे तओ ठाणा हियाए भवंति, तंजहा-ओहिनाणे वा समुप्पज्जेज्जा, मणपज्जवनाणे वा समुप्पज्जेज्जा, केवलनाणे वा असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा", इतिशब्दः समाप्तौ,इयं च प्रतिमा रात्रेरनन्तरमष्टमकरणाच्च

आह ण पडिमाकप्पे सम्मं गुरुलाघवाइचिंतत्ति । गच्छाउ विणिक्खमणाइ ण खलु उवगारगं जेण ॥२१॥

तत्थ गुरुपारतंतं विणओ सज्झाय सारणा चेव । वेयावच्चं गुणवुड्ढि तहय णिप्फत्ति संताणो ॥२२॥

चतूरात्रिदिवमाना स्यात्, यदाह–"एगराइया चउहिं, पच्छा अट्ठमं करेइ" । इति गाथाद्वयार्थः ॥२०॥ इहैव प्रतिमाकल्पे परमतमुपदर्शयन् गाथाचतुष्टयमाह–'आह' 'तत्थ गुरु' 'दत्ते' 'पडिमा'इत्यादि, आह–ब्रूते परः,किं तदिति?,आह–न–नैव प्रतिमाकल्पे प्रागुक्तरूपे सम्यग्–यथावत् गुरुलाघवादिचिन्ता 'गच्छवासो गुरुः स्वपरोपकारहेतुत्वात्, निर्गमस्तु लघुः स्वोपकारमात्रहेतुत्वात्" इत्यादिविचारः, आदिशब्दात्तपःप्रभृत्युभयत्रापि तुल्यमित्येतद्ग्रहः अस्तीति गम्यते इतिः प्रतिज्ञार्थसमासौ, अत्रोपपत्तिमाह–गच्छात्–साधुसमूहात् विनिष्क्रमणादि—निर्गमप्रभृति, आदिशब्दाद्धर्मानुपदेशनादिग्रहः, न खलु–नैव उपकारकं–गुणावहं येन–यस्माद्धेतोरिति ॥ २१ ॥ कथं नोपकारकमिति ?, आह—तत्र गच्छे गुरुपारतंत्र्यं—आचार्यायत्तता निखिलानर्थनिबन्धनस्वैरताप्रतिपन्थिनी विनयः तदुचितविषये विनीतत्वं मानगिरिकुलकुलिशकल्पं तथा स्वाध्यायो–वाचनादिपञ्चप्रकारो मतिनयननिर्मलताञ्जनोपमानः सारणा–विस्मृतार्थानुसारणं विस्मृतशस्त्रशत्रुप्रारब्धपुरुषामोघशस्त्रसारणकल्पा अथवा स्वाध्यायसारणा–स्वाध्यायनिर्वाहणेत्येकमेव चैवेति समुच्चये तथा वैयावृत्त्य–व्यावृत्तभावस्तत्कर्म वा भक्तादिभिरुपष्टंभनं तीर्थकरत्वादिमत्फलनिमित्तविशिष्टपुण्यमहातरुनिरुपहतबीजकल्पं तथा गुणवृद्धिः स्वगतज्ञानादिगुणवर्धनमनुपमानंदरसदानदक्षेक्षुयष्टिपुष्टिप्रायं तथाचेति समुच्चये निष्पत्तिः–सद्गुणत्वेन शिष्यसंसिद्धिः फलवन्तानसाधनसमर्थधान्यनिष्पत्तितुल्यः ततः सन्तानः–शिष्यप्रशिष्यादिवंश. संसारगर्तगतांगिवर्गस्य निर्गमनसोपानपरंपरारूपः, न चैते गुणा गच्छनिर्गम इति ॥ २२ ॥ प्राकृते पूर्वापरनिपातोऽतंत्रमितिकृत्वा एका-

दत्तेगाइगुहोऽवि हु तइसज्झायाभावओ ण सुहो । अंताइणोवि पीडा धम्मकायस्स ण सुसिलिट्ठं ॥२३॥

एवं पडिमाकप्पो चिंतिज्जंतो उ निउणदिट्ठीए । अंतरभावविहूणो कह होइ विसिट्ठगुणहेऊ? ॥२४॥

भण्णइ विसेसविसओ एसो ण उ ओहओ मुणेयव्वो । दसपुव्वधराईणं जम्हा एयस्स पडिसेहो ॥२५॥

दिदत्तिग्रहोऽपि-एकत्र्यादिभिक्षाविशेषग्रहणमपि उक्तन्यायेनाभिग्रहरूपं न शुभ इतियोगः अपिः समुच्चये हुरवधिपालङ्कारे, कुत इति?, आह-तथास्वाध्यायाद्यभावतः-तथाप्रकारस्य निरन्तरस्य स्वाध्यायध्यानादेरसद्भावात्, स्वाध्यायादयश्च निराबाधा गच्छवास एव अनेकद्रव्यादिग्रहणेन सावष्टम्भकायतया सम्पद्यन्त इति हृदयं, न शुभो-न श्रेयान्, तथाऽन्ते भवमन्त्यं-जघन्यं वल्लचणकादि तदत्तुं-भोक्तुं शीलमस्येत्यन्त्यादी तस्यान्त्यादिनोऽपि यतः प्रतिमास्थस्य पीडा-बाधा धर्मकायस्य-धर्मसाधनशरीरस्य भवतीति शेषः, धर्मकायपीडाभवनं न च-नैव सुश्लिष्टं-संगतं वर्जनीयत्वात्, यदाह-"भावियजिणवयणाणं ममत्तरहियाण णत्थि उ विसेसो । अप्पाणंमि परंमि य तो वज्जे पीडमुभओऽवि ॥१॥" इति ॥२३॥ ततश्च एवमुक्तन्यायेन प्रतिमाकल्पोऽनन्तरोक्तः चिन्त्यमानो-विचार्यमाणः तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च निपुणदृष्ट्या तु-सूक्ष्मबुद्ध्यैव आन्तरभावविहीनः-परमार्थवियुक्त एव, कथं? न कथंचिदित्यर्थः भवति-स्यात् विशिष्टगुणहेतुः-पारमार्थिकोपकारनिमित्तं, प्रयोगश्चात्र-यदान्तरभाववियुक्तं तद्विशिष्टगुणहेतुर्न भवति, यथा पञ्चाग्नितपःप्रभृति आन्तरभाववियुक्तश्चायमिति गाथाचतुष्कार्थः ॥२४॥ अत्रोत्तरमाह-भण्यते-अभिधीयते समाधिः विशेषविषयः-पुरुषविशेषगोचरः एष प्रतिमाकल्पः, न तु-न पुनः ओघतः-सामान्यतः 'मुणेयव्वो'त्ति ज्ञातव्यः, कुत एतदेवमिति?, आह—दशपूर्वधरादीनां-दशैकादशादिपूर्वधराणां यस्माद्-यतः एतस्य प्रतिमाकल्पस्य प्रतिषेधोऽस्ति, तन्निषेधश्च—"गच्छे चिय

पत्थुयरोगचिगिच्छावत्थंतरतव्विसेससमतुल्लो। तह गुरुलाघवचिंतासहिओ तक्कालवेक्खाए ॥२६॥
णिवकरलूयाकिरियाजयणाए हंदि जुत्तरूवाए। अहिदट्ठाइसु छेयाउ वज्जयंतीह तह सेसं ॥२७॥

निम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्ण"त्ति वचनात्, दशपूर्वधरादयो हि गच्छ एव वसन्त उपकारकारकाः, अतः प्रतिमाकल्पे गुरुलाघवादिचिन्ता नास्तीत्ययुक्तं। इति गाथार्थः ॥२५॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह-'पत्थुये'त्यादि, प्रस्तुता-अधिकृता या रोगचिकित्सा-व्याधिप्रतिक्रिया तस्यां यदवस्थान्तरं-रोगिणो रोगान्तरकृतः कष्टतरपर्यायविशेषः तत्र यस्तद्विशेषः-चिकित्सान्तरं तेन समतुल्यः-अत्यन्तसदृशो यः स प्रस्तुतरोगचिकित्सावस्थान्तरतद्विशेषसमतुल्यः, अथवा तुल्यशब्दपर्यायो वा समतुल्यशब्दोऽस्ति, यथा 'समतुल्यं पराक्रमै'रिति अथवा प्रस्तुतरोगचिकित्सायां यदवस्थान्तरं-अधिकृतरोगस्यैवच्छ्रपरूपं तत्र यस्तद्विशेषो-रोगान्तरं यस्य सः तस्य यः शमः-शमनोपायश्चिकित्सेत्यर्थः तत्तुल्यो यः स तथा, प्रतिमाकल्प इति प्रकृतं, तथा-तेन प्रकारेण उक्तदृष्टान्तसाधर्म्यरूपेण गुरुलाघवचिन्ता-सारेतरालोचनं तया सहितो-युक्तो यः स तथा, कथमिति?, आह तत्कालापेक्षया-प्रतिपत्त्यवसरमालम्ब्य, विहितसमस्तस्थविरकल्पकार्यस्य हि समाश्रयणीयतर एव प्रतिमाकल्पोऽतस्तदा गुरुकोऽसौ इतरस्तु लघुः, अन्यदा तु स्थविरकल्प एव गुरुतर इति सुष्ठूक्तं 'तत्कालापेक्षया गुरुलाघवचिन्तासहित' इति गाथार्थः ॥२६॥ उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—'णिवे'त्यादि, नृपकरे-राजहस्ते लूता-वातिको रोगविशेषो नृपकरलूता तस्य उपशमाय क्रिया-चिकित्सा मंत्रापमार्जनादिका तस्यां या यतना-प्रयत्नः सा तथा तस्यां नृपकरलूताक्रियायतनायां हंदीत्युपप्रदर्शने, किंविधायामिति?, आह-युक्तरूपायां-संगतायां प्रस्तुतायामिति शेषः अहिदष्टादिषु-सर्पदशनप्रभृतिषु अधिकृतक्रियाया असाध्येषु सद्योघातिषु सत्सु, आदिशब्दाद्विशूचिकादिग्रहः, नृपस्येति

एवं चिय कल्लाणं जायइ एयस्स इहरहा ण भवे । सव्वत्थावत्थोचियमिह कुसलं होइऽणुट्ठाणं ॥२८॥

इय कम्मवाहिकिरियं पव्वज्जं भावओ पवण्णस्स । सइ कुणमाणस्स तहा एयमवत्थंतरं णेयं ॥२९॥

तह सुत्तवुड्ढिभावे गच्छे सुत्थंमि दिक्खभावे य । पडिवज्जइ एयं खलु ण अण्णहा कप्पमवि एवं ॥३०॥

गम्यं, छेदादि-अहिदंशप्रदेशे कर्तनदहनप्रभृति तज्जन्यानर्थनिवर्तनक्षमं चिकित्साविशेषं कुर्वन्तीति शेषः, वर्जयन्ति-परिहरन्ति वैद्याः इह सर्पदष्टादौ तथेति समुच्चये शेषां-मंत्रापमार्जनादिकां लूताक्रियामधिकृतामपीति गाथार्थः॥२७॥ कुतस्तामधिकृतां वर्जयन्तीति?, आह—'एव'मित्यादि, एवमेव-अधिकृतक्रियावर्जनेनैव च्छेदादिक्रियाविशेषकरणेनैव च कल्याणं-श्रेय आरोग्यमित्यर्थः जायते-स्यात् एतस्य नृपस्य, इतरथा-च्छेदाद्यकरणे मंत्रापमार्जनामात्रात् न भवेत्-न स्यात् कल्याणं,अहिदष्टतया मरणप्राप्तेः, अथाधिकृतक्रियात एव कस्मात्कल्याणं न स्यादिति?,अत आह सर्वत्र-देशे काले पुरुषे वा अवस्थोचितं-भूमिकानुरूपं इह लोके कुशलं-कल्याणहेतुः भवति-स्यात् अनुष्ठानं-कर्तव्यं, अतः सर्पदष्टादौ च्छेदादिविधानमेव कल्याणहेतुः । इति गाथार्थः ॥२८॥ अथ 'अहिगयरोगचिगिच्छे' त्यादिप्रथमव्याख्यानुसारेण दार्ष्टान्तिकयोजनायाह—'इये'त्यादि, इति एवं लूतादिक्रियावत् कर्मव्याधिक्रियां-कर्मरोगचिकित्सां, कामिति?,आह-प्रव्रज्यां दीक्षां लूतादिक्रियाकल्पां भावतो-भावेन प्रपन्नस्य-अभ्युपगतवतः सकृत्-सदा कुर्वाणस्य-तामेव विदधतः तथेति समुच्चये तेन वा प्रकारेण-स्थविरकल्पोचितत्वलक्षणेन एतद्-इदं अवस्थान्तरं-पर्यायान्तरं मंत्रापमार्जनादिकल्पस्थविरकल्पापेक्षयाऽहिदष्टादिकल्पं तीव्रतरकर्मविपाकरूपं च्छेददाहादिचिकित्साविशेषतुल्यप्रतिमाकल्पस्यैव माव्यं ज्ञेयं-ज्ञातव्यं । इति गाथार्थः ॥२९॥पुनरपि गुरुलाघवचिन्तामहितत्वमस्य दर्शयन्नाह—'तहे'त्यादि, तथेति युक्त्यन्तर-

इहरा ण सुत्तगुरुया तयभावे ण दसपुव्विपडिसेहो। एत्थं सुजुत्तिजुत्तो गुरुलाघवचिंतवज्जंमि ॥३१॥

अप्पपरिच्चाएणं बहुतरगुणसाहणं जहिं होइ। सा गुरुलाघवचिंता जम्हा णाओववण्णत्ति ॥३२॥

समुच्चये सूत्रवृद्धिभावे-सूत्रार्थवृद्धौ सत्यां, क ?-गच्छे-साधुगणे बहुश्रुतसाध्वधिष्ठितत्वात्, अथवा अकारप्रश्लेषात् सूत्रावृद्धिभावे-किञ्चिदूनदशपूर्वाधिकतरश्रुतग्रहणशक्त्यभावे इत्यर्थः तथा गच्छे-साधुगणे सुस्थे-अनाबाधे सति बालवृद्धग्लानाद्यभावात्समति चारकभावाद्वच्छपालनोचिताचार्यादिसद्भावाच्च तथा दीक्ष्यस्य-प्रव्राज्यस्याभावो दीक्ष्याभावस्तत्र चशब्दः समुच्चये प्रतिपद्यते अभ्युपगच्छति एतं-प्रतिमाकल्प, खलुरवधारणे, ततश्च न नैव अन्यथा-उक्तवस्तुत्रयाभावे कल्पमपि-उचितमपि, कथमिति?, आह-एवं-प्रागुक्तसंहननधृत्यादियोगेन अथवा कल्पमपि एवं-पूर्वोक्तवस्तुत्रयसद्भावे प्रतिपद्यते, नान्यथेत्यर्थः, अतः कथमयं गुरुलाघवचिन्तारहितः ?, इति गाथार्थः ॥३०॥ विपर्यये दोषमाह—'इहरे'त्यादि, इतरथा-गच्छस्य सूत्रवृद्ध्यभावे स्वस्य वा श्रुतवृद्धिसंभवे सति प्रतिमाप्रतिपत्तावित्यर्थः न-नैव सूत्रगुरुता-श्रुतगौरव कृतं स्यात्, अथवा गौरवमेव तदित्यत्राह-तदभावे-श्रुतगौरवाभावे न-नैव दशपूर्विप्रतिषेधो-दशादिपूर्वधरस्य प्रतिषेधो-निषेधः अत्र प्रतिपत्तव्ये सुयुक्तियुक्तः-सन्न्यायसंगतः, तस्य हि श्रुतनिर्यूहणादिसमर्थतया प्रवचनोपकारित्वात् प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तिनिषेधोऽस्तीति, किंविधे तत्रेति?, आह-गुरुलाघवचिन्तारहिते परमतेन सारेतरविभागालोचनविरहिते, ततोऽसौ न गुरुलाघवचिन्तारहितः इति गाथार्थः ॥३१॥ 'अप्पे'त्यादि, अल्पपरित्यागेन-स्वल्पतरगुणपरिहारेण बहुतरगुणसाधन अनल्पतरगुणनिष्पादनं यत्र-यस्यां चिन्तायां भवति-स्यात् सा चिन्ता गुरुलाघवचिन्ता-सारेतरपर्यालोचना यस्माद्धेतोः न्यायोपपन्ना नीतिसंगता तस्मात्तत्सहितोऽयं कल्पः इति प्रकृतं, इतिशब्दः समाप्तौ। इति गाथार्थः ॥३२॥ सूत्रपु-

वेयावच्चुचियाणं करणणिसेहेणमंतरायंति । तंपि हु परिहरियव्वं अइसुहुमो होउ एसोत्ति ॥३३॥

ता तीए किरियाए जोग्गयं उवगयाण णो गच्छे । हंदि उविक्खा णेया अहिगयरगुणे असंतंमि ॥३४॥

द्विभावे एवायं कल्पः कृत्य इत्युक्तं, अथ गच्छे सुस्थ एवेति दर्शयन्नाह–'वेये'त्यादि, वैयावृत्त्योचितानां–भक्ताद्युपष्टंभयोग्यानां गच्छाश्रितबालग्लानादीनां अन्तराय इति योगः, कथं ?, करणनिषेधेन–वैयावृत्त्यकरणसमर्थसाधूनां प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तितो वैयावृत्त्यकरणप्रतिषेधेन, प्रतिपन्ना हि वैयावृत्त्यं न कुर्वन्ति, अन्तरायो–वैयावृत्त्यव्याघातः स्यात् प्राकृतत्वाच्च नपुंसकनिर्देशः इति–कृत्वा बालादिसौस्थ्येन गच्छसुस्थत्व एवासौ विधेयः स्यादिति प्रकृतं, अथ भवत्वन्तराय इति चेन्न, यतः 'तंपि'त्ति सोऽपि–बालादिवैयावृत्त्यान्तरायः अपिशब्दात्तदन्योऽपि परिहर्तव्यः–परिहरणीयः, कुत एतदेवमिति?, आह अतिसूक्ष्मः अतिनिपुणोऽतिसूक्ष्मदोषपरिहारात् भवतु जायतां एष प्रतिमाकल्पः इति–कृत्वा, अतिसूक्ष्म एव ह्ययमन्तरायदोषो मनोदोषरहितत्वात् प्रतिमाप्रतिपत्तुः इति गाथार्थः ॥३३॥ यस्माद्गच्छगतग्लानाद्यन्तरायः परिहर्तव्यस्तत्–तस्मात् तस्याः–सूत्रदानार्थदानग्लानप्रतिचरणादिकायाः क्रियाया–गच्छसुस्थताहेतोरनुष्ठानस्य योग्यतां–संपादनसमर्थतां 'उवगयाणं'ति षष्ठ्याः सप्तम्यर्थत्वादुपगतेषु–गच्छसाधुषु सत्सु नो–नैव गच्छे–साधुगणविषया हंदीत्युपप्रदर्शने उपेक्षा–अवधीरणा ज्ञेया–ज्ञातव्या प्रतिमाप्रतिपत्तृसाधोः, अनुपेक्षक एवासावित्यर्थः, किं सर्वथैव ?, नेत्याह–अधिकतरगुणे–प्रकृष्टतरगुणे असति–अविद्यमाने साधनीयतया, यदि हि विशिष्टतरगुणे सुसाध्येऽसंभवति सति तं गच्छस्थासंपाद्य प्रतिमाः प्रतिपद्यते तदोपेक्षैव गच्छस्य कृता स्यात्, तत्परिहाराच्च कल्पप्रतिपत्तौ गुरुलाघवचिन्तासहित एव कल्पः । इति गाथार्थः ॥ ३४॥ अथ दीक्षणीयाभाव एव कल्पं प्रतिपद्यत इति दर्शयन्नाह—परमः–प्रकृष्टः उपकारान्तरापेक्षया दीक्षोपकारो–

परमो दिक्खुवयारो जम्हा कप्पोचियाणवि णिसेहो। सइ एयंमि उ भणिओ पयडो च्चिय पुव्वसूरीहिं ॥३५॥
अब्भुज्जयमेगयरं पडिवज्जिउकामो सोऽवि पव्वावे। गणिगुणसलद्धिओ खलु एमेव अलद्धिजुत्तोवि ॥३६॥
तं नावत्थंतरमिह जायइ तह संकिलिट्ठकम्माओ। पत्थुयनियाहिंदट्ठाइ जह तहा सम्ममवसेयं ॥३७॥

भव्यसत्त्वस्य दीक्षादानेनानुग्रहो निर्वाणसुखहेतुत्वात् तस्य, तदन्यस्य पुनरन्यथाभूतत्वादपि,कस्मादेवमिति?,आह-यस्माद्-यतः कल्पोचितानामपि-संहननश्रुतादिसंपदुपेतत्वेन प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तियोग्यानामपि, आस्तामितरेषां, निषेधो-निवारणा प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तेरिति गम्यते सति-विद्यमाने एतस्मिन् दीक्षोपकारे तुशब्दः पूरणे भणितः-उक्तः प्रकट एव-स्फुट एव,तदभिधायकगाथायाः प्रकटत्वात्, पूर्वसूरिभिः-पूर्वाचार्यैर्भद्रबाहुस्वाम्यादिभिः, किल सतिपन्ने कल्पे दीक्षा न दीयते, ततः कल्पप्रतिपत्त्यवसरे समुपस्थितस्य तां विमुच्यापि दीक्षा दीयते, कल्पप्रतिपत्तेः सकाशाद्दीक्षादानस्य गुरुतरत्वात्, परमोपकारकं हि तदिति भावेन। इति गाथार्थः ॥३५॥ कथं प्रकट इति?,आह-अभ्युद्यतं-प्रयतं एकतरं-द्वयोरन्यतरं मरणं वा विहारं वा, तत्राभ्युद्यतमरणं पादपोपगमनादिकं अभ्युद्यतविहारश्च प्रतिमाकल्पजिनकल्पादिरिति, प्रतिपत्तुकामः—अभ्युपगन्तुमना यः साधुः सोऽपि-असावपि, आस्तामितरः,प्रव्राजयति-दीक्षयति कल्पादिप्रतिपत्त्यवसरे दीक्षोपस्थितं योग्यं,किंभूतः सन्निति?,आह-गणिनो गुणा यस्य स्वा चस्वकीया च लब्धिर्यस्य स गणिगुणस्वलब्धिकः यः प्रव्राजितमुपग्रहीतुं शक्नोतीत्यर्थः खलुर्वाक्यालङ्कारे,इतरस्य का वार्तेति?,आह-एवमेव-इत्थमेव प्रव्राजयत्येवेत्यर्थः अलब्धियुक्तोऽपि-स्वकीयलाभविहीनोऽपि लब्धिमदाचार्यनिश्रितो यः इति गाथार्थ. ॥३६॥ नदेवं गुरुलाघवचिन्तासहितोऽसाविति समर्थितं, अथ यत्कर्मव्याधिक्रियां प्रव्रज्यां प्रतिपन्नस्यावस्थान्तरमुक्तं तत् कुतः स्यादिति

अहिगयसुंदरभावस्स विग्घजणगंति संकिलिट्ठं च। तह चेव तं खविज्जइ एत्तो च्चिय गम्मए एयं ॥३८॥

एत्तो अईव णेया सुसिलिट्ठा गच्छवासपीडावि। आणाएणो सफला तह तस्स अदीणचित्तस्स ॥३९॥

दर्शयन्नाह–'तं चे'त्यादि, 'तं च'त्ति यस्यावस्थान्तरस्य चिकित्साविशेषतुल्यः कल्प उक्तस्तत्पुनः अवस्थान्तरं–अवस्थाविशेषः साधोरिह–प्रव्रज्यायामधिकृतायां जायते–स्यात् तथेति तथाप्रकारात् प्रतिमाकल्पलक्षणविशिष्टक्रियात एव क्षपणीयस्वभावात् संक्लिष्टकर्मणः–अशुभकर्मतः सकाशात्, किंवदिति?, आह–प्रस्तुतः–अधिकृतो दृष्टान्ततया प्राग्गाथायां लूतागृहीतो यो नृपादिः–नरपत्यमात्यप्रभृतिस्तस्य यद्दष्टादि–सर्पदंशाग्निदाहप्रभृति तत् प्रस्तुतनृपादिदष्टादि पाठान्तरे प्रस्तुतनृपस्य यदहिदष्टादि तत्तथा यथा–यद्वत् तथा–तद्वत् सम्यग्–यथावत् अवसेयं–ज्ञेयं। इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ अथावस्थान्तरस्य तज्जनककर्मणो वा स्वरूपोपदर्शनद्वारेण तस्यैव प्रतिमाकल्पक्षपणीयतामाह—'अहो'त्यादि, अधिकृतसुन्दरभावस्य–प्रस्तुतशोभनपरिणामस्य सामान्यप्रव्रज्यानुपालनस्येत्यर्थः विघ्नजनकं–व्याघातकारकं इतिशब्दो हेत्वर्थो भिन्नक्रमश्च संक्लिष्टं–अशुभं सुन्दरभावव्याघातकत्वात् अतिसंक्लिष्टमिति पाठान्तरं, चशब्दः समुच्चये, इतिकृत्वा तथैव–प्रतिमाकल्पप्रतिपत्त्यैव तद्–अवस्थान्तरं तज्जनकं वा कर्म क्षप्यते–निराक्रियते, प्रतिमाकल्पस्य महावीर्योल्लासरूपत्वात् क्षपणीयत्वाच्च तद्द्वयस्येति, अथ कथमिदमवगम्यते यदुत प्रव्रज्यां परिपालयतोऽवस्थान्तरं भवति? तज्जनकं वा क्लिष्टं कर्मास्ति?, तच्च प्रतिमाकल्पादेव क्षप्यत इति?, अत आह–'एत्तो च्चिय'त्ति इत एव–आप्तोपदिष्टप्रतिमाकल्पात् गम्यते–अवसीयते एतद्–इदमवस्थान्तरं तज्जनकक्लिष्टकर्म वा कल्पाच्च तत्क्षपणं, न ह्याप्ता निरर्थकं किञ्चिदुपदिशन्ति, आप्तताहानिप्रसंगात्। इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ तदेवं 'गच्छविनिष्क्रमादि नोपकारक' मित्यादि यदुक्तं दूषणं तत्समस्तं परिहृतमवगन्तव्यं,

न हु पडइ तस्स भावो संजमठाणाउ अवि न वड्ढेइ। जा न कायपायओऽवि हु तयभावे कोइ दोसोत्ति ॥४०॥

सिढिलाणं कम्माणं सिढिलो चिय होइ गमणुयाओ त्ति । अणुबंधछेयणाई सो उण पढंति नायव्वो ॥४१॥

यदुक्तं 'भावस्थानितोऽपि धर्मकायपीडा न युक्तेय'ति तत् परिहरन्नाह–'एसो'इत्यादि, 'एसो'त्ति यतोऽयमवस्थान्तरहेतोः क्लिष्टकर्मणः क्षपणहेतुः प्रतिमाकल्पोऽतो हेतोः अतीव अतिशयेन ज्ञेया–अवगेया सुश्लिष्टा–अत्यन्तसंगता,काऽसाविति?,आह–धर्मकायपीडापि धर्मसाधनशरीरपीडनमपि, अपीडा मात्रार्थीपेत्यपिशब्दार्थोऽपिशब्दः,किंभूतस्य सतोऽयं स्यादिति?,आह–अन्ये भवमानस्य शुभाशयेन उपलक्षणत्वादस्य ध्यानादिभाजः, तथ भावो तदेव पर्युषितादि,तदानन्तरमीत्येनंशील आन्तादी तस्य, कुतः सा सुश्लिष्टेति ?, आह स्वकाया-रापगोरथा यतः स्वकायपीडा-व्यामिलापात् उपैति हिंस्यान्तरलक्षणे तस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य अदीनचित्तस्य-धर्मेण स्थानस्य, धर्मोपभागस्य ति गाथार्थः । इति गाथार्थः॥३९॥ अथ कथमदीनचित्ततेति?,आह–'ने'त्यादि, न हु–नैव पतति भ्रश्यति तस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य साधोः भावः–अध्यवसायः संयमस्थानात् अभिमतचरणशुद्धिविशेषात् पीडासद्भावे,अपि नेत्यपूर्वे वर्धते शुद्धिं याति, ननु यद्यपि भावपातो न पीडासद्भावे भवति तथा तथापि कायपातो भविष्यतीति ?, अत आह–यत्र–येन कायपातकेऽपि शरीरपातादपि दूरीभावरूपे सद्भावे भावपातामावे कोऽपि कश्चिदपि दोषो–दूषणं,इतिशब्दः समाप्तौ । गाथार्थः॥४०॥ अथोपसर्गान्तरेणापि कर्मक्षपणत्वमेव किं कायपीडावत्प्रतिमाकल्पेनेति?, अत आह–'सिढिले'त्यादि,शिथिलानां–शिथिलत्वमापन्नानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां चिय एव रथविरकल्पप्रतिमाकल्पादिरूपतया शिथिल एव गमनोपायो निश्चितमेतदपि, कर्माणि तथाविधानीत्येवमपिशब्दार्थः, कथमिति?,आह–अनुबन्धच्छेदनादेः–निरनु-

इहरा उ णाभिहाणं जुज्जइ सुत्तंमि हंदि एयस्स । एयंमि अवसरंमी एसा खलु तंतजुत्तित्ति ॥४२॥

अण्णे भणंति एसो विहियाणुट्ठाणमागमे भणिओ । पडिमाकप्पो सिट्ठो दुक्करकरणेण विण्णेओ ॥४३॥

विहियाणुट्ठाणंपि य सदागमा एस जुज्जई एवं । जम्हा ण जुत्तिबाहियविसओऽन्नि सदागमो होइ ॥४४॥

बन्धताऽऽपादनादेः, आदिशब्दात् कियतोऽपि सर्वथा क्षपणग्रहः, लुप्तप्रथम्येकवचनं चैतत्, अथवा अनुबन्धं छिनत्तीत्यनुबन्धच्छेदनस्तदादिः,स पुनः-विचित्रकर्मक्षपणोपाय एवं-कायपीडादिसहनरूपप्रतिमाकल्पादिविधानेन भवति इतिः समाप्तौ भिन्नक्रमश्च ज्ञातव्यः-अवसेय इत्यतः कायपीडा सुश्लिष्टा । इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ अथ कथमिदमवसितमिति चेदत आह—'इहे'त्यादि, इतरथा तु-अन्यथा पुनः अधिकृतकल्प विनैव विचित्रकर्मक्षपणे सतीत्यर्थः न-नैव अभिधानं भणनं युज्यते-संगच्छते सूत्रे-प्रवचने हंदीत्युपप्रदर्शने एतस्य प्रतिमाकल्पस्य एतस्मिन्-अनन्तरोक्तेऽवसरे स्थविरकल्पानुष्ठाननिष्ठाप्राप्तिरूपप्रस्तावे, अतोऽत्रावसरे आप्तोपदिष्टत्वादस्य कर्मक्षपणहेतुत्वमवसितमिति, एषाऽनन्तरोक्ता खलुरलङ्कारे तंत्रयुक्तिः-शास्त्रीयोपपत्तिः प्रतिमाकल्पानवद्यतानिर्णय इति,अत आन्तरभावविहीनप्रतिमाकल्प इत्यपि परिहृतं। इति गाथार्थः ॥४२॥ मतान्तरेण प्रतिमाकल्पस्यान्तरभावविहीनतां परिहरन्नाह—'अण्णे' इत्यादि,अन्ये- अपरे सूरयः भणन्ति-अभिदधति प्रतिमाकल्पदूषणपरिहारं यदुत एषोऽनन्तरोक्तो विहितानुष्ठानं-उचितक्रिया आगमे-सिद्धान्ते भणितः-उक्तः प्रतिमाकल्पः प्रतीतः श्रेष्ठः-अतिशयेन प्रशस्यः,कथं ?-दुष्करकरणेन-स्थविरकल्पापेक्षया दुष्करासेवनेन हेतुना विज्ञेयो-ज्ञातव्यः। इति गाथार्थः॥४३॥ अनेनोत्तरेणारञ्जितः सूरिराह—'विही'त्यादि, विहितानुष्ठानमपि च-उचितकृत्यरूपोऽपि च अपिचेत्यभ्युपगमार्थः, कुत इति?,आह-सदागमाद्-आप्तोपदेशात् एष प्रतिमाकल्पो

जुत्तीए अविरुद्धो सदागमो सावि तयविरुद्धत्ति । इय अण्णोऽण्णाणुगयं उभयं पडिवत्तिहेउत्ति ॥ ४५ ॥

कयमेत्थ पसंगेणं झाणं पुण णिच्चमेव एयस्स । सुत्तत्थाणुसरणमो रागाइविणासणं परमं ॥४६॥

एया पवज्जियव्वा एयासिं जोग्गयं उवगएणं । सेसेणावि कायव्वा केइ पइण्णाविसेसत्ति ॥ ४७ ॥

युज्यते-घटते एवं-असदुक्तन्यायेन "वत्थुपरोगचिगिच्छावरथंतरतव्विसेससमतुल्लो" इत्यादिना, कस्मादेवमिति?, आह-यस्माद्-यतो न-नैव युक्तिबाधितविषयोऽपि-उपपत्तिनिराकृतगोचरोऽपि सन्, युक्त्यबाधितार्थ एव सदागमो भवतीति प्रदर्शनार्थोऽपिशब्दः, सदागमः-शोभनसिद्धान्तः भवति-स्यात्, युक्तिबाधितार्थस्य दुरागमत्वात्, युक्त्युपपन्नता त्वस्माभिरागमोक्तस्य कल्पानुष्ठानस्यावेदिता, नागमोक्तत्वमात्रमेवेति सुन्दरतरः प्राक्तनः परिहारः। इति गाथार्थः ॥४४॥ नागममात्रमेवार्थप्रतिपत्तिहेतुर्भवतीति दर्शयन्नाह-युक्त्या-उपपत्त्या अविरुद्धः-अबाधितः सदागमः-सत्सिद्धान्तो भवति,सापि-युक्तिरपि तदविरुद्धा-सिद्धान्ताविरुद्धा स्यात्, तदन्या त्वयुक्तिरेव, इतिर्वाक्यार्थसमाप्तौ, इति-एवं-अन्योऽन्यानुगतं-परस्परानुयायि उभयं-युक्तिसदागमरूपं द्वयं प्रतिपत्तिहेतुः-अर्थप्रतिपत्तिकारणं, इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥४५॥ अथ प्रतिमाकल्पशेषप्रतिपादनायाह-'कये'त्यादि,कृतं-पर्याप्तं अत्र प्रतिमाकल्पदूषणपरिहारे प्रसंगेन-आनुषङ्गिकभणनेन, ध्यानं-एकाग्रचित्ततालक्षणं पुनरिति विशेषणार्थः नित्यमेव-सर्वदैव एतस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य साधोः सूत्रार्थानुस्मरणं-सूत्रार्थयोरनुचिन्तनं ओकारः पूरणार्थः सूत्रार्थानुस्मरणत इति क्वचित् पाठः स च व्यक्त एव, रागादिविनाशनं-रागद्वेषमोहापोहकं परमं-प्रधानं मोक्षहेतुत्वात्, तच्च धर्म्यं शुक्लं वा, क्वचिद्रम्यमिति पाठो व्यक्तश्च । इति गाथार्थः ॥४६॥ अथ प्रतिमागतमेवोपदिशन्नाह-'एये'त्यादि, 'एये'ति अनन्तरोक्तभिक्षुप्रतिमाः 'पवज्जियव्व'त्ति प्रतिपत्तव्याः

जे जंमि जंमि कालंमि बहुमया पंवयणुण्णइकरा य। उभओ जोगविसुद्धा आयावणठाणमाईया ॥ ४८॥
एएसिं सइ विरिए जमकरणं मयपमायओ सो उ। होअइयारो सो पुण आलोएयव्वओ गुरुणो ॥ ४९॥
इय सव्वमेवमवितहमाणाए भगवओ पकुव्वन्ता। सयसामत्थऽणुरूवं अइरा काहिंति भवविरहं ॥५०॥

साधुप्रतिमाप्रकरणम् ॥ १८॥

'एयासिं'ति एतासां प्रतिमानां 'जोग्गयं'ति योग्यतां 'उवगएणं'ति प्राप्तेन साधुना,तदन्यस्य को विधिरिति?,आह–'सेसेणवि'त्ति तदन्येनापि 'कायव्व'त्ति विधेयाः 'केइ'त्ति केचित् 'पइन्नाविसेस'त्ति अभिग्रहविशेषाः, इतिः समाप्तौ। इति गाथार्थः ॥४८॥ तानेवाह–'जे' इत्यादि, 'जे'त्ति ये प्रतिज्ञाविशेषाः 'जंमि जंमि' त्ति यस्मिन् यस्मिन् 'कालंमि'त्ति अवसरे 'बहुमय'त्ति बहुमता गीतार्थानां 'पवयणुन्नइकरा य'त्ति शासनप्रभावनाहेतवः, अद्भुतभूतत्वेन श्लाघानिबन्धनत्वात्, 'उभओ'त्ति उभाभ्यां प्रकाराभ्यां, क्रियाया भावतश्चेत्यर्थः, 'जोगविसुद्ध'त्ति विशुद्धयोगा–निरवद्यव्यापाराः 'आयावणठाणमाइय'त्ति आतापना–शीतादिसहनं स्थानं उत्कटुकादिकं, आदिशब्दाद्विविधद्रव्याद्यभिग्रहग्रहः। इति गाथार्थः ॥४८॥ एतदकरणे दोषमाह—'एएसि'मित्यादि, 'एएसिं'ति एतेषां प्रतिज्ञाविशेषाणां 'सइ'त्ति विद्यमाने 'विरिए'त्ति वीर्ये 'जमकरणं'ति यदविधानं, कथं?–'मयपमायउ'त्ति गर्वालस्याभ्यां, 'सो उ'त्ति स पुनः 'होयइयारो'त्ति जायतेऽतिक्रमश्चरणस्य 'सो पुण'त्ति सोऽतिचारः पुनः 'आलोएयव्वउ'त्ति निवेदनीयः शुद्ध्यर्थं 'गुरुणो'त्ति आलोचनाचार्यस्य। इति गाथार्थः ॥४९॥ उक्तार्थफलभणनेन प्रकरणमुपसंहरन्नाह—'इये'त्यादि, 'इय'त्ति एतदभि-

प्रहजातं 'सव्वं'ति समस्तं 'एवं'ति एवमुक्तन्यायेन 'अवितहं'ति अविपरीतं, कथं ?–'आणाए'त्ति आदेशेन, न स्वमत्या, कस्ये-त्याह–'भगवउ'त्ति आप्तस्येति 'पकुव्वन्त'त्ति प्रकुर्वाणाः, कथमिति ?, आह–'सयसामत्थणुरूव'ति निजशक्त्यनुसारेण 'अइर'त्ति शीघ्रं 'काहिंति'त्ति विधास्यन्ति 'भवविरहं'ति संसारक्षयं। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥

॥ इति प्रतिमाकल्पप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् ॥१०॥

॥ अथैकोनविंशतितमपञ्चाशकवृत्तिः ॥

पणमिऊण वद्धमाणं तवोवहाणं समासओ वोच्छं। सुत्तभणिएण विहिणा सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥१॥

अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ। कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥२॥

अनन्तरं भिक्षुप्रतिमा उक्ताः, तपोरूपाश्च ता इत्यतस्तपःस्वरूपनिरूपणाय प्रकरणं प्रतिपिपादयिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह–'पणमिऊण'त्ति, प्रणम्य महावीरं वर्धमानं तपउपधानं-तपोरूपं संयमकायोपष्टम्भनं तपोविधानं वा-तपोऽनुष्ठानं समासतः-संक्षेपेण वक्ष्ये सूत्रभणितेन-आगमोक्तेन विधिना-प्रकारेण स्वपरेषामनुग्रहार्थाय-स्वपरोपकारायेत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥१॥ तपोविधानं बाह्यमाह-'अणसण'मित्यादि, अनशनं-अभोजनं यावत्कथिकेत्वरभेदं, तत्र यावत्कथिकं पादपोपगमनमिङ्गितमरणं भक्तपरिज्ञा चेति त्रिधा, तत्राद्यमेवं परिकर्मवर्जितमप्रतिकर्म चतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्नं च, द्वितीयमपि तथैव, नवरमिङ्गित-

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ। झाणं उस्सग्गोऽविय अब्भिंतरओ तवो होइ ॥३॥

देशे चंक्रमणाद्यपरिहारवत्, तृतीयं तु सप्रतिकर्म त्रिविधचतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्नं चेति, इत्वरं पुनश्चतुर्थभक्तादि षण्मासान्तं १ तथोनोदरस्य-स्तोकाहाराभ्यवहारादपरिपूर्णोदरस्य करणमूनोदरिका, सा च द्रव्यतो द्वात्रिंशत्कवलमानपूर्णाहारापेक्षयैकादिकवलन्यूनाहारग्रहणतोऽनेकविधा, भावोनोदरिका तु कषायत्यागः २ तथा वृत्तेः-भिक्षाचर्यायाः संक्षेपणं-अल्पताकरणं वृत्तिसंक्षेपणंव्याद्यभिग्रहग्रहणं, तत्र द्रव्यतो लेपकृदेवेतरदेव वा द्रव्यं मया ग्राह्यमित्यादी, एवं क्षेत्रतः स्वग्राम एव परग्राम एव वा एतावत्स्वेव वा गृहेषु यल्लप्स्यत इत्यादि, एवं कालतः पूर्वाह्णे मध्याह्नेऽपराह्णे वा, भावतः पुनरुत्क्षिप्तमेव वा निक्षिप्तमेव वा गायतो वा रुदतो वा यल्लप्स्यत इत्यादि ३ तथा रसानां-दुग्धदध्यादीनां सर्वेषामन्यतरेषां वा त्यागः त्यजनं रसत्यागः ४ तथा कायस्य-देहस्य क्लेशः-औचित्येन विबाधनं कायक्लेशो वीरासनोत्कटुकासनगोदोहिकाशीतवातातपसहनशिरोलोचादिरनेकविधः ५ तथा संलीनस्य-संवृतस्य भावः संलीनता, सा चेन्द्रियकषाययोगविविक्तचर्याभेदाच्चतुर्धा, तत्राद्यत्रयं प्रतीतं, विविक्तचर्या तु स्त्रीपशुपंडककुशीलवर्जानवद्याश्रयाश्रयणं, चशब्दः समुच्चये, बाह्यं-अनाभ्यन्तरं, आसेव्यमानस्यास्य लोकैरपि ज्ञायमानत्वात् स्थूलदृष्टीनामपि च कुतीर्थिकानां तपस्तया प्रतीतत्वात्, तपः प्रतीतं भवति-स्यात्। इति गाथार्थः ॥ २॥ उक्तं बाह्य तपः,-अथान्तरमाह—'पाये'त्यादि, प्रायश्चित्तं-उक्तशब्दार्थमालोचनादि प्रायुक्तं, तथा विनीयते-अपोह्यते कर्मानेनेति विनयः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रमनोवाक्कायोपचारभेदात् सप्तधा, तत्राद्यो मत्यादीनां श्रद्धानभक्तिबहुमानतद्दृष्टार्थभावनाविधिग्रहणाभ्यासरूपः १, द्वितीयस्तु सम्यग्दर्शनगुणाधिकेषु शुश्रूषानाशातनाभेदात् द्वेधा, तयोश्चाद्यः सत्कारा १ भ्युत्थान २ सन्माना ३ ऽसनाभिग्रहा ४ ऽऽसनानुप्रदान ५ कृतिकर्मा ६ ञ्जलिप्रग्रहा ७ ऽऽगच्छ-

एसो पारसमेओ सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो। एयविसेसो उ इमो पइण्णगो णेगभेउत्ति ॥४॥
तित्थयरणिग्गमाई सव्वगुणपसाहणं तवो होइ। भव्वाण हिओ णियमा विसेसओ पढमठाणीणं ॥५॥
तित्थयरणिग्गमो खलु ते जेण तवेण णिग्गया सव्वे। ओसप्पिणीए सो पुण इमीइ एसो विणिद्दिट्ठो ॥६॥
सुमइ त्थ णिचभत्तेण णिग्गओ वसुपुज्ज जिणो चउत्थेण। पासो मल्लीविय अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥७॥

वतोऽनासेव्यमानत्वान्मोक्षप्राप्त्यन्तरङ्गत्वाच्च तपो-निर्जराहेतुर्भवति स्यादिति गाथार्थः॥३॥ इह तपःशब्दस्य प्राकृतत्वेन पुल्लिंगनिर्देशः, एतत्तु-अनन्तरोक्तं द्वादशभेदं उभयेषां भेदानां मीलनात् सूत्रनिबद्धं-शासनोक्तं तपः-तपसा 'मुणेयव्वो'त्ति ज्ञातव्यं, एतद्विशेषस्तु-अनन्तरोक्ततपोभेद एव 'इमो'त्ति इदं वक्ष्यमाणं तपः प्रकीर्णकं-व्यक्तितः सूत्रानिबद्धं, न भिक्षुप्रतिमादिवत् सूत्रे निबद्धमित्यर्थः, न चोत्सूत्रत्वमस्य द्वादशभेदतपस्यन्तर्भावात्, तच्चानेकभेदं, अनेकविधालंबनत्वात्, इतिशब्दः समाप्तौ। इति गाथार्थः ॥४॥
-' त्थे'त्यादि, तीर्थकरनिर्गमादि-येन तपसा तीर्थकरा निष्क्रान्ताः,आदिशब्दात्तीर्थकरज्ञाननिर्वाण-
तीर्थकरनिर्गमनाद्यालंबनस्य शुभभावप्रकर्षरूपत्वेन ऐहलौकिकाद्युपकारकारित्वात्
ति व्यक्तं, विशेषतः पुनः प्रथमस्थानिनां-अव्युत्पन्नबुद्धीनां,हितत्वादेव,
ति गाथार्थः ॥५॥ तत्र तीर्थकरनिर्गमतपः प्रतिपादयंस्तावदाह-'तित्थे'
मः, खलुरलंकारे, तच्च कीदृशमिति?,आह-ते तीर्थकरा येन तपसा निर्गता
वर्तमानायां 'एसो'त्ति एतद्वक्ष्यमाणं 'विणिद्दिट्ठो'त्ति उक्तं। इति गाथार्थः

उसभाइकमेणेसो कायव्वो ओहओ सइ बलम्मि। गुरुआणापरिसुद्धो विसुद्धकिरियाएँ धीरेहिं ॥८॥

अण्णे तम्मासदिणेसु बेंति लिंगं इमस्स भावंमि। तप्पारणसंपत्ती तं पुण इमं इमेसिं तु ॥९॥

उसभस्स उ इक्खुरसो पारणए आसि लोगनाहस्स। सेसाणं परमण्णं अमयरसरसोवमं आसी ॥१०॥

॥६॥ एतदेवाह—'सुमे'त्यादि, सुमतिः पञ्चमजिनः 'त्थ' इति पादपूरणे निपातः नित्यभक्तेन-अनवरतभोजनेनाविहितोपवास इत्यर्थः निर्गतो-गृहवासान्निष्क्रान्तः, तथा वासुपूज्यो द्वादशो जिनः-अर्हन् चतुर्थेन-एकोपवासरूपेण पार्श्वस्त्रयोविंशतितमः मल्लिरेकोनविंशतितमः अष्टमेन-उपवासत्रयरूपेण, शेषास्तु विंशतिः पुनः षष्ठेन-उपवासद्वयरूपेण इति गाथार्थः ॥७॥ एतद्विधानविधिमाह—'उसे'त्यादि, ऋषभादिक्रमेण-नाभेयनिर्गमाद्यानुपूर्व्या एष तीर्थकरनिर्गमः कर्तव्यो-विधेयः ओघतः-सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः सति-विद्यमाने बले-शक्तौ, तथाविधबलाभावे पुनर्व्यतिक्रमकरणेऽपि न दोष इति भावः,गुर्वाज्ञया परिशुद्धो-निर्दोषस्तत्संपादनाद्गुर्वाज्ञापरिशुद्धः तथा विशुद्धक्रियया-अनवद्यानुष्ठानेन धीरैः-सात्त्विकैः। इति गाथार्थः ॥८॥ इहैव मतान्तरमाह—'अण्णे'इत्यादि, अन्ये-अपरे सूरयः तेषां-ऋषभादिजिननिर्गमतपसां ये मासाः प्रतीता दिनानि च-तिथयस्तानि तन्मासदिनानि तेषु, न मासान्तरतिथ्यन्तरेषु, ब्रुवते तीर्थकरनिर्गमतपः, तथाहि ऋषभस्वामिनो निष्क्रमणतपोऽङ्गीकृत्य चैत्रमासबहुलाष्टमीदिन एव षष्ठं कार्यं, वर्धमानस्वामिनश्च मार्गशीर्षबहुलदशमीदिन एवेति, एवमन्येषामपीति, तथा लिङ्गं-लक्षणं अस्य ऋषभादिनिर्गमतपसः भावे-संसिद्धौ तेषां-ऋषभादीनां यस्य यत्पारणं-भोजनमासीत्तस्य संपत्तिः-प्राप्तिस्तत्पारणसंपत्तिः, तत्पुनः-पारणकं एतद्वक्ष्यमाणमेषामृषभादीनां, तुशब्दः पूरणे। इति गाथार्थः ॥९॥तदेवाह—'उसे'त्यादि, ऋषभस्य तु-नाभेयस्यैव इक्षुरसः पारणके

एसो बारसभेओ सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो । एयविसेसो उ इमो पइण्णगो णेगभेउत्ति ॥४॥
तित्थयरणिग्गमाई सव्वगुणपसाहणं तवो होइ । भव्वाण हिओ णियमा विसेसओ पढमठाणीणं ॥५॥
तित्थयरणिग्गमो खलु ते जेण तवेण णिग्गया सव्वे । ओसप्पिणीए सो पुण इमीइ एसो विणिद्दिट्ठो ॥६॥
सुमइ त्थ णिच्चभत्तेण णिग्गओ वसुपुज्ज जिणो चउत्थेण । पासो मल्लीविय अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥७॥

वतोऽनासेव्यमानत्वान्मोक्षप्रात्यन्तरङ्गत्वाच्च तपो-निर्जराहेतुर्भवति स्यादिति गाथार्थः॥३॥ इह तपःशब्दस्य प्राकृतत्वेन पुल्लिंगनिर्देशः, एतद्-अनन्तरोक्तं द्वादशभेदं उभयेषां भेदानां मीलनात् सूत्रनिबद्धं-शासनोक्तं तपः-तपस्या 'मुणेयव्वो'त्ति ज्ञातव्यं, एतद्विशेषस्तु-अनन्तरोक्ततपोभेद एव 'इमो'त्ति इदं वक्ष्यमाणं तपः प्रकीर्णकं-व्यक्तितः सूत्रानिबद्धं, न भिक्षुप्रतिमादिवत् सूत्रे निबद्धमित्यर्थः, न चोत्सूत्रत्वमस्य द्वादशभेदतपसन्तर्भावात्, तच्चानेकभेदं, अनेकविधालंबनत्वात्, इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥४॥ प्रकीर्णकमेव तपो दर्शयन्नाह-'तित्थे'त्यादि, तीर्थकरनिर्गमादि-येन तपसा तीर्थकरा निष्क्रान्ताः,आदिशब्दात्तीर्थकरज्ञाननिर्वाणदिग्रहः, किंभूतमिदमिति?,आह-सर्वगुणसाधकं-तीर्थकरनिर्गमनाद्यालंबनस्य शुभभावप्रकर्षरूपत्वेन ऐहलौकिकाद्युपकारकारित्वात् तपो भवतीति व्यक्तं, अत एव भव्यानां हितं नियमादिति व्यक्तं, विशेषतः पुनः प्रथमस्थानिनां-अव्युत्पन्नबुद्धीनां,हितत्वादेव, निरालंबनतयाऽपि शुभभावप्रकर्षसंभवात् सर्वमपि हितमेवेति गाथार्थः ॥५॥ तत्र तीर्थकरनिर्गमतपः प्रतिपादयंस्तावदाह-'तित्थे' त्यादि, तीर्थकरनिर्गमे गृहवासाद्यत्कृतं तपस्तत्तीर्थकरनिर्गमः, खलुरलंकारे, तच्च कीदृशमिति?,आह-ते तीर्थकरा येन तपसा निर्गता गृहवासात् सर्वेऽवसर्पिण्यां, 'सो पुण'त्ति तत्पुनस्तपोऽस्यां वर्तमानायां 'एसो'त्ति एतद्वक्ष्यमाणं 'विणिद्दिट्ठो'त्ति उक्तं। इति गाथार्थः

उसभाइक्कमेणेसो कायव्वो ओहओ सइ बलम्मि। गुरुआणापरिसुद्धो विसुद्धकिरियाएँ धीरेहिं ॥८॥
अण्णे तम्मासदिणेसु बेंति लिंगं इमस्स भावंमि। तप्पारणसंपत्ती तं पुण इमं इमेसिं तु ॥९॥
उसभस्स उ इक्खुरसो पारणए आसि लोगनाहस्स। सेसाणं परमण्णं अमयरसरसोवमं आसी ॥१०॥

॥३॥ एतदेवाह—'सुमे'त्यादि, सुमतिः पञ्चमजिनः 'रथ' इति पादपूरणे निपातः नित्यभक्तेन—अनवरतभोजनेनाविहितोपवास
इत्यर्थः निर्गतो—गृहवासान्निष्क्रान्तः, तथा वासुपूज्यो द्वादशो जिनः—अर्हन् चतुर्थेन—एकोपवासरूपेण पार्श्वस्त्रयोविंशतितमः मल्लिरे-
कोनविंशतितमः अष्टमेन—उपवासत्रयरूपेण, शेषास्तु विंशतिः पुनः षष्ठेन—उपवासद्वयरूपेण इति गाथार्थः ॥७॥ एतद्विधानविधि-
माह—'उसे'त्यादि, ऋषभादिक्रमेण—नाभेयनिर्गमाद्यानुपूर्व्या एष तीर्थकरनिर्गमः कर्तव्यो—विधेयः ओघतः—सामान्येनोत्सर्गे-
णेत्यर्थः सति—विद्यमाने बले—शक्तौ, तथाविधबलाभावे पुनर्व्यतिक्रमकरणेऽपि न दोष इति भावः, गुर्वाज्ञया परिशुद्धो—निर्दोषस्त-
त्संपादनाद्गुर्वाज्ञापरिशुद्धः तथा विशुद्धक्रियया—अनवद्यानुष्ठानेन धीरैः—सात्त्विकैः। इति गाथार्थः ॥८॥ इहैव मतान्तरमाह—
'अण्णे'इत्यादि, अन्ये—अपरे सूरयः तेषां—ऋषभादिजिननिर्गमतपसां ये मासाः प्रतीता दिनानि च—तिथयस्तानि तन्मासदिनानि
तेषु, न मासान्तरतिथ्यन्तरेषु, ब्रुवते तीर्थकरनिर्गमतपः, तथाहि ऋषभस्वामिनो निष्क्रमणतपोऽङ्गीकृत्य चैत्रमासबहुलाष्टमीदिन
एव षष्ठं कार्यं, वर्धमानस्वामिनश्च मार्गशीर्षबहुलदशमीदिन एवेति, एवमन्येषामपीति, तथा लिङ्गं—लक्षणं अस्य ऋषभादिनिर्गम-
तपसः भावे—संसिद्धौ तेषां—ऋषभादीनां यस्य यत्पारणं—भोजनमासीत्तस्य संपत्तिः—प्राप्तिस्तत्पारणसंपत्तिः, तत्पुनः—पारणकं एत-
द्वक्ष्यमाणमेषामृषभादीनां, तुशब्दः पूरणे। इति गाथार्थः ॥९॥ तदेवाह—'उसे'त्यादि, ऋषभस्य तु—नाभेयस्यैव इक्षुरसः पारणके

संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसभेण लोगनाहेण। सेसेहिं बीयदिवसे लद्धाउ पढमभिक्खाओ ॥११॥
तित्थंकरणाणुप्पत्तिसण्णिओ तह वरो तवो होइ। पुव्वोइएण विहिणा कायव्वो सो पुण इमोत्ति ॥१२॥
अट्ठमभत्तंतंमि य पासोसहमल्लिरिट्ठनेमीणं। वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥१३॥
उसभाइयाणमेत्थं जायाइं केवलाइँ णाणाइं। एयं कुणमाणो खलु अचिरेणं केवलमुवेइ ॥१४॥

आसीत् लोकनाथस्येति व्यक्तं, शेषाणां-अजितादीनां परमान्नं-पायसं अमृतरसेन-लोकरूढ्यपेक्षया रसे-स्वादे उपमा यस्य तत्तथा तदासीद्-अभूत्। इति गाथार्थः ॥१०॥ एतस्यैव प्रसंगेन लब्धिकालमाह-संवत्सरेण भिक्षा लब्धा ऋषभेण लोकनाथेन, शेषैरिति व्यक्तं द्वितीयदिवसे प्रव्रज्यादिवसापेक्षया लब्धाः प्रथमभिक्षाः इति व्यक्तं। इति गाथार्थः॥११॥ तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिः संज्ञा संजाता यस्य तत् तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिसंज्ञितं, पुंस्त्वं तु सर्वत्र प्राकृतत्वात्, तथेति समुच्चये, अपरं-अन्यत्तपो भवति-स्यात् पूर्वोदितेन विधिना-ऋषभादिक्रमेण गुर्वाज्ञया विशुद्धक्रियया मतान्तरेण तन्मासदिनेष्वित्येवंलक्षणेन 'कायव्वो'त्ति कार्यं,'सो पुण'त्ति तत्पुनः प्रस्तुततपः 'इमो'त्ति इदं वक्ष्यमाणं, इतिः समाप्तौ। इति गाथार्थः ॥१२॥ तदेवाह-अष्टमभक्तान्त एव-उपवासत्रयावसान एव चशब्द एवकारार्थः पार्श्वर्षभमल्लिरिष्ठनेमीनां जिनानां केवलान्युत्पन्नानीति योगः, वासुपूज्यस्य द्वादशजिनस्य चतुर्थेन-एकोपवासरूपेण षष्ठभक्तेन-उपवासद्वयरूपेण शेषाणां-एकोनविंशतेर्जिनानामिति॥१३॥ ऋषभादिकानां जिनानां अत्र तपसि कृते जातानि-उत्पन्नानि केवलानि-केवलसंज्ञितानि ज्ञानानि-संवेदनानि अत एतत्तीर्थंकरज्ञानोत्पत्तिसंज्ञितं तपः कुर्वाणः खल्वचिरेण केवलं लभत इति व्यक्तं, उपैतीति पाठान्तरं चेति गाथाद्वयार्थः॥१४॥ तीर्थंकरमोक्षगमनं नाम अथ अनन्तरं 'अवरो'त्ति अन्यत् अत्र तपोऽधिकारे भवति-स्यात्

तित्थयरमोक्खगमणं अहाधरो एत्थ होइ विण्णेओ। जेण परिनिव्वुया ते महाणुभावा तओ य इमो ॥१५॥
निव्वाणमंतकिरिया सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स। सेसाण मासिएणं वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥१६॥
अट्ठावयचंपोज्जिन्तपावासंमेयसेलसिहरेसु। उसभवसुपुज्जनेमीवीरो सेसा य सिद्धिगया ॥१७॥
चंदायणाइ य तहा अणुलोमविलोमओ तवो अवरो। भिक्खाकवलाण पुढो विण्णेओ वुड्ढिहाणीहिं ॥१८॥
'विण्णेओ'त्ति विज्ञेयं येन तपसा परिनिर्वृता-निर्वाणं गताः ते तीर्थकराः महानुभावा-अचिन्त्यशक्तयः, 'तओ य इमो'त्ति तच्च तीर्थकरनिर्वाणगमनाख्यं तप इदं वक्ष्यमाणं। इति गाथार्थः॥१५॥ तदेवाह-'निव्वे'त्यादि, निर्वाणं-निर्वृतिः अन्तक्रियेति-अन्तक्रियाशब्देनोच्यते, साऽन्तक्रिया 'चोद्दसमेण'त्ति चतुर्दशभक्तेन-उपवासषट्करूपेण प्रथमनाथस्य-ऋषभजिनस्य, शेषाणां-अजितादीनां मासिकेन-मासोपवासरूपेण, वीरजिनेन्द्रस्य षष्ठेनेति व्यक्तं। इति गाथार्थः ॥१६॥ अथैते यत्र निर्वृतास्तत्प्रसंगेन दर्शयितुमाह—'अट्ठे'त्यादि, स्पष्टा, नवरं अष्टापदः पर्वतविशेषः चंपा नगरी 'उज्जिन्त'त्ति उज्जयन्तः पर्वतविशेष एव 'पाव'त्ति पापा मध्यमा-[illegible] नगरी संमेतशैलशिखरं पर्वतविशेषकूटं एषु स्थानकेषु ऋषभादयः क्रमेण सिद्धिं गता इति गाथार्थः ॥१७॥ चन्द्रायणमिव चन्द्रा-[illegible] च, आदिशब्दाद्भद्रमहाभद्रासर्वतोभद्रारत्नावलीकनकावल्येकावलीसिंहनिष्क्रीडितद्वयाचामाम्लवर्धमानगुणरत्नसंव[illegible]चतुष्टयकल्याणकादितपसामागमप्रसिद्धानां ग्रहः, तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थो गाथादौ द्रष्टव्यः, अनुलोमविलो-[illegible] तपोऽपरं-अन्यत्, कथं?-भिक्षाकवलानां प्रतीतानां पृथग्-भेदेन विज्ञेयो-ज्ञेयो वृद्धिहानिभ्यां। इति [illegible] ॥१८॥ इदं च चन्द्रायणव्रतिना यवमध्या वज्रमध्या च, तत्राद्यां तावद्दर्शयन्नाह—'सुक्के'त्यादि, शुक्ले-शुक्लपक्षे

सुक्कंमि पडिवयाओ तहेव वुड्डीएँ जाव पण्णरस । पंचदमपडिवयाहिं तो हाणी किण्हपडिवक्खे ॥१९॥

किण्हे पडिवइ पणरस इगेगहाणी उ जाव इक्को उ । अमवस्सपडिवयाहिं वुड्ढी पण्णरस पुन्नाए ॥२०॥

एत्तो भिक्खामाणं एगा दत्ती विचित्तरूवावि । कुक्कुडिअंडयमेत्तं कवलस्सवि होइ विण्णेयं ॥२१॥

एवं च कीरमाणं सफलं परिसुद्धजोगभावस्स । णिरहिगरणस्स णेयं इयरस्स ण तारिसं होइ ॥२२॥

प्रतिपदः–प्रथमतिथेरारभ्य तथैव–तेनैव प्रकारेण एकाद्येकोत्तरलक्षणेन वृद्ध्या–प्रतिदिनं भिक्षाणां कवलानां च वर्धनेन यावत् पञ्चदश भिक्षाः कवलान् वा गृह्णाति 'पंचदमपडिवयाहिं' ति पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां प्रतिपदि च–कृष्णपक्षप्रथमतिथौ, 'तो'त्ति ततोऽनन्तरं 'हाणि'त्ति एकैकशोऽनुदिनं भिक्षादिहानिं करोति कृष्णप्रतिपक्षे–कृष्णस्वरूपे शुक्लपक्षापेक्षया द्वितीयपक्ष इत्यर्थः, तत्र चामावास्यायामेका भिक्षा कवलो वा स्यादिति गाथार्थः ॥१९॥ अपरा वज्रमध्या, तामाह–'किण्हे' इत्यादि, कृष्णे पक्षे प्रतिपदि–प्रथमतिथौ पञ्चदश कवलादीन् गृह्णाति, ततः 'इगेगहाणी उ'त्ति' एकैककवलादिहानिः प्रतिदिनं क्रियते यावदेकस्तु–एक एव कवलादिः अमावास्याप्रतिपदोः प्रतीनयोः, ततो वृद्धिः कवलादीनामनुदिनं क्रियते यावत् पञ्चदश कवलादयः पूर्णायां–पूर्णमास्यां भवन्ति । इति गाथार्थः ॥२०॥ इह तपसि भिक्षादि ग्राह्यतयोक्तमतस्तल्लक्षणमाह—'एत्तो'इत्यादि, इतो–विवक्षिततपःस्वरूपाभिधानानन्तरं भिक्षामानं वाच्यमिति शेषः, तत्रेदं–एका–असहाया दत्तिः–भक्तप्रक्षेपरूपा विचित्ररूपाऽपि–बहल्पैकानेकद्रव्यस्वभावतया नानास्वभावाऽपि, न केवलमेकस्वभावेति, अथ कवलमानमाह–कुक्कुट्यंडकमात्रं कवलस्यापि भवति विज्ञेयमिति प्रतीतं, नवरं मानमिति वर्तते । इति गाथार्थः ॥२१॥ इहैव विशेषमाह—'एव'मित्यादि, एतच्च–एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः क्रियमाणं–विधीय-

अण्णोऽवि अत्थि चित्तो तहा तहा देवयाणिओएण। मुद्धजणाण हिओ खलु रोहिणिमाई मुणेयव्वो ॥२३॥
रोहिणि अंबा तह मंदउण्णया सव्वसंपयासोक्खा। सुयसंतिसुरा काली सिद्धाईया तहा चेव ॥२४॥
एमाइदेवयाओ पडुच्च अवऊसगा उ जे चित्ता। णाणादेसपसिद्धा ते सव्वे चेव होन्ति तवो ॥२५॥

मान मफलं-मोक्षादिफलं ज्ञेयमिति योगः परिशुद्धा-निर्दोषा योगा-व्यापारा आरम्भ-अभ्यवसायो यस्य स तथा तस्य, एतदेव स्पष्टतरमाह निरधिकरणस्य-गुरुतरारम्भवर्जितस्य निष्फलकस्य वा ज्ञेयं-ज्ञातव्यं, इतरस्य साधिकरणस्य न-नैव तादृशं यादृशं निरधिकरणस्य फलमिति गम्यते भवति-स्यात्। इति गाथार्थः ॥२२॥ किञ्च—'अण्णोऽवी'त्यादि, अन्यदपि अस्ति-विद्यते चित्रं तप इति गम्यते तथा तथा-तेन तेन प्रकारेण लोकरूढेन देवतानियोगेन-देवतोद्देशेन मुग्धजनानां-अव्युत्पन्नबुद्धिलोकानां हितं खलु-पथ्यमेव विषयाभ्यासरूपत्वात्, रोहिण्यादिदेवतोद्देशेन यत्तद्रोहिण्यादि 'मुणेयव्वो'त्ति ज्ञातव्यं, पुल्लिङ्गता च सर्वत्र प्राकृतत्वात्। इति गाथार्थः ॥२३॥ देवता एव दर्शयन्नाह—'रोही'त्यादि, रोहिणी१ अम्बा२ तथा मन्दपुण्यिका३ 'सव्वसंपयासोक्खा'त्ति सर्वसम्पत्४ सर्वसौख्या५ चेत्यर्थः 'सुयसंतिसुर'त्ति श्रुतदेवता६ शान्तिदेवता७ चेत्यर्थः 'सुयदेवयसंतिसुरा' इति वा पाठान्तरं व्यक्तं च काली८ सिद्धायिका९ इत्येता नव देवताः तथा चैवेति समुच्चयार्थः 'संवाइया चेव'त्ति पाठान्तरं। इति गाथार्थः ॥२४॥ ततः किमिति?,आह-'एमाई'त्यादि, एवमादिदेवताः प्रतीत्यैतदाराधनायेत्यर्थः 'अवऊसग'त्ति अपवसनानि अवजोषणानि वा तुः पूरणे ये चित्रा नानादेशप्रसिद्धास्ते सर्वे चैव भवन्ति तपः इति स्फुटमिति, तत्र रोहिणीतपो रोहिणीनक्षत्रदिनोपवासः सप्तमासाधिकसप्तवर्षाणि यावत्, तत्र च वासुपूज्यजिनप्रतिमाप्रतिष्ठा पूजा च विधेयेति, तथा अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशनादि विधेयं

जत्थ कसायणिरोहो बंभं जिणपूयणं अणसणं च । सो सव्वो चेव तवो विसेसओ मुद्धलोयंमि ॥२६॥

एवं पडिवत्तीए एत्तो मग्गाणुसारिभावाओ । चरणं विहियं बहवो पत्ता जीवा महाभागा ॥२७॥

सव्वंगसुंदरो तह णिरुजसिहो परमभूसणो चेव । आयइजणगो सोहग्गकप्परुक्खो तहन्नोऽवि ॥२८॥

नेमिनाथाम्बिकापूजा चेति, तथा श्रुतदेवतातप एकादशस्वेकादशीपूपवासो मौनव्रतं श्रुतदेवतापूजा चेति, शेषाणि तु रूढितोऽवसेयानीति गाथार्थः ॥२५॥ अथ कथं देवतोद्देशेन विधीयमानं यथोक्तं तपः स्यादित्याशंक्याह-'जत्थे'त्यादि, यत्र तपसि कषायनिरोधो ब्रह्म जिनपूजनमिति व्यक्तं अनशनं च-भोजनत्यागः 'सो'त्ति तत् सर्वं भवति तपो, विशेषतः मुग्धलोके, मुग्धलोको हि तथा प्रथमतया प्रवृत्तः सन्नभ्यासात्कर्मक्षयोद्देशेनापि प्रवर्तते, न पुनरादित एव तदर्थं प्रवर्तितुं शक्नोति, मुग्धत्वादेवेति, सद्बुद्धयस्तु मोक्षार्थमेव विहितमिदमिति बुद्ध्यैव तपस्यन्ति, यदाह-"मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः" इति, मोक्षार्थघटना चागमविधिनैव, आलंबनान्तरस्यानाभोगहेतुत्वात् । इति गाथार्थः ॥२६॥ न चेदं देवतोद्देशेन तपः सर्वथा निष्फलमैहिकफलमेव वा चरणहेतुत्वादपीति चरणहेतुत्वमस्य दर्शयन्नाह—'एव'मित्यादि, एवमित्युक्तानां साधर्मिकदेवतानां कुशलानुष्ठानेषु निरुपमसंसारादिहेतुना प्रतिपत्त्या-तपोरूपोपचारेण तथा इतः-उक्तरूपात्कषायादिनिरोधप्रधानात्तपसः पाठान्तरेण एवमुक्तकारणेन मार्गानुसारिभावात्-सिद्धिपथानुकूलाध्यवसायात् चरणं चारित्रं विहितं-आप्तोपदिष्टं बहवः-प्रभूताः प्राप्ता-अधिगताः जीवाः-सत्त्वाः महाभागा-सानुभावाः । इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ सर्वाङ्गानि सुन्दराणि यतस्तपोविशेषात् स सर्वाङ्गसुन्दरः, तथेति समुच्चये, रुजानां-रोगाणामभावो निरुजं तदेव शिखेव शिखा-प्रधानं फलतया यत्रासौ निरुजशिखः, तथा परमाणि-उत्तमानि भूषणानि-आभरणानि

पढिओ तवोविसेसो अण्णेहिवि तेहि तेहिं सत्थेहिं । मग्गपडिवत्तिहेऊ हंदि विणेयाणुगुण्णेणं ॥२९॥ जुम्मं।
अट्ठुववासा एगंतरेण विहिपारणं च आयामं । सव्वंगसुंदरो सो होइ तवो सुक्कपक्खंमि ॥३०॥
खमयादभिग्गहो इह सम्मं पूया य वीयरागाणं । दाणं च जहासत्तिं जइदीणाईण विण्णेयं ॥३१॥ जुम्मं ।
यतोऽसौ परमभूषणः, चैवेति समुच्चये, तथा आयतौ–आगामिकालेऽभीष्टफलं जनयति–करोति योऽसावायतिजनकः, तथा सौभा-
ग्यस्य–सुभगतायाः संपादने कल्पवृक्ष इव यः स सौभाग्यकल्पवृक्षः, तथेति समुच्चये, अन्योऽपि–अपरोऽपि उक्ततपोविशेषात् ॥२८॥
किमिति?,आह–पठितः–अधीतस्तपोविशेषः–तपोभेदः अन्यैरपि ग्रन्थकारैः तेषु तेषु शास्त्रेषु नानाग्रन्थेष्वित्यर्थः, नन्वयं पठितोऽपि-
साभिष्वङ्गत्वान्न मुक्तिमार्ग इत्याशंक्याह–मार्गप्रतिपत्तिहेतुः–शिवपथाश्रयणकारणं, यश्च तत्प्रतिपत्तिहेतुः स मार्ग एवोपचारात्,
कथमिदमिति चेद् उच्यते–हंदीत्युपप्रदर्शने विनेयानुगुण्येन–शिक्षणीयसत्त्वानुरूप्येण,भवन्ति हि केचित् ते विनेया ये साभिष्वङ्गा-
नुष्ठानप्रवृत्ताः सन्तो निरभिष्वङ्गमनुष्ठानं लभन्ते । इति गाथाद्वयार्थः ॥२९॥ अथ सर्वाङ्गसुन्दरादितपोविशेषान् विवृण्वन्नाह–'अट्ठो'
'खमे'त्यादि, अष्टावुपवासाः प्रसिद्धाः, कथं?–एकेन पारणकदिनेनान्तरं–व्यवधानमेकान्तरं तेनैकान्तरेण विधिपारणं च–प्रत्या-
ख्यानस्पर्शनादिविधानयुक्तं भोजनं च आयामं–आचामाम्लमागमसिद्धं यत्र तपोविशेषे सर्वाङ्गसुन्दरोऽसौ भवति 'तवो'त्ति तपोवि
शेषः शुक्लपक्षे प्रतीते इति ॥ ३० ॥ तथा क्षाम्यतीति क्षमस्तद्भावः क्षमता–क्षान्तिस्तदादौ–क्षान्तिमार्दवार्जवादावभिग्रहो–नियमः
क्षमताद्यभिग्रहः इह तपसि विधेयो भवति, तथा सम्यग्–भावतः पूजा च–अभ्यर्चनं वीतरागाणां, दानं च यथाशक्ति यतिदीना-
दीनां विज्ञेयमिति व्यक्तं । इति गाथाद्वयार्थः ॥३१॥ 'एवं चिय' एवमेव सर्वाङ्गसुन्दरवदित्यर्थः निरुजशिखस्तपोविशेषः नवरं–

एवं चिय निरुजसिहो णवरं सो होइ किण्हपक्खंमि । तहय गिलाणतिगिच्छाभिग्गहसारो मुणेयव्वो ॥३२॥
बत्तीसं आयामं एगंतरपारणेण सुविसुद्धो । तह परमभूसणो खलु भूसणदाणप्पहाणो य ॥३३॥
एवं आयइजणगो विण्णेओ णवरमेस सव्वत्थ । अणिगूहियबलविरियस्स होइ सुद्धो विसेसेणं ॥३४॥
चित्ते एगंतरओ सव्वरसं पारणं च विहिपुव्वं । सोहग्गकप्परुक्खो एस तवो होइ णायव्वो ॥३५॥
दाणं च जहासत्ति एत्थ समत्तीए कप्परुक्खस्स । ठवणा य विविहफलहरसंणामियचित्तडालस्स ॥३६॥

केवलं स भवति कृष्णपक्ष इति व्यक्तं, तथाचेति विशेषान्तरसमुच्चयार्थः, ग्लानचिकित्साऽभिग्रहसारो–ग्लानो मया पथ्यादिदानतः प्रतिचरणीय इत्येवंरूपप्रतिज्ञाप्रधानो ज्ञातव्यः । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ द्वात्रिंशदायामानि आचाम्लानि एकान्तरपारणेन–एकायामव्यवहितभोजनेन सुविशुद्धानि–निर्दोषाणि तथेति समुच्चये परमभूषणः खल्वुक्तशब्दार्थः भूषणदानप्रधानश्च–जिनाय तिलकाद्याभरणदानसारः । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ एवमित्येकान्तरितद्वात्रिंशदायामरूपं आयतिजनक उक्तार्थः विज्ञेयः नवरं–केवलमयं विशेष इत्यर्थः एषः–अयं सर्वत्र–सर्वधर्मकृत्येषु अनिगूहितबलवीर्यस्य भवति शुद्धो विशेषेणेति व्यक्तं, नवरं बलं–शारीरः प्राणो वीर्यं चित्तोत्साहः । इति गाथार्थः ॥३४॥ चैत्रे मासे एकान्तरकः–एकदिनव्यवहितः उपवास इति गम्यते, सर्वरसं–सविकृतिकमित्यर्थः पारणं च–भोजनं विधिपूर्वं–गुरुदानादिपूर्वकमित्यर्थः सौभाग्यकल्पवृक्ष उक्तार्थः एषः–अयं 'तवो'त्ति तपोविशेषो भवति ज्ञातव्य इति व्यक्तं । इति गाथार्थः ॥३५॥ इहैव विधिशेषमाह—दानं च साध्वादिभ्यो देयं यथाशक्ति अत्र तपसि, समाप्तौ चाऽस्य तपसः, कल्पवृक्षस्य सुवर्णतंदुलादिमयस्य स्थापना च–न्यासश्च, किंविधस्य ?–विविधफलभरेण–नानाविधफलभारेण संना-

एए अवऊमणगा इट्ठफलसाहगा य सट्ठाणे। अण्णत्थजुया य तहा विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥३७।
इंदियविजओऽवि तहा कसायमहणो य जोगसुद्धीए। एमादओऽवि णेया तहा तहा पंडियजणाओ ॥३८॥

मितानि अवनतीकृतानि चित्राणि-विविधानि डालानि-शाखा यस्य स तथा तस्य। इति गाथार्थः॥ ३६॥ एतानि अवजोपणकानि-तपोविशेषसेवाः इष्टफलसाधकानि स्वस्थाने-स्वविषये अव्युत्पन्नविनेयलक्षणे अन्वर्थयुक्तानि च तथा, अन्वर्थश्चैषां प्राग्दर्शित एव, विज्ञेयानि बुद्धिमद्भिः। इति गाथार्थः॥३७॥ इन्द्रियविजयोऽपि तपोविशेषः प्रतीतान्वर्थः तथा कषायमथनश्च व्यक्तान्वर्थ एव योगशुद्धिश्च-मनोवाक्कायव्यापारानवद्यतासंपादकस्तपोविशेषो भवति एतत्स्वरूपं चाचरणातोऽवसेयं, तच्चेदं-पुरिमार्धैकाशनकनिर्विकृतिकायामोपवासा यत्रैकैकमिन्द्रियमाश्रित्य पञ्चभिः परिपाटीभिर्विधीयन्तेऽसाविन्द्रियविजयः, तत्र पञ्चविंशतिस्तपोदिनानि भवन्ति, यत्र च त एव पुरिमार्धवर्जाः प्रतिकषायं विधीयन्तेऽसौ कषायमथनः, इह परिपाटीचतुष्केण षोडश तपोदिनानि स्युः, तथा यत्र निर्विकृतिकायामोपवासा एकैकयोगमाश्रित्य विधीयन्तेऽसौ योगशुद्धिः, इह च परिपाटीत्रयेण नव तपोदिनानि स्युरिति, अथोक्तशेषानतिदिशन्नाह-'एमादओऽवि'त्ति एवमादयोऽपि अनन्तरोक्ततपःप्रकारा अपि तपोविशेषाः ज्ञेया-ज्ञातव्याः तथा तथा-तेन तेन प्रकारेण यो यथा विधेयो वक्ष्यमाणश्चेत्यर्थः पण्डितजनात्-आचरणाविज्ञजनात्, तथाहि-यत्रोपवास एकाशनकमेकसिक्थमेकस्थानकमेकदत्तिर्निर्विकृतिकमायामम् अष्टकवलं च स्यात् तदष्टकर्मसूदनं तपः, तत्र चाष्टाभिः परिपाटीभिश्चतुःषष्टिस्तपोदिनानि स्युः, तथा भाद्रपदे सप्तभिरेकाशनकैस्तीर्थकरमातृपूजायुक्तं तीर्थकरमातृतपः स्यात्, तथा भाद्रपद एव षोडशभिरेकाशननिर्विकृतिकायामोपवासैर्यथाशक्तिकृतैः समवसरणपूजान्वितं समवसरणतपः, तत्र चतुर्षु भाद्रपदेषु चतुःषष्टिस्तपोदिनानि स्युः, तथाऽमावास्यायां

चित्तं चित्तपयजुयं जिणिंदवयणं असेससत्तहियं । परिसुद्धमेत्थ किं तं जं जीवाणं हियं णत्थि? ॥३९॥
सव्वगुणपसाहणमो णेओ तिहिँ अट्ठमेहिँ परिसुद्धो । दंसणनाणचरित्ताण एस रेसिंमि सुपसत्थो ॥४०॥
एएसु वट्टमाणो भावपवित्तीएँ बीयभावाओ । सुद्धासयजोगेणं अणियाणो भवविरागाओ ॥४१॥

पटलिखितनंदीश्वरजिननिलयपूजान्वितमुपवासादीनामन्यतमन्नन्दीश्वरतपः, तथा चैत्रपूर्णमास्यां पुंडरीकपूजायुतमुपवासाद्यन्यतरत्पुंडरीकतपः, तथा जिनबिंबपुरतः स्थापितकलशः प्रतिदिनं प्रक्षिप्यमाणतंदुलमुष्ट्या यावद्भिर्दिनैः पूर्यते तावन्ति दिनान्येकाशनकादितपोऽक्षतनिधिः, तथैका प्रतिपत् द्वे द्वितीये तिस्रस्तृतीया एवं यावत्पञ्चदश पञ्चदश्यः कृतोपवासा यत्र तपसि भवन्ति तत् सर्वसौख्यसंपत्तिरिति एवमन्यान्यपि तपांसि । इति गाथार्थः ॥३८॥ अथैते तपोविशेषा आगमे नोपलभ्यन्त इत्याशंकां परिहरन्नाह-चित्रं-अद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वादंगानंगादिभेदत्वाद्वा चित्रं-अनेकविधं तथा चित्रपदयुतं-नानाविधार्थप्रतिपादकाभिधानयुक्तं जिनेन्द्रवचनं-जिनेश्वरागमः अशेषसत्त्वहितं-समस्तप्राण्युपकारकं, भव्यानुसारेण मार्गप्रतिपत्त्युपायप्रतिपादनपरत्वात्, परिशुद्धं-कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषं, एवं चात्र-अस्मिन् जिनवचने किं तद् यज्जीवानां हितं नास्ति?, सर्वमपि जीवानां हितमस्तीति, अत इदं तपः परिदृश्यमानागमेऽनुपलभ्यमानमप्युपलब्धमिवावगन्तव्यं, तथाविधजनहितत्वात् । इति गाथार्थः ॥३९॥ सर्वगुणप्रसाधनः-सकलगुणावह इति पर्यायः तपोविशेषः 'मो' निपातः पूरणार्थः ज्ञेयः अवसेयः त्रिभिरष्टमैः-उपवासत्रयलक्षणैः परिशुद्धः-अनवद्यः दर्शनज्ञानचरित्राणां प्रतीतानां एषः-अयं 'रेसिंमि'त्ति निमित्तं सुप्रशस्तः-अतिशयशुभः, तत्रैकमष्टमं दर्शनगुणशुद्धये एवमपरद्वयं ज्ञेयं शेष द्वयपरिशुद्धये । इति गाथार्थः ॥४०॥ अथ सर्वाङ्गसुन्दरादितपस्सु सनिदान एव प्राणी प्रवर्तते ततो न

विसयसरूवणुबंधेहिं तह य सुद्धं जओ अणुट्ठाणं । णिव्वाणंगं भणियं अण्णेहिवि जोगमग्गंमि ॥४२॥
एयं च विसयसुद्धं एगंतेणेव जं तओ जुत्तं । आरोग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्लंति ॥४३॥ जुम्मं ।
न्याय्यान्येतानीत्याशंकापरिहारार्थमनिदानतामेषु प्रवृत्तस्य दर्शयन्नाह—एतेष्वनन्तरोक्ततपस्सु प्रवर्तमानो-व्याप्रियमाणो जीवः
एतेसुं वहुमाणा इति पाठान्तरं व्यक्तं च, कया ?-भावप्रवृत्त्या-बहुमानसारक्रियया अनिदान इति योगः, कुत इति?,आह-बीजभा-
वात्-बोधिबीजविकलस्य देहिनो बोधिबीजभवनेन, एतदेव कथमिति?,आह-शुद्धाशययोगेन-शुभाध्यवसायसंबन्धेन, शुभाध्यव-
सायाद्धि बोधिबीजं स्यात्, अनिदानो-निदानरहितः स्यात्, तथा भवविरागात्-संसारनिर्वेदात्,यत् किल भवविरागादिनिमित्तं तन्नि-
दानं न भवति बोध्यादिप्रार्थनमिव, भवविरागादिहेतवश्चोक्ततपांसि केषांचिदतो निर्निदानानि । इति गाथार्थः ॥४१॥ निर्निदान-
त्वादेवैषां निर्वाणांगतामाचार्यान्तरमतेनापि दर्शयन्नाह-विषयो-गोचरः उक्ततपसामालंबनीयस्तीर्थकरनिर्गमादिः स्वरूपः-उक्त-
तपसामेव स्वभाव आहारत्यागब्रह्मचर्यजिनपूजासाधुदानादिलक्षणः अनुबन्धश्च-तत्परिणामाव्यवच्छेदतः प्रकर्षयायिताऽतस्तेषु
विषयस्वरूपानुबन्धेषु, तथा चेति समुच्चये, शुद्धं-निरवद्य यतो यस्मात्कारणात् अनुष्ठानं-क्रिया निर्वाणांगं-मुक्तिकारणं भणितं-
उक्तं अन्यैरपि-तंत्रान्तरीयैः, किं पुनर्जिनैः ?, योगमार्गे-अध्यात्मशास्त्रपथे, अतो विषयादिशुद्धतयैषां निर्वाणाङ्गत्वान्निर्निदान-
तेति हृदयमिति ॥४२॥ एतच्च-एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः विषयशुद्धं-निर्दोषगोचरं सकलदोषमोषिजिनपतिविषयत्वात् एकान्तेनैव-
सर्वथैव यद्-यस्मात् ततः-तस्माद्धेतोः युक्तं-सङ्गतं प्रार्थनागर्भमपीदं तपः,कुत इति?,आह-आरोग्यबोधिलाभादीनां "आरोग्गबो-
हिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इत्येवंरूपा या प्रार्थना-याच्ञा तत्प्रधानं यच्चित्तं-मनस्तेन तुल्यं-समानं यत् तदारोग्यबोधिलाभादि-

जम्हा एसो सुद्धो अणियाणो होइ भावियमईणं। तम्हा करेह सम्मं जह विरहो होइ कम्माणं ॥४४॥

॥ तपोविधिप्रकरणं समाप्तम् ॥ १९ ॥

प्रार्थनाच्चितुल्यं इति-कृत्वा। इति गाथाद्वयार्थः ॥४३॥ एवमनन्तरोक्तं तपो निर्निदानमिति व्यवस्थापितमथोपदिशन्नाह-'जम्हे'-त्यादि, यस्मात्कारणात् 'एसो'त्ति इदमनन्तरोक्तं तपः शुद्धं-निर्दोषं भवति-स्यात्, किंभूतं सदिति?, आह-अनिदानं-प्रागुक्तयुक्त्या निदानवर्जितं, केषामिदमेवंविधमिति?, आह भावितमतीनां-सदागमवासितमानसानां, तस्मात् कारणात् कुरुत विधत्त एतदेवेति गम्यं सम्यग्-भावशुद्धया, एतदेव व्यक्ततरमाह-यथा-येन प्रकारेण विरहो-विनाशो भवति-जायते कर्मणां-ज्ञानावरणादीनां, इह च विरहशब्देन श्रीहरिभद्राचार्यकृतता प्रकरणस्य सूचिता, विरहांकत्वात्तस्येति गाथार्थः ॥४४॥ एकोनविंशतितमं पञ्चाशकं वृत्तितः समाप्तम् ॥१९॥ समाप्ता चेयं शिष्यहितानाम्नी सितपटपटलप्रधानप्रावचनिकपुरुषप्रवरचतुर्दशशतसंख्याप्रकरणप्रबन्धप्रणायिसुगृहीतनामधेयश्रीहरिभद्रसूरिविरचितपञ्चाशकाख्यप्रकरणटीकेति ॥

यस्मिन्नतीते श्रुतसंयमश्रियावप्राप्नुवत्यावपरं तथाविधम्। स्वस्याश्रयं संवसतोऽतिदुःस्थिते, श्रीवर्धमानः स यतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥ शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराख्यः, सूरिः कृतानिंद्यविचित्रशास्त्रः। सदा निरालम्बविहारवर्ती, चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलांबरस्य ॥२॥ अन्योऽपि वित्तो भुवि बुद्धिसागरः, पांडित्यचारित्रगुणैर्गतोपमैः। शब्दादिलक्ष्मप्रतिपादकानघग्रन्थप्रणेता प्रवरः क्षमावताम् ॥३॥ तयोरिमां शिष्यवरस्य वाक्याद्, वृत्तिं व्यधात् श्रीजिनचन्द्रसूरेः। शिष्यस्तयोरेव विमुग्धबुद्धिर्ग्रन्थार्थबोधेऽभयदेवसूरिः ॥४॥

बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,न तादृशी वाक् पटुताऽस्ति मे तथा। न चास्ति टीकेह न वृद्धि (द्ध) निर्मिता, हेतुः परं मेऽत्र कृतौ विभोर्वचः ॥५॥ यदिह किमपि दृब्धं बुद्धिमान्द्याद् विरुद्धं, मयि विहितकृपास्तद्धीधनाः शोधयन्तु। निपुणमतिमतोऽपि प्रायशः सावृतेः स्यान्न हि न मतिविमोहः किं पुनर्मादृशस्य? ॥६॥ चतुरधिकविंशतियुते वर्षसहस्रे शते च सिद्धेयम्। धवलकपुरे वसतौ धनपत्योर्बकुलचंद्रिकयोः ॥७॥ अणहिलपाटकनगरे संघवरैर्वर्तमानबुधमुख्यैः। श्रीद्रोणाचार्याद्यैर्विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥८॥

॥ इति पूर्वगतार्थतारतारकज्ञानधारकश्रीहरिभद्रसूरिशेखरसंदृब्धं पंचाशक-
प्रकरणं श्रीचन्द्रकुलाम्बरमणिश्रीमदभयदेवाचार्यविहितविवरणयुतं समाप्तम् ॥

Published by:-Rushabhdevji Kesharimalji Jain Swetamber Sanstha, Ratlam

Printed by-Fakirchand Maganlal Padami, at the Jain Vijayanand Printing Press, Kanpith, Surat.

Published by:-Rushabhdevji Kesharimalji Jain Swetamber Sanstha, Ratlam.

Printed by:-Fakirchand Maganlal Padami, at the Jain Vijayanand Printing Press, Kanpith, Surat.